श्रीलक्ष्मीहयवदनपरब्रह्मणे नमः।

श्रीमद्विद्वद्वर-वरदराजाचार्यविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

नत्त्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

श्रीधरमुखोल्लासिनी

श्रीश्रीनिवासमुक्तिनारायणरामानुजयतिभ्यो नमः॥

स्वाचार्यं श्रीधरं शान्तं षडाचार्यं यतिं गुरुम्।
श्रीनिवासं मुक्तिनारायणं रामानुजं भजे॥
मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिशील्य च।
लघुसिद्धान्तकौमुद्याष्टीकां कुर्वे मनोहराम्॥

लघुसिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भ में कौमुदीकर्ता वरदराजाचार्य ने नत्त्वा सरस्वतीं देवीम् इस श्लोक से मङ्गलाचरण किया है। मंगलाचरण के तीन प्रयोजन हैं- १. प्रारम्भ किये जाने वाले कार्य में विघ्न न आयें अर्थात् विघ्नों का नाश हो, २. ग्रन्थ पूर्ण हो जाय और ३. रचित ग्रन्थ का प्रचार-प्रसार हो।

यह प्रश्न उदित होता है कि मङ्गलाचरण तो ईश्वर की स्तुति-रूप है, उसको ग्रन्थारम्भ के समय विशेष तरीके से ध्यानावस्थित होकर या वैदिक मन्त्रों का उच्चारण आदि करके ग्रन्थ के बाहर कर सकते हैं, तो ग्रन्थ के आदि में ही क्यों लिखें? उत्तर यह है कि मङ्गल तो विघ्नविनाश आदि के लिए ही किया जाता है और वह ग्रन्थ के बाहर भी भगवान् की स्तुति आदि करने से हो सकता है, तथापि ग्रन्थलेखन, अध्ययन, शुभकार्य आदि के प्रारम्भ में **मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिए**, इस बात की भी शिक्षा देना चाहते हैं ग्रन्थकार। इसलिए अपने ग्रन्थ में ही मङ्गलाचरण को भी जोड़ देते हैं।

मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं-

१- **नमस्कारात्मक मंगल**, जिसमें अपने-अपने आराध्यदेव की स्तुति, प्रार्थना, वन्दना आदि की जाती है।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

माहेश्वरसूत्राणि

१.अइउण्। २.ऋऌक्। ३.एओङ्। ४.ऐऔच्। ५.हयवरट्। ६.लण्। ७.ञमङणनम्। ८.झभञ्। ९.घढधष्। १०.जबगडदश्। ११.खफछठथचटतव्। १२.कपय्। १३.शषसर्। १४.हल्।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः।
हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लणमध्ये त्वित्संज्ञकः।

२- **आशीर्वादात्मक मंगल**, जिसमें किसी प्रिय व्यक्ति या ग्रन्थ के अध्येताओं की मंगलकामना की गई होती है।

३- **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल**, जिसमें ग्रन्थ के मूल विषय एवं उसके लक्ष्य का निर्देश होता है।

कहीं केवल **नमस्कारात्मक मंगल** होता है तो कहीं **आशीर्वादात्मक** या **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल**। कहीं-कहीं दोनों, तीनों मंगलों का भी समावेश मिलता है। यहाँ पर **नत्त्वा सरस्वतीं देवीम्** इस वाक्य से **नमस्कारात्मक मंगल** एवं **पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्** से **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल** हुआ है।

पदच्छेदः- नत्त्वा अव्ययपदं, सरस्वतीं द्वितीयान्तं, देवीं द्वितीयान्तं, शुद्धां, द्वितीयान्तं, गुण्यां द्वितीयान्तं, करोमि क्रियापदम्, अहं प्रथमान्तं, पाणिनीयप्रवेशाय चतुर्थ्यन्तं, लघुसिद्धान्तकौमुदीं द्वितीयान्तम्।

समासः- पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं व्याकरणशास्त्रम्। पाणिनीये प्रवेशः पाणिनीयप्रवेशः। तस्मै पाणिनीयप्रवेशाय। सप्तमीतत्पुरुषः। (वैयाकरणानां) सिद्धान्तानां कौमुदी सिद्धान्तकौमुदी, लघ्वी चासौ सिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी। षष्ठीतत्पुरुषगर्भकर्मधारयः।

अन्वयः- अहं शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्त्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि।

मङ्गलपद्यार्थः- **मैं (वरदराजाचार्य) शुद्ध स्वरूप वाली, प्रशस्त गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार करके पाणिनि जी के व्याकरणशास्त्र में सरलता से प्रवेश के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना करता हूँ।**

इति माहेश्वराणि[१] सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। महेश्वर की कृपा से प्राप्त ये चौदह सूत्र अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं।

टिप्पणी(१) सृष्टिकाल से आज तक उपलब्ध व्याकरणों में **पाणिनीयव्याकरण** ही सर्वोत्कृष्ट है। इसके विकल्प तो अन्य व्याकरण हो सकते हैं किन्तु इसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। तुलना दो तरह से हो सकती है- प्रथम तो बराबरी दिखाने के लिए और द्वितीय दोनों में अन्तर दिखाने

अइउण् आदि ये चौदह सूत्र महेश्वर की कृपा से पाणिनि जी को प्राप्त हुए हैं, इनसे अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि की जाती है।

एषामन्त्या इतः। इनके अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक हैं।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। हकार आदि में पठित अकार उच्चारण के लिए है।

लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः। **लण्** इस छठे सूत्र में पठित अकार इत्संज्ञक है, उच्चारणार्थ नहीं।

विवरणः- अइउण् आदि ये चौदह सूत्र हैं इसलिए इन्हें **चतुर्दशसूत्र** कहते हैं। इनसे प्रत्याहार बनाये जाते हैं, अतः इन्हें **प्रत्याहारसूत्र** भी कहते हैं। भगवान शंकर के डमरु से निकल कर पाणिनि जी को प्राप्त हुये हैं, अतः इन्हें **शिवसूत्र** कहते हैं और व्याकरणशास्त्र में प्रारम्भिक **ककहरा** हैं अर्थात् बालक को सबसे पहले **ककहरा** अर्थात् वर्णमाला की शिक्षा दी जाती है। ये संस्कृतभाषा में **ककहरा** अर्थात् वर्णमाला हैं। ये वेदतुल्य हैं, इसलिए **वर्णसमाम्नाय** भी कहते हैं। छात्र इनको अच्छी तरह से रट लें। इसके बाद प्रत्येक सूत्र के अन्तिम अक्षरों को छोड़कर उच्चारण करने का भी अभ्यास कर लें। जैसे- **अ, इ, उ। ऋ, लृ। ए, ओ। ऐ, औ। ह्, य्, व्, र्। ल्। ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। झ्, भ्। घ्, ढ्, ध्। ज्, ब्, ग्, ड्, द्। ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्। क्, प्। श्, ष्, स्। ह्।**

ऐसी प्रसिद्धि है कि **पाणिनि** जी ने व्याकरण की रचना करने की शक्ति प्राप्त

के लिए। **पाणिनीयव्याकरण** से बराबरी दिखाने के लिए कोई व्याकरण नहीं है। अतः इस तरह की तुलना ही व्यर्थ है किन्तु अन्य व्याकरणों से इस व्याकरण में कितना अन्तर है? इस बात को जानने के लिए अवश्य तुलना कर सकते हैं।

इस व्याकरण के रचयिता **महर्षि पाणिनि** हैं। कठोर साधना के बाद ईश्वरीय कृपा से उन्होंने व्याकरण के लिए सूत्र बनाये। पाणिनि के द्वारा रचित सूत्रों की संख्या लगभग ४००० हैं। सूत्रों की संख्या में मतभेद है, क्योंकि कहीं-कहीं योगविभाग करके एक ही सूत्र को दो सूत्र भी माना गया है। अतः कई विद्वानों में मत में सूत्रों की संख्या केवल ३९६५ ही है तो कुछ लोग इससे ज्यादा मानते हैं। हाँ ४००० से ऊपर नहीं है और ३९६५ से नीचे नहीं है। इस लिए **लगभग** ४००० हैं, ऐसा कहना ही ठीक है। इन सूत्रों के साथ **धातुपाठ** में लगभग २००० धातुएँ हैं। **पाणिनि** जी ने **सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन** और **पाणिनीय शिक्षा** ये पाँच विषयों से पूर्ण व्याकरण बनाया था।

पाणिनि जी के द्वारा सूत्रों में उस समय जो न्यूनताएँ दृष्टिगोचर हुईं, उनकी पूर्ति के लिए **कात्यायन** जी ने **वार्तिक** बनाये। **सूत्र** और **वार्तिकों** की व्याख्या के रूप **महर्षि पतञ्जलि** ने विशालतम **महाभाष्य** लिखा। **अष्टाध्यायी** के क्रम से **काशिका** आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये। बाद में अष्टाध्यायी के क्रम से भिन्न किन्तु अष्टाध्यायी के सूत्रों को लेकर रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी आदि ग्रन्थों की रचना हुई। प्रक्रियाग्रन्थों में आज **भट्टोजिदीक्षित** जी की रचना **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** अतिप्रसिद्ध है जिसमें **पाणिनि** जी के समस्त सूत्रों का समावेश है, जिसके समग्र अध्ययन के पश्चात् शब्दप्रक्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसके बाद इनके ही शिष्य **वरदराजाचार्य** जी ने **सारसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी** और **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** की रचना की। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** का आज व्यापक प्रचार है, जिसमें **पाणिनि** जी के १२७६ सूत्रों का उपयोग किया गया है। इसके बाद मैं ने भी धृष्टता करके **ऋजुसिद्धान्तकौमुदी** बनाई है जिसमें **पाणिनि** जी के केवल ६०० सूत्रों का उपयोग किया गया है। यह अत्यन्त प्रारम्भिक छात्रों के लिए ही उपयुक्त है।

करने के लिये हिमालय पर जाकर तपस्या की थी। उनकी कठोर तपस्या से **भगवान शंकर** प्रसन्न हुये और उनकी तपस्या को पूर्ण करने के लिये उनके सामने प्रकट होकर नृत्य किया। नृत्य करते समय **भगवान शंकर** के डमरु से ये चौदह सूत्र निकले। **पाणिनि** जी ने इनको ग्रहण किया और **भगवान शंकर** का **वरदान** समझकर यहाँ से प्रारम्भ करके लगभग ४००० सूत्रों वाली **पाणिनीयाष्टाध्यायी** की रचना की। कहते हैं कि **भगवान शंकर** से जब इन्होंने ये चौदह सूत्र प्राप्त किया तो इन सूत्रों के अन्त्य में जो **ण्, क्, ङ्, च्** आदि **हल्** वर्ण लगे हुये हैं, ये नहीं थे। इन हल् वर्णों को **पाणिनि** जी ने प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए अपनी ओर से लगाया है।

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहे हैं- **इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।** (सूत्राणि+अणादि=सूत्राण्यणादि) संसार में मूर्ख से भी मूर्ख व्यक्ति किसी काम में लग जाता है तो उसका कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। प्रयोजन के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी काम में नहीं लगता। **पाणिनि** जी परम ज्ञानी थे और **शंकर भगवान** भी **योगेश्वर** माने जाते हैं। **पाणिनि जी** की तपस्या और **शंकर भगवान** का वरदान ये दोनों व्यर्थ नहीं थे। इनका कोई न कोई प्रयोजन तो था ही। **पाणिनि जी** का प्रयोजन **व्याकरण-शास्त्र** की रचना थी और उन्हें ये चौदह सूत्र प्राप्त हुये हैं। इनका क्या प्रयोजन है? मूल में कहा गया है- इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन **अण्, अच्** आदि प्रत्याहारों की सिद्धि है। इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया आगे बताएंगे। प्रत्याहारों से अनेक सूत्रों द्वारा प्रयोगों की सिद्धि की जायेगी।

इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में लगे हुए हल् अक्षर किन्हीं विशेष प्रयोजन के लिए हैं। एतदर्थ उनकी विशेष संज्ञा की जायेगी- **एषामन्त्या इतः**। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में लगे हुये **ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्** इन वर्णों की **इत्संज्ञा** की जाती है। जो **अन्त** में रहे उसे **अन्त्य** कहते हैं। संज्ञा **नाम** को कहते हैं। **इत्** नामक **संज्ञा** इनकी होगी अर्थात् ये **इत्** नाम वाले कहलाते हैं। व्याकरण में संज्ञा, संज्ञक और संज्ञी का व्यवहार जगह-जगह पर किया जाता है। **नाम** को **संज्ञा** और **नाम वाले** को **संज्ञक** या **संज्ञी** कहते हैं। जैसे आप में से किसी का नाम **पुरुषोत्तम** हो तो यह शब्द **संज्ञा** है और पुरुषोत्तम नाम वाला शरीरधारी **संज्ञक** या **संज्ञी** है। अर्थात् आप **पुरुषोत्तम-संज्ञक** या **पुरुषोत्तम-संज्ञी** है। इसी प्रकार अन्त्य वर्ण **इत्संज्ञक** अर्थात् **इत्संज्ञी** है और **इत्** संज्ञा है। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य वर्णों की **इत्संज्ञा** करने का फल भी **प्रत्याहार** बनाना ही है जिसकी प्रक्रिया आगे दिखाएंगे।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। संस्कृत-भाषा के वर्णमाला में जितने अक्षर हैं उनको दो भागों में बाँटा गया है स्वर एवं व्यञ्जन। **स्वर** को **अच्** और **व्यञ्जन** को **हल्** कहते हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये स्वर हैं तथा क्, ख् से लेकर ज्ञ् तक के वर्ण **व्यञ्जन** हैं। ये व्यञ्जन अर्थात् हल् अक्षर क, ख, ग, घ, ङ ऐसे न होकर क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ऐसे हैं। इनका ठीक तरह से उच्चारण हो, इसलिए इन वर्णों के बाद **स्वर** वर्ण लगाये जाते हैं। जैसे- क्+अ=**क**, क्+आ=**का**, क्+इ=**कि**, क्+ई=**की**, क्+उ=**कु**, क्+ऊ=**कू**, क्+ऋ=**कृ**, क्+लृ=**क्लृ**, क्+ए=**के**, क्+ऐ=**कै**, क्+ओ=**को**, क्+औ=**कौ**, क्+अं=**कं**, क्+अः=**कः**। इसी प्रकार ख्+अ=ख आदि आगे भी जानें।

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१. **हलन्त्यम् १।३।३॥**

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्।

उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

....

इस तरह से यह स्पष्ट हो गया कि **हयवरल** आदि में **ह्, य्, व्, र्, ल्** के साथ **अकार** जोड़कर उच्चारण किया गया है। इनमें उच्चारित अवर्ण केवल उच्चारण के लिये है। जहाँ ह् आदि वर्णों का प्रत्याहार आदि के माध्यम से प्रयोग होगा तो वहाँ **अकार** का ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु केवल हल् वर्ण मात्र गृहीत होता है।

१- हलन्त्यम्। हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **उपदेश** और **इत्** इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है।

उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है।

इस सूत्र का कार्य है **हल्** अक्षरों की **इत्संज्ञा करना**। उपदेश अवस्था में विद्यमान हल् प्रत्याहार अर्थात् हल् वर्णों की इत्संज्ञा इस सूत्र के द्वारा होती है। हम पहले भी बता चुके हैं कि **इत्** एक नाम है। इसके द्वारा उन हल् अक्षरों को **इत्** नाम से जाना जायेगा।

वाक्य के अर्थ को जानने के लिये वाक्य के प्रत्येक पदों का, प्रत्येक शब्दों का भी अर्थ जानना जरूरी है। इस सूत्र के अर्थ में **उपदेशे, अन्त्यं, हल्, इत्, स्यात्** ये पाँच पद हैं। अत: प्रत्येक का अर्थज्ञान जरूरी है।

उपदेश आद्योच्चारणम्। पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं अर्थात् पाणिनि, कात्यायन, एवं पतञ्जलि ने जिसका प्रथम उच्चारण या प्रथम पाठ किया उसे उपदेश नाम से जाना जाता है। यहाँ **अइउण्** आदि चौदह सूत्रों को **आचार्य पाणिनि** जी ने अपने व्याकरण के अंग के रूप में प्रथम बार उच्चारण किया। अत: ये चौदह सूत्र भी उपदेश कहलाये। **उपदेश** के सम्बन्ध में एक पद्य अति प्रचलित है।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

भू आदि धातु, अइउण् आदि सूत्र, उणादिसूत्र, वार्तिक, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश ये उपदेश माने जाते हैं।

अन्त में उच्चारित वर्ण **अन्त्य** कहलाते हैं। अत: **अइउण्** में **ण्** वर्ण अन्त्य है, **ऋलृक्** में **क्** वर्ण अन्त्य है, एओङ् में ङ् वर्ण अन्त्य है। ये वर्ण **हल्** प्रत्याहार में आते हैं, इसलिये इन्हें **हल्** या हल् वर्ण कहा जाता है।

पाणिनीय सूत्रों की विशेपता को बता रहे हैं- **सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।** सूत्रों में अर्थ को पूरा करने के लिए जो पद कम हो, उसे आवश्यकतानुसार अन्य सूत्रों से ले लेना चाहिए। जैसे **हलन्त्यम्** इस सूत्र में **उपदेशे** और **इत्** ये दो पद **पाणिनीयाष्टाध्यायी** के क्रमानुसार इससे पहले के सूत्र **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से लाये गये हैं। इसी तरह सभी सूत्रों में समझना चाहिए। इस तरह सभी पद सभी सूत्रों में पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी किन्तु पूर्वसूत्र से आवश्यकता अनुसार ले लिया जाता है।

हलन्त्यम् इस सूत्र की वृत्ति पठित शब्दों का अर्थ देखें- **इत्** एक **संज्ञा** है। **स्यात्**

1/1/59

लोपसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२. अदर्शनं लोपः १।१।६०॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

....

यह एक **क्रियापद** है जिसका अर्थ है होवे। इस प्रकार से प्रत्येक पदों का अर्थ जान लेने के बाद **उपदेशे, अन्त्यं, हल्, इत्, स्यात्** इस वाक्य का अर्थ भी लग जायेगा- **उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है।**

यहाँ पर एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि **पाणिनि** ने जिन सूत्रों की रचना की, उन सूत्रों को आठ अध्यायों में रखा है। प्रत्येक अध्यायों में चार-चार चरण अर्थात् पाद बनाये। सूत्रों के बाद जो अंक लिखे गये हैं, उनमें **प्रथम अंक** से **अध्याय**, दूसरे अंक से उस **अध्याय के पाद** एवं तीसरे अंक से उस **पाद में सूत्रों की क्रमसंख्या** समझनी चाहिये। जैसे हलन्त्यम् १।३।३॥ इस सूत्र में पहली संख्या १ से **पहला अध्याय**, दूसरी संख्या ३ से पहले अध्याय का **तीसरा चरण** और तीसरी संख्या ३ से पहले अध्याय के तीसरे पाद का **तीसरा सूत्र**। इस प्रकार हलन्त्यम् यह सूत्र **प्रथम अध्याय के तीसरे पाद का तीसरा सूत्र** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार सभी सूत्रों में समझना चाहिए। सूत्रों में पूर्व, पर, सपादसप्ताध्यायी, त्रिपादी, सिद्ध, असिद्ध इत्यादि के लिए सूत्रों में लिखित अध्याय, पाद आदि की संख्या अत्यन्त उपयोगी है। इस तरह से याद रखने के लिए अष्टाध्यायी के क्रम से सुविधा होती है, क्योंकि वहाँ पर प्रकरण के अनुसार उन सूत्रों को तत्तत् अध्यायों में रखा गया है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि **हलन्त्यम्** इस सूत्र से **अन्त्य हल्** वर्णों की **इत्संज्ञा** की गयी इनका क्या प्रयोजन है? हाँ तो **भविष्यति किञ्चित् प्रयोजनमनेन** अर्थात् इतने बड़े विद्वान् के द्वारा की गई संज्ञा का जरूर कोई न कोई महान् प्रयोजन अवश्य होगा जिसे आप पढ़ते-पढ़ते समझ जायेंगे। आप जिज्ञासु बने रहें, आपकी शंकाओं का समाधान अवश्य हो जायेगा। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य हल् वर्णों की इस सूत्र से की गई इत्संज्ञा का प्रथम फल है **प्रत्याहार बनाना** जिसे हम आगे के सूत्रों में क्रमशः बतायेंगे।

अइउण्, ऋलृक् इत्यादि सूत्रों में **ण्, क्** इत्यादि हल्वर्णों की, **डुपचष् पाके** इत्यादि धातुओं में अन्त्य हल् वर्ण **ष्** आदि की, **नदट्, देवट्** इत्यादि गणपाठों में पठित शब्द के अन्त्य हल्वर्ण **ट्** आदि की, **तृन्, तृच्** इत्यादि प्रत्ययों के अन्त्य हल् वर्ण **न्, च्** आदि की इत्संज्ञा **हलन्त्यम्** से की जायेगी। इसके अतिरिक्त अनेक वर्णों की इत्संज्ञा की जाती है और इत्संज्ञा का करके प्रत्याहारसिद्धि, उदात्तादि स्वर का विधान आदि अनेक कार्य करने के बाद उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप किया जाता है।

२- अदर्शनं लोपः। न दर्शनम्- अदर्शनम्, अदर्शनं प्रथमान्तं, लोपः प्रथमान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्।

(पहले) विद्यमान का (बाद में) अदर्शन होना, न सुना जाना लोपसंज्ञक (लोपसंज्ञा वाला) होता है।

लोक में **लोप** का एक अर्थ **नाश** भी होता है किन्तु **पाणिनीय-व्याकरण-शास्त्र** में लोप का अर्थ **अदर्शन** माना गया है। **अदर्शन** अर्थात् जो न दीखे, जो न सुनाई पड़े।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३. तस्य लोपः १।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

प्रत्याहारसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

४. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१॥

1/1/70

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः।

....

वस्तुतः शब्द कभी दीखता नहीं है, अतः **अदर्शन** का अर्थ **अश्रवण** करना चाहिए। इसीलिए जो पहले सुनाई देता था और अब वह न सुनाई दे तो उसे लोप कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पहले से था किन्तु बाद में किसी सूत्र आदि के द्वारा लुप्त हो जाय तो वह न तो कहीं दिखाई पड़ेगा और न ही वह सुनाई पड़ेगा। जो पहले से था उसी का ही लोप होता है, जो पहले से नहीं था, उसका क्या लोप करें! इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि **पाणिनीय-व्याकरण** में किसी भी अक्षर या शब्द का **विनाश** नहीं होता। जहाँ-जहाँ भी **लोप** का विधान किया गया वहाँ-वहाँ **अदर्शन** मात्र समझना चाहिए। यह सूत्र केवल **लोप क्या है?** इतना ही बताता है किन्तु लोप नहीं करता। लोपविधायक विधिसूत्र आगे कहा जा रहा है।

३- तस्य लोपः। तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है।

इत्संज्ञा के लिए प्रकरण के अनुसार अनेक सूत्र विद्यमान हैं। जिन वर्णों की **हलन्त्यम्** आदि सूत्रों के द्वारा **इत्संज्ञा** की जाती है, उनका यह सूत्र लोप करता है अर्थात् **अदर्शन** कर देता है। पूरे व्याकरण में इत्संज्ञा के बाद लोप करने के लिए केवल एक यही सूत्र है। **तस्य इतः**=उस इत्संज्ञक वर्ण का **लोपः स्यात्**=लोप होवे। इस प्रकार से **अइउण्** में **ण्** की, **ऋलृक्** में **क्** आदि की **हलन्त्यम्** सूत्र के द्वारा इत्संज्ञा की गई थी, उनका इस सूत्र से **लोप** हो जाता है। इस प्रकार चौदह सूत्रों में अन्त्य वर्ण की इत्संज्ञा और उसके बाद लोप करके **अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ, हयवर, ल, ञमङणन, झभ, घढध, जबगडद, खफछठथचटत, कप, शषस, ह** मात्र शेष बचते हैं। प्रत्याहारों में इन्हीं वर्णों का ग्रहण होगा, इत्संज्ञक वर्णों का नहीं।

णकारादि अन्त्य वर्णों का प्रयोजन- **णादयोऽणाद्यर्थाः। णादयः**-अइउण्, ऋलृक् आदि में जो णकार, ककार आदि पढ़े गये हैं, वे **अणाद्यर्थाः**- अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं। अर्थात् प्रत्याहारों की सिद्धि करते समय इनका उपयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि **अइउण्** आदि चौदह सूत्रों के अन्त्य में जो हल् वर्ण लगे हुए हैं, उनका प्रयोजन प्रत्याहार की सिद्धि है।

४- आदिरन्त्येन सहेता। अन्ते भवः अन्त्यः। आदिः प्रथमान्तम्, अन्त्येन तृतीयान्तं, सह अव्ययपदम्, इता तृतीयान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में किसी पद की अनुवृत्ति आती नहीं है।

अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण मध्य के वर्णों का और अपना भी संज्ञा=बोधक होता है।

आदिरन्त्येन सहेता यह सूत्र **प्रत्याहार संज्ञा** करता है। जैसे अण् प्रत्याहार, अक् प्रत्याहार, अच् प्रत्याहार, अल् प्रत्याहार, हल् प्रत्याहार आदि। एक उदाहरण देखते हैं- जैसे आंग्लभाषा में **Doctor** का अर्थ होता है रोगों का चिकित्सक। ये अपने नाम के आगे **Dr.** लिखते हैं। जैसे- **Dr. Jeevan Sharma.** में लिखते तो हैं **Dr.** किन्तु हम समझते हैं **Doctor.** अर्थात् लिखते दो अक्षर हैं और समझते हैं छ अक्षरों का अर्थ। इसी प्रकार **Pandit** को **Pt.** लिखते हैं। ठीक इसी तरह पाणिनीय-व्याकरण में भी बहुत को संक्षिप्त में लिखने का नियम है। इसी को **प्रत्याहार** कहा जाता है।

सूत्रार्थ विचार- अन्त्येन इता सहित आदिः= अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण, जैसे **अइउण्** इस सूत्र में **ण्** की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा की गई थी। उसके साथ पढ़े गये वर्ण हैं **अ, इ, उ,** किन्तु इनमें आदि वर्ण है **अ**, वह आदि वर्ण, **मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्**= मध्य के **इ, उ** वर्णों का बोध कराता हुआ= जानकारी देता हुआ अर्थात् ग्रहण कराता हुआ स्वयं अपना अर्थात् **अ** का भी बोधक होता है। इस तरह **अण्** कहने से **अ, इ, उ** इन तीन वर्णों का बोध हुआ। अब जहाँ भी **अंण्** कहा जायेगा उससे **अ, इ, उ** इन तीन वर्णों का ग्रहण हुआ करेगा। यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि **अइउण्** में **ण्** भी है तो प्रत्याहार में उसका बोध या ग्रहण क्यों नहीं होता? आपको याद दिला दूँ कि **ण्** इस अन्त्य हल् वर्ण की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप हो गया है, अर्थात् **अदर्शन** हो गया है। तात्पर्य यह है कि न सुनाई पड़े और उसका ग्रहण न हो सके, ऐसा हो गया है। इसीलिए **अण्** के ग्रहण में **ण्** का ग्रहण नहीं होता।

अण् आदि प्रत्याहारों को साधने की प्रक्रियाः- अण् प्रत्याहार साधना है, इसकी स्थिति है **अइउण्**। इस स्थिति में सूत्र लगा- **हलन्त्यम्**। उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संज्ञा होती है। उपदेश अवस्था है- **अइउण्** और अन्त्य हल्वर्ण है- **अइउण्** का **ण्**। उसकी इत्संज्ञा हो गई अर्थात् उसका नाम **इत्** पड़ गया। इत्संज्ञा का फल है लोप। इत्संज्ञा के बाद लोप करने के लिये सूत्र आया **तस्य लोपः**। उस इत्संज्ञक वर्ण का **लोप** होता है। इत्संज्ञक वर्ण है **अइउण्** वाला **ण्**। उसका **लोप** अर्थात् अदर्शन हो जाय। इस तरह इस **इत्संज्ञक** वर्ण का **अदर्शन** अर्थात् **लोप** प्राप्त हुआ, परन्तु पहले लोप नहीं होता क्योंकि उच्चारण करके लोप ही करना था तो पहले उच्चारण ही क्यों किया गया? अतः उच्चारणसामर्थ्यात् अन्य कोई प्रयोजन भी इसका होना चाहिए और वह है प्रत्याहारसिद्धि। अतः प्रत्याहार सिद्ध करने के लिए सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता**। अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण है- **अइउण्** वाला **ण्,** उसके सहित उच्चारित आदि वर्ण है **अ**। वह अर्थात् अन्त्य सहित आदि **अण्** यह समुदाय, मध्यवर्ती **इ, उ** वर्ण और आदि वर्ण **अ** का भी बोधक(संज्ञा) होता है। इस तरह से यह सूत्र **अण्** इस शब्द से आदि वर्ण **अ** और मध्यवर्ती वर्ण **इ, उ** का बोध करायेगा। इस प्रकार से **अण्** से **अइउ**, इन तीन वर्णों का ही बोध या ग्रहण अथवा श्रवण हो जाता है। प्रत्याहारसिद्धि के बाद **ण्** आदि इत्संज्ञक वर्णों का **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। इसी लिए उस अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण का प्रत्याहारों में ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार **अण्** प्रत्याहार की साधना हो गई और **अण्** से या अण् प्रत्याहार से **अ-इ-उ** इन तीन वर्णों का बोध हुआ। इसी तरह से अन्य प्रत्याहारों की सिद्धि करनी चाहिए।

यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः। जिस प्रकार से अण् से अ, इ, उ इन वर्णों का बोध हुआ, उसी प्रकार से अच्, हल्, अल् आदि प्रत्याहारों के द्वारा मध्यवर्ती वर्ण तथा आदि वर्ण का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिए।

अच् प्रत्याहार की सिद्धिः- अच् प्रत्याहार की साधना करनी है तो इसकी स्थिति है- **अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्।** ऐसी स्थिति में सूत्र लगा- **हलन्त्यम्।** उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संज्ञा होती है। उपदेश अवस्था है- **अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्।** अन्त्य हल् वर्ण हैं- **अइउण्** का **ण्, ऋलृक्** का **क्, एओङ्** का **ङ्,** और **ऐऔच्** का **च्।** इन चारों हल् वर्णों की इत्संज्ञा इस सूत्र से हो गई अर्थात् उनका नाम **इत्** पड़ गया। **इत्संज्ञा** का फल प्रत्याहारसिद्धि है। अतः **तस्य लोपः** से पहले ही लोप हो जाय तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं होंगे। इसलिए इसको बाधकर सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता।** इस सूत्र के बल से आदि वर्ण सहित बीच के **अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ** इन नौ वर्णों का ही बोध या ग्रहण या श्रवण हो जाता है। इस प्रकार **अच्** प्रत्याहार की साधनी हो गई और **अच्** से या **अच् प्रत्याहार** से **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** इन नौ वर्णों का बोध हुआ। इसी प्रकार ४३ प्रत्याहारों की सिद्धि करना जानें। चौदह सूत्रों से प्रत्याहार तो सैकड़ों बन सकते हैं किन्तु पाणिनीय व्याकरण में केवल ४३ प्रत्याहारों का व्यवहार हुआ है, इसलिये ४३ प्रत्याहारों की ही सिद्धि करनी है। कुछ वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहार केवल ४२ ही होते हैं।

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में स्मरणीय कुछ बातें-

- **अच्** प्रत्याहार में समस्त **स्वर** वर्ण आते हैं। ये **चार सूत्रों** से कहे गये हैं।
- **हल्** प्रत्याहार में समस्त **व्यञ्जन** वर्ण आते हैं। ये **दस सूत्रों** से कहे गये हैं।
- वर्गों के सभी पाँचवें वर्ण ञमङणनम् एक ही सूत्र और ञम् प्रत्याहार में आते हैं।
- वर्गों के चौथे वर्ण दो सूत्रों **झभञ्, घढधष्** में तथा **झष्** प्रत्याहार में आते हैं।
- वर्गों के तीसरे वर्ण **जबगडदश्** इस एक ही सूत्र में और **जश्** प्रत्याहार में आते हैं।
- वर्गों के दूसरे एवं पहले वर्ण **खफछठथचटतव्, कपय्** इन दो सूत्रों में तथा **खय्** प्रत्याहार में आते हैं।

प्रत्याहार का प्रारम्भिक वर्ण **अ** जैसा आदि वर्ण तो होता ही है साथ में **इ** से भी इक्, इण् प्रत्याहार, **उ** से उक् आदि प्रत्याहार भी बनते हैं, अर्थात् इ से, उ से, लृ से, य् से, व् से, र् आदि मध्यवर्ती वर्णों से भी शुरुवात करके प्रत्याहार बनाये जाते हैं, क्योंकि यहाँ पर विवक्षित समुदाय का आदि और अन्त्य लिया जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त ४३ प्रत्याहारों में गृहीत वर्णों का क्रमः-

क्र.सं	प्रत्याहार	घटक वर्ण
१	अण्	अ, इ, उ। (3)
२.	अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ। (5)
३.	इक्	इ, उ, ऋ, लृ। (4)
४.	उक्	उ, ऋ, लृ। (3)
५.	एङ्	ए, ओ। (2)
६.	अच्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ। (9)
७.	इच्	इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ। (8)

८.	एच्	ए, ओ, ऐ, औ। (4)
९.	ऐच्	ऐ, औ। (2)
१०.	अट्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्। (13)
११.	अण्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्। (14)
१२.	इण्	इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्। (13)
१३.	यण्	य्, व्, र्, ल्। (4)
१४.	अम्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। (19)
१५.	यम्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। (9)
१६.	ञम्	ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। (5)
१७.	ङम्	ङ्, ण्, न्। (3)
१८.	यञ्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्। (11)
१९.	झष्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्। (5)
२०.	भष्	भ्, घ्, ढ्, ध्। (4)
२१.	अश्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्। (29)
२२.	हश्	ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्। (20)
२३.	वश्	व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्। (18)
२४.	जश्	ज्, ब्, ग्, ड्, द्। (5)
२५.	झश्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्। (10)
२६.	बश्	ब्, ग्, ड्, द्। (4)
२७.	छव्	छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्। (6)
२८.	यय्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्। (29)
२९.	मय्	म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्। (24)
३०.	झय्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्। (20)
३१.	खय्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्। (10)
३२.	चय्	च्, ट्, त्, क्, प्। (5)
३३.	यर्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्। (32)
३४.	झर्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्। (23)
३५.	खर्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्। (13)
३६.	चर्	च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्। (8)
३७.	शर्	श्, ष्, स्। (3)

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७॥

उश्च ऊश्च उ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

३८.	अल्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्। (43)
३९.	हल्	ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्। (34)
४०.	वल्	व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्। (32)
४१.	रल्	र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्। (31)
४२.	झल्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्। (24)
४३.	शल्	श्, ष्, स्, ह्। (4)

वर्ग विभाजन

कवर्गः- क्, ख्, ग्, घ्, ङ्।
चवर्गः- च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।
टवर्गः- ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्।
तवर्गः- त्, थ्, द्, ध्, न्।
पवर्गः- प्, फ्, ब्, भ्, म्।

वर्गों के प्रथम अक्षर- क्, च्, ट्, त्, प्।
वर्गों के द्वितीय अक्षर- ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्।
वर्गों के तृतीय अक्षर- ग्, ज्, ड्, द्, ब्।
वर्गों के चतुर्थ अक्षर- घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्।
वर्गों के पंचम अक्षर- ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

५- ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। उश्च ऊश्च, ऊ३श्च वः(. इतरेतरयोगद्वन्द्वः), वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्येति ऊकालः (बहुव्रीहिः) ह्रस्वश्च, दीर्घश्च, प्लुतश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। सौत्रं पुंस्त्वम्। समाहार द्वन्द्व होने के बाद नपुंसकलिङ्ग ही होना चाहिए, किन्तु सूत्र में पाणिनि ने कहीं-कहीं ऐसा नहीं किया है, अतः सूत्रत्वात् पुँल्लिङ्ग मान लिया जाता है। सूत्रों से अन्यत्र ऐसी जगहों पर पुँल्लिङ्ग नहीं हो सकता, नपुंसकलिङ्ग ही होता है। ऊकालः प्रथमान्तम्, अच् प्रथमान्तं, ह्रस्वदीर्घप्लुतः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

एक मात्रिक उकार, द्विमात्रिक ऊकार और त्रिमात्रिक उ३कार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अचों की क्रमशः ह्रस्वसंज्ञा, दीर्घसंज्ञा और प्लुतसंज्ञा होती है।

उश्च ऊश्च उ३श्च वः। एकमात्रिक उ और द्विमात्रिक ऊ एवं तीनमात्रिक उ३ का **चार्थे द्वन्द्वः** से इतरेतरयोगद्वन्द्व समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप, परस्पर में सवर्णदीर्घ करने पर ऊ रूप बनता है। उससे जस् प्रत्यय लाकर ऊ को यण् करके **वः** यह रूप सिद्ध होता है। **वः** का ही षष्ठ्यन्त रूप **वाम्** है। **ऊकालः** यह पद **अच्** का विशेषण है। उसीको बताने के लिए मूल में **वां काल इव कालो यस्य** ऐसा कहा गया। पर वह भी **ऊकालः** इस समस्त(समास किये हुए) पद का विग्रह नहीं है, अपितु फलितार्थकथन मात्र है। अतः **वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्य** ऐसा विग्रह करना चाहिए। यहाँ पर **काल** शब्द लक्षणावृत्ति से **मात्रावाची** है। अतः **ऊकालः**=तीनों उकारों का जो उच्चारण काल वाली मात्राएँ (**ऊकाल इव कालो यस्य**) ऐसी ही मात्राएँ हैं जिस अच् की, वह अच् क्रमशः **ह्रस्व, दीर्घ** और **प्लुत** संज्ञा वाला होता है।

प्रकृत सूत्र अच् अर्थात् स्वर वर्णों की मात्रा के आधार पर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा करता है। अचों(स्वरों) में एक, दो, एवं तीन मात्राएँ होती हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ की मात्राएँ जिन्हें हिन्दी में छोटी मात्राएँ कहते हैं उनकी **ह्रस्वसंज्ञा** और आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ जिन्हें हिन्दी में बड़ी मात्रा कहते हैं, इनकी **दीर्घसंज्ञा** होती है। **तीन** मात्रा की **प्लुतसंज्ञा** होती है। लोक में एकमात्रिक एवं द्विमात्रिक का ही प्रयोग होता है, तीन मात्रा वाला वर्ण हिन्दी में कम प्रयुक्त होता है। केवल संस्कृत में सम्बोधन, प्रकृतिभाव आदि में तीनमात्रिक वर्ण का उच्चारण होता है तथा तीनमात्रिक को दिखाने के लिये वर्ण के बाद **३** का अंक लिखा जाता है। जैसे **इ३**। इस तीन मात्रा वाले वर्ण की **प्लुतसंज्ञा** होती है।

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक वर्णों का उच्चारण काल- प्रश्न यह आता है कि एक मात्रा, दो मात्राएँ और तीन मात्राएँ, इनका उच्चारण के समय एवं अनुपात क्या होना चाहिए? इतना तो स्पष्ट है ही कि एकमात्रिक के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका दुगुना समय द्विमात्रिक के उच्चारण में लगेगा और तिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगेगा। फिर भी एक प्रश्न उपस्थित होता है कि एक मात्रा वाले अच् में कितना समय लगाया जाय? इस पर प्राचीन विद्वानों के कई मत हैं। जैसे **पलकें झपकना, बिजली चमकना, नीलकण्ठ पक्षी की बोली आदि** को एकमात्रा उच्चारण काल माना है किन्तु मेरा मत यह है कि वर्णों के उच्चारण तीन प्रकार से होते हैं- **द्रुत, मध्यम और विलम्बित।** द्रुत अर्थात् अत्यन्त शीघ्रता के साथ उच्चारण, मध्यम उच्चारण एवं विलम्बित उच्चारण। आप किस प्रकार से उच्चारण कर रहे हैं? अत्यन्त शीघ्रता के साथ उच्चारण, मध्यम उच्चारण या विलम्बित उच्चारण! उसके अनुसार एकमात्रा के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका दुगुना समय दो-मात्रा के उच्चारण में लगायें और तिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगायें। अथवा यूँ कहा जाय कि ह्रस्व के उच्चारण में एक सेकेण्ड का समय तो दीर्घ के उच्चारण में दो सेकेण्ड का समय और प्लुत के उच्चारण में तीन सेकेण्ड का समय लगाया जाय। उच्चारण के इस अनुपात का बहुत ध्यान रखना चाहिए।

इस सूत्र के द्वारा प्रत्येक अच् की ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा करके अचों (स्वरों) के तीन तीन भेद किए गए। इस प्रकार से अच् प्रत्याहार के प्रत्येक वर्ण तीन-तीन प्रकार के हुए- ह्रस्व अच, दीर्घ अच्, एवं प्लुत अच्।

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९॥

अनुदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

७. नीचैरनुदात्तः १।२।३०॥

स्वरितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१॥

स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

....

६- उच्चैरुदात्तः। उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित अच् की उदात्तसंज्ञा होती है।

७- नीचैरनुदात्तः। नीचैः अव्ययपदम्, अनुदात्तः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित अच् की अनुदात्तसंज्ञा होती है।

८- समाहारः स्वरितः। समाहारः प्रथमान्तं, स्वरितः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ उदात्त और अनुदात्त दोनों एकत्र बराबर हों, ऐसे अच् की स्वरितसंज्ञा होती है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की सूक्ष्मता एवं उनका ज्ञान- जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के ऊर्ध्वभाग का प्रयोग हो उस अच् की **उदात्तसंज्ञा**, जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के निम्न भाग का प्रयोग हो उस अच् की **अनुदात्तसंज्ञा** और जिस अच् के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त का समान उपयोग किया गया हो तो उस अच् की **स्वरितसंज्ञा** का विधान इन तीन सूत्रों से हुआ। यद्यपि लौकिक हिन्दी आदि भाषाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की सूक्ष्मता पंकड़ में नहीं आती किन्तु संस्कृत-भाषा में इनका महत्त्व अधिक है और खास करके वैदिक शब्दों के उच्चारण में। जिस प्रकार से ह्रस्व, दीर्घ के विपरीत होने पर बहुधा अर्थ भी भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विपरीत उच्चारण होने पर अर्थ का अनर्थ भी हो जायेगा। इस लिए वैदिक शब्दों के उच्चारण में इन स्वरों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वरों के द्वारा समास आदि का भी निर्णय होता है। स्वरप्रकरण में प्रकृति, प्रत्यय, धातु, आदेश, आगम आदि में होने वाले स्वरों के विषय में विस्तृत चर्चा है। ये उदात्तादि स्वर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। जो बहुत ही अनुभवी विद्वान् हैं, वे इनके भेद को आसानी से पकड़ लेते हैं किन्तु सामान्यज्ञानी लोगों को इन स्वरों का पता कठिनता से ही लग पाता है।

उच्चैरुदात्तः और **नीचैरनुदात्तः** इन सूत्रों में **उच्चैः** का अर्थ ऊँचे स्वर में और **नीचैः**

अनुनासिकसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

९. **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८॥**

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।

तदित्थम्- अ-इ-उ-ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः।

लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्।

एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

....

का अर्थ नीचे स्वर में बोलना ऐसा नहीं है, अन्यथा सूक्ष्म उच्चारण में उदात्त स्वर नहीं बन पायेगा।

जैसे ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत को समझने के लिये मात्राएँ लगी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को समझने के लिये वैदिक-ग्रन्थों में विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है। अनुदात्त अक्षर के नीचे तिरछी लाईन, स्वरित के ऊपर खड़ी लाईन होती है और उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता है।

स नवविधोऽपि- **वह नौ प्रकार का अच् अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार का होता है।**

जैसे एक इ यह वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन-तीन प्रकार हुआ है। पुनः ह्रस्व भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का, इसी प्रकार से दीर्घ भी तीन प्रकार का और प्लुत भी तीन प्रकार का, इस तरह कुल मिलाकर नौ प्रकार का हुआ। वह नौ प्रकार का अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो दो प्रकार का हो जाता है। नौ अनुनासिक और नौ अननुनासिक करके कुल अठारह प्रकार का हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी अचों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

स नवविधोऽपि का अर्थ यह समझना चाहिए- **वह नौ या छः प्रकार का अच्।** ऐसा मानने का प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा।

९- मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। उच्यते इति वचनः। मुखसहिता नासिका मुखनासिका (मध्यमपदलोपिसमासः), तया वचनः(उच्चारितो वर्णः) स मुखनासिकावचनः (तृतीयातत्पुरुषः)। मुखनासिकावचनः प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

मुख और नासिका से एक साथ उच्चारित होने वाले वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होते हैं।

वास्तव में वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है किन्तु **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** आदि वर्ण और अनुनासिक (अँ, इँ, उँ आदि) तथा अनुस्वार (अं, इं, उं आदि) के उच्चारण में **नासिका**(नाक) की भी सहायता चाहिए। नाक की सहायता से मुख से उच्चारित होने वाले ऐसे वर्ण **अनुनासिक** कहलाते हैं। जो **अनुनासिक** नहीं हैं, वे **अननुनासिक** या **निरनुनासिक** कहलाते हैं। हम बतला चुके हैं कि **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक** ये अचों में रहने वाले धर्म हैं। अपवाद के रूप में **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये व्यंजन होते हुए भी इन्हें **अनुनासिक** कहा जाता है। इसी प्रकार **यँ, वँ, लँ** भी

अनुनासिक माने जाते हैं और य्, व्, ल् के रूप में निरनुनासिक भी हैं। जहाँ पर अनुनासिक का व्यवहार होगा वहाँ पर अनुनासिक अच् और ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये समझे जाते हैं। इस सम्बन्ध में आगे यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा आदि सूत्रों का प्रसंग देखना चाहिए।

तदित्थम्- अ-इ-उ-ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। इस प्रकार से अ, इ, उ और ऋ इन चार वर्णों के अठारह-अठारह भेद हुए।

लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। लृ के दीर्घ न होने से बारह भेद होते हैं।

एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्। एचों का ह्रस्व नहीं होता है, इसलिए बारह ही भेद होते हैं।

पहले अच् अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ ये वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के कारण प्रत्येक तीन-तीन भेद वाले हो गये किन्तु लृ की दीर्घ मात्रा नहीं है, इसलिए लृ के ह्रस्व और प्लुत दो ही भेद हुए। इसी प्रकार एच् अर्थात ए, ओ, ऐ, औ का ह्रस्व नहीं होता, अतः एच् के दीर्घ और प्लुत ही दो-दो भेद हो गये। शेष अ, इ, उ, ऋ ये चारों वर्ण ह्रस्व भी हैं, दीर्घ भी होते हैं और प्लुत भी होते हैं, इसलिए ये तीन-तीन भेद वाले माने जाते हैं।

इस प्रकार से दो एवं तीन भेद वाले प्रत्येक अच् वर्ण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से पुनः तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक ह्रस्व अच् वर्ण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का, दीर्घ अच् वर्ण भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का और प्लुत अच् वर्ण भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार के हो जाने से कुछ अच् वर्ण छः प्रकार के और कुछ नौ प्रकार के हो गये। छः प्रकार के इसलिये कि जिन वर्णों के ह्रस्व या दीर्घ नहीं थे वे दो-दो प्रकार के थे, सो अब उदात्तादि स्वरों के कारण छः छः प्रकार के हो गए। जिन अच् वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों हैं वे उदात्तादि स्वरों के कारण नौ नौ प्रकार के हो गए। इस प्रकार से अभी तक अचों के छः या नौ प्रकार के भेद सिद्ध हुए।

ये ही वर्ण पुनः अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप ये बारह और अठारह प्रकार के भेद वाले हो जाते हैं। इसके पहले जो छः प्रकार के थे, वे बारह प्रकार के एवं जो नौ प्रकार के थे, वे अठारह प्रकार के हो जाते हैं।

अनुनासिक पक्ष के छः और नौ भेद तथा अननुनासिक पक्ष के भी छः और नौ भेद होते हैं। इस प्रकार से अ, इ, उ, ऋ के अठारह-अठारह भेद तथा लृ, ए, ऐ, ओ, औ के बारह-बारह भेद सिद्ध हुए। य्-व्-ल् ये वर्ण अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

इस विषय को तालिका के माध्यम से समझते हैं-

अ,इ,उ,ऋ,लृ	आ,ई,ऊ,ॠ,ए,ओ,ऐ,औ	प्लुत- अ,इ,उ,ॠ,ए,ओ,ऐ,औ
१.ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७. दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३.प्लुत उदात्त अनुनासिक
२.ह्रस्व उदात्त अननुनासिक	८. दीर्घ उदात्त अननुनासिक	१४.प्लुत उदात्त अननुनासिक
३.ह्रस्व अनुदात्त अनुनासिक	९. दीर्घ अनुदात्त अनुनासिक	१५.प्लुत अनुदात्त अनुनासिक
४.ह्रस्व अनुदात्त अननुनासिक	१०.दीर्घअनुदात्त अननुनासिक	१६.प्लुत अनुदात्त अननुनासिक
५.ह्रस्व स्वरित अनुनासिक	११.दीर्घ स्वरित अनुनासिक	१७.प्लुत स्वरित अनुनासिक
६.ह्रस्व स्वरित अननुनासिक	१२.दीर्घ स्वरित अननुनासिक	१८.प्लुत स्वरित अननुनासिक

सवर्णसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९।।

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

(वार्तिकम्) **ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।**

....

अब अगले सूत्र से वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा की जायेगी। सवर्णसंज्ञा के लिए स्थान और प्रयत्नों का जानना आवश्यक है। मुख के जिस भाग-विशेष के विशेष जुड़ाव या प्रक्रिया से वर्णों का उच्चारण होता है, उस वर्ण का वही **स्थान** होता है। जैसे प् का उच्चारण दोनों होंठो के आपस में जुड़ने पर होता है। अतः प् का स्थान ओष्ठ है। **अ** का उच्चारण सीधे कण्ठ से होता है। अतः **अ** का स्थान कण्ठ है।

वर्णों के उच्चारण में शरीर के नाभि भाग से प्रारम्भ होकर हृदय और शीर्ष भाग होते हुए मुख से बाहर तक एक प्रकार का **यत्न** होता है, और जो वर्ण उच्चारण होते समय जिस स्थान या क्रिया विशेष को प्रभावित करता है, वही उसका **प्रयत्न** होता है।

व्याकरण में **कवर्ग** आदि का प्रयोग बहुत जगहों पर होगा। कु से **कवर्ग**, चु से **चवर्ग**, टु से **टवर्ग**, तु से **तवर्ग** और पु से **पवर्ग** समझना चाहिये। वर्गों में भी **कवर्ग** का तात्पर्य **क, ख, ग, घ, ङ** एवं **चवर्ग** का तात्पर्य **च, छ, ज, झ, ञ** और आगे भी इसी प्रकार **वर्ग** समझना चाहिए।

विसर्ग के तीन भेद हैं। जो सर्वत्र प्रचलित दो बिन्दु वाला है उसे **विसर्जनीय** अथवा सामान्य **विसर्ग** कहते हैं, किन्तु क और ख के पहले आने वाला विसर्ग कभी **जिह्वामूलीय** तो कभी **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग** होता है। इसी प्रकार प और फ के पहले आने वाला विसर्ग कभी **उपध्मानीय** तो कभी **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग** रहता है।

१०- तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। तुल्यं च तुल्यश्च तुल्यौ, आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ ययोः तत्तुल्यास्यप्रयत्नं (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। तुल्यास्यप्रयत्नं प्रथमान्तं, सवर्णं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दो जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ तुल्य हों, वे वर्ण आपस में सवर्णसंज्ञक होते हैं।

यह सूत्र दो या दो से अधिक वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा करता है। सवर्ण का अर्थ है- **समान वर्ण, समान** जाति, **समान स्थान** वाले वर्ण, **समान प्रयत्न** वाले **वर्ण, वर्णों की आपस में स्थान और प्रयत्न से** तुल्यता। सवर्णसंज्ञा वाले वर्णों को सवर्णी कहते हैं-और **सवर्णसंज्ञा** को **सावर्ण्य** भी कहते हैं। सवर्णसंज्ञा के लिये स्थान और प्रयत्न की समानता चाहिये। सवर्णसंज्ञा में **आभ्यन्तर-प्रयत्न** ही लिया जाता है। **बाह्य-प्रयत्न** का उपयोग किसी वर्ण के स्थान पर कोई आदेश करने में किया जायेगा। जिन दो वर्णों का आपस में स्थान भी एक हो और प्रयत्न भी एक हो तो वे वर्ण आपस में **सवर्णी** हैं अर्थात् सवर्णसंज्ञा वाले हैं। सवर्णसंज्ञा वाले वर्णों का एक से दूसरे, तीसरे सवर्णसंज्ञा वाले वर्ण का ग्रहण करते हैं। जैसे- **अ** और **आ** में **अकार** का स्थान भी **कण्ठ** है और **आकार** का स्थान

(अथ स्थानानि)

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः इचुयशानां तालु।
ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः।
उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च।
एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।
वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।
नासिकाऽनुस्वारस्य।

....

भी **कण्ठ** है तथा दोनों का **विवृत प्रयत्न** है। **अ** और **आ** का स्थान और प्रयत्न एक होने के कारण इनकी आपस में **सवर्णसंज्ञा** हो जाती है। ये आपस में **सवर्णी** कहलाए। अब जहाँ **अ** का ग्रहण होगा वहाँ **आ** का भी ग्रहण हो जायेगा। इसी प्रकार **क्** और **घ्** में दोनों का **कण्ठ-स्थान** है और दोनों का **स्पृष्ट-प्रयत्न** है, इसलिए **क्** और **घ्** की आपस में **सवर्णसंज्ञा** हुई। केवल **क्** और **घ्** की ही नहीं अपितु **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी वर्ण समान स्थान और समान प्रयत्न वाले हैं, इसलिए इनकी आपस में **सवर्णसंज्ञा** हो जाती है। इस संज्ञा के बाद **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के बल से **अण्** और **कु, चु, टु, तु, पु** के ग्रहण से दूसरे का भी ग्रहण हो जायेगा किन्तु वहाँ पर ही ग्रहण होगा जहाँ पर, जिस सूत्र और वार्तिक में **कु, चु, टु, तु, पु** ऐसा उच्चारण किया गया हो, अन्यत्र **क** से **ख्, ग्** आदि का ग्रहण नहीं होगा।

क् और **च्** की आपस में सवर्ण संज्ञा नहीं होगी क्योंकि **क्** और **च्** का एक ही **स्पृष्ट प्रयत्न** होते हुए भी दोनों का **स्थान** भिन्न है। **ह्** और **न्** की **सवर्णसंज्ञा** नहीं होगी क्योंकि इन दोनों का आपस में स्थान भी भिन्न है और प्रयत्न भी भिन्न है। इस प्रकार से सवर्णसंज्ञा को समझना चाहिए और अच्छी तरह से याद भी होना चाहिए। याद रहे कि **सवर्णसंज्ञा** को जानने के लिये वर्णों का स्थान और प्रयत्न का जानना आवश्यक है। **स्थान** और **प्रयत्न** आगे बताये जा रहे हैं।

ऋलुवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। यह वार्तिक है। **ऋ** और **लृ** **वर्ण की आपस में सवर्णसंज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिए।**

ऋ और **लृ** इन दो वर्णों में स्थान का भेद है, अतः सूत्र से **सवर्णसंज्ञा** की प्राप्ति नहीं थी जिसके लिए **कात्यायन जी** ने वार्तिक बनाकर सवर्णसंज्ञा कर दी है। इससे **तवल्कारः** आदि की सिद्धि होगी, जिसका विषय आगे स्पष्ट होगा। इन दो वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा होने से अठारह प्रकार का **ऋ** और बारह प्रकार का **लृ** ये मिलकर तीस प्रकार के हो जाते हैं। एवं एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो जाता है। **सवर्णसंज्ञा** का मुख्य प्रयोजन **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के द्वारा **एक से दूसरे वर्ण का ग्रहण करना।**

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। **अठारह प्रकार के सभी अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का कण्ठ स्थान है।** जिस वर्ण की मुख के जिस भाग से उत्पत्ति होती है, वह स्थान वर्णों का **स्थान** है। **अकार, कवर्ग अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** और **विसर्जनीय** **विसर्ग** इनका उच्चारण सीधे **कण्ठ** से ही होता है, इसलिये इन वर्णों का **कण्ठस्थान** है।

इचुयशानां तालु। **अठारह प्रकार के सभी इकार, चवर्ग, यकार और शकार**

का तालु स्थान है। अब इकार, चवर्ग अर्थात च, छ, ज, झ, ञ, यकार और शकार इनके उच्चारण में तालु का विशेष प्रयोग होता है। अतः इनका तालुस्थान है। ऊपर वाले दातों के पीछे ऊपरी जो मांसल भाग है, जो कुछ खुरदरा सा लगता है, उसे तालु कहते हैं।

ऋटुरषाणां मूर्धा। अठारह प्रकार के सभी ऋकार, टवर्ग, रकार और षकार का मूर्धा स्थान है। ऋकार, टवर्ग अर्थात् ट, ठ, ड, ढ, ण, रकार और षकार का उच्चारण मूर्धा- जीभ को पीछे ले जाकर शिर के मध्यभाग के ठीक नीचे मुखभाग में जो कोमल भाग है, उससे होता है, अतः इनका मूर्धास्थान है। संस्कृत में शिर को मूर्धा भी कहते हैं।

लृतुलसानां दन्ताः। बारह प्रकार के सभी लृकार, तवर्ग, लकार और सकार का दन्त स्थान है। लृकार, तवर्ग अर्थात् त, थ, द, ध, न, लकार और सकार का उच्चारण जीभ के ऊपरी दातों से टकराने से होता है, अतः इनका दन्तस्थान है।

उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग, उपध्मानीय-विसर्ग का ओष्ठ स्थान है। उकार, पवर्ग अर्थात् प, फ, ब, भ, म और उपध्मानीय विसर्ग का उच्चारण दोनों होठों के टकराने से होता है, अतः इनका ओष्ठस्थान है:

ञमङणनानां नासिका च। ञ्, म्, ङ्, ण्, न् का नासिकास्थान भी होता है। तात्पर्य यह है कि इसके पहले ञ् का तालुस्थान, म् का ओष्ठस्थान, ङ् का कण्ठस्थान, ण् का मूर्धास्थान और न् का दन्तस्थान है, यह बताया जा चुका है। अब इनका नासिकास्थान भी होता है, ऐसा कहा जा रहा है। जैसे ञ् का तालुस्थान और नासिकास्थान है। इनका उच्चारण नाक की सहायता से होता है इसलिए नासिकास्थान भी बताया गया।

एदैतोः कण्ठतालु। ए और ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु से होता है, अतः इनका कण्ठतालु स्थान है।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। ओ, औ का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठ से होता है। अतः इनका कण्ठ-ओष्ठस्थान है।

वकारस्य दन्तोष्ठम्। वकार का दन्त-ओष्ठ स्थान है। वकार का उच्चारण दाँत और होठों से होता है। अतः वकार का दन्त+ओष्ठ=दन्तोष्ठस्थान है।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। जिह्वामूलीय विसर्ग का जिह्वामूलस्थान है, क्योंकि इसका उच्चारण सीधे जीभ के मूलभाग से होता है।

नासिकाऽनुस्वारस्य। अनुस्वार का उच्चारण नासिका के सहयोग से होता है, अतः अनुस्वार का नासिकास्थान है।

स्थान और प्रयत्न को कौमुदी में या अष्टाध्यायी में सूत्रों के द्वारा नहीं बताया गया किन्तु पाणिनीयशिक्षा आदि ग्रन्थों से लेकर यहाँ प्रयोग किया गया है।

जैसे वर्णसमाम्नाय अर्थात् चतुर्दश-सूत्रों में अ पढ़ा गया किन्तु आ नहीं पढ़ा गया, इ का उच्चारण है किन्तु ई का उच्चारण नहीं है फिर भी सवर्णसंज्ञा के बाद अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः के बल से अ से आ का ग्रहण, इ से ई का ग्रहण, उ से ऊ का ग्रहण जैसे होता है, उसी प्रकार से सवर्ण-संज्ञा के बाद अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः के बल से ए से ऐ का ग्रहण और ओ से औ का ग्रहण होना चाहिए तो ऐऔच् सूत्र बनाने की क्या जरूरत थी? इस विषय पर बताते हैं कि ये सूत्र बनाये नहीं गये हैं अपितु शंकर जी के डमरु से निकले हैं, यह सूत्र ज्यादा निकल कर के इस बात को प्रमाणित करता है कि ए और ऐ की तथा ओ और औ की आपस में सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

(अथ प्रयत्नाः)

यत्नो द्विधा- आभ्यन्तरो बाह्यश्च।
आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।
तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्।
ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्।
ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।
बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा- विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।
खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च।
हशः संवारा नादा घोषाश्च।
वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः।

....

सवर्णसंज्ञा के लिए **स्थान** और **प्रयत्न** का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह से याद हो कि पूछते ही तत्काल बता सकें। जैसे किसी ने पूछा कि **भ** का क्या स्थान है? तो एक क्षण भी लगाए बिना तत्काल उत्तर दे सकें कि **भ** का **ओष्ठस्थान** होता है। प्रमाण भी बता सकें कि **उपूपध्मानीयानामोष्ठौ**। वर्णो के **स्थान** के सम्बन्ध में बारम्बार अभ्यास करें। अपने साथियों के साथ बैठ कर के एक दूसरे से पूछें और उत्तर दें। इसी तरह का अभ्यास **प्रयत्न** के सम्बन्ध में भी करें।

स्थान जानने के बाद **प्रयत्न** की जिज्ञासा होती है, क्योंकि **सवर्ण-संज्ञा** में **प्रयत्न** की भी आवश्यकता होती है। अतः आगे **प्रयत्न** बताये जा रहे हैं।

यत्नो द्विधा- आभ्यन्तरो बाह्यश्च। प्रयत्न दो प्रकार के हैं- एक **आभ्यन्तर-प्रयत्न** और दूसरा **बाह्य-प्रयत्न**।

आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। पहला आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत के भेद से पाँच प्रकार का है।

तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। उनमें स्पर्शसंज्ञक वर्णों का **स्पृष्ट-प्रयत्न** है। (**क** से **म** तक के वर्ण **स्पृष्टसंज्ञक** हैं।)

ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। अन्तःस्थसंज्ञक वर्णों का **ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न** है। (यण् प्रत्याहारस्थ य्, व्, र्, ल् ये वर्ण **अन्तःस्थसंज्ञक** होते हैं।)

ईषद्विवृतमूष्मणाम्। ऊष्मसंज्ञक वर्णों का **ईषद्विवृत-प्रयत्न** है। (शल् अर्थात् श्, ष्, स्, ह् ये **ऊष्मसंज्ञक** हैं।)

विवृतं स्वराणाम्। स्वरसंज्ञक वर्णों का **विवृत-प्रयत्न** है। (अच् ही **स्वरसंज्ञक** हैं।)

ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। ह्रस्व अवर्ण का प्रयोग अवस्था अर्थात् उच्चारणावस्था में **संवृत-प्रयत्न** और साधनिका अवस्था अर्थात् **प्रयोगसिद्धि** की अवस्था में **विवृत-प्रयत्न** ही रहता है।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा- विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष,

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।
कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः।
शल ऊष्माणः। अचः स्वराः।
⌣ क ⌣ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।
⌣ प ⌣ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः।
अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

....

अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद **बाह्यप्रयत्न** ग्यारह प्रकार का होता है।

अच् प्रत्याहारस्थ वर्णों का **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** प्रयत्न होते हैं, क्योंकि पहले ही इनकी ये संज्ञाएँ की जा चुकी है।

खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। खर् प्रत्याहारस्थ वर्णों का विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न है। खर् प्रत्याहार अर्थात् **ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्** इन सबका **विवार, श्वास, अघोष** ये तीनों प्रयत्न हैं।

हशः संवारा नादा घोषाश्च। हश् प्रत्याहार के वर्णों का संवार, नाद और घोष प्रयत्न है। हश् प्रत्याहार में **ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये वर्ण आते हैं, इन सबों का **संवार, नाद, घोष** ये तीनों प्रयत्न हैं।

वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम अक्षर और यण् का अल्पप्राण प्रयत्न होता है। वर्ग के प्रथम अक्षर हैं- **क्, च्, ट्, त्, प्,** तृतीय हैं- **ग्, ज्, ड्, द्, ब्,** पंचम अक्षर हैं- **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** और यण् हैं- **य्, व्, र्** और **ल्**। इनका अल्पप्राण प्रयत्न है।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ अक्षर और शल् का महाप्राण प्रयत्न होता है। वर्ग के द्वितीय अक्षर हैं- **ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्** और चतुर्थ हैं- **घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्** तथा शल् हैं- **श्, ष्, स्, ह्**। इनका महाप्राण प्रयत्न है।

अल्पप्राण और **महाप्राण** प्रयत्न, ये दोनों पृथक् प्रयत्न होते हुए भी किसी भी वर्ण का केवल अल्पप्राण अथवा केवल महाप्राण प्रयत्न नहीं होता अपितु संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण या संवार, नाद, घोष, महाप्राण तथा विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण या विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न, इस प्रकार से प्रत्येक वर्ण के चार-चार प्रयत्न होते हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि विसर्ग के तीन भेद हैं- **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग, जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय**। विसर्ग को **विसर्जनीय** के रूप में व्यवहार होता है।

⌣ क ⌣ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ⌣ क ⌣ ख ऐसे में **क** और **ख** से पहले आने वाला आधा विसर्ग जैसा जो होता है, वह **जिह्वामूलीय विसर्ग** माना जाता है।

⌣ प ⌣ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। ⌣ प ⌣ फ ऐसे में **प** और **फ** से पहले आने वाला आधा विसर्ग जैसा जो होता है, वह उपध्मानीय विसर्ग माना जाता है।

'अ'आदिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

११. अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९॥

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः।
अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्।
अत्रैवाण् परेण णकारेण।
कु-चु-टु-तु-पु एते उदितः।
तदेवम्- अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ।
ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्।
अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा; तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञाः।

....

अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। अं में जैसे अकार के ऊपर का एक विन्दु **अनुस्वार** है, वैसे ही सभी अच् वर्णों के ऊपर का एक विन्दु **अनुस्वार** कहलाता है और **अः** में जैसे अकार के बाद का दो बिन्दु **विसर्ग** है, वैसे ही सभी अच्(स्वर) वर्णों के बाद का दो बिन्दु **विसर्ग** कहलाता है।

मकार और **नकार** के स्थान पर आदेश होकर **अनुस्वार** बनता है और **रेफ** के स्थान पर आदेश होकर **विसर्ग** बनता है, इस विषय को हम आगे स्पष्ट करेंगे।

हम छात्रों को बारम्बार यह समझा रहे हैं कि जब तक **संज्ञाप्रकरण** पूर्णतया कण्ठस्थ नहीं होगा और जब तक एक एक अक्षर को नहीं समझेंगे तथा जब तक **प्रत्याहार, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक, स्थान, प्रयत्न, सवर्णसंज्ञा, सवर्णग्रहण, संहितासंज्ञा, पदसंज्ञा, इत्संज्ञा** आदि नहीं समझेंगे तब तक आगे पढ़ना व्यर्थ है, क्योंकि इनके विना आगे कुछ समझ में ही नहीं आयेगा।

११- अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। अण् प्रथमान्तम्, उदित् प्रथमान्तं, सवर्णस्य षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदम्, अप्रत्ययः प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **प्रत्यय** शब्द यौगिक अर्थ में लिया जाता है, न कि व्याकरणशास्त्र में संज्ञा से बोध्य सुप्-तिङ् आदि प्रत्यय। इसीलिए जिसका विधान किया जाता है, उसे प्रत्यय कहते हैं, अर्थात् जो **विधेय** हो उसे **प्रत्यय** कहते है और जो विधेय नहीं है, वह **अप्रत्यय** है।

अप्रत्यय अण् और उदित् ये सवर्ण के बोधक अर्थात् ग्राहक होते हैं।

कु, चु, टु, तु, पु ये ही उदित् हैं, क्योंकि इन पाँचों की ही प्राचीन आचार्यों ने **उदित्** संज्ञा की है।

जिस सूत्र में अण् विधीयमान अर्थात् विधेय नहीं है, वहाँ एक अण् प्रत्याहार के वर्ण से उसके अन्य **सवर्णी** वर्णों का ग्रहण किया जाता है। जैसे **इको यणचि** में में **इक्** प्रत्याहार से केवल **इ, उ, ऋ** और **लृ** ही नहीं लिए जाते अपितु **ई, ऊ, ॠ** आदि **दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** आदि सभी अठारह भेदों का ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन वर्णों की आपस में **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** से **सवर्णसंज्ञा** हुई है। वे यदि **अण्** प्रत्याहार में आते हैं तो वे अपने सवर्णियों के **ग्राहक** अर्थात् **बोधक** होते हैं। एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो जाता है। यह नियम अण्

1/4/108

संहितासंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१२. परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९॥

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

....

के लिए है। शेष वर्णों में उदित होना जरूरी है, तभी सवर्ण का ग्रहण किया जायेगा। जैसे **कुहोश्चुः, चोः कु** आदि सूत्रों में उकारयुक्त **कु, चु** आदि पढ़े गये हैं। ऐसे स्थलों पर सवर्ण का ग्रहण होगा, अन्यत्र **क, च** से अपने सवर्णियों का बोध नहीं होगा।

अत्रैवाण् परेण णकारेण। इस सूत्र में अण् प्रत्याहार को पर णकार अर्थात् लण् के **णकार** को लेकर माना गया है, अन्यत्र सर्वत्र **अइउण्** वाले **णकार** को लेकर ही अण् प्रत्याहार माना जाता है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में कथित अण् से **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल** का बोध होता है और अन्यत्र अण से **अ, इ, उ** का मात्र बोध होता है।

तदेवम्- अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। इस प्रकार से **अ** से अठारह प्रकार के **अकार** का बोध अथवा ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार **इकार** और **उकार** से भी अठारह-अठारह प्रकार के **इकार** और **उकार** का ही बोध अर्थात् ग्रहण किया जाता है।

ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। ऋकार से तीस प्रकार के **ऋकार** (अठारह प्रकार के ऋकार तथा बारह प्रकार के लृकार) का बोध अर्थात् ग्रहण किया जाता है। इसी तरह **लृकार** से भी तीस ही प्रकार का बोध होता है, क्योंकि **ऋकार** और **लृकार** की **सवर्णसंज्ञा** होती है। अतः ये दोनों वर्ण आपस में सवर्णी हैं। जहाँ ये विधीयमान नहीं हैं, वहाँ पर ऋकार से ऋकार के अठारह भेद और लृकार के बारह भेद इसी प्रकार लृकार से भी ऋकार और लृकार के सभी भेद वाले ग्रहण किये जाते हैं। इसका फल आगे स्पष्ट किया जायेगा।

एचो द्वादशानाम्। एच् के प्रत्येक ए, ओ, ऐ, औ वर्णों से बारह-बारह प्रकार के भेदों सहित **एचों** का ग्रहण किया जाता है।

अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा; तेनानुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा। य्, व्, ल् ये वर्ण यँ, वँ, लँ के रूप में अनुनासिक और य्, व्, ल् के रूप में अननुनासिक(निरनुनासिक) हैं। अतः **य्, व् ल्** से अनुनासिक और **अननुनासिक** दोनों प्रकार के **यकार, वकार, लकार** का बोध होता है।

इस तरह से पहले **अइउण्** आदि सूत्रों का पठन, उसके बाद अन्त्य वर्ण की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** से लोप करके **आदिरन्त्येन सहेता** से प्रत्याहार बनाने के बाद उन **अचों** की **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञा**, उसके बाद **उदात्त-अनुदात्त-स्वरितसंज्ञा**, उसके बाद **अनुनासिक** और **अननुनासिकसंज्ञा** करके वर्णों के **स्थान** एवं **प्रयत्न** को जानने के बाद जिनका आपस में **स्थान** और **प्रयत्न** मिलते हैं, उनकी **सवर्णसंज्ञा** करके उन **सवर्णियों** का **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** से ग्रहण किये जाने के **वर्णाश्रित-प्रक्रिया** को आप अच्छी तरह से समझ गये होंगे। अब इन्हीं **प्रत्याहार, स्थान, प्रयत्न, सवर्णसंज्ञा** और **सवर्णियों** का ग्रहण आदि करके सूत्रों से अनेक कार्य किये जाते हैं। अच्सन्धि से लेकर स्त्रीप्रत्यय तक **प्रत्याहार, स्थान, प्रयत्न** एवं **सवर्णसंज्ञा** की नितान्त आवश्यकता होती है।

संयोगसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७॥

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

....

१२- परः सन्निकर्षः संहिता। परः प्रथमान्तं, सन्निकर्षः प्रथमान्तं, संहिता प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

वर्णों की अत्यन्त सन्निधि संहितासंज्ञक होती है अर्थात् वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता कहते हैं।

आगे जाकर के हमें दो शब्दों के बीच **सन्धि** करनी है और सन्धि करने वाले सारे सूत्र **संहिता के विषय में** ही कार्य करते हैं। **संहिता** भी एक **संज्ञा** ही है। जिनकी आपस में **संहितासंज्ञा** नहीं हुई, उनकी **सन्धि** नहीं हो सकती। इस लिए यहाँ **सन्धिप्रकरण** में प्रवेश करने के पहले इस सूत्र के द्वारा **संहितासंज्ञा** की जाती है।

संहितासंज्ञा वहीं होगी जहाँ सन्धि किये जाने वाले वर्ण आपस में अत्यन्त नजदीक में बैठे हों। जैसे **राम+अवतार** में **राम** के **म्** के बाद जो **अ** है वह **अवतार** के आदि **अ** के अत्यन्त समीप में है। अतः दोनों **अकारों** की आपस में **संहितासंज्ञा** हो गई और **सन्धिप्रकरण** के सूत्र **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घसन्धि होकर **रामावतार** बन जाता है। यदि **राम** के बाद बीच में कुछ और वर्ण आ जायें और उसके बाद **अवतार** बोला जाय तो **राम+..........अवतार** में सन्धि नहीं हो सकती, क्योंकि **राम** और **अवतार** के बीच (अन्य वर्ण) अधिक काल(समय आदि) का व्यवधान है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन दो वर्णों की **सन्धि** होनी है, उनके बीच में किसी वर्ण को नहीं होना चाहिये और समय भी तत्काल ही होना चाहिये। किसी ने **राम** ऐसा अभी बोला और एक घण्टे के बाद **अवतार** बोला तो भी सन्धि नहीं होगी क्योंकि वहाँ भी वर्णों की अत्यन्त सन्निधि अर्थात् समीपता नहीं है। तात्पर्य यह है कि लिखने, पढ़ने, बोलने, सुनने में वर्णों की अत्यन्त समीपता चाहिए सन्धि के लिए।

१३- हलोऽनन्तराः संयोगः। हलः प्रथमान्तम्, अनन्तराः प्रथमान्तं, संयोगः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अचों से अव्यवहित हल् संयोगसंज्ञक होते हैं।

संयोग माने **साथ होना**। संसार में विजातीयों के साथ होने को भी **संयोग** कहा जाता है किन्तु व्याकरण में सजातीय **हल्-हल्** के साथ होने पर ही संयोग माना गया है। हल्त्वेन सजातीय ही ग्राह्य है। **हलः** यह बहुवचन सामान्यतया गृहीत है अर्थात् द्विवचन को सामान्यतया बहुवचन से ही ग्रहण किया गया है जिससे दो और दो से अधिक वर्णों के बीच में कोई भी अच् न हो तो उन सभी हलों के समुदाय अर्थात् समूह की **संयोगसंज्ञा** होती है। जैसे **देवदत्त, शर्मा, सिद्ध, पत्नी** आदि। यहाँ पर दत्त में दो **तकार** हैं और दोनों के बीच में कोई भी अच् अर्थात् स्वर वर्ण नहीं है। इसीलिये **त्-त्** इस हल् समुदाय की **संयोगसंज्ञा** हो जाती है। इसी प्रकार **पत्नी** में त् और न् के बीच में कोई भी **अच्** नहीं है, अतः **त्-न्** इस हल्समुदाय की **संयोगसंज्ञा** हो जाती है।

पदसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१४. सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४॥

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम्॥१॥

....

१४- सुप्तिङन्तं पदम्। सुप् च तिङ् च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः सुप्तिङौ, तौ अन्तौ यस्य (शब्द स्वरूपस्य) तत् सुप्तिङन्तम्(बहुव्रीहिः)। सुप्तिङन्तं प्रथमान्तं, पदं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

सुबन्त और तिङन्त पदसंज्ञक होते हैं।

सुप् प्रत्यय आगे **अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण** में तथा **तिङ्** प्रत्यय भ्वादिप्रकरण में बताये जायेंगे। **सु, औ, जस्** आदि **सु** से **सुप्** तक के प्रत्यय जिन शब्दों में लगे हुये हैं, उन शब्दों को **सुबन्त** और **तिप्, तस्, झि** आदि से **वहि, महिङ्** तक के प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में लगे हों उन्हें **तिङन्त** कहते हैं। ऐसे **सुबन्त** और **तिङन्त** शब्दों की **पदसंज्ञा** इस सूत्र से की जाती है। **पदसंज्ञा** करने के बाद ही वह **पद** कहलाता है। **पद** होने के बाद ही इसका व्यवहार लोक में होता है। अपदं न प्रयुञ्जीत अर्थात् जो पद नहीं है, वह लोक में व्यवहार के योग्य नहीं होता।

एक बात और जानना जरूरी है कि **क्ष, त्र, ज्ञ** ये अक्षर स्वतन्त्र नहीं हैं अपितु दो-दो अक्षरों के संयोग से बने हैं। जैसे- **क्+ष्=क्ष, त्+र्=त्र, ज्+ञ=ज्ञ**। इस प्रकार से **क्ष** का कण्ठ और मूर्धास्थान, **त्र** का दन्त और मूर्धा स्थान तथा **ज्ञ** का तालु और नासिका स्थान है।

इस तरह **लघुसिद्धान्तकौमुदी** के **सञ्ज्ञाप्रकरण** में चौदह ही सूत्र बताये गये हैं। **अष्टाध्यायी** के प्रथम अध्याय में संज्ञाविधायक अनेक सूत्र हैं। उनमें केवल तेरह संज्ञासूत्र और एक **तस्य लोपः** विधिसूत्र को मिलाकर के इन चौदह सूत्रों को लेकर बनाये गये प्रकरण को **संज्ञाप्रकरण** कहना कितना उचित है? क्या इसके बाद संज्ञाविधायक सूत्र नहीं आते? इस पर यह कहा जाता है कि **सन्धि** आदि के लिए सामान्यतः उपयोगी सूत्रों को ही इस प्रकरण में लिया गया है। तत्तत् कार्यविशेष के लिए यथास्थान उन-उन संज्ञाओं का कथन वहीं पर किया जाता है। जैसे अच्सन्धि में **टिसंज्ञा**, हल्सन्धि में **आम्रेडितसंज्ञा**, षड्लिङ्गों में **प्रातिपदिकसंज्ञा** आदि आदि। यह सन्ध्युपयोगी संज्ञाओं का प्रकरण है।

व्याकरण के सूत्रों की ६ श्रेणियाँ है अर्थात् ६ प्रकार के सूत्र होते हैं।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

१- संज्ञासूत्र, २- परिभाषासूत्र, ३- विधिसूत्र, ४- नियमसूत्र, ५- अतिदेशसूत्र और ६- अधिकारसूत्र।

१- संज्ञासूत्र। जो सूत्र संज्ञाओं का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र संज्ञासूत्र या **संज्ञाविधायक** सूत्र कहलाते हैं। जैसे- **हलन्त्यम्, अदर्शनं लोपः, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** आदि।

२- परिभाषासूत्र। जो अनियम होने पर नियम करते हैं, ऐसे सूत्र **परिभाषासूत्र** कहलाते हैं। जैसे- **स्थानेऽन्तरतमः, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्, अनेकाल्शित् सर्वस्य** आदि।

३- विधिसूत्र। जो सूत्र यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घ, प्रत्यय, आदेश आदि का विधान करते हैं, ऐसे

आद्गुणः, वृद्धिरेचि, सूत्र विधिसूत्र कहलाते हैं। जैसे- **इको यणचि, एचोऽयवायावः, आद्गुणः, वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः** आदि।

४- नियमसूत्र। किसी सूत्र के द्वारा कार्य सिद्ध होते हुए उसी कार्य के लिए यदि किसी अन्य सूत्र को पढ़ा गया हो तो वह सूत्र **नियमसूत्र** कहलाता है। **सिद्धे सत्यारम्भमाणो विधिर्नियमाय भवति** अर्थात् सिद्ध होने पर भी पुनः विधान करने से एक विशेष नियम का संकेत उससे प्राप्त होता है। जैसे- **रात्सस्य, पतिः समास एव, एच इग्घ्रस्वादेशे।**

५- अतिदेशसूत्र। जो वैसा नहीं है, उसे वैसा मानना अतिदेश है। जैसे कि शिष्य जो गुरु नहीं है, अब उसे गुरु के तुल्य माना जाय। सूत्र भी बहुत स्थानों पर ऐसा कार्य करते हैं। ऐसे सूत्रों को अतिदेशसूत्र कहा गया है। जैसे- **अन्तादिवच्च, स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तृज्वत्क्रोष्टुः** इत्यादि।

६- अधिकारसूत्र। कुछ सूत्र ऐसे होते हैं जो अपने क्षेत्र में कोई कार्य नहीं करते किन्तु अन्य सूत्रों के क्षेत्र में अपना अधिकार रखते हैं, उसके सहायक बनते हैं। ऐसे सूत्र अधिकारसूत्र हैं। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, धातोः** आदि।

सूत्रों में अनुवृत्ति की भी प्रक्रिया है जो **हलन्त्यम्** सूत्र की व्याख्या में बता चुके हैं। अनुवृत्ति और अधिकार में कुछ साम्य है, अन्तर यह है कि **अधिकारसूत्र** अपने क्षेत्र में कोई काम नहीं करता किन्तु उत्तरसूत्र में उसकी सहायता के लिए उपस्थित होता है और **अनुवृत्ति** में वह शब्द अपने क्षेत्र में काम करते हुए उत्तरसूत्र के सहायतार्थ उपस्थित होता है।

अभ्यासः-

अब आपका **संज्ञाप्रकरण** पूर्ण हुआ। संज्ञाप्रकरण पूर्ण रूपेण **शब्दतः** और **अर्थतः** कण्ठस्थ हो जाय तभी आगे के प्रकरण पढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। अन्यथा आगे पढ़ना कठिन हो जायेगा। जैसे मकान बनाने वाले से कह दिया जाय कि जमीन से ऊपर एक हाथ छोड़कर तब ईंट लगाओ तो खाली जगह छोड़कर एक हाथ ऊपर कैसे ईंटें लग सकती हैं? ठीक इसी प्रकार व्याकरण रूपी मकान खड़ा करने के लिये सारे सूत्र, अर्थ, साधनी, स्थान, प्रयत्न, प्रत्याहार, संज्ञा, आदेश, आगम रूपी ईंटें तैयार हों और उन्हें क्रमशः बुद्धि एवं मस्तिष्क रूपी भूखण्ड के ऊपर बैठाते जाना होगा।

एक बात और भी ध्यान में रखें कि **पाणिनि जी** के लगभग ४००० सूत्रों एवं **कात्यायन जी** के वार्तिकों से ही कौमुदी आदि ग्रन्थ बनाये गये हैं। यदि आप **अष्टाध्यायी** के सभी सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं तो व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान करने में बड़ी सुविधा होगी। उन्हें कण्ठस्थ करने का सरल उपाय है प्रतिदिन **अष्टाध्यायी** का पारायण अर्थात् पाठ करना। जिस तरह से हम प्रतिदिन अपने नित्यकर्म में अपने आराध्यदेव की स्तुति का नित्य पाठ करते हैं उसी तरह जब तक कण्ठस्थ न हो जाय तब तक **अष्टाध्यायी** के एक अध्याय के हिसाब से प्रतिदिन पारायण करें। पहले माह में प्रथम अध्याय, दूसरे माह में दूसरा अध्याय, इसी क्रम से आठ माहों में आठों अध्यायों का पारायण हो जायेगा। मेधावी छात्र को इस तरह से आठ माह में पूरी अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जायेगी और जिनको देर से कण्ठस्थ होता है, उन्हें अगली आवृत्ति अर्थात् सोलह माहों में कण्ठस्थ हो जायेगी। अतः अब अष्टाध्यायी का पारायण इस परीक्षा के बाद अनिवार्यतया प्रारम्भ कर दें।

निम्नलिखित प्रश्नावली छात्र अपनी लेखनपुस्तिका में उतारें, अच्छी तरह से मिला लें और दो दिन के लिये पुस्तक को कपड़े बाँधकर रखें और उनकी पूजा करें। इन प्रश्नों का उत्तर लिखने का समय पाँच घण्टे से ज्यादा नहीं होना चाहिये। दो सत्र में पूरा करें और एक ही दिन में ही करें। दूसरे दिन सभी छात्र बैठ कर ३-३ घण्टे आपस में संवाद करें। जो आपको आता है, वो तो ठीक है, और जो आपको नहीं आता, उसे गुरु जी से पूछने में संकोच न करें। कमजोर साथी को सीखाकर अपने साथ चलने में सहयोग दें। ध्यान रहे कि दूसरों को देने पर ही विद्या बढ़ती है। एक तो आपका ज्ञान बढ़ता है और दूसरा दूसरों का उपकार होता है। कभी अपने ज्ञान पर घमण्ड न करें। पढ़े हुये विषय को विस्मृत होने (भूलने) से बचने के लिये प्रतिदिन एक घण्टा आवृत्ति अवश्य करें (दुहरायें)। अपने गुरु जी का सम्मान करें, उन्हें प्रणाम करें। ध्यान रखें कि प्रणाम का फल आशीर्वाद ही है और गुरु के विना पूर्ण ज्ञान नहीं होता। पुस्तक तो सहयोगी मात्र है।

अब आपके अभ्यास के लिये पचास प्रश्न रखे गये हैं। प्रत्येक प्रश्न के सही उत्तर के लिये एक अंक मिलेंगे। आपको तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिये ३५ से ४० अंक, द्वितीय श्रेणी के लिये ४० से ४५ अंक और प्रथम श्रेणी के लिये ४५ से ५० अंक प्राप्त करने होंगे।

परीक्षार्थ प्रश्नावली

१. माहेश्वरसूत्रों की संख्या कितनी हैं?

२. **माहेश्वरसूत्रों** में अचों को कितने सूत्रों से और हलों को कितने सूत्रों से दर्शाया गया है?

३. **हयवर** आदि का अकार हल् प्रत्याहार में क्यों नहीं आता?

४. चतुर्दशसूत्रों का क्या प्रयोजन है?

५. इत्संज्ञा का क्या फल है?

६. **हलन्त्यम्** सूत्र क्या काम करता है?

७. **अदर्शन** का क्या अर्थ है?

८. **अण्, अच्, हल्** आदि प्रत्याहार संज्ञा करने वाला सूत्र कौन है?

९. व्याकरण में कितने प्रत्याहारों का व्यवहार किया गया है?

१०. किन्हीं दश प्रत्याहारों के वर्णों को प्रत्याहार के क्रम से लिखिये?

११. **दीर्घसंज्ञा** का विधान करने वाला सूत्र बताइये?

१२. हल् वर्णों की ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञायें क्यों नहीं होती है?

१३. समाहार किसे कहते हैं?

१४. किन-किन अचों के बारह भेद और किन-किन अचों के अठारह भेद होते हैं?

१५. एचों के बारह भेद ही क्यों हैं?

१६. किस अच् का दीर्घ नहीं होता और किस अच् का ह्रस्व नहीं होता?

१७. अननुनासिक किसे कहते हैं?

१८. स्थान और प्रयत्न क्या हैं?

१९. ब्, ह्, य्, ठ्, घ्, अ, ॠ, श्, भ्, ञ्, ग्, औ, ऐ इनका स्थान बताइये?

२०. ब् और ग् की सवर्णसंज्ञा क्यों नहीं होती?

२१. सवर्णसंज्ञा करने वाला सूत्र बताइये?

२२. **ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्** वार्तिक की क्यों आवश्यकता पड़ी?
२३. यदि **आदिरन्त्येन सहेता** यह सूत्र न हो तो क्या हानि है?
२४. पाणिनि जी ने कौन सा ग्रन्थ बनाया?
२५. **व्याकरण-महाभाष्य** नामक ग्रन्थ किसने बनाया है?
२६. उपदेश किसे कहते हैं?
२७. आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों के भेद बताइये?
२८. संज्ञाप्रकरण के सूत्र अष्टाध्यायी के किस अध्याय के हैं?
२९. वर्ग के सभी पाँचवें अक्षर लिखिए।
३०. सूत्र कितने प्रकार के होते हैं, उदाहरण सहित बताइये।
३१. लघुसिद्धान्तकौमुदी, मध्यसिद्धान्तकौमुदी और वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के रचयिता कौन हैं?
३२. व्याकरण के त्रिमुनि कौन-कौन हैं?
३३. स्पर्शसंज्ञक वर्णों को क्रमशः लिखिये।
३४. **पाणिनीयाष्टाध्यायी** में लगभग कितने सूत्र हैं?
३५. संयोगसंज्ञा क्या है, सूत्र सहित लिखिये।
३६. सुबन्त और तिङन्त किसे कहते हैं?
३७. सन्धि करने के पहले कौन सी संज्ञा होती है?
३८. ब् किस वर्ग में आता है?
३९. ऊष्मसंज्ञा किन वर्णों की होती है?
४० **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** यह सूत्र किन किन वर्णों की इत्संज्ञा करता है?
४१. शिवसूत्रों में कौन कौन से वर्ण दो दो बार आये हैं?
४२. लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञाप्रकरण में कितने सूत्र और वार्तिक हैं?
४३. **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** इस सूत्र की आवश्यकता संक्षेप में समझाइये।
४४. विसर्ग कितने होते हैं? विवरण सहित बताइये।
४५. मंगलपद्य का समास-विग्रह बताइये।
४६. गु इस वर्णसमुदाय में हल् क्या है और अच् क्या?
४७. सूत्र के साथ लिखे गये तीन प्रकार के अंक क्या बताते हैं?
४८. य, वं, ल् इनके कितने कितने भेद हैं?
४९. संयोगसंज्ञा के लिये हलों में किन अक्षरों का व्यवधान नहीं होना चाहिये?
५०. **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** इस सूत्र का हिन्दी में अर्थ बताइये।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का संज्ञाप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथाच्सन्धिः

यणूसन्धिविधायकं विधिसूत्रम् 6/1/75

१५. इको यणचि ६।१।७७

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये।

सुधी+उपास्य इति स्थिते।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब **अच्सन्धिप्रकरण** प्रारम्भ होता है। **अच्** एक प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत **अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ** ये वर्ण आते हैं जो ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक इन सभी भेदों के साथ यहाँ पर ग्रहण किये जाते हैं। ऐसे **अच्** अर्थात् **स्वरों की सन्धि**। सन्धि का अर्थ है- जोड़। **दो अचों का जोड़**। पूर्व शब्द के **अन्त में अच्** और पर शब्द के **आदि में अच्** हो और उनकी जो **सन्धि** हो, उसे **अच्सन्धि** कहते हैं। पूर्व और पर का व्यवहार वहीं होता है, जहाँ दो हों। शब्द के सम्बन्ध में पहला शब्द **पूर्व** कहलायेगा और दूसरा शब्द **पर** कहलायेगा। यदि केवल दो ही स्वर हों, दो ही **अच्** हों तो पूर्व और पर के अक्षर ही लिए जाते हैं। अच्सन्धि में पूर्व और पर में केवल अचों की ही सन्धि होगी किन्तु हल्सन्धि में पूर्व में हल् ही हो किन्तु पर में प्रायः हल् हो और कहीं-कहीं पर में अच् हो तो भी सन्धि हो जाती है। विसर्ग को लेकर होने वाली सन्धि को **विसर्गसन्धि** कहते हैं। इसी प्रकार हलों को लेकर होने वाली सन्धि को **हल्सन्धि** कहते हैं और **अचों की सन्धि** को **अच्सन्धि** कहते हैं। सन्धि हो जाने के बाद दो शब्दों को प्रायः एक ही स्थान पर लिखा जाता है।

आपके हाथों में दो रस्सियाँ हैं और आप उन्हें गाँठ लगाकर जोड़ना चाहते हैं तो आप दोनों रस्सियों को दो हाथों में लेंगे। बायें हाथ की रस्सी के अन्तिम भाग और दायें हाथ की रस्सी के शुरुवाती भाग को लेकर गाँठ लगाते हैं। अर्थात् जब दो भागों को जोड़ना हो तो पूर्व का अन्त भाग और पर का आदि भाग ही काम में लिया जाता है।

सन्धि हो जाय, ऐसा विधान सूत्र करते हैं। सूत्र और वार्तिक ही व्याकरण में शास्त्र हैं और जो भी काम यहाँ होगा, वह सूत्रों के आदेश से ही होगा। अब आइये, सब से पहले अचों की सन्धि को समझते हैं। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** के अच्सन्धिप्रकरण में यण्सन्धि, अयादिसन्धि, गुणसन्धि, वृद्धिसन्धि, पररूपसन्धि, सवर्णदीर्घसन्धि, पूर्वरूपसन्धि और प्रकृतिभाव ये सन्धियाँ बताई गई हैं।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

१६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

....

प्रायः पूरे **सन्धिप्रकरण** में **संहितायाम्** का अधिकार रहता है। **संहिता** एक संज्ञा है जो **परः सन्निकर्षः संहिता** से होती है। **संहिता** मे ही सन्धि के विधान होने के कारण **वर्णों की अत्यन्त समीपता रहने पर ही सन्धिकार्य होता है।**

१५- **इको यणचि**। इकः षष्ठ्यन्तं, यण् प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

इक् के स्थान पर यण् होता है, अच् परे होने पर, संहिता के विषय में।

यह सूत्र यण्सन्धि अर्थात् यण् आदेश का विधान करता है। अतः यह यण् आदेश-विधायक विधिसूत्र है। सारे सूत्र सभी जगहों पर नहीं लगते। उनकी कुछ शर्तें होती हैं। जो उनकी शर्तों को पूरा करता है, वहीं पर सूत्र प्रवृत्त होते हैं अर्थात् सूत्र लगते हैं। जैसे यण् आदेश करने के लिए **इको यणचि** इस सूत्र ने शर्त रखी कि जहाँ **पूर्व में इक्** प्रत्याहार का वर्ण हो और पर में **अच्** प्रत्याहार का वर्ण हो, वहाँ **इक्** प्रत्याहार वाले वर्णों के स्थान पर मैं **यण्** आदेश करूँगा। **इक्** प्रत्याहार में **इ, उ, ऋ, ऌ** ये वर्ण आते हैं और **अच्** प्रत्याहार में **अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ** ये वर्ण आते हैं। जिस जगह पूर्व में **इक्** प्रत्याहार के इ, उ, ऋ, ऌ में से कोई भी एक वर्ण हो और पर में **अच्** प्रत्याहार के अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ में से कोई भी एक वर्ण हो तो **इक्** के स्थान पर **यण्** अर्थात् **य्, व्, र्, ल्** ये वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त हो जाते हैं। जैसे- **सुधी+उपास्यः** में **धी** का **ईकार** इक् है और **उपास्यः** वाला **उकार** अच् है और वह पर में विद्यमान है। अतः **धी** के **ईकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** ये चारों यण् आदेश के रूप में प्राप्त हुए।

जो भी **आदेश** होता है, वह **किसी वर्ण के स्थान पर** ही होता है अर्थात् उसे हटाकर ही होता है। यहाँ **ई** के स्थान पर **यण्** आदेश के रूप में **ई** को हटाकर बैठना चाहते हैं। यहाँ पर **संहिता का विषय** भी है, क्योंकि **सुधी+उपास्यः** में **परः सन्निकर्षः संहिता** से **संहितासंज्ञा** हो चुकी है। **धी** के **ई** और **उपास्यः** के **उ** की अत्यन्त समीपता अर्थात् अत्यन्त सन्निधि है। अतः यह **संहिता** है।

१६- **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**। तस्मिन् सप्तम्यन्तानुकरणम्, इति अव्ययपदं, निर्दिष्टे सप्तम्यन्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

सूत्र में सप्तमी-विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट कार्य व्यवधान रहित पूर्व वर्ण के स्थान पर होता है।

किसी सूत्र के द्वारा किसी वर्णविशेष के परे होने पर किसी वर्णविशेष के स्थान पर किसी कार्य का विधान किया जाता है तो वह कार्य पर से अव्यवहित पूर्व अर्थात् पूर्व और पर के बीच में किसी वर्ण आदि का व्यवधान न हो, ऐसी स्थिति में पूर्व के स्थान पर कार्य होवे। दो के बीच में किसी अन्य का होना व्यवधान है और दो के बीच में किसी का न होना अव्यवधान है। यह सूत्र **व्यवधान न हो** ऐसा कहता है अर्थात् **पर से पूर्व में अव्यवधान होने पर ही कार्य हो**, ऐसा नियम करता है। जैसे- **सुधी+उपास्यः**(स्+उ=सु, ध्+ई=धी, उ+प्+आ) यहाँ पर **सु** का **उकार** इक् है और उससे **धी** का ईकार अच् परे है,

[1|1|49]

१७. स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्।

सुध्य् उपास्य इति जाते।

....

इसी तरह **धी** का **ईकार** इक् है और उससे परे अच् है **उपास्यः** उकार और **उपास्यः** के उकार को इक् मानकर **पा** का आकार अच् परे है। ऐसी स्थिति में **सु** के **उकार** के स्थान पर, **धी** के **ईकार** के स्थान पर और **उपास्यः** के **उकार** के स्थान पर यण् प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक प्रकार का अनियम हुआ, वह यह कि **धी** के **ईकार** को अच् परे मानकर **सु** के **उकार** के स्थान पर यण् किया जाय अथवा उपास्यः के उकार को अच् परे मानकर धी के ईकार के स्थान पर यण् किया जाय अथवा **पा** के **आकार** को अच् परे मानकर **उपास्यः** के उकार के स्थान पर यण् किया जाय? अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को **परिभाषासूत्र** कहते हैं। **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।** नियम करने के लिए परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है। सभी **परिभाषा सूत्र** अपनी-अपनी प्रवृत्ति के योग्य स्थलों को देखकर उन उन विधि सूत्रों में उपस्थित होते हैं।

इस सूत्र ने यह विधान किया कि सप्तमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट जो वर्ण या शब्द, उससे व्यवधान रहित पूर्व वर्ण के स्थान पर आदेश आदि कार्य करना चाहिए अर्थात् **पूर्व और पर के बीच में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए।** यण्विधायक सूत्र है- **इको यणचि।** उसमें सप्तम्यन्त पद है- **अचि।** अच् के परे होने पर अच् से व्यवधान रहित पूर्व में विद्यमान इक् के स्थान पर यण् होवे। प्रकृत प्रसंग **सुधी+उपास्यः** में सु के **उकार** से **धी** के **ईकार** को **अच् परे** मानने पर बीच में **ध्** का व्यवधान है एवं **उपास्यः** वाले **उकार** से **पा** के **आकार** को **अच् परे** मानने पर बीच में **प्** का व्यवधान है किन्तु **धी** के **ईकार** से **उपास्यः** के **उकार** को **अच् परे** मानने पर किसी भी वर्ण का व्यवधान नहीं है। अतः **उपास्यः** के **उकार** को अच् परे मान कर के **धी** के **ईकार** के स्थान पर ही **यण्** की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से सर्वत्र समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि **पर को मानकर जो कार्य हो वहाँ पर से पूर्व के बीच में किसी अन्य का व्यवधान न हो।** इसी प्रकार आगे **एचोऽयवायावः, वान्तो यि प्रत्यये, एङि पररूपम्, झलां जश् झशि** आदि सूत्रों में **सप्तम्यन्त** पदों के निर्देश से किये जाने वाले कार्यों में यह सूत्र उपस्थित होता है और **सप्तम्यन्त पद से निर्दिष्ट से अव्यवहित पूर्व को ही कार्य हो,** ऐसा अर्थ उपस्थापित करता है।

१७- स्थानेऽन्तरतमः। स्थाने सप्तम्यन्तम्, अन्तरतमः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

प्रसङ्ग रहने पर (स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण से) तुल्यतम (अत्यन्त तुल्य) आदेश होवे।

सुधी+उपास्यः इस प्रयोग में **धी** के **ईकार** के स्थान पर जब **यण्** प्राप्त हुआ तो **यण्** संख्या में **चार** हैं और **इक्** अर्थात् **धी** का ईकार **एक** ही है। **जिसके स्थान पर आदेश होगा वह स्थानी माना जाता है।** स्थानी तो ईकार के रूप में **एक** ही है और आदेश **य्, व्, र्, ल्** ये **चार-चार** प्राप्त हुए। **एक** के स्थान पर **चारों** की प्राप्ति हुई।

द्वित्वविधायकं विधिसूत्रम्

8/4/46

१८. **अनचि च ८।४।४७॥**

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि।

इति धकारस्य द्वित्वेन सुध्ध्य् उपास्य इति जाते।

....

किस वर्ण को लिया जाय और किसे छोड़ा जाय? **य्** को लिया जाय अथवा **व्, र्, ल्** में से किसी को लिया जाय? अनियम हुआ अर्थात् किसी एक वर्ण के ग्रहण करने में कोई नियम नहीं बन पाया। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को परिभाषासूत्र कहते हैं। **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।** नियम करने वाला **स्थानेऽन्तरतमः** यह परिभाषा सूत्र है। यह सूत्र **प्रसंग** रहने पर **स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण** से तुल्यतम आदेश हो, ऐसा विधान करता है। प्रसंग का अर्थ है **''प्राप्त होने पर''**। तुल्यता, समानता, सादृश्य से आदेश का विधान हो। किस की तुल्यता ग्रहण करें? **स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण की तुल्यता** ग्रहण करें। **स्थानी का आदेश** के साथ **स्थान, अर्थ, गुण** और **प्रमाण** में से किसी एक की **तुल्यता** होनी चाहिये।

स्थान सबसे पहले है। अतः **स्थान** से तुल्यता देखेंगे। स्थान से तुल्यता न होने पर **अर्थ** से तुल्यतां, अर्थ से तुल्यता न होने पर **गुण** से तुल्यता और गुण से भी तुल्यता न होने पर **प्रमाण** से तुल्यता देखेंगे। जहाँ पर एक से अधिक तुल्यता की विद्यमानता हो वहाँ **स्थान** की तुल्यता ग्रहण करनी चाहिए- **यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः।**

यहाँ पर सुधी का जो ईकार है उसका स्थान तालु है- **इचुयशानां तालु।** अब चारों **यणों** में **तालु स्थान** वाला केवल **य्** है। अतः **स्थानी** रूपी **ईकार** के साथ **आदेश** रूपी **य्** का स्थान से **साम्य** हुआ अर्थात् **ईकार** और **यकार** में स्थान तुल्यता है। अतः **ईकार** के स्थान पर आदेश के रूप में बैठने का अधिकार **य्** को प्राप्त हुआ। इस परिभाषा सूत्र के फलस्वरूप **य्** को छोड़कर **व्, र्, ल्** ये वर्ण अपने-आप हट गये क्योंकि **ईकार** का **य्** के साथ स्थान को लेकर तुल्यता है और **व्, र्, ल्** के साथ तुल्यता नहीं है। फलतः **सुधी** के **ईकार** के स्थान आदेश के रूप में बैठने के लिए **य्** को अधिकार मिला। अतः **धी** के **ईकार** को हटाकर **य्** आकर बैठ गया तो **सुध्य्+उपास्य** बना।

१८- **अनचि च।** न अच्- अनच्, तस्मिन् अनचि(नञ् तत्पुरुषः) अनचि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **यरः** और **वा** तथा **अचो रहाभ्यां द्वे** से **द्वे** की अनुवृत्ति आती है।

अच् से परे यर् का विकल्प से द्वित्व होता है किन्तु अच् परे हो तो नहीं होता।

यह **द्वित्व** करता है। एक वर्ण को दो कर देता है। **अच्** वर्ण के बाद उच्चारित **यर्** प्रत्याहार वाले वर्ण का **द्वित्व** करता है किन्तु उस **यर्** के बाद कोई **अच्** वर्ण परे नहीं होना चाहिए। **हल्** परे हो या नहीं कोई फर्क नहीं पड़ता। एक पक्ष में होना और एक पक्ष में न होना, इसी को **विकल्प** कहते हैं।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य और **स्थानेऽन्तरतमः** इन दो सूत्रों की सहायता से

8/5/52

जश्त्वविधायकं विधिसूत्रम्

१९. झलां जश् झशि ८।४।५३॥

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

....

सुधी+उपास्यः में धी के ईकार के स्थान पर यण् होकर सुध्य्+उपास्यः बन जाने के बाद अनचि च यह सूत्र लगता है। अच् है सु में उकार, उससे परे यर् है ध, उससे परे अच् कोई नहीं है, हल् परे है य, उससे कोई बाधा नहीं है। अतः यर् ध् का इस सूत्र से द्वित्व कर दिया गया। अब सुध्ध्य्+उपास्यः बन गया। ध्यान रहे कि यह द्वित्व विकल्प से होता है। एक पक्ष में द्वित्व रहेगा और एक पक्ष में नहीं रहेगा। द्वित्व पक्ष का एक रूप और द्वित्व न होने के पक्ष में एक रूप, इस प्रकार से दो-दो रूप बनेंगे। अब इसके बाद और भी प्रक्रिया होनी है।

१९- झलां जश् झशि। झलां षष्ठ्यन्तं, जश् प्रथमान्तं, झशि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **झल् के स्थान पर जश् आदेश होते हैं, झश् के परे होने पर।**

यह सूत्र पूर्व में झल् प्रत्याहार का वर्ण हो और पर में झश् प्रत्याहार का वर्ण हो तो पूर्व के झल् के स्थान पर जश् अर्थात् ज्, ब्, ग्, ड्, द् ये आदेश करता है अर्थात् झश् के परे होने पर झल् के स्थान पर जश् आदेश हो जाता है। इस सूत्र के कार्य को जश्त्व कहते हैं। झल् में वर्ग के पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् वर्ण आते हैं। जश् में वर्ग के तीसरे अक्षर आते हैं। झश् में वर्ग के तीसरे और चौथे वर्ण आते हैं। स्थानेऽन्तरतमः की सहायता से स्थान की साम्यता को लेकर ज्, ब्, ग्, ड्, द् ये आदेश होते हैं। क्, ख्, ग्, घ्, ह् के स्थान पर कण्ठस्थान की साम्यता को लेकर ग् आदेश, च्, छ्, ज्, झ्, श् के स्थान पर तालुस्थान की साम्यता को लेकर ज् आदेश, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ष् के स्थान पर मूर्धास्थान की साम्यता को लेकर ड् आदेश, त्, थ्, द्, ध्, स् के स्थान पर दन्तस्थान की साम्यता को लेकर द् आदेश और प्, फ्, ब्, भ् के स्थान पर ओष्ठस्थान की साम्यता से ब् आदेश हो जाते हैं।

अनचि च से धकार को द्वित्व होकर सुध्ध्य्+उपास्यः बन जाने के बाद इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहाँ दो ध् बन गये हैं, एक प्रथम धकार और दूसरा द्वितीय धकार। प्रथम धकार को झल् मानकर दूसरे धकार को झश् परे मानें। अतः प्रथम धकार झल् के स्थान पर जश् अर्थात् ज्, ब्, ग्, ड्, द् ये पाँचों प्राप्त हुए। स्थानी एक ही ध् है और आदेश ज, ब, ग, ड, द् ये पाँच हैं। एक के स्थान पर पाँच प्राप्त हुए तो अनियम हुआ। अतः नियम करने के लिये परिभाषा सूत्र स्थानेऽन्तरतमः लगा। उसका अर्थ है- **प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश हों।** स्थान से तुल्यता मिलाने पर स्थानी रूपी ध् का दन्तस्थान है- लृतुलसानां दन्ताः। दन्त्य स्थान वाला ही जश् चाहिये। पाँचों आदेशों में दन्त्य स्थान वाला द् मिलता है अर्थात् दकार का भी दन्तस्थान है। अतः सुध्ध्य् में प्रथम धकार के स्थान पर द् आदेश हुआ तो सुद्ध्य्+उपास्यः बन गया। अब इसके बाद दध्य ये तीनों हल् वर्ण हैं। इन तीनों के बीच में कहीं भी अच् नहीं है। अतः दध्य् की हलोऽन्तराः संयोगः इस सूत्र से संयोगसंज्ञा हो जाती है। यहाँ पर संयोगसंज्ञा का फल लोप करना है। लोप करने के लिए आगे संयोगान्तस्य लोपः की प्रवृत्ति होती है।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२०. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३॥

संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात्।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

२१. अलोऽन्त्यस्य १।१।५२॥ 1/1/51

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते-

वार्तिकम्- **यणः प्रतिषेधो वाच्यः।**

सुद्ध्युपास्यः। मद्ध्वरिः। धात्त्रंशः। लाकृतिः।

....

२०- **संयोगान्तस्य लोपः**। संयोगान्तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। संयोगः अन्ते अस्ति यस्य तत् संयोगान्तम्, (बहुव्रीहिः) तस्य संयोगान्तस्य। इस सूत्र में **पदस्य** का अधिकार आता है।

संयोगान्त जो पद, उसके अन्त्य का लोप होता है।

जिन अच् रहित हल्वर्णों की **हलोऽनन्तराः संयोगः** से संयोग संज्ञा होती है, यदि वह संयोग अन्त में रहे, ऐसा जो पद (पदसंज्ञक शब्द) उसका लोप हो। इस सूत्र के द्वारा अच् से रहित **द्ध्य्** इस संयोगसंज्ञक वर्णों के साथ संयोगान्तपद **सुद्ध्य्** इस पूरे पद का लोप प्राप्त हुआ। पूरे पद का लोप होना भी ठीक नहीं है। इस प्रकार से सम्पूर्ण पद लुप्त हो जायेंगे तो फिर शब्द ही कहाँ बचेंगे? इस अनियम को रोकने के लिये परिभाषा सूत्र उपस्थित होता है- **अलोऽन्त्यस्य**।

एक पद्धति यह भी है कि **अलोऽन्त्यस्य** यह परिभाषासूत्र स्वयं **संयोगान्तस्य लोपः** के पास जाकर एकवाक्यता करके **संयोगान्त पद के अन्त्य का लोप हो** यह अर्थ बना देता है। ऐसा करने पर **अलोऽन्त्यस्य** को अलग से लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। यह पद्धति आगे स्पष्ट हो जायेगी।

२१- **अलोऽन्त्यस्य**। अलः षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

षष्ठीविभक्ति द्वारा निर्दिष्ट जिस पद के स्थान पर आदेश प्राप्त हो, वह आदेश अन्त्य अल् वर्ण के स्थान पर होता है।

सुद्ध्य् इस पद में लोप आदेश **संयोगान्तस्य लोपः** से प्राप्त है। इस सूत्र में षष्ठ्यन्त पद है **संयोगान्तस्य**। उसके द्वारा निर्दिष्ट पद है **सुद्ध्य्**। उसके स्थान पर प्राप्त आदेश है **लोप**। वह **अलोऽन्त्यस्य** इस सूत्र के नियम से **अन्त्य अल्** वर्ण **सुद्ध्य्** में **य्** के स्थान पर लोप प्राप्त हुआ अर्थात् **सुद्ध्य्** में अन्त्य अल् **य्** का लोप प्राप्त हुआ। इस लोप को भी रोकने के लिये **कात्यायन** जी का वार्तिक आया **यणः प्रतिषेधो वाच्यः**।

यणः प्रतिषेधो वाच्यः। यह वार्तिक है। **यण् के लोप का निषेध कहना चाहिए**। यह सब जगह यण् के लोप का निषेध नहीं करता किन्तु **अलोऽन्त्यस्य** की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा प्राप्त **यण् के लोप** का निषेध करता है। तात्पर्य यह है कि **संयोगान्तस्य लोपः** यह सूत्र संयोग के अन्त में विद्यमान वर्णों का लोप करता है किन्तु वह लोप **यण्** के सम्बन्ध में नहीं होता। इस वार्तिक के बल पर

सुद्ध्य् में जो **संयोगान्तस्य लोपः** से **यकार** का लोप प्राप्त था, वह रूक गया उसका लोप नहीं हुआ।

सुद्ध्य् उपास्यः ऐसी स्थिति बनी हुई है। अब इसके बाद संस्कृत भाषा में एक ऐसा नियम है कि अचों से रहित वर्णों को आगे के वर्णों से जोड़ना चाहिये- **अज्झीनं परेण संयोज्यम्।** यहाँ पर अचों से रहित वर्ण हैं **द्ध्य्**। ये क्रमशः आगे मिलते जायेंगे। इस क्रिया को **वर्णसम्मेलन** भी कहते हैं। जैसे **य्** जाकर के **उपास्यः** के उकार में मिल गया- **युपास्यः** बना। **ध्** जा कर के **युपास्यः** में मिल गया तो **ध्युपास्यः** बना गया और **द्** जा कर के **ध्युपास्यः** में मिल गया तो **द्ध्युपास्यः** यह सिद्ध हुआ। **सु** यह अच् युक्त वर्ण है, यह मिलने नहीं जायेगा किन्तु बगल में जा बैठेगा। इस तरह **सुद्ध्युपास्यः** सिद्ध हुआ।

अनचि च यह सूत्र विकल्प से द्वित्व करता है। एक पक्ष में द्वित्व नहीं हुआ तो **सुध्य् उपास्यः** ही रहा। झल् परे न होने के कारण **झलां जश् झशि** से जश्त्व भी नहीं हुआ। बाकी सारी प्रक्रिया उसी प्रकार की है। **सुद्ध्य्+उपास्यः** में भी **वर्णसम्मेलन** होता है अर्थात् **य्** उकार से मिल कर **युपास्यः** बनता है, **ध्** युपास्यः से मिलकर **ध्युपास्यः** बनता और **सुध्युपास्यः** हो जाता है। इस तरह द्वित्वाभाव में **सुध्युपास्यः** यह रूप सिद्ध हुआ। इस प्रकार से इतने सूत्रों की प्रक्रिया के बाद **सुधी+उपास्यः** यह स्थिति सन्धि हो कर **सुद्ध्युपास्यः** एवं **सुध्युपास्यः** इस रूप में बदल गई अर्थात् ये दो रूप सिद्ध हुए। **अर्थः- सुधीभिः उपास्यः** विद्वानों के द्वारा उपासना किये जाने वाले **भगवान् विष्णु।**

अब आप इस प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझ लें। यदि **सुद्ध्युपास्यः** साधने आ जाय तो आगे के प्रयोगों, साधनियों को भी अच्छी तरह से साध लेंगे, समझ लेंगे, सिद्ध कर लेंगे, अन्यथा बड़ी परेशानी होगी।

सुद्ध्युपास्यः को संक्षिप्त रूप में भी साधते हैं- **सुधी+उपास्यः** इस स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से **संहितासंज्ञा** हो गई और सूत्र लगा **इको यणचि। इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे रहने पर संहिता के विषय में। तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस परिभाषा के नियमानुसार व्यवधान रहित **इक्** है **सुधी** में धकारोत्तरवर्ती **ईकार** और **अच्** परे है **उपास्यः** का **उकार**। अतः इस सूत्र से धी के **ईकार** के स्थान पर **यण्** अर्थात् **य्, व्, र्, ल्** ये चारों प्राप्त हुये। एक के स्थान पर चार वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ। नियम करने के लिये परिभाषा सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः। प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश होते हैं।** प्रसंग है एक के स्थान पर अनेक की प्राप्ति। अब स्थान से मिलाने पर स्थानी **ईकार** का तालु स्थान है और चारों यण्रूप आदेशों में तालु स्थान वाला केवल **य्** है। अतः **ईकार** के स्थान पर **य्** आदेश हुआ। **सुध्य्+उपास्यः** बना। अब सूत्र लगा- **अनचि च**। अच् से परे यर् का द्वित्व विकल्प से हो, अच् परे न होने पर। अब **सुद्ध्य्+उपास्यः** में अच् है **सु** का **उकार**, उससे परे **यर्** है **ध्**, उससे अच् परे नहीं है। अतः इस सूत्र से एक पक्ष में **धकार** का **द्वित्व** हुआ, **सुध्ध्य् उपास्यः** बना।

इसके बाद सूत्र लगता है- **झलां जश् झशि**। झल् के स्थान पर जश् आदेश हो, झश् परे रहने पर। **सुध्ध्य् उपास्यः** में **झल्** है पहला **धकार** और **झश्** परे है दूसरा **धकार** तो पहले **धकार** के स्थान पर **जश्** अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँचों आदेश प्राप्त हुये। एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति हुई, यह भी अनियम हुआ। अतः नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से तुल्यता करने पर स्थानी **ध्** का **दन्तस्थान** और **ज्,**

ब्, ग्, ड्, द् में **दन्तस्थान** वाला केवल **द्** मिलता है। अतः **ध्** को हटाकर **द्** आदेश हुआ- **सुद्ध्य् उपास्यः** बना। अब **द्ध्य्** की **हलोऽनन्तराः संयोगः** से **संयोगसंज्ञा** हुई और **सुद्ध्य्** का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप प्राप्त हुआ तो **अलोऽन्त्यस्य** के द्वारा केवल **य्** के लोप का निर्देश प्राप्त हुआ। फिर वार्तिक लगा- **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** यण् का लोप निषेध होता है। **यण्** है **य्**, उसका लोप नहीं हुआ।

अच्हीनं परेण संयोज्यम् अच् से हीन वर्ण पर वर्ण से जुड़ता है। **द्ध्य्** इनमें से क्रमशः पहले **य्**, उसके बाद **ध्** और उसके बाद **द्** ये अच् रहित वर्ण पर वर्ण से जुड़ते गये तो बना **सुद्ध्युपास्यः**। द्वित्व न होने के पक्ष में **सुध्युपास्यः**।

अब संस्कृत भाषा में भी सिद्ध करते हैं- **सुधी+उपास्यः** इतिस्थितौ **परः सन्निकर्षः संहिता** इत्यनेन सूत्रेण संहितासंज्ञायाम् **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, स्थानेऽन्तरतमः** इतिसूत्रद्वयसहकारेण **इको यणचि** इतिसूत्रेण यणि **सुध्य् उपास्यः** इति जाते, **अनचि च** इतिसूत्रेण धकारस्य द्वित्वे, **सुध्ध्य् उपास्यः** इति जाते, **झलां जश् झशि** इतिसूत्रेण धकारस्य जश्त्वे **सुद्ध्य् उपास्यः** इति जाते, द्ध्य्वर्णानां संयोगसंज्ञायाम् **अलोऽन्त्यस्य** इतिसूत्रसहकारेण **संयोगान्तस्य लोपः** इतिसूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इतिवार्तिकेन तन्निषेधे वर्णसम्मेलने **सुद्ध्युपास्यः** इति रूपं सिद्धम्। द्वित्वाभावे **सुध्युपास्यः** इति रूपं भवति।

इक् प्रत्याहार के इ, उ, ऋ, लृ में से केवल इकार का उदाहरण **सुद्ध्युपास्यः** है। आगे उकार का उदाहरण **मद्ध्वरिः**, ऋकार का उदाहरण **धात्रंशः** और लृकार का उदाहरण **लाकृतिः** बता रहे हैं।

मद्ध्वरिः=मधु नामक दैत्य के शत्रु भगवान विष्णु। **मधु+अरिः**, इस स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से संहितासंज्ञा होने के बाद **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस सूत्र की सहायता से सप्तमीनिर्दिष्ट **अच्** से अव्यवहित पूर्व **मधु** के **उकार** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त। **इक्** है **मधु** का **उकार** और **अच्** परे है **अरिः** का **अकार**। अतः **मधु** के **उकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** इन चारों की प्राप्ति हुई, अनियम हुआ। नियमार्थ सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **मधु** के **उकार** का ओष्ठ स्थान है। आदेशों में **व्** का **दन्त-ओष्ठ** स्थान। इसमें केवल **ओष्ठ स्थान** की तुल्यता ले कर के **मधु** के **उकार** के स्थान पर **व्** आदेश हुआ, **मध्व् अरिः** बना। **अनचि च** से धकार को द्वित्व और **झलां जश् झशि** से जश्त्व हो कर के **मद्ध्व् अरिः** बना। **द्ध्व्** की **संयोगसंज्ञा** के बाद **अलोऽन्त्यस्य** के सहयोग से **संयोगान्तस्य लोपः** से **व्** का लोप प्राप्त। **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इसके द्वारा लोप का निषेध हुआ। वर्णसम्मेलन होकर **मद्ध्वरिः** सिद्ध हुआ। द्वित्व न होने के पक्ष में **मध्वरिः** बनता है।

धात्रंश=ब्रह्मा का भाग। **धातृ+अंशः** की **परः सन्निकर्षः संहिता** से संहितासंज्ञा हुई और **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस सूत्र की सहायता से सप्तमीनिर्दिष्ट **अच्** से अव्यवहित पूर्व **धातृ** के **ऋकार** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त होता है। यहाँ पर इक् है **धातृ** का **ऋकार** और अच् परे है **अंशः** का **अकार**। अतः उक्त सूत्र से धातृ के **ऋकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** चारों की प्राप्ति हुई। एक के स्थान पर चार वर्णों की प्राप्ति होता अनियम हुआ। अतः नियमार्थ सूत्र आया- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **धातृ** में **ऋकार** का **मूर्धास्थान** और आदेशों में **र्** का **मूर्धास्थान** है, अतः मूर्धास्थान से साम्यता हुई और **धातृ** के **ऋकार** के स्थान पर **र्** आदेश हुआ, **धात्र्+अंशः**

बना। **अनचि च** से तकार का द्वित्व हुआ, **धात्त्र्+अंशः** बना। यहाँ पर **झलां जश् झशि** नहीं लगेगा। क्योंकि **झश्** परे नहीं है।। **त्त्र्** की संयोग संज्ञा, **अलोऽन्त्यस्य** के सहयोग से **संयोगान्तस्य लोपः** से र् का लोप प्राप्त। **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इस वार्तिक के द्वारा लोप का निषेध हुआ। **धात्त्र् अंश** बना हुआ है। इसमें वर्णसम्मेलन होकर **धात्त्रंशः** सिद्ध हुआ। द्वित्व न होने के पक्ष में **धात्रंशः** बनता है।

लाकृतिः=लृ के समान टेढ़ी आकृति है जिसकी ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण। **लृ+आकृतिः** इस स्थिति में **संहितासंज्ञा** करने के बाद **अच्** से अव्यवहित इक् **लृ** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त होता है। यहाँ पर **इक्** है **लृ** और **अच्** परे है **आकृतिः** का आकार। अतः **लृ** के स्थान पर य्, व्, र्, ल् चारों की प्राप्ति, अनियम हुआ। नियमार्थ सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **लृ** का **दन्त-स्थान**, आदेशों में भी **ल्** का दन्त-स्थान है। दन्त-स्थान की तुल्यता से **लृ** के स्थान पर ल् आदेश हुआ, ल् आकृतिः बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **लाकृतिः**। यहाँ पर **यर्** से पहले **अच्** न होने के कारण **अनचि च** नहीं लगा। **झल्** परे न होने के कारण **झलां जश् झशि** से जश्त्व नहीं हुआ। एक ही हल् होने के कारण **संयोगसंज्ञा** नहीं हुई। **संयोगसंज्ञा** के अभाव में **अलोऽन्त्यस्य** और **संयोगान्तस्य लोपः** नहीं लगे। जब लोप ही नहीं प्राप्त हुआ तो लोप निषेध के लिये वार्तिक की भी आवश्यकता नहीं हुई। इस तरह से **लृ+आकृतिः** में केवल **यण्** होकर वर्णसम्मेलन करने पर **लाकृतिः** सिद्ध हुआ। यहाँ **लृ** यह केवल अच् वर्ण है न कि **ल्** के साथ लगा हुआ **ऋ**।

- यहाँ पर यण्विधायक सूत्र **इको यणचि** के **सुद्ध्युपास्यः**, **मद्ध्वरिः**, **धात्त्रंशः** और **लाकृतिः** ये चार ही उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार के अर्थात् **पूर्व में इक्** और **पर में अच् होने** पर असंख्य जगहों पर **यणसन्धि** होती है। जैसे- **दधि+ओदनः=दध्योदनः**, **वधू+आनयनम्=वध्वानयनम्**, **पितृ+आह्वानम्=पित्राह्वानम्** आदि। अब आप अपने आप ऐसे प्रयोगों को ढूँढ कर सन्धिविच्छेद करके पुनः सन्धि करने का प्रयत्न करें।

व्याकरण के द्वारा सिद्ध प्रयोगों के उपयोग के लिए क्षेत्र संस्कृतवाङ्मय के सभी ग्रन्थ हैं, फिर भी व्याकरण का अध्ययन कर रहे छात्रों के लिए सबसे पहले तो व्यवहार में आने वाले छोटे छोटे सन्धियोग्य वाक्यों का अभ्यास करना चाहिए। छात्र को चाहिए कि प्रत्येक सन्धि के योग्य प्रयोग ढूँढे और उनमें सूत्र लगाकर अभ्यास करे। इसके साथ ही **महाकवि कालिदास** के द्वारा रचित **रघुवंशमहाकाव्यम्** नामक ग्रन्थ भाषाज्ञान की दृष्टि बहुत उपयोगी है। अतः उन श्लोकों में पद पद अलग करके इसमें अमुक सन्धि के योग्य कौन सा शब्द है, यह अन्वेषण करे। जैसे कि सर्वप्रथम **रघुवंशमहाकाव्य** के प्रथमसर्ग को ही लें। उसमें यण्सन्धि वाले कौन कौन से शब्द हैं! इस तरह खोजें। इसी तरह अयादि आदेशसन्धि, गुणसन्धि, वृद्धिसन्धि, पूर्वरूपसन्धि, पररूपसन्धि, सवर्णदीर्घसन्धि के पद कौन हैं? इस तरह खोजी प्रवृत्ति बनाये तो व्याकरण का भी शीघ्र ज्ञान होगा और शब्दभण्डार भी बढ़ेगा। व्याकरण के द्वारा बनाये गये शब्दों का प्रयोग भी हो सकेगा।

अच्सन्धिप्रकरण में यण् करने वाला यह एक ही सूत्र है किन्तु इसके बाधक सूत्र अनेक हैं। **बाधक** उसे कहते हैं जो किसी सूत्र को प्रवृत्त होने से रोकता है और स्वयं प्रविष्ट होता है, स्वयं कार्य करता है। जो सूत्र बाधता है उसे **बाधक** और जो बाधित हो जाता है उसे **बाध्य** सूत्र कहते हैं। इस प्रकार से सूत्रों के आपस में **बाध्य-बाधक** प्रक्रिया भी होती है। **बाध्य सूत्र** सामान्य होता है और **बाधक सूत्र विशेष** होता है। **बाध्य** और

बाधक का प्रसंग तभी आता है, जब दोनों सूत्रों के लगने में आवश्यक कारण अर्थात् स्वर, व्यंजन, प्रकृति, प्रत्यय आदि का एक ही क्षेत्र हो। जो सूत्र अधिक जगह पर लगे उसे **सामान्य** या **उत्सर्ग** सूत्र कहते हैं और जो कम जगहों पर ही लगता हो उसे **विशेष** सूत्र कहतें हैं। **सामान्य शास्त्र** एवं **विशेष शास्त्र** अर्थात **सामान्य सूत्र** एवं **विशेष सूत्र** एक जगह पर एक साथ लगने के लिये आ जायें तो वहाँ पर **सामान्य सूत्र** को **विशेष सूत्र** बाधता है और **विशेष सूत्र** स्वयं लग जाता है। इसका उदाहरण हम आगे स्पष्ट करते रहेंगे।

सुद्ध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः। इन उदाहरणों का तात्पर्यः- अध्येतागण इस बात को भी जान लें कि व्याकरण का उद्देश्य केवल शब्दज्ञान, सन्धिज्ञान मात्र नहीं है अपितु उसके साथ ही अध्येताओं को अध्यात्म की ओर प्रेरित करना भी है। इस बात पर **श्री भट्टोजिदीक्षित जी** एवं उनके ग्रन्थों के व्याख्याताओं ने विशेष ध्यान दिया है। जैसे- **सुद्ध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः** इन उदाहरणों की जगह **मद्ध्वानय, दध्यानय, वद्ध्वानय, पित्रंशः** आदि लौकिक प्रयोग भी दे सकते थे। ऐसा न करके उपर्युक्त उदाहरण देने का रहस्य यह है कि अध्येतागण शब्दज्ञान के साथ **उपास्य** का ज्ञान भी कर लें, **इतिहास** आदि से भी परिचित हो लें और **तत्तत् पौराणिक** और **उपनिषत्** की घटनाओं को समझने, जानने के लिए उत्प्रेरित हो जायें। जैसे- **सुधीभिः उपास्यः** (विद्वानों के द्वारा उपासना करने योग्य)। यहाँ पर एक तो **सुधी** को किसी **ब्रह्म** की उपासना अवश्य करनी चाहिए, यह एक प्रेरणा है तो दूसरा विद्वानों के द्वारा **उपास्य** कौन है? इसकी **जिज्ञासा** भी। इस जिज्ञासा की पूर्ति करता है **मद्ध्वरिः**। मधु नामक दैत्य के शत्रु **भगवान विष्णु** अर्थात् विद्वानों के द्वारा **भगवान् विष्णु उपास्य** हैं। अब वे कैसे हैं? इस जिज्ञासा में उत्तर आया- **धात्रंशः**। वह **धातुः अंशः**, ब्रह्मा का अंश बन कर अर्थात् **ब्रह्मा** के शरीर से **वराह** आदि बनकर अथवा **धाता** की सृष्टि में **राम, कृष्ण** आदि बनकर **अवतार** लेता है। इस लिए वह **धात्रंश** है। उसे प्राप्त करना क्या सरल है? नहीं। वह तो **लृ** की तरह टेढ़ी आकृति वाला अर्थात् कठिन तपस्या एवं साधना से ही प्राप्त हो सकता है।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित शब्दों का सन्धिविच्छेद करके सूत्र लगाकर प्रयोगों की सिद्धि करें।

१. नद्यत्र। २. यद्यपि। ३. प्रत्येकम्। ४. करोम्यहम्। ५. कौमुद्यायाति।
६. अस्त्यात्मा। ७. वद्ध्वागमनम्। ८. इत्याचरति। ९. गुर्वाज्ञा। १०. दद्ध्यत्र।
११. वंश्यायाति। १२. ह्ययम्। १३. अस्त्यनुरागः। १४. पित्राज्ञा। १५. खल्वत्र।
१६. अत्युत्तमः। १७. लाकारः। १८. इत्यपि। १९. पित्रधीनम्। २०. पत्यादेशः।

(ख) निम्नलिखित शब्दों की सूत्र लगा कर सन्धि करें।

१. जननी+आह। २. धातृ+आदेशः। ३. मधु+आनय। ४. शिशु+अङ्गः।
५. भर्तृ+आदेशः। ६. तनु+अङ्गः। ७. मनु+आदिः। ८. वधू+अलङ्कारः।
९. अभि+उदयः। १० कामिनी+उदयः। ११. पितृ+आज्ञा। १२. जननी+आगच्छति।
१३. हरी+आगच्छतः। १४. नदी+आवहति। १५. कान्ति+आभा।
१६. भानु+आभा। १७. गुरु+आस्था। १८. भ्रातृ+आशा। १९. दुहितृ+ईशः।
२०. गृहेषु+आसक्तः। २१. लृ+आकारः।

6/1/75

अयाद्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२. एचोऽयवायावः ६।१।७८॥

एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि।

....

(ग) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

१. किन्हीं दो विधिसूत्रों को अध्याय-पाद-संख्या सहित लिखिये।

२. राम+ईश्वरः, सर्व+मानवः, हरे+अत्र इन प्रयोगों में **इको यणचि** यह सूत्र क्यों नहीं लगता? बताइये।

३. परिभाषा सूत्र कौन कौन हैं और क्यों परिभाषा माने जाते हैं?

४. **स्थानेऽन्तरतमः** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?

५. **धातृत्र् अंशः** में **झलां जश् झशि** यह सूत्र क्यों नहीं लगता।

६. जहाँ पर **इको यणचि** लगता हो ऐसे पाँच शब्द बताइये।

२२- **एचोऽयवायावः**। अय् च, अव् च, आय् च, आव् च, तेषाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः, अयवायावः। एचः षष्ठ्यन्तम्, अयवायावः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** इस पद की अनुवृत्ति आती है और **संहितायाम्** का अधिकार है।

एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश होते हैं अच् के परे होने पर।

यह अयादि आदेश विधान करने वाला विधिसूत्र है। **अच्** के परे रहने पर **एच्** के स्थान पर अर्थात् पूर्व में **एच्** अर्थात् **ए, ओ, ऐ, औ** में से कोई एक वर्ण हो और पर में **अच्** अर्थात् **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** में से कोई एक वर्ण हो तो यह सूत्र लगता है। इसकी शर्त है- **पूर्व में एच् और पर में अच् प्रत्याहार के वर्ण हों।** इसका कार्य है **अय्, अव्, आय्, आव्** ये आदेश करना। किसके स्थान पर? **एच्** के स्थान पर, **एच्** क्या है? प्रत्याहार और किसके परे होने पर? **अच्** के परे होने पर। अच् क्या है? यह भी प्रत्याहार ही है।

एचोऽयवायावः में भी **संहितायाम्** का अधिकार रहता है अर्थात् पूरे **सन्धिप्रकरण** में इसका अधिकार रहता ही है। अतः यह सूत्र भी सन्धि किये जाने वाले वर्णों की अत्यन्त समीपता में ही लगता है।

इको यणचि से आये हुए **अचि** इस पद को देखकर **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** की प्रवृत्ति **एचोऽयवायावः** में भी होती है। अतः सप्तम्यन्त पद **अचि** से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर ही अय् आदि आदेश होते हैं।

लघुसिद्धान्तकौमुदी में **एचोऽयवायावः** के चार उदाहरण बताये गये हैं- **हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः**। हरे+ ए। विष्णो+ ए। नै+ अकः। पौ+अकः। इस स्थिति में पहले **संहितासंज्ञा** की जाती है और उसके बाद सूत्र लगता है- **एचोऽयवायावः**। हरे+ए में **इको यणचि** यह सूत्र नहीं लग सकता क्योंकि उसके अर्थ के अनुसार पूर्व में इक् और पर में अच् होना चाहिये। यहाँ पर **'हरे+ए'** में पर में अच् तो है किन्तु पूर्व में इक् नहीं है। अतः **इको यणचि** नहीं लग सकता। अब **एचोऽयवायावः को** घटाते हैं। सूत्र का अर्थ है:- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश**

नियमविधायकं परिभाषासूत्रम्

२३. यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात्।

हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

....

हों, अच् परे रहने पर। यहाँ हरे+ए इस स्थिति में एच् है हरे का रे वाला ए और अच् परे है केवल ए। ऐसी स्थिति में इस सूत्र से हरे के एकार के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। स्थान एक है और आदेश चार प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार आदेशों की प्राप्ति होना एक अनियम हुआ तो नियमार्थ सूत्र की आवश्यकता पड़ी। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को परिभाषा सूत्र कहते हैं। जिस प्रकार से **इको यणचि** के प्रसंग में **स्थानेऽन्तरतमः** यह परिभाषा सूत्र लगता है, उसी प्रकार **एचोऽयवायावः** के प्रसंग में परिभाषा सूत्र लगता है- **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्**। उक्त स्थलों पर **स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण** का विषय न होने के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** की प्रवृत्ति नहीं होती है।

२३- यथासंख्यमनुदेशः समानाम्। सङ्ख्याम् अनतिक्रम्य यथासंख्यं, यथासङ्ख्यं प्रथमान्तम्, अनुदेशः प्रथमान्तं, समानां षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

बराबर संख्या वाली विधि क्रम से होती है।

यह परिभाषासूत्र है। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्रों को परिभाषा सूत्र कहते हैं। **स्थानी** और **आदेश** या **स्थानी** और **निमित्त** अथवा **आदेश** और **निमित्त** ये भी बराबर संख्या में हो तो वहाँ पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य है कि **स्थानी** और **आदेश** आदि की संख्या **समान** हों तो **स्थानियों** को एक जगह क्रम से रखा जाय और उन्हें क्रमशः **प्रथम, द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** के रूप में माना जाय तथा आदेश आदि को भी एक जगह क्रमशः रखकर उन्हें भी क्रमशः **प्रथम, द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** के रूप में माना जाय। अब **स्थानियों** में जो **प्रथम** हो उसके स्थान पर **आदेशों** में जो प्रथम हो वह आदेश हो जाय। इसी प्रकार **स्थानियों** में **द्वितीय** के स्थान पर **द्वितीय आदेश** हो जाय, **तृतीय स्थानी** के स्थान पर **तृतीय आदेश** और **चतुर्थ स्थानी** के स्थान पर **चतुर्थ आदेश** हो जाय। **ए, ओ, ऐ, औ** इन स्थानियों में से **ए** यह **प्रथम स्थानी** है, **ओ** यह **द्वितीय** है, **ऐ** यह **तृतीय** है और **औ** यह **चतुर्थ** है। इसी प्रकार आदेशों में **अय्** यह **प्रथम** है, **अव्** यह **द्वितीय** एवं **आय्** यह **तृतीय** है और **आव्** यह **चतुर्थ** आदेश है। इस प्रकार से स्थानी **ए** के स्थान पर आदेश **अय्**, स्थानी **ओ** के स्थान पर आदेश **अव्**, स्थानी **ऐ** के स्थान पर आदेश **आय्** और स्थानी **औ** के आदेश **आव्** आदेश होंगे।

इस प्रकार से **हरे+ए** में स्थानी **ए** है और वह **पहला** है, अतः **आदेश** में पहला **अय्** आदेश हो जायेगा। **एकार** को हटाकर **अय्** आदेश बैठेगा तो **हर् अय् ए** हो जायेगा। अच् से हीन वर्ण अकेले नहीं बैठते, उन्हें सहारे की जरूरत पड़ती है। वे अपने से पर वर्ण से मिलकर बैठते हैं। **हर्** वाला **र्** अगले वर्ण **अय्** वाले **अकार** से मिला तो **र्+अ=र** बना और **अय्** वाला **य्** अगले वर्ण **ए** से मिलेगा तो **य्+ए=ये** बना। इस प्रकार से सारे मिलकर बना- **हरये।**

साधने की संक्षिप्त विधिः-

हरये। हरि के लिए। **हरे+ए** इस स्थिति में पहले संहितासंज्ञा हो गई और सूत्र लगा **एचोऽयवायावः।** सूत्र का अर्थ है- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों अच् परे रहने पर।** **एच्** है **हरे** का **एकार** और अच् परे है **ए**, तो **हरे** के **एकार** के स्थान पर **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार प्राप्त हुए तो अनियम हुआ और नियमार्थ परिभाषासूत्र लगा- **''यथासंख्यमनुदेशः समानाम्''** सम संख्या की विधि क्रम से होती है। यहाँ पर समसंख्या है स्थानियों में **ए, ओ, ऐ, औ** ये चार और आदेशों में **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चार हैं। जब क्रम से होंगे तो स्थानियों में **पहले** के स्थान पर **पहला** आदेश, **दूसरे** के स्थान पर **दूसरा** आदेश, **तृतीय** के स्थान पर **तृतीय** आदेश और **चतुर्थ** के स्थान पर **चतुर्थ** आदेश होंगे। यहाँ पर स्थानी में प्रथम **हरे** के **एकार** के स्थान पर आदेश में प्रथम **अय्** आदेश हुआ। इस प्रकार **हर्+अय्+ए** बना और वर्णसम्मेलन हुआ तो **हरये** सिद्ध हुआ।

विष्णवे। विष्णु के लिए। **विष्णो+ए** में पहले संहितासंज्ञा हो गई और सूत्र लगा **एचोऽयवायावः।** सूत्र का अर्थ है- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों अच् परे रहने पर।** **एच्** है **विष्णो** का **ओकार** और अच् परे है **ओ**, तो **विष्णो** के **ओकार** के स्थान पर **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार प्राप्त हुए तो अनियम हुआ और नियमार्थ परिभाषासूत्र लगा- **''यथासंख्यमनुदेशः समानाम्''** सम संख्या की विधि क्रम से होती है। यहाँ पर समसंख्या है स्थानियों में **ए, ओ, ऐ, औ** ये चार और आदेशों में **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चार हैं। जब क्रम से होंगे तो स्थानियों में **पहले** के स्थान पर **पहला** आदेश, **दूसरे** के स्थान पर **दूसरा** आदेश, **तृतीय** के स्थान पर **तृतीय** आदेश और **चतुर्थ** के स्थान पर **चतुर्थ** आदेश होंगे। यहाँ पर स्थानी में द्वितीय **विष्णो** के **ओकार** के स्थान पर आदेश में द्वितीय **अव्** आदेश हुआ। इस प्रकार **विष्ण्+अव्+ओ** बना और वर्णसम्मेलन हुआ तो **विष्णवे** सिद्ध हुआ।

नायकः। नायक, नेता। **नै+अकः** इस स्थिति में पूर्व में **एच्** है **नै** का **ऐकार** और पर में अच् है **अकः** का **अकार**। अतः **एचोऽयवायावः** से **अय्, अव्, आय्, आव्,** ये चारों आदेश प्राप्त हुए तो **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से स्थानी में तीसरे **नै** के **ऐकार** के स्थान पर आदेश में तीसरा **आय्** आदेश हुआ- **न्+आय्+अकः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **नायकः** सिद्ध हुआ।

पावकः। पवित्र करने वाला, अग्नि। **पौ+अकः** इस स्थिति में पूर्व में **एच्** है **पौ** का **औकार** और पर में अच् है **अकः** का अकार। अतः **एचोऽयवायावः** से **अय्, अव्, आय्, आव्,** ये चारों आदेश प्राप्त हुए तो **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से स्थानी में चौथे **पौ** के **औकार** के स्थान पर आदेश में चौथा **आव्** आदेश हुआ- **प्+आव्+अकः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **पावकः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आप **सिद्धे+ए=सिद्धये, गुरो+अः=गुरवः, विद्यार्थे+आगमनम्=विद्यायागमनम्** और **रामौ+आगच्छतः=रामावागच्छतः** जैसे रूप भी आप बनाने का प्रयत्न करें।

हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः। हरि और विष्णु शब्दों की चतुर्थी में **हरये** और **विष्णवे** ये रूप बनते हैं। **नमः** आदि पदों के योग में चतुर्थी की सम्भावना होती है। **हरये नमः, विष्णवे नमः।** हरि और विष्णु को प्रणाम है। हमारे द्वारा प्रणम्य हरि का क्या

6/1/76

अवावादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२४. **वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९॥**

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव्आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्।

वार्तिकम्- **अध्वपरिमाणे च।** गव्यूतिः।

....

स्वरूप है? **नायकः।** वह सब को अपनी ओर ले जाता है, मुक्ति देता है और स्वयं में **पावकः** अर्थात् पवित्र है और अग्नि की तरह सबको पवित्र करने की क्षमता रखता है। उसमें समाहित हो जाने पर या उसकी शरणागति कर लेने पर मनुष्यों के जन्म-जन्मान्तरों के कर्म स्वाहा हो जाते हैं।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित शब्दों में सन्धि कीजिए-

करौ+एतौ। नरौ+उदारौ। गै+अति। मनो+ए। रै+अकः। वागर्थौ+इव। नौ+इकः। भो+अति। शे+अयनम्। पो+अनः। कवे+ए। गोपालौ+आयातः। प्रजापतये+इदम्। बालौ+अत्र। चोरे+अति। इन्दौ+उदिते। तौ+एकदा।

(ख) निम्नलिखित शब्दों की सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि कीजिए-

गुरवे। विष्णवे। चायकः। अग्वाविह। चयः। जयः। नाविकः। प्रस्तावकः। कवये। पूजार्हावरिसूदनः। बालावोजस्विनौ। तस्मायेतत्।

२४- **वान्तो यि प्रत्यये।** व् अन्ते अस्ति यस्य स वान्तः, वान्तः प्रथमान्तं, यि सप्तम्यन्तं, प्रत्यये सप्तम्यन्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्।

यकार आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर ओ और औ के स्थान पर अव् और आव् आदेश हों।

यह सूत्र एचोऽयवायावः का समानान्तर सूत्र है। यह केवल **अव्** और **आव्** आदेश करता है और वह **अय्, अव्, आय्, आव्** आदेश करता है। वह **अच्** के परे रहने पर ही कार्य करता है तो यह **य्** आदि में हो ऐसे **प्रत्यय** के परे रहने पर ही लगता है। वह अच् प्रत्याहार के परे रहने की अपेक्षा रखता है और यह प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। **एचोऽयवायावः** ये परस्पर बाध्य-बाध्यक सूत्र नहीं हैं अर्थात् **एचोऽयवायावः** सूत्र का बाधक यह सूत्र नहीं होता क्योंकि बाध्यबाधकभाव वहाँ होता है जहाँ दोनों सूत्रों की प्रवृत्ति में निमित्त एक जैसे हों। ये दोनों भिन्न-भिन्न निमित्त को मानकर के कार्य करते हैं। अतः ये दोनों समानान्तर सूत्र हैं। अष्टाध्यायी के क्रम में **एचोऽयवायावः** के बाद **वान्तो यि प्रत्यये** यह सूत्र आता है। अतः इस सूत्र में **'वान्त'** शब्द से **एचोऽयवायावः** में पठित द्वितीय एवं चतुर्थ वकारान्त **अव्** एवं **आव्** आदेश ही लिए गये।

इस सूत्र में भी **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की आवश्यकता पड़ती है। इससे स्थानी में प्रथम **ओ** के स्थान पर आदेश में प्रथम **अव्** और स्थानी में द्वितीय **औ** के स्थान पर आदेश में द्वितीय **आव्** आदेश हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण हैं- **गव्यम्, नाव्यम्।** इनकी स्थिति है- **गो+यम् गव्यम्। नौ+यम् नाव्यम्।** यहाँ पर **गो** और **नौ** ये दोनों क्रमशः **ओकारान्त** और **औकारान्त** शब्द हैं। **यम्** यह तद्धित-प्रकरण का प्रत्यय है। **यम्** में **य्+अ+म्=यम्** ये

गुणसंज्ञाविधायकं सञ्ज्ञासूत्रम्

२५. अदेङ् गुणः।१।१।२।।

अत् एङ् च गुणसञ्ज्ञः स्यात्।

नियमसूत्रम् 1/1/69

२६. तपरस्तत्कालस्य १।१।७०।।

तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्।

....

तीन अक्षर हैं और आदि अर्थात् पहला अक्षर य् अर्थात् **यकार** है। अतः **यम्** यकारादि प्रत्यय हुआ। इस सूत्र में स्थानी भी दो हैं और आदेश भी दो हैं। स्थानी हैं- **ओ** और **औ** तथा आदेश हैं- **अव्** और **आव्**। यहाँ पर भी समसम्बन्धी विधि है, क्योंकि स्थानी भी दो हैं और आदेश भी दो हैं। जब जब भी स्थानी, आदेश आदि समान संख्या में हों- वहाँ पर **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** सूत्र के बल पर क्रमशः विधान होता है अर्थात् जिस क्रम से स्थानी उच्चारित हों उसी क्रम से आदेश भी होंगे।

अब यहाँ **ओ** और **औ** इन दोनों स्थानियों में **ओ पहला** है और **औ दूसरा** है। इसी प्रकार **अव्** एवं **आव्** आदेशों में **अव् पहला** है और **आव् दूसरा** है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार स्थानी में पहले **ओ** के स्थान पर आदेश में पहला **अव्** आदेश और स्थानी में दूसरे **औ** के स्थान पर आदेश में दूसरा **आव्** आदेश होंगे।

गव्यम्। गाय का विकार दूध, दही, घी, गोमूत्र, गोबर। **गो+यम्** यह स्थिति है। गो के **ओकार** के स्थान पर **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की सहायता से **वान्तो यि प्रत्यये** से अव् आदेश होने पर **ग्+अव्+यम्** हुआ। वर्णसम्मेलन होकर **गव्यम्** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **नौ+यम्** में **आव्** आदेश होकर **न्+आव्+यम्** और वर्णसम्मेलन- होकर **नाव्यम्** सिद्ध हुआ।

गव्यम्। नाव्यम्। गो शब्द से विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होकर **गव्यम्** और नौ शब्द से तारने योग्य अर्थ में यत् प्रत्यय होकर **नाव्यम्** बना है। गौ का विकार दूध, दही, घी, गोमूत्र, गोबर आदि गव्य कहलाता है और वह गौ का विकार होते हुए भी **पावकः** है अर्थात् अतिपवित्र है। उसे बेकार फेंकना नहीं चाहिए अपितु नदी आदि में नौका आदि के द्वारा गोबर आदि तार्य अर्थात् खेत आदि में पहुँचाना चाहिए। दूर-दूर तक इस **गव्य** का वितरण होना चाहिए जिससे प्राणियों का भी पोषण होगा और खेत में उर्वरकता भी बढ़ेगी।

२५- अदेङ् गुणः। अत् च एङ् च अदेङ्, अदेङ् प्रथमान्तं, गुणः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

ह्रस्व अकार और एङ् ये गुणसंज्ञक होते हैं।

अर्थात् **अ, ए, ओ** इन वर्णों की गुणसंज्ञा होती है।

२६- तपरस्तत्कालस्य। तात्परः तपरः, तः परो यस्माद् वा तपरः, पञ्चमीतत्पुरुष और बहुव्रीहिः। इस तरह दोनों समास यहाँ पर माने गये हैं। तस्य कालस्तत्कालः(तस्य काल इव कालो यस्य स तत्कालः) षष्ठीतत्पुरुषगर्भो बहुव्रीहिः। तस्य तत्कालस्य। तपरः प्रथमान्तं, तत्कालस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

तकार पर है जिससे वह और तकार से परे जो है वह भी (अण्) समकाल का ही बोधक होता है।

अर्थात् एक मात्रिक के साथ तपर है तो एक मात्रा का ही बोध और द्विमात्रिक के साथ तपर किया गया है तो द्विमात्रिक का ही बोध होना चाहिए। यह सूत्र **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** का बाधक है।

सूत्र में पठित **तपरः** शब्द का अर्थ समझना जरूरी है। **तः** और **परः** में समास होकर **तपरः** बना है। इसमें तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास के बल पर दो अर्थ हो सकते हैं- पहला- **तकार से परे** और दूसरा **तकार जिससे परे है, वह वर्ण**। जैसा कि इसी सूत्र में ही देखा जाय- **अत् एङ्**। यहाँ पर **अत्** का **तकार** है। पहले अर्थ के अनुसार **तकार से परे एङ्** है और दूसरे अर्थ के अनुसार **तकार जिससे परे है वह वर्ण है अकार**। अब **तपरः** अर्थ समझने के बाद इस सूत्र के कार्य को समझें। जिस अच् वर्ण के साथ ''त्'' लगाकर उच्चारण किया जाता है उस वर्ण से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। जैसे सवर्णसंज्ञा के हो जाने से **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के द्वारा 'अ' से उसके सभी भेद **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** आदि अठारह ही प्रकार का **अकार** लिया जाता है, वैसे **तपरग्रहण** के बाद नहीं लिया जायेगा क्योंकि ह्रस्व अवर्ण के साथ **तपर** उच्चारण है। जैसे **'अत्'** इससे ह्रस्व अवर्ण ही गृहीत होगा, दीर्घ **आवर्ण** नहीं। **'आत्'** इस तपर **आवर्ण** से **आकार** का ही बोध होता है, **अवर्ण** का नहीं क्योंकि **आ** यह अण् नहीं है, अतः **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के अनुसार **आ** यह वर्ण **अ** का ग्रहण नहीं कर रहा क्योंकि अण् या उदित् ही अपने सवर्णियों के ग्राहक होते हैं। **तपरकरण** अर्थात् 'त्' को पर रख कर उच्चारण किये जाने वाले वर्ण से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। अतः **अदेङ्** में **अत्** से **ह्रस्व अकार** का ही ग्रहण होगा और तकार से परे एङ् से **दीर्घ एकार, ओकार** का ही ग्रहण होता है। यह तपर-ग्रहण केवल **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत** मात्राओं के लिए नियम करता है। **उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** के सम्बन्ध में यह नियम नहीं लगता, क्योंकि तपर-ग्रहण का नियम बनाने वाला **तपरस्तत्कालस्य** यह सूत्र **''तत्काल''** अर्थात् केवल काल के विषय को लेकर ही कथन करता है। काल तो एकमात्रिक उच्चारण काल, द्विमात्रिक उच्चारण काल एवं त्रिमात्रिक उच्चारण काल, अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, से सम्बन्धित है, उदात्त, अनुदात्त आदि से नहीं, क्योंकि उदात्त आदि के भेद होने पर उच्चारण के समय में भिन्नता नहीं होती है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि सर्वत्र वर्ण अपने सवर्णों के ग्राहक होते हैं किन्तु **तपर** ग्रहण होने पर सवर्ण का ग्रहण नहीं किया जाएगा। **अदेङ् गुणः** इस सूत्र में ''**अत्**'' पढ़ा गया है, इससे केवल ''अ'' का ही ग्रहण होगा। अतः ह्रस्व **अ**, **एङ्**, प्रत्याहार अर्थात् **ए, ओ** की गुणसंज्ञा इस सूत्र से की जाती है। **गुण** एक संज्ञा है, **संज्ञा** से **संज्ञी** का बोध होता है। संज्ञी हुए **अ, ए, ओ**। अब व्याकरण में जहाँ भी ''**गुण**'' शब्द का उच्चारण होगा, उससे **'अ, ए, ओ'** का ही बोध किया जायेगा अर्थात् **गुण** के विधान से **अ, ए, ओ** का विधान समझा जायेगा।

6|1|84

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

२७. **आद्गुणः ६।१।८७॥**

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्।

उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

....

२७- आद्गुणः। आत् पञ्चम्यन्तं, गुणः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है और तथा **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर गुणसंज्ञक एक आदेश होता है।

अवर्ण से अच् प्रत्याहार के वर्ण परे हों तो पूर्व और पर के दोनों वर्ण (पूर्व का अन्त वर्ण और पर का आदि वर्ण) के स्थान पर गुण अर्थात् **'अ, ए, ओ'** इन तीन वर्णों में से एक वर्ण आदेश के रूप में हो जाय। इस सूत्र में **आत् (आद्)** यह तपरग्रहण नहीं है किन्तु आत् यह रूप **अ** शब्द के पञ्चमी का एकवचन है। जैसे- रामात् रामाद्। अतः **"आत्"** से केवल **'आ'** का ही बोध नहीं होगा, अपितु **अ** के सारे अठारहों भेद के साथ अवर्ण उपस्थित होगा। पूर्व में **अ, आ** और पर में अच्प्रत्याहार एवं उसके सारे भेद वाले वर्ण हों तो इन दोनों वर्णों के स्थान पर (इनको हटाकर) **'अ, ए, ओ'** में से एक वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त होगा।

इस सूत्र का कार्य है गुण-आदेश करना तथा इसका कार्यक्षेत्र है- पूर्व में अ, आ, और पर में **अच्** प्रत्याहार अर्थात् **अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।** यह सूत्र किसी का **समानान्तर** नहीं है। जहाँ यह सूत्र लगता है वहाँ **इको यणचि, एचो यवायावः** और **वान्तो यि प्रत्यये** इन सूत्रों की प्रवृत्ति ही नहीं है। इसलिए इन सूत्रों का **आद्गुणः** यह सूत्र बाधक भी नहीं है। अवर्ण से अवर्ण ही परे हो तो **"अकः सवर्णे दीर्घः"** यह सूत्र इस सूत्र का बाधक हो जाता है और **अवर्ण** से **'ए, ओ, ऐ, औ'** के परे रहने पर **"वृद्धिरेचि"** से यह सूत्र बाधित हो जाता है। फलतः **अवर्ण से इकार, उकार, ऋकार** तथा **ऌकार** के परे रहने पर ही गुण हो पाता है।

इस सूत्र के लगने के बाद एक अनियम की स्थिति यह बनती है कि पूर्व और पर में दो ही वर्ण होते हैं और दोनों वर्णों के स्थान पर एक वर्ण आदेश के रूप में होना चाहिए किन्तु **'अ, ए, ओ'** इन तीनों वर्णों की प्राप्ति हो रही है। इस अनियम को दूर करने के लिए **"स्थानेऽन्तरतमः"** इस परिभाषासूत्र की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा स्थान साम्यता अर्थात् स्थानी और आदेश में स्थान को लेकर तुल्यता देखी जाती है। स्थान से तुल्यता होने पर वही वर्ण आदेश के रूप में हो जाता है जो दोनों का एक ही स्थान हो। जैसे- उपेन्द्रः। **'उप+इन्द्रः'** में **"आद्गुणः"** लगा। **अवर्ण** है **उप** में **प्** के बाद वाला **अ** और अच् परे है **इन्द्रः** में आदि **इवर्ण**। पूर्व में **अ** है और पर में **इ** है। इन दोनों के स्थान पर गुण शब्द के द्वारा गृहीत होने वाले **अ, ए, ओ** ये तीनों वर्ण उपस्थित हो गये। **अ** और **इ** इन दोनों के स्थान पर सूत्र के अनुसार एक ही आदेश **अ, ए, ओ** में से किसी एक ही वर्ण हो जाना चाहिए, किन्तु तीनों में से कौन सा वर्ण आदेश के रूप में हो? यह निश्चित नहीं हो पाया। दो के स्थान पर तीन-तीन वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ तो नियम करने के लिए सूत्र लगा **स्थानेऽन्तरतमः।** प्रसङ्ग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यता

आदेश होता है। प्रसंग है दो वर्णों के स्थान पर तीन वर्णों की प्राप्ति और तीन में से एक आदेश होना है। स्थान से तुल्यता मिलाने पर **अ** का **कण्ठस्थान** और **इ** का **तालुस्थान**, दोनों का मिलाकर **कण्ठतालु** स्थान हुआ अर्थात् स्थानी **कण्ठतालु** स्थान वाले हैं। अब खोजा जाय कि **'अ, ए, ओ'** इन आदेशों में कण्ठतालु स्थान वाला वर्ण कौन है? **''एदैतोः कण्ठतालु''** ए, और ऐ का कण्ठतालु स्थान है। अतः **'अ, ए, ओ'** में **'ए'** वर्ण कण्ठतालु स्थान वाला है और आदेश में **कण्ठतालु** स्थान वाला **'ए'** है। फलतः **कण्ठतालु** स्थान वाले स्थानी **अ** एवं **इ** इनके स्थान पर **कण्ठतालु** स्थान वाला ही **ए** आदेश हो गया। **उप+इन्द्रः** था। **उप** के **अकार** एवं **इन्द्रः** के **इकार** के स्थान पर **ए** हो गया। इस तरह **उप्+ए+न्द्रः** बना। वर्ण सम्मेलन होने पर **प्** जाकर **ए** से मिला- **उपेन्द्रः** सिद्ध हुआ। उपेन्द्र का अर्थ= **वामन** आदि रूप धारण करने वाले **भगवान् विष्णु**।

गङ्गोदकम्। गंगा का जल। **गङ्गा+उदकम्** यह स्थिति है। **गङ्गा** में **अवर्ण** है **आ** और **अच् परे** है **उदकम्** का **उकार**। यहाँ पर **पूर्व** में है **आ** और **पर** में है **उ**। इस तरह **आ** एवं **उ** इन दोनों वर्णों के स्थान पर गुणसंज्ञक **अ, ए, ओ** ये तीनों प्राप्त हुए तो **स्थानेऽन्तरतमः** इस सूत्र के सहयोग से **ओकार** एक आदेश हुआ क्योंकि स्थान से **तुल्यता** मिलाने पर **आकार** का **कण्ठस्थान** और **उकार** का **ओष्ठस्थान** है अर्थात् **स्थानी** का स्थान है- **कण्ठ-ओष्ठ**। आदेश में **कण्ठ-ओष्ठ** स्थान वाला गुणसंज्ञकवर्ण है **ओ**। अतः **कण्ठ-ओष्ठ** स्थान वाले **अकार** एवं **उकार** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थान वाला **गुणसंज्ञक** वर्ण **ओकार** ही एक आदेश के रूप में हो गया- **गङ्ग्+ओ+दकम्** बना। वर्णसम्मेलन होने पर क्रमशः **ङ्ग्** जाकर **ओकार** में मिले तो **गङ्गोदकम्** बना। इसी तरह **देव+इन्द्रः=देवेन्द्रः**, **महा+ईशः=महेशः**, **यमुना+उदकम्=यमुनोदकम्** आदि बनाने का प्रयत्न करें।

उपेन्द्रः। **गङ्गोदकम्** इन प्रयोगों की संगति **वान्तो यि प्रत्यये** के उदाहरण **नाव्यम्** (नौका के द्वारा तारने योग्य) से इस तरह जुड़ सकता है कि हम सब उस **उपेन्द्र** अर्थात् भगवान विष्णु के द्वारा इस भवसागर से पार ले जाने योग्य हैं, अर्थात् भवसागर से पार जाने के लिए विष्णु की उपासना करनी चाहिए। वह इतना सरल है कि इन्द्र का छोटा अनुज होकर भी जन्म ग्रहण करता है और गङ्गा का जल भी उसी के चरणों से प्रवाहित होकर आता है, जो सबको पवित्र करता है।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
महा+उत्सवः। हित+उपदेशः। सूर्य+उदयः। गण+उत्तमः। तथा+इति। यथा+इच्छम्। यज्ञ+उपवीतम्। दया+उदयः। उमा+ईशः। गज+इन्द्रः। महा+ऊर्मिः।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद पूर्वक सूत्र लगाकर सन्धि करेंः-
भारतेतिहासः। स्वच्छोदकम्। उमेशः। तवोत्साहः। निम्नोर्ध्वम्। नोपलब्धिः। महेन्द्रः। उष्णोदकम्। तवेह। गणेशः। परमेश्वरः। गुणोपेतम्। रामेति। चेति। परमोत्कृष्टम्।

(ग) **आद्गुणः** की वृत्ति में **अचि** यह पद किस सूत्र से अनुवृत्त हुआ?

(घ) **आद्गुणः** में कितने पद हैं और कौन-कौन सी उसमें विभक्तियाँ लगी हैं?

(ङ) तपरकरण करने से क्या होता है?

(च) किस अवस्था में यह सूत्र **अकः सवर्णे दीर्घः** को बाधता है?

(छ) इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को क्या कहते हैं?

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२८. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लणसूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

....

२८- उपदेशेऽजनुनासिक इत्। उपदेशे सप्तम्यन्तम्, अच् प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तम्, इत् प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

उपदेश अवस्था में अनुनासिक अच् इत्संज्ञक होता है।

हलन्त्यम् सूत्र अन्त्य में स्थित हल् की इत्संज्ञा करता है और यह सूत्र अच् की इत्संज्ञा करता है, वह अच् चाहे आदि में हो या अन्त में। इस तरह हलन्त्यम् और उपदेशेऽजनुनासिक इत् इन सूत्रों की तुलना की जाती है।

प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। यह वाक्य कौमुदीकार का है अर्थात् सूत्र या वार्तिक नहीं है। वे कहते हैं कि पाणिनि के अनुनासिक वर्ण उनके व्यवहार से पहचाने जाते हैं।

उपदेशेऽजनुनासिक इत् यह सूत्र अनुनासिक अच् की अपेक्षा करता है। अनुनासिक कहीं तो स्पष्ट परिलक्षित होते हैं और कहीं उनको अनुनासिक मान लिया जाता है। हलों में ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये सदा अनुनासिक हैं और य्, व्, ल् ये एक पक्ष में अनुनासिक और एक पक्ष में अननुनासिक हैं। शेष हल् वर्ण अनुनासिक होते ही नहीं किन्तु अच् सारे के सारे अनुनासिक भी हैं और अननुनासिक भी, जैसा कि सञ्ज्ञाप्रकरण में स्पष्ट किया गया। अचों में अनुनासिक के लिए कोई चिह्न भी नहीं होता तथा अनुनासिक की तरह अर्थात् मुख सहित नासिका से उच्चारण भी नहीं होता है। ऐसे में प्रारम्भिक छात्र या अध्येता को अनुनासिक के रूप में निर्णय करने में जरूर परेशानी होती है किन्तु बाद में यह बात समझ में आ जाती है कि इस अच् को पाणिनि जी ने अनुनासिक माना है या नहीं। जैसे भू सत्तायाम् धातु में भू में ऊ की इत्संज्ञा इसलिए नहीं हुई कि यहाँ पाणिनि जी ने इसमें अनुनासिक व्यवहार नहीं किया है और एध वृद्धौ इस धातु में अनुनासिक का स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी पाणिनि जी के व्यवहार से अनुनासिक मानकर धकारोत्तरवर्ती अकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हो जाती है। अतः मूल में कहा गया- प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण में अनुनासिक को पाणिनि के व्यवहार को देखते हुए जाना जाता है। इसका निर्णय पढ़ते-पढ़ते छात्र अनुभव के आधार पर कर लेता है।

लणसूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा। आपको याद होगा कि संज्ञाप्रकरण के प्रारम्भ में लणमध्ये त्वित्संज्ञकः कहा गया था। उसका तात्पर्य यह है कि लण् में लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा करके र प्रत्याहार बनाया जाता है। इसी बात को यहाँ पर स्पष्ट किया है कि लण् सूत्र में पठित अकार के साथ उच्चारित रेफ जो है वह र् और ल् इन दोनों वर्णों का बोध कराता है।

ऋ एवं ऌ वर्णों के स्थान पर यदि कोई अण् अर्थात् अ इ उ इन वर्णों में से कोई वर्ण आदेश के रूप में उपस्थित होता है तो वह आदेश र् और ल् वर्ण को साथ में

1||50

रपरविधायकं विधिसूत्रम्

२९. उरण् रपरः १।१।५१॥

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्।

तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

....

लेकर उपस्थित हो, यह विधान करता है। "र" एक प्रत्याहार है, जिसकी सिद्धि प्रदर्शित है।

रप्रत्याहार की सिद्धिः- र-प्रत्याहार की सिद्धि में स्थिति है **हयवरट्** के र् से **लण्** का मध्यवर्ती अ अर्थात् र्-अ, ऐसी स्थिति में लकारोत्तरवर्ती **अकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हो जाती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप प्राप्त होता है किन्तु उससे पहले सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता**। अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ पठित आदि वर्ण है र्, क्योंकि अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण है अ। उसके साथ में पठित आदि वर्ण हुआ- र्, वह मध्यवर्ती वर्णों का बोध कराता हुआ अपना भी बोधक होता है। र् और अ के बीच में मध्यवर्ती वर्ण है ल्। इस तरह र्+अ=र कहने से मध्यवर्ती वर्ण ल् सहित आदि वर्ण र् अर्थात् र् और ल् का बोध हुआ। उसके बाद इत्संज्ञक अकार का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। इस तरह से र प्रत्याहार की सिद्धि हुई अर्थात् र को प्रत्याहार के रूप में मानने पर र्, ल् इन दोनों वर्णों को लिया जायेगा। र को पर में लेना अर्थात् र्, ल् के अपने साथ पर में ग्रहण करना। आगे जहाँ भी **रपर** होगा, उससे यही समझा जायेगा कि **रेफ** और **लकार** को पर में लेना है। वैसे **रपर** का विधान करने वाला एक ही सूत्र **उरण् रपरः** ही है।

२९- उरण् रपरः। रः परो यस्य स रपरः। उः षष्ठ्यन्तम् , अण् प्रथमान्तं, रपरः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। ऋकार से तीस प्रकार ऋ का बोध होता है, ऐसा संज्ञाप्रकरण में कहा जा चुका है।

ऋ२) अर्, अल्

उस तीस प्रकार के ऋकार के स्थान पर प्राप्त अण् रपर होकर अर्थात् र् और ल् को पर में लेकर ही प्रवृत्त होता है।

ऋ और लृ वर्णों के स्थान पर यदि **अण्** प्रत्यहार वाला वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त हो जाय तो वह **अण् रूप आदेश** साथ में र् या ल् को साथ में (पर में) लेकर ही कहीं प्रवृत्त होगा। **अ** प्राप्त हुआ तो **अर्, अल्** तथा **इ** प्राप्त हुआ तो **इर्, इल्**, इसी तरह उ प्राप्त हुआ तो **उर्, उल्** बनेंगे। इसी तरह सर्वत्र समझना चाहिए। गुणविधि में यदि स्थानी ऋ है तो आदेश **अर्** होगा, क्योंकि **ऋकार** का रेफ के साथ **स्थान से साम्यता** है। इसी तरह लृकार के स्थान पर अकार के प्राप्त होने पर **अल्** होगा, क्योंकि वहाँ पर भी लृ का **अल्** के साथ स्थान साम्यता है। जैसे- **कृष्ण+ऋद्धिः=कृष्णर्द्धिः। तव+लृकारः=तवल्कारः।**

कृष्णर्द्धिः। कृष्ण की समृद्धि। कृष्ण+ऋद्धिः ऐसी स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से **संहितासंज्ञा** होने के बाद सूत्र लगा- **आद्गुणः**। अवर्ण से अच् परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर गुणसंज्ञक एक आदेश होता है। **अवर्ण** है **कृष्ण** में **ण्** के बाद वाला **अकार** और **अच् परे** है- **ऋद्धिः** में आदि वर्ण ऋकार। यहाँ पर **पूर्व** में है **अ** और **पर** में है **ऋ**। अब इन दोनों के स्थान पर **गुण** अर्थात् **अ, ए, ओ** ये तीनों आदेश प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थानी और आदेश में **स्थान** को माध्यम बना कर तुल्यता

की जाती है। **अकार** का **कण्ठस्थान** व **ऋकार** का **मूर्धास्थान** है। **कण्ठमूर्धास्थान** वाला वर्ण गुणसंज्ञक **अ, ए, ओ** में नहीं है किन्तु केवल **कण्ठस्थान** वाला वर्ण **अ** मिलता है तो यत्किञ्चित् तुल्यता लेकर आदेश के रूप में **अ** इस गुणसंज्ञक वर्ण की प्राप्ति हुई। उस अवस्था में **उरण् रपरः** पहुँच कर रपर होने का नियम बना दिया, क्योंकि **अवर्ण** रूप गुण **ऋ** वर्ण के स्थान पर प्राप्त हो रहा था सो **अवर्ण** जो है वह **रपर** होकर प्रवृत्त होगा। र-प्रत्याहार अर्थात् र् और ल् वर्णों को साथ में लेकर अवर्ण **अर्** एवं **अल्** के रूप में प्रवृत्त होगा। **अर्-अल्** में **कण्ठ-मूर्धा स्थान** वाले वर्ण हैं **अर्**। अतः **कृष्ण** में **अकार** और **ऋद्धिः** में **ऋकार** के स्थान पर **अर्** आदेश हो जाता है। इस तरह **कृष्ण्+अर्+द्धिः** बन गया। वर्णसम्मेलन होने पर **ष्ण्** जाकर **अर्** में मिलता है- **कृष्णर्द्धिः** बन गया। रेफ का स्वभाव ऊपर बैठने का होता है, सो द्धिः के ऊपर बैठ गया- **कृष्णर्द्धिः** सिद्ध हुआ।

रेफ अर्थात् **र्** इस वर्ण के सम्बन्ध में-

अचं दृष्ट्वा अधो याति हशश्चोपरि गच्छति।

अवसाने विसर्गः स्याद् रेफस्य त्रिविधा गतिः॥ अर्थात् **र्**=रेफ आगे **अच्** को देखकर सामान्यतया उससे मिलकर के बैठता है, जैसे कि **मणिर्+इति=मणिरिति**। आगे **हश्** प्रत्याहार के वर्ण हैं तो वह उसकें ऊपर जाकर बैठता है, जैसे कि **हरिर्+हरति=हरिर्हरति**। यदि आगे कोई भी वर्ण नहीं है अर्थात् अवसान है तो वह रेफ विसर्ग बन जाता है, जैसे कि **रामर्= रामः**। उक्त कथनानुसार **हश्** के परे रहते रेफ उसके ऊपर जाकर के बैठता है। इसके सम्बन्ध में एक न्याय प्रसिद्ध है- **जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्** अर्थात् जिस तरह से **तुम्बी** (सूखी लौकी) जल में डालने पर ऊपर उठती है, उसी तरह रेफ भी हश् के परे रहने पर ऊपर उठकर बैठता है।

तवल्कारः। तुम्हारा ऌकार। **तव+ऌकारः** इस स्थिति में पूर्व में विद्यमान अवर्ण और पर में विद्यमान अच् **ऌकारः** के **ऌ** के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** और **उरण् रपरः** की सहायता से **आद्गुणः** से रपर सहित गुण होकर **अल्** रूप आदेश होकर **तव्+अल्+कारः** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **तवल्कारः** सिद्ध हो जाता है। जहाँ-जहाँ भी **ऋ** और **ऌ** के स्थान पर अणादेश प्राप्त होगा, वहाँ-वहाँ **'उरण् रपरः''** इस सूत्र की अवश्य प्रवृत्ति होगी, यह बात न भूलें।

यहाँ पर **कृष्णर्द्धिः** और **तवल्कारः** इन प्रयोगों की संगति देखें-

वे अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के नायक भगवान् श्री विष्णु उपेन्द्र अर्थात् वामन बने थे तो एक बार कृष्ण बनकर के भी आए और स्वयं भी समृद्ध होकर सम्पूर्ण ब्रज सहित अपने आश्रितों को भी समृद्ध बनाया। वे कृष्ण स्वयं के ऐश्वर्य से समृद्धि को प्राप्त होते ही हैं साथ ही अपने अनुयायियों को समृद्ध भी बनाते हैं किन्तु उसके प्रति पूर्ण समर्पण चाहिए कि मैं तुम्हारा ही हूँ और तुम्हारी आकृति ही मेरी आकृति है अर्थात् तुम्हीं मेरे लिए शरण हो।

अभ्यासः

(क) **निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-**

राजा+ऋषिः। वसन्त+ऋतुः। देव+ऋषिः। ब्रह्म+ऋषिः। मम+ऌकारः।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों का सन्धिविच्छेद कर सूत्रनिर्देशनपूर्वक सन्धि करें।

पुण्यर्द्धिः। ममल्वर्णः। तवल्दन्तः। ग्रीष्मर्तुः। सप्तर्षिः।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

8/3/19

३०. लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

अधिकारसूत्रम्

8/2/1

३१. पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१॥

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्।
हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

....

(ग)　उप+इन्द्रः में **उरण् रपरः** यह सूत्र क्यों नहीं लगता?
(घ)　**उरण् रपरः** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?
(ङ)　**उरण् रपरः** यह विधिसूत्र है, संज्ञासूत्र है, या परिभाषा सूत्र?
(च)　र-प्रत्याहार से किन-किन वर्णों का बोध होता है?

३०- लोपः शाकल्यस्य। लोपः प्रथमान्तं, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **व्योलघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से **व्योः** की तथा **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **अपूर्वस्य** एवं **अशि** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है, उसका यहाँ पर द्विवचन में विपरिणाम होता है। विकल्प अर्थ इसी सूत्र के **''शाकल्यस्य''** पद से ही निकलता है। शाकल्य ऋषि के मत में लोप होगा, अन्यों के मत में लोप नहीं होगा, ऐसा फलितार्थ निकलता है।

अवर्णपूर्वक पदान्त यकार और वकार का विकल्प से लोप होता है अश् प्रत्याहार के परे होने पर।

जिन **यकार** और **वकार** का लोप करना है, वे **पद के अन्त** में विद्यमान हों और उनसे पूर्व में **अवर्ण** ही हो तथा पर में **अश्** प्रत्याहार वाले वर्ण हों तो **य्-व्** इन वर्णों का लोप हो जाता है। यह वैकल्पिक लोप है। एक बार लोप होता है और एक बार नहीं। यहाँ पर सूत्र में **शाकल्यस्य** कहा गया है। शाकल्य नामक ऋषि के मत में लोप होगा अन्य के मत में नहीं। इसी तरह प्रायः जहाँ-जहाँ पर भी किसी ऋषि का नाम सूत्र और वार्तिक में लिया गया है, उससे विकल्प ही सिद्ध होता है किन्तु कहीं-कहीं पाणिनि जी ने ऋषियों का नाम उनके सम्मान के लिए भी लिया है, जिसके कारण विकल्प नहीं माना जायेगा। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में ऐसी जगहों पर **आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्** आदि निर्देश दिया है। धन्य हैं वे ऋषि, जिनका नाम आचार्य पाणिनि अपने सूत्रों में केवल सम्मान के लिए ही उच्चारण करते हैं। **लोपः शाकल्यस्य** में शाकल्य का नाम पूजा, सम्मान के लिए न होकर विकल्प के लिए ही है।

३१- पूर्वत्रासिद्धम्। पूर्वस्मिन् इति पूर्वत्र। न सिद्धम्, असिद्धम्। पूर्वत्र अव्ययम्, असिद्धं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी असिद्धा होती है और त्रिपादी में भी पूर्वत्रिपादी के प्रति परत्रिपादी असिद्धा होती है।

यह सूत्र समस्त सूत्रों को दो भागों में विभाजित करता है- एक **सपादसप्ताध्यायी**

और दूसरा त्रिपादी। पाणिनि जी के द्वारा रचित अष्टाध्यायी के सारे सूत्र आठ अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। सात अध्याय पूरा और आठवें अध्याय के प्रथम पाद, अर्थात् सवा सात अध्याय को सपादसप्ताध्यायी के रूप में व्यवहार करते हैं और शेष आठवें अध्याय के दूसरे, तीसरे और चतुर्थ चरण ये कुल तीन पाद हैं। अतः ये त्रिपादी कहलाते हैं। त्रिपादी और सपादसप्ताध्यायी के बीच यह सूत्र यह निर्णय कर देता है कि समस्त सपादसप्ताध्यायी के प्रति समस्त त्रिपादी सूत्र असिद्ध होते हैं अर्थात् जब समान जगहों पर सपादसप्ताध्यायी के सूत्र एवं त्रिपादी के सूत्र एक साथ प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ पर त्रिपादी सूत्र असिद्ध होकर हट जाते हैं और सपादसप्ताध्यायी के सूत्र प्रवृत्त होते हैं। एक और भी बात है कि त्रिपादी के द्वारा किये जा चुके कार्य भी सपादसप्ताध्यायी के सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध ही होते हैं।

यह **अधिकार सूत्र** है। अधिकार सूत्र स्वयं में कुछ नहीं करता किन्तु अन्य सूत्रों में एक नियम बना देता है या अनुवृत्ति के रूप में जाकर के उसका कार्य सिद्ध कर देता है। यहाँ पर इस सूत्र ने दो व्यवस्था बना दी- पहली तो सपादसप्ताध्यायी और त्रिपादी सूत्रों की एक साथ उपस्थिति में त्रिपादी के सूत्रों को असिद्ध करना और दूसरी व्यवस्था त्रिपादी के द्वारा किये जा चुके कार्यों को सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में असिद्ध करना। यहाँ पर दूसरी व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

कई आचार्यों ने इसे विधिसूत्र भी माना है।

हर इह। हे हरे यहाँ पर (आओ) हरे+इह में एचोऽयवायावः इस सूत्र से यथासंख्यमनुदेशः समानाम् सूत्र की सहायता से स्थानी में **प्रथम** हरे के एकार के स्थान पर आदेश में **प्रथम- अय्** आदेश हुआ तो हर्+अय्+इह बना। र् और अ का वर्णसम्मेलन हुआ तो हर+य्+इह बना। ऐसी स्थिति में सूत्र लगा लोपः शाकल्यस्य। यहाँ पर अश् परे है इह वाला इकार और अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार है हर के बाद वाला य्, वह अवर्ण से परे भी है और पद के अन्त में भी है, क्योंकि हरे एक पद है तथा उसके अन्त वर्ण 'ए' के स्थान पर हुए आदेश में भी पदान्तत्व आ जाता है। इसलिए य् पद के अन्त में विद्यमान वर्ण है। एक पक्षमें इस सूत्र के द्वारा उसका लोप हुआ। हर इह बना। अब **हर+इह** में **आद्गुणः** की प्रवृत्ति होने वाली थी क्योंकि आद्गुणः यह सूत्र अवर्ण से अच् परे रहने पर लगता है। यहाँ पर **अवर्ण** है **हर** में अन्तिम वर्ण अ, और **अच्** परे है **इह** का **इकार**। ऐसी स्थिति में **पूर्वत्रासिद्धम्** यह सूत्र पहुँचकर यह निर्णय देता है कि **सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी असिद्धा होती है।** लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९।। यह सूत्र त्रिपादी है और **आद्गुणः** ६।१।८७।। यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी है। **लोपः शाकल्यस्य** से किये गये **यकार** के **लोप** को ही यह सूत्र असिद्ध करता है। फलतः **आद्गुणः** की दृष्टि में **य्** का लोप असिद्ध हो जाता है। वह **हर+इह** के बीच में **य्** को देखता है। अवर्ण औ अच् के बीच में **य्** के दिखाई देने के कारण अवर्ण से अच् परे होने में वह व्यवधान बना। इसलिये गुण की प्राप्ति नहीं हो पाई। यदि ऐसा न होता तो गुण हो जाने पर "**हरेह**" ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। यहाँ पर जब **पूर्वत्रासिद्धम्** इस सूत्र के बल पर **य्** का लोप असिद्ध रहा तो गुण भी नहीं हुआ। इस प्रकार से **हर इह** ऐसा ही रूप रह गया। **लोपः शाकल्यस्य** का कार्य विकल्प से होता है अर्थात् एक पक्ष में होता है और एक पक्ष में नहीं होता। जब **लोपः शाकल्यस्य** से **य्** का लोप नहीं हुआ, तब बीच में **यकार** से युक्त **हर य् इह** है,

वृद्धिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३२. वृद्धिरादैच् १।१।१।

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

....

इस में वर्णसम्मेलन होने पर **य्** जाकर **इ** से मिल गया तो **हरयिह** यह दूसरा रूप भी बन गया।

यहाँ पर **पूर्वत्रासिद्धम्** से यकार का लोप असिद्ध होने का तात्पर्य यह है कि इस य-वर्ण का लोप होने पर भी लोप न हुआ हो, ऐसा प्रतीत होना, न कि फिर से इस वर्ण का आना। इसलिए **हर+इह** में यकार नहीं दिखाई देता अर्थात् केवल गुण आदि कार्यों को रोकने के लिए ही असिद्ध माना गया न कि इसको वापस **य्** करने के लिए। अतः यकार के लोपपक्ष में **हर इह** ऐसा एक रूप सिद्ध होता है।

विष्ण इह। हे विष्णुभगवान्! यहाँ (आओ) **विष्णो+इह** में भी **एचोऽयवायावः** इस सूत्र से **अव्** आदेश होने पर **विष्ण्+अव्+इह** बना। **लोपः शाकल्यस्य** से **व्** का लोप होकर **विष्ण इह** बनने के बाद **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र से **व्** का लोप असिद्ध होगा अर्थात् **विष्ण+इह** की बीच में **व्** दीखेगा। अवर्ण से अच् परे न मिलने के कारण अर्थात् **वकार** के व्यवधान के कारण **आद्गुणः** से गुण नहीं होगा। **विष्ण इह** ऐसा ही रूप रह जायेगा। लोप न होने के पक्ष में वकार और इकार में वर्णसम्मेलन होकर **विष्णविह** बनता है।

हर इह। **विष्ण इह**। हे हरे! इह (आगच्छ) हे विष्णो! इह (आगच्छ)। हरे और विष्णो ये सम्बोधन के रूप हैं। इन प्रयोगों से भगवान् से प्रार्थना करने की प्रेरणा मिलती है कि प्रभो! कभी तो इधर भी देखो! इस अकिंचन के रक्षार्थ भी अवतार लिया करो। द्रौपदी, गजेन्द्र आदि ने पुकारा तो आप आ गये थे। ये दो प्रयोग पौराणिक प्रसंगों का स्मरण कराते हैं।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि करें-
बाला आगच्छतः। श्रिया उत्कण्ठितः। आसन आस्ते। करा एतौ। नरा उदारौ। गृह आसीत्। गुरा आयाते।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धि करें-
भानो+इह। विश्वे+उपासिते। स्थले+असि। कस्मै+अयच्छत्। छात्रौ+आयातौ।

(ग) **पूर्वत्रासिद्धम्** यह सूत्र स्वयं में सपादसप्ताध्यायी है या त्रिपादी?

(घ) **लोपः शाकल्यस्य** इस सूत्र में **विकल्प से** यह अर्थ कैसे बना?

(ङ) **हरये, विष्णवे** आदि प्रयोगों में **लोपः शाकल्यस्य** से यकार-वकार का लोप क्यों नहीं होता?

३२- वृद्धिरादैच्। वृद्धिः प्रथमान्तम्, आदैच् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

आ और ऐच् (ऐ, औ) ये वृद्धिसंज्ञक होते हैं।

आत्- दीर्घ आकार और **ऐच्-** ऐच् प्रत्याहार अर्थात् **ऐ, औ** इस तरह **आ, ऐ, औ** ये तीन वर्ण वृद्धि कहलाते हैं। जहाँ पर अन्य सूत्र **वृद्धि** का विधान करते है, वहाँ **आ, ऐ, औ** ये तीन आदेश के रूप में उपस्थित हो जाते हैं अर्थात् जहाँ भी **वृद्धि** शब्द का उच्चारण होगा,

6|1|85

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

३३. वृद्धिरेचि ६। १। ८८॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः।

कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्॥

....

उससे आ, ऐ, औ ही समझे जायेंगे। पाणिनीय-अष्टाध्यायी का यह प्रथमसूत्र है। सूत्रों में सर्वप्रथम उच्चारित शब्द **'वृद्धि'** होने के कारण यह मंगलार्थक भी माना जाता है।

३३- वृद्धिरेचि। वृद्धिः प्रथमान्तम्, एचि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **आद्गुणः** से आत् की अनुवृत्ति आती है और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

एकः पूर्वपरयोः का अधिकार होने के कारण **पूर्व** और **पर** के दो वर्णों के स्थान पर **एक** ही आदेश होने का विधान होता है। पूर्व में **अवर्ण** हो और पर में **एच्**-प्रत्याहार अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' में से कोई एक वर्ण हो तो **पूर्ववर्ण** तथा **परवर्ण** दोनों के स्थान पर वृद्धि अर्थात् 'आ, ऐ, औ' ये तीन वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त होते हैं। यह सूत्र **आद्गुणः** का बाधक है। **आद्गुणः** अवर्ण से अच् परे रहने पर लगता है और **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **अवर्ण से एच् परे रहने पर**। एच् भी **अच्** के अन्तर्गत आते हैं। अतः एच् परे रहने पर **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **आद्गुणः** को बाधकर स्वयं कार्य करता है (वृद्धि करता है) और शेष **अ, इ, उ ,ऋ, ऌ** के पर होने पर **आद्गुणः** से गुण ही होता है। उसमें भी **अवर्ण** से **अवर्ण** के ही परे रहने पर **आद्गुणः** को बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** यह सूत्र दीर्घ करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि **अवर्ण** से **इ, उ, ऋ, ऌ** के परे रहने पर गुण होगा तथा **अवर्ण** से **ए, ओ, ऐ, औ** के परे रहने पर वृद्धि होगी।

आद्गुणः एवं **वृद्धिरेचि** इन सूत्रों में **बाध्य-बाधकभाव** है। दोनों सूत्रों में से अधिक जगहों पर लगने वाला सूत्र **बाध्य** और कम जगहों पर लगने वाला सूत्र **बाधक** होता है अर्थात् जिसका क्षेत्र बड़ा है, वह **बाध्य** तथा जिसका क्षेत्र कम है, वह **बाधक** है। **बाध्य सूत्र सामान्य** और **बाधक** सूत्र **विशेष** होता है। सर्वत्र **सामान्य** से **विशेष** बलवान् होता है, इसीलिए वह **बाध्य** को बाधता है। **बाधक** को **अपवाद** भी कहा गया है। हमने हिन्दी **बाधित करता है** इसके लिए प्रायः **बाधता है** ऐसा प्रयोग किया है, इन बातों का ध्यान रखें। अब इन दोनों सूत्रों में **आद्गुणः** अच् मात्र का विषय वाला होने से **अधिक क्षेत्रवाला** और **वृद्धिरेचि** 'एच्' मात्र का विषय वाला होने से **कम क्षेत्रवाला** है। अतः एच् परे रहने पर **आद्गुणः** इस सामान्य सूत्र को बाधकर **वृद्धिरेचि** लगता है। **सामान्यसूत्र** को **उत्सर्ग** और **विशेष** को **अपवादसूत्र** भी कहते हैं।

कृष्णैकत्वम् (कृष्ण का ऐक्य)। **कृष्ण+एकत्वम्** में संहितासंज्ञा हो जाने के बाद अवर्ण से अच् परे होने के कारण **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति हुई तो उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** यह सूत्र लगा क्योंकि यहाँ **एच्** परे भी है। **अवर्ण से एच् परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है**, यह सूत्रार्थ है। **अवर्ण** है **कृष्ण** में **ण्** के बाद वाला **अ** तथा **एच्** परे है **एकत्वम्** का आदिवर्ण **एकार**। पूर्व में है **अ** और

पर में है **ए**। इन दोनों वर्णों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक आदेश वाले वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हुए। दो वर्णों के स्थान पर एक आदेश होना है और प्राप्ति हुई तीनों वर्णों की। अतः अनियम हुआ। इसलिए नियमार्थ सूत्र लगा **स्थानेऽन्तरतमः। स्थान** मिलाने पर कृष्ण के अकार का कण्ठस्थान और एकत्वम् के एकार का कण्ठतालु स्थान है। दोनों का स्थान मिलाकर कण्ठ-कण्ठतालु स्थान, अर्थात् **कण्ठतालु स्थान** है। स्थानियों का स्थान **कण्ठतालु** है तो अब आदेश में भी **कण्ठतालु** स्थान वाला कौन सा वर्ण है? खोजा तो **ऐ** का कण्ठतालु स्थान है। अतः **ऐ** आदेश हुआ। **कृष्ण** के **अकार** और **एकत्वम्** के एकार को हटाया। ध्यान रहे कि **आदेश स्थानी को हटाकर के ही बैठता है**। यहाँ पर दोनों वर्णों के स्थान पर ऐ आदेश बैठ गया- **कृष्ण्+ऐ+कत्वम्** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **ष्ण्** जाकर **ऐ** से मिला तो **कृष्णैकत्वम्** सिद्ध हुआ। यह तो एच् में से केवल **'ए'** परे रहने का उदाहरण है। **'ओ'** परे रहने का उदाहरण है- **गङ्गौघः**।

गङ्गौघः। गंगा का प्रवाह। **गङ्गा+ओघः** यह स्थिति है। पूर्व में **आकार** और पर में **ओकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-ओष्ठ**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **आ** और **ओ** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थानवाला **औ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **गङ्ग्+औ+घः** बना। वर्ण सम्मेलन हुआ **गङ्गौघः**। **ऐ** के परे रहने का उदाहरण आगे देखें।

देवैश्वर्यम्। देवों का ऐश्वर्य। **देव+ऐश्वर्यम्** में पूर्व में **अकार** और पर में **ऐकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-तालु**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अ** और **ऐ** के स्थान पर **कण्ठ-तालु** स्थानवाला **ऐ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **देव्+ऐ+श्वर्यम्** बना। वर्ण संम्मेलन हुआ **देवैश्वर्यम्** सिद्ध हुआ। **औ** के परे रहने का उदाहरण आगे देखें।

कृष्णौत्कण्ठ्यम्। कृष्ण के विषय में उत्कण्ठा। **कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्** में पूर्व में **अकार** और पर में **औकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-ओष्ठ**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अ** और **औ** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थानवाला **औ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **कृष्ण्+औ+त्कण्ठ्यम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कृष्णौत्कण्ठ्यम्** सिद्ध हुआ।

कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्। हमारा शरण्य वह कृष्ण मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण, कल्कि आदि अवतार लेकर भिन्न-भिन्न रूपों को प्रदर्शित करता है किन्तु इनमें **ऐक्य** है अर्थात् एक ही स्वरूप है। जिसकी भी उपासना करें, प्राप्ति-उसी कृष्ण की ही होती है। उस परब्रह्म **देव का ऐश्वर्य** तो देखो जो अपनी इच्छाशक्ति मात्र से सारे संसार की रचना, पालन और संहार करता है। उसका कार्य **गङ्गा के प्रवाह** की तरह अबाध गति से चलता रहता है। उसके कार्य गङ्गा की तरह पवित्र होते हैं। ऐसा सर्वसमर्थ, ऐश्वर्य परिपूर्ण परमात्मा भगवान् कृष्ण अपने योगियों के लिए उत्कण्ठा का विषय है। योगिजन उसको जानने के लिए वेद एवं वेदों के पद, क्रम आदि पारायणों से निरन्तर अनुष्ठानशील रहते हैं। स्वयं वेद भी जिनको समझने लिए निरन्तर गान करते रहते हैं फिर भी पार नहीं पाते और निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। ऐसा कृष्ण सबके लिए ज्ञेय और ध्येय है।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम् 6|1|86

३४. एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९।

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्।

उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्।

वार्तिकम्- **अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्**। अक्षौहिणी सेना।

वार्तिकम्- **प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु**। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

वार्तिकम्- **ऋते च तृतीयासमासे**। सुखेन ऋतः, सुखार्तः। तृतीयेति किम्? परमर्तः।

वार्तिकम्- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे**। प्रार्णम्, वत्सतरार्णम् इत्यादि।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धि करें-
एक+एकम्। तथा+एव। तदा+एव। तव+एव। तव+ओकः। तण्डुल+ओदनः। शर्करा+ओदनः। प्राचीन+ऐतिह्यम्। नृप+ऐश्वर्यम्। सर्व+ऐश्वर्यम्। तथा+एव।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि करें-
पञ्चैते। महौषधिः। बालैषा। जनैकता। महौदार्यम्। रामैश्वर्यम्।
तदैव। एकैकम्। सर्वदैक्यम्। तवौदार्यम्। दिव्यौषधम्। द्वितीयैकवचनम्।

(ग) **आद्गुणः** और **वृद्धिरेचि** ये आपस में बाध्य-बाधक कैसे बने? व्याख्या करें।

(घ) **उप+इन्द्रः** इस प्रयोग में **वृद्धिरेचि** क्यों नहीं लगता?

(ङ) **वृद्धिरेचि** सूत्र के लिए आप स्वयं कितने उदाहरण ढूँढ़ सकते हैं?

(च) यदि **वृद्धिरेचि** सूत्र न होता तो इसके जो चार उदाहरण कौमुदी में दिखाए गए हैं- उनके कैसे अनिष्ट रूप बनते?

३४- **एत्येधत्यूठ्सु**। एतिश्च, एधतिश्च, ऊठ् च तेषाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः, एत्येधत्यूठः, तेषु एत्येधत्यूठ्सु। एत्येधत्यूठ्सु सप्तम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः** से आद् तथा **वृद्धिरेचि** से वृद्धि और एचि की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से एच् आदि में हो ऐसे इण् धातु या एध् धातु अथवा ऊठ् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

वृद्धिरेचि से प्राप्त एचि यह पद एति, एधते का विशेषण बनता है, ऊठ् का नहीं क्योंकि ऊठ् का ऊकार एच् प्रत्याहार में नहीं आता। अतः ऊठ् एच् नहीं हो सकता। एति से इण् धातु और एधते से एध् धातु समझना चाहिए। कैसा एति और एधते? एच् आदि में हो ऐसे इण् धातु और एध् धातु। अर्थात् इण् धातु में गुण आदि होकर एच् बन गया हो और एध् धातु ह्रस्व आदि होकर एजादित्व को न छोड़ा हो। **एचि** यह पद **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** इस परिभाषा के बल से तदादिविधि होकर एच् आदि में हो ऐसा इण् और एच् आदि में हो ऐसा एध् धातु, ऐसा अर्थ बनाता है।

यह सूत्र **आद्गुणः** और **एङि पररूपम्** आदि का **अपवाद** अर्थात् **बाधक** है। **अवर्णान्त** उप आदि से **एति** और **एधते** के परे रहने पर तो **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त थी

किन्तु उसे बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हो रहा था, उसे भी बाधकर वृद्धि करने के लिए तथा **प्रष्ठ+ऊहः** में गुण प्राप्त था, उसे बाधने के लिए यह सूत्र बनाया गया। यदि यह सूत्र न होता तो **उप+एति** और **उप+एधते** में पररूप होकर **उपेति** और **उपेधते** तथा **प्रष्ठ+ऊहः** में गुण होकर **प्रष्ठोहः** ऐसे अनिष्ठ रूप बन जाते।

उपैति। पास जाता है। उप+एति में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हुआ, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठसु।** अवर्ण है **उप** में पकारोत्तरवर्ती **अकार**, उससे **एजादि इण्** धातु पर में है **एति।** पूर्व में है **उप** का **अकार** और पर में है **एति** का **एकार।** इस तरह **अकार** और **एकार** के स्थान पर **वृद्धिसंज्ञक एक आदेश** होना है। वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीन हैं और स्थानी **अ** और **ए** दो ही हैं। दो के स्थान पर एक आदेश होना है किन्तु तीन आदेशों की प्राप्ति हो रही है। अतः अनियम हुआ। **स्थानेऽन्तरतमः** के बल पर स्थान मिलाने पर **कण्ठतालु** स्थान वाले **अ** और **ए** के स्थान पर कण्ठतालुस्थान वाला ही **ऐ** यह आदेश हुआ। आदेश हमेशा स्थानी को हटाकर के बैठता है। अतः **उप** के **अकार** और **एति** के **एकार** को हटाकर के बैठा तो **उप्+ऐ+ति** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उपैति** सिद्ध हुआ।

कृष्ण के प्रति उत्कण्ठा होने पर उनकी कृपा से वह कृष्ण के नजदीक होता है, उसके पास जाता है।

उपैधते। (पास बढ़ता है)। उप+एधते में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हुआ, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठसु।** अवर्ण है **उप** में पकारोत्तरवर्ती **अकार**, उससे **एजादि एध्** धातु पर में है **एधते।** पूर्व में है **उप** का **अकार** और पर में है **एधते** का **एकार।** अकार और एकार के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होना है। वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीन हैं और स्थानी **अ** और **ए** ये दो हैं। अतः अनियम हुआ। **अ** और **ए** का कण्ठतालु स्थान है। **स्थानेऽन्तरतमः** के बल पर स्थान मिलाने पर आदेश में कण्ठतालुस्थान वाला **ऐ** मिला। अतः **अकार** और **एकार** को हटाकर **ऐकार** आदेश हुआ- **उप्+ऐ+धते** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उपैधते** सिद्ध हुआ।

जो उस कृष्ण के पास जाता है वह बढ़ता ही जाता है।

प्रष्ठौहः। प्रष्ठ+ऊहः। यहाँ पर **प्रष्ठवाह्** शब्द से द्वितीया का बहुवचन **शस्** के आने पर **प्रष्ठवाह्+अस्** था। **वाह ऊठ्** सूत्र से सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश होकर सकार के रुत्वविसर्ग हो जाने पर ऊहः बना है। यहाँ पर **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर के सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठ्सु।** यहाँ पर सूत्र का अर्थ किया जायेगा- **अवर्ण से ऊठ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।** ऐसा अर्थ करना इसलिए चाहिए कि **ऊहः** इण् और एध् धातु नहीं है, अतः एजादि भी नहीं है। अब पूर्व में है **अ** और पर में **ऊ**, दोनों के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान मिलाने पर **औ** आदेश हुआ- **प्रष्ठ्+औ+हः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **प्रष्ठौहः** सिद्ध हुआ।

कृष्ण की कृपा को प्राप्त भक्त के सारे कार्यों का भार कृष्ण स्वयं उठाते हैं।

एजाद्योः किम्? उपेतः। उप+इतः यह स्थिति है। **इण्** धातु से **क्त** प्रत्यय होकर

इतः बना है। यद्यपि यह भी इण् धातु ही है किन्तु गुण न होने के कारण एजादि नहीं बन पाया है। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि एत्येधत्यूठ्सु इस सूत्र में एचि की अनुवृत्ति लाकर एजाद्योः यह अर्थ बनाने की क्या जरूरत है? उत्तर दिया उपेतः। यदि एजाद्योः नहीं कहेंगे तो सूत्रार्थ कैसा होगा? अवर्ण से इण् और एध् धातु तथा ऊठ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो। ऐसा अर्थ करने पर उप+इतः में भी सूत्र की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि इतः यह इण् धातु का ही रूप है। अतः एजाद्योः कहना जरूरी है। एजाद्योः कहने पर एच् आदि में होने पर ही लगेगा। अतः उप+इतः में वृद्धि नहीं होगी। एजाद्यो. को हटाने पर तो उप+इतः में भी वृद्धि होकर उपैतः ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होने लगेगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए इस सूत्र में एजाद्योः यह पद पढ़ना पड़ा। इसी तरह मा भवान् प्र+इदिधत् में एध् धातु से इदिधत् बना है। पहले एजादि एध् धातु था किन्तु एकार को ह्रस्व होकर इकार बना है। यदि एजाद्योः नहीं कहेंगे तो एध् धातु मानकर प्र+इदिधत् में वृद्धि होकर के प्रैदिधत् ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए भी एत्येधत्यूठ्सु में एजाद्योः पढ़ना जरूरी है। मा भवान् प्रैदिधत्।

अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्। यह वार्तिक है। अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो, ऐसा कहना चाहिए। (उपसंख्यानम् इस शब्द का अर्थ है- इतना अधिक कहना अर्थात् पढ़ना चाहिए, अर्थात् इस सूत्र में इतने की कमी थी, सो ऐसा पढ़ना उचित होगा।)

अक्षौहिणी सेना। अक्ष+ऊहिनी में वृद्धिरेचि और एत्येधत्यूठ्सु से वृद्धि प्राप्त नहीं हो रही थी किन्तु गुण मात्र प्राप्त था और गुण हो जाता तो अक्षोहिणी ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। उक्त अनिष्ट निवारण के लिए कात्यायन जी को यह वार्तिक बनाना पड़ा। यह वार्तिक केवल अक्षौहिणी इस प्रयोग को ही सिद्ध करता है। यहाँ पर अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द परे है। पूर्व है अक्ष का अकार और पर में है ऊहिनी का ऊकार। दोनों के स्थान पर वृद्धि अर्थात् आ, ऐ, औ ये तीनों प्राप्त हो गये और स्थानेऽन्तरतमः के सहयोग से स्थान से मिलाने पर कण्ठ-ओष्ठस्थान वाले अकार और ऊकार के स्थान पर कण्ठओष्टस्थान वाला औ मिलता है। अतः अकार और ऊकार को हटाकर औकार आदेश हुआ। अक्ष्+औ+हिनी बना। वर्णसम्मेलन होकर अक्षौहिनी बना। पूर्वपदात्संज्ञायामगः सूत्र से नकार के स्थान पर णकार आदेश होकर अक्षौहिणी सिद्ध हो जाता है।

अक्षौहिणी सेना होती है। यह शब्द महाभारत की घटनाओं को याद दिलाता है। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सात अक्षौहिणी और कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं। २१८७० रथ, २१८७० हाथी ६५६५० घोड़े और १०९३५० पैदल सेना, इतना मिलाकर एक अक्षौहिणी सेना बनती है।

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। यह भी वार्तिक है। प्र-शब्द के अकार से ऊहः, ऊढः, ऊढिः, एषः और एष्यः से सम्बन्धित अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

प्रौहः(प्र+ऊहः, उत्तम तर्क करने वाला), **प्रौढः**(प्र+ऊढः, बढ़ा हुआ, परिपक्व), **प्रौढिः**(प्र+ऊढिः, परिपक्वता, प्रौढता) इन प्रयोगों में वृद्धि प्राप्त नहीं थी अपितु गुण प्राप्त

था और **प्रैषः** (प्र+एषः, प्रेरणा), **प्रैष्यः**(प्र+एष्यः, प्रेरणीय, सेवक आदि) इन प्रयोगों में वृद्धि तो प्राप्त थी किन्तु उसे बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप भी प्राप्त था। ऐसा हो जाता तो उक्त रूपों की जगह **प्रोहः, प्रोढः, प्रोढिः, प्रेषः, प्रेष्यः** ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। उक्त अनिष्ट निवारण के लिए कात्यायन जी ने इस वार्तिक को बनाया। **प्रौहः**(प्र+ऊहः), **प्रौढः**(प्र+ऊढः), **प्रौढिः**(प्र+ऊढिः) इन प्रयोगों में पूर्व में **अवर्ण** और पर में **ऊवर्ण** के स्थान पर आदेश के साथ स्थान से साम्यता मिलाने पर औ-वृद्धि और **प्रैषः** (प्र+एषः), **प्रैष्यः**(प्र+एष्यः) इन प्रयोगों में पूर्व में अवर्ण और पर में **एवर्ण** के स्थान पर आदेश के साथ स्थान से साम्यता मिलाने पर ऐ-वृद्धि होकर उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं। **प्रौहः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रैषः, प्रैष्यः**।

ऋते च तृतीयासमासे। यह भी वार्तिक है। **अवर्ण से ऋत-शब्द के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है तृतीयासमास में।** यदि पूर्व में **अवर्ण** हो और पर में **ऋत** शब्द हो और दोनों शब्दों में तृतीयातत्पुरुष समास हो गया हो तो ही यह वार्तिक लगता है।

सुखार्तः। (सुख से युक्त) **सुखेन ऋतः** इस विग्रह में तृतीयातत्पुरुषसमास होकर **सुख+ऋतः** बना है। यहाँ पर **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **ऋते च तृतीयासमासे** से **सुख** में **अकार** और **ऋतः** के **ऋकार** के स्थान पर **उरण् रपरः** की सहायता से **रपर** सहित **आर्**-वृद्धि हुई- **सुख्+आर्+र्तः** बना। वर्णसम्मेलन और **रेफ** का **ऊर्ध्वगमन** हुआ- **सुखार्तः** सिद्ध हुआ। इति तरह **धनेन ऋतः**- **धनार्तः** आदि भी बना सकते हैं।

तृतीयेति किम्? परमर्तः। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **ऋते च तृतीयासमासे** इस वार्तिक में **तृतीयासमासे** यह इतना पद क्यों पढ़ा गया? न पढ़ते तो वार्तिक का अर्थ होता- **अवर्ण से ऋत-शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।** ऐसा अर्थ होने पर **परमश्चासौ ऋतः, परम+ऋतः** इस **कर्मधारयसमास** वाले स्थलों पर भी वृद्धि होने लगेगी, जोकि नहीं होनी चाहिए। यदि यहाँ भी वृद्धि हो जाय तो **परमार्तः** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए वार्तिक में **तृतीयासमासे** जोड़ा गया। इससे जहाँ तृतीयासमास मिलेगा, वहीं पर ही वृद्धि होगी, अन्यत्र नहीं। अतः **कर्मधारयसमास** वाले **परम+ऋतः** में इस वार्तिक से वृद्धि नहीं हुई और **उरण् रपरः** की सहायता से **आद्गुणः** से **अर्**-**गुण** होकर **परम्+अर्+तः=परमर्तः** सिद्ध हुआ।

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे। यह वार्तिक है। प्र च, वत्सतरश्च, कम्बलश्च, वसनं च, ऋणं च, दश च प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानि, तेषां प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) **प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश शब्दों से ऋण शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।**

प्रार्णम्। (अधिक अथवा श्रेष्ठ ऋण)। **प्र+ऋणम्** इस स्थिति में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे**। प्र से ऋण शब्द परे है। पूर्व में है **प्र** का **अकार** और पर में है **ऋणम्** का **ऋकार**। दोनों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हुए। **ऋकार** के स्थान पर प्राप्त हुए हैं तो **उरण् रपरः** से रपर होकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **आर्** आदेश हुआ, **प्र्+आर्+णम्** बना, वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **प्रार्णम्**।

E1/4/15 (4)

उपसर्गसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३५. उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः।

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप, एते प्रादयः।

....

.... वत्सतरार्णम्। (बछड़े के लिए ऋण)। **वत्सतर+ऋणम्** इस स्थिति

इसी तरह **वत्सतरार्णम्।** ... वार्तिक लगा- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।**

में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा। पूर्व में है **वत्सतर** का अकार और पर में है **ऋणम्** का

वत्सतर से **ऋण** शब्द परे है। पूर्व में है वत्सतर का अकार और पर में है ऋणम् का ऋकार। दोनों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक वर्ण आ, ऐ, औ ये तीनों प्राप्त हुए। **ऋकार** के

स्थान पर प्राप्त हुए हैं तो **उरण् रपरः** से रपर होकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से आर् आदेश हुआ, **वत्सतर्+आर्+णम्** बना, वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **वत्सतरार्णम्।**

अब इसी तरह अन्य प्रयोग भी बनाइये-

कम्बलार्णम्। कम्बल के लिए ऋण। **कम्बल+ऋणम्।**

वसनार्णम्। वस्त्र के लिए ऋण। **वसन+ऋणम्।**

ऋणार्णम्। ऋण के लिए ऋण। **ऋण+ऋणम्।**

दशार्णम्। दश प्रकार के जल वाला प्रदेश **दश+ऋणम्।**

अभ्यासः

१. निम्नलिखित रूपों में सन्धिप्रक्रिया दिखायें।

अवैति। समैति। अवैधते। समैधते। विश्वौहः। प्रौहः। प्रैषः। वत्सतरार्णम्। प्रमोदार्तः। अक्षौहिणी सेना।

२. वृद्धिरेचि और एत्येधत्यूठ्सु इन दो सूत्रों की तुलना करें।

३. एत्येधत्यूठ्सु इस सूत्र के साथ पढ़े गये सभी वार्तिकों की क्यों आवश्यकता है? स्पष्ट करें।

३५- **उपसर्गाः क्रियायोगे।** क्रियया योगः, क्रियायोगः (तृतीया तत्पुरुषः) तस्मिन् क्रियायोगे। उपसर्गाः प्रथमान्तं, क्रियायोगे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

क्रिया के योग में प्र आदि उपसर्गसंज्ञक होते हैं।

प्रादि संख्या में बाईस हैं। इनका क्रिया अर्थात् धातु के साथ योग होता है तो इनकी **उपसर्गसंज्ञा** होती है अर्थात् ये **उपसर्ग** कहलाते हैं।

यद्यपि उपसर्ग का कोई भी अर्थ नहीं होता फिर भी धातु के साथ मिलकर भिन्न-भिन्न अर्थों को निकालते हैं। अतः अर्थ के वाचक न होते हुए भी तत्तद् अर्थों के **द्योतक** हैं। स्वतन्त्र रूप में इनकी **निपात-संज्ञा** होती है और क्रिया के योग में **उपसर्गसंज्ञा।** इसके साथ **गतिश्च** यह सूत्र भी है जो क्रिया के योग में ही **गतिसंज्ञा** भी करता है। इसलिए ये **उपसर्ग** और गति के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये हैं- **प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप।** ये लौकिकी संस्कृत भाषा में हमेशा धातु से ठीक पहले प्रयोग किये जाते हैं किन्तु

धातुसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३६. भूवादयो धातवः १। ३। १॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

३७. उपसर्गादृति धातौ ६। १। ९१॥ 6/1/88

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशःस्यात्। प्रार्च्छति।

....

वेदों में बाद में भी अथवा व्यवधान होने पर भी प्रयुक्त होते हैं। प्रायः धातु के पहले एक ही उपसर्ग होता है, किन्तु कहीं-कहीं दो या दो से अधिक भी उपसर्ग देखे गये हैं।

३६- **भूवादयो धातवः**। भूश्च वाश्च भूवौ, आदिश्च आदिश्च इति आदी। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। भूवादयः प्रथमान्तं, धातवः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

क्रियावाचक भू आदि धातुसंज्ञक होते हैं।

यह सूत्र भू आदि की धातुसंज्ञा करता है। धातु किसे कहते हैं? जो भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि गणों में अर्थ-निर्देशन पूर्वक पढ़े गये हों और उनका अर्थ क्रिया अर्थात् व्यापार हो। धातु कहलाने के लिए **भ्वादिगणपठित** भी होना चाहिए और **क्रियावाचक** भी। जैसे **पठति** में **पठ्**। यह भ्वादिगण में पठित भी है और 'पढ़ना' यह क्रियावाचकता रूप अर्थ भी है। अतः **पठ्** यह धातु है और **पठति** इत्यादि **धातु** के रूप।

३७- **उपसर्गादृति धातौ**। उपसर्गात् पञ्चम्यन्तं, ऋति सप्तम्यन्तं, धातौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः** से **आत्** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार भी चल ही रहा है।

अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

ऋति और **धातौ** ये दो पद आपस में क्रमशः **विशेषण** और **विशेष्य** हैं। **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** इस परिभाषा के बल पर तदादि विधि होकर **ह्रस्व ऋकार आदि में हो ऐसा जो धातु** ऐसा अर्थ बना लिया जाता है।

यह सूत्र पूर्व में **अवर्णान्त उपसर्ग** और पर में **ऋकारादि** धातु होने पर लगता है। उपसर्ग के अन्त में 'अ' ही हो और धातु के आदि में **ऋकार** ही हो तो **पूर्व** और पर के स्थान पर **वृद्धिसंज्ञक एक आदेश** करता है। यह सूत्र **आद्गुणः** का बाधक है। सामान्य अवर्ण एवं सामान्य ऋकार में **आद्गुणः** द्वारा गुण तथा **उपसर्गान्त अवर्ण** एवं **धातु** के ऋकार की स्थिति में **उपसर्गादृति धातौ** द्वारा **उरण् रपरः** से रपर होकर **आर्** के रूप में वृद्धि होती है।

प्रार्च्छति। अच्छी तरह से जाता है। प्र+ऋच्छति में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति हुई तो उसे बाधकर सूत्र लगा- **उपसर्गादृति धातौ**। अवर्णान्त उपसर्ग है **प्र** तथा ऋकारादि धातु परे है **ऋच्छति**, पूर्व में है अ और पर में है ऋ। दोनों के स्थान पर वृद्धि अर्थात् **आ, ऐ, औ** की प्राप्ति हुई। दो के स्थान पर एक आदेश होना था किन्तु तीन-तीन आदेशों की

परूपविधायकं विधिसूत्रम्

३८. **एङि पररूपम् ६।१।९४॥**

आदुपसर्गादेङादौ धातौ पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति।

....

प्राप्ति हुई अर्थात् अनियम हुआ। **स्थानेऽन्तरतमः** इस सूत्र के नियमानुसार स्थान से मिलाने पर **प्र** के **अकार** का कण्ठस्थान और **ऋच्छति** के **ऋकार** का **मूर्धा** स्थान है। आदेशों में कण्ठमूर्धा स्थान वाला कोई भी नहीं है किन्तु केवल कण्ठस्थान वाला **आ** है तो यत्किञ्चित् तुल्यता (कण्ठस्थान मात्र की तुल्यता) को लेकर **आ** की प्राप्ति हुई तो **उरण् रपरः** से रपर करके **आर्** एवं **आल्** हुए। कण्ठमूर्धास्थान वाले स्थानी **अ** और **ऋ** के स्थान पर कण्ठमूर्धास्थान वाला ही **आर्** आदेश हुआ तो बना- **प्र्+आर्+च्छति।** प्र्+आर्=प्रार्, प्रार्+च्छति। हल् वर्ण के परे रहने पर रेफ का स्वभाव ही **ऊपर रहने** का है। अतः रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ, **प्रार्च्छति** सिद्ध हुआ।

संस्कृत में प्रयोगसिद्धिः- प्र+इच्छति इत्यवस्थायाम् **आद्गुणः** इतिसूत्रेण गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य **स्थानेऽन्तरतरः, उरण् रपरः** इतिसूत्रद्वयसहकारेण **उपसर्गादृति धातौ** इत्यनेन सूत्रेण वृद्धौ, **प्र्+आर्+च्छति** इति जाते वर्णसम्मेलने रेफस्योर्ध्वगमने च **प्रार्च्छति** इति रूपं सिद्धम्।

कृष्ण की कृपा के बाद वह श्रुति और स्मृतियों को भगवान् की आज्ञा मानकर उनका पालन करता हुआ वह भक्त अन्ततः **कृष्ण** के धाम को चला जाता है।

अभ्यासः-

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सूत्र लगाकर सन्धि करें-
अप+ऋच्छति। अव+ऋञ्जते। उप+ऋच्छति।

(ख) कितने और कौन-कौन से उपसर्ग (प्रादि) अजन्त और कौन-कौन से हलन्त हैं?

(ग) क्या **उपसर्गादृति धातौ** यह सूत्र **वृद्धिरेचि** का बाधक हो सकता है? यदि हो सकता है तो क्यों? और यदि नहीं हो सकता तो क्यों नहीं?

(घ) धातु से आप क्या समझते हैं?

(ङ) प्रादि **उपसर्ग** कब बनते हैं?

(च) उपसर्ग-संज्ञा के अतिरिक्त **प्रादि** की क्या संज्ञा होती है?

(छ) प्रादि अर्थ के वाचक हैं या द्योतक?

३८- **एङि पररूपम्।** एङि सप्तम्यन्तं, पररूपं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में भी **एकः पूर्वपरयोः** इसका अधिकार आता है। **आद्गुणः** से आत् और **उपसर्गादृति धातौ** से उपसर्गाद् की अनुवृत्ति आती है। आत्-उपसर्गात् में **'आत्'** विशेषण पद है और **उपसर्गात्** विशेष्य पद है।

अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

कैसा उपसर्ग? **अवर्ण** अन्त में हो ऐसा उपसर्ग। **एङादौ** विशेषण है और **धातौ** विशेष्य है। कैसा धातु? एङ् प्रत्याहार आदि में हो ऐसा धातु। उसके परे रहने पर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर, पर का जैसा रूप हो अर्थात् पर में जैसा वर्ण होता है उसी तरह का एक

टिसंज्ञाविधायकं विधिसूत्रम् 1|1|63

३९. **अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४॥**

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

वार्तिकम्- **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्।** तच्च टेः।

शकन्धुः। कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

....

ही वर्ण आदेश हो। **पूर्व** और **पर** वर्ण मिलकर पर जैसा वर्ण हो जाय, यही **पररूप** है अतः अ और ए (अ+ए) में पूर्ववर्ण **'अ'** तथा परवर्ण 'ए' ये दोनों मिलकर परवर्ण 'ए' ही बन जाते हैं। अ एवं ए ये दोनों अपना अस्तित्व मिटाकर दोनों के स्थान में पर में विद्यमान वर्ण के जैसे बन जाते हैं। ध्यान रहे कि **पररूप हमेशा दो वर्णों के स्थान पर एक आदेश के रूप में ही होता है।**

यह सूत्र **वृद्धिरेचि** का बाधक है।

प्रेजते। अत्यन्त चमकता है। **प्र+एजते** में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति होती है, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई। उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एङि पररूपम्। अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।** यहाँ पर **अवर्णान्त** उपसर्ग है **प्र** और एङादि धातु परे है एजते। **पूर्व** में है **प्र** का अ और परे है **एजते** का ए। दोनों के स्थान पर परवर्ण ए ही हुआ, प्र्+ए+जते बना। वर्णसम्मेलन हुआ (प्र्+ए= प्रे) **प्रेजते** यह रूप सिद्ध हुआ। यहाँ कोई अनियम नहीं हुआ, क्योंकि अनियम तब होता है जब एक या दो के स्थान पर अनेक आदेशों की प्राप्ति होती हैं। यहाँ पर आदेश कहीं बाहर से नहीं आया। स्थानी में से ही आदेश हुआ और सूत्र ने यह भी निश्चित कर दिया कि पररूप ही यहाँ पर आदेश हो। अतः अनियम न होने के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** आदि की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जो कृष्णधाम को प्राप्त होता है, वह सदा चमकता ही रहता है।

उपोषति। जलता है। उप+ओषति में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ। उसे बाधकर के **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई। उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप हुआ, **उप्+ओ+षति** बना। वर्णसम्मेलन होने पर (उप्+ओ=) **उपोषति** सिद्ध हुआ। यहाँ पर अवर्णान्त उपसर्ग **उप** है और एङादि धातु परे है **ओषति**। पूर्व है पकारोत्तरवर्ती **अकार** और पर है **ओषति** का **ओकार**। पररूप होने पर पर दोनों के स्थान पर पूर्ववर्ण सदृश **ओ** ही बन गया- **उप्+ओ+षति**। वर्णसम्मेलन होकर **उपोषति** सिद्ध हुआ।

कृष्णकृपा को प्राप्त व्यक्ति के पाप जल जाते हैं और वह सोने की तरह निर्मल होता है।

अभ्यासः

(क) **प्रेजते, उपोषति** इन प्रयोगों को संस्कृत भाषा में साधकर दिखाइये।

(ख) प्रयोग सिद्ध करें-

प्र+एषयति। उप+एहि। अव+एजते। प्र+ओषति।

(ग) **न+एजते=नैजते। तव+ओषति=तवौषति। यमुना+ओघः=यमुनौघः** इन प्रयोगों में **पररूप** क्यों नहीं होता?

(घ) **वृद्धिरेचि** और **एङि पररूपम्** की तुलना कीजिये।

अन्ते भवः- अन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य स अन्त्यादि (बहुव्रीहिः)।

३९- अचोऽन्त्यादि टि। अचः षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यादि प्रथमान्तं, टि प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, वह जिसके आदि में हो, वह समुदाय टिसंज्ञक होता है।

जहाँ अनेक अच् हो वहाँ अन्त्य अच् की और जहाँ एक ही अच् हो तो उसी अच् की, यदि वह किसी हल् के आदि में हो तो हल् के साथ ही उस अन्त्य अच् की टिसंज्ञा होती है। जैसे- ज्ञान में नकारोत्तरवर्ती अकार की और मनस् में सकार सहित न के उत्तरवर्ती अकार और सकार अर्थात् अस् की टिसंज्ञा हो जाती है। जहाँ एक ही अच् हो तो वह अन्त्य भी माना जाता है और आदि भी। एक ही को अन्त्य, आद्य और मध्यम मानने को व्यपदेशिवद्भाव कहा जाता है। जैसे देवदत्तस्य एक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव मध्यमः, स एव कनिष्ठः अर्थात् देवदत्त का एक मात्र पुत्र है, चाहे उसे बड़ा समझो या मझला समझो अथवा छोटा समझो।

शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शकन्धु आदि गण में टिसंज्ञक पूर्व और पर के स्थान पर पररूप होता है।**

तच्च टेः= वह पररूप टि के स्थान पर होता है।

यह वार्तिक पररूप के प्रकरण में पढ़ा गया है। पररूप के प्रकरण में एकः पूर्वपरयोः का अधिकार है। अतः इस वार्तिक में भी उसका अधिकार रहेगा। अतः यह वार्तिक भी **पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एक आदेश करता है।**

आकृतिगणोऽयम्। यह वाक्य न तो सूत्र है और न ही वार्तिक। यह तो वरदराजाचार्य जी हमें समझा रहे हैं कि यह जो शकन्धु आदि गण है, इसमें इतने ही शब्द आते हैं, ऐसा कोई निश्चित नहीं है। अतः जहाँ-जहाँ भी पररूपविधायक सूत्रों की प्राप्ति नहीं हो किन्तु पररूप हो गया हो तो उसे शकन्धु आदि गण का मान लेना अर्थात् आकृति को देखकर इस गण का समझ लेना चाहिए। जहाँ शब्दों की संख्या रख पाना कठिन है, वहाँ पर आचार्य आकृतिगण का व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि **कार्यों को देखकर उस गण का समझना ही आकृतिगण है।**

शकन्धुः। शक नामक देश का कूप। **शक+अन्धुः** में पहले **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा करते हैं। जैसे- **शक** में अच् हैं- **श** का **अकार** और **क** का **अकार**, अन्त्य अच् है **क** का **अकार**, वह अन्य किसी के आदि में नहीं है, अपितु अपने ही आदि में है। अतः **क के अकार** की टिसंज्ञा हो गई। इसके बाद **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त था। उसे भी बाधकर **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप होता है। पररूप **टि** को लेकर के होता है, अतः टिसंज्ञा की आवश्यकता है। **शकन्धुः** शब्द **शकन्धु** आदि गण में आता ही है। **टि है क में अकार**, वह पूर्व में है और पर में **अन्धुः** का **अकार** है। इन दोनों के स्थान पर **पररूप** होगा। **पररूप** का तात्पर्य **पूर्व और पर के स्थान पर, पर का जैसा वर्ण हो जाना।** यहाँ पर पूर्व में भी **अकार** है और पर में भी **अकार** है। अतः दोनों **अकारों** के स्थान पर एक ही **अकार** हुआ- **शक्+अ+न्धुः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शकन्धुः** सिद्ध हुआ।

जो कृष्ण की उपासना नहीं करता और उनको जानने की चेष्टा नहीं करता, वह कूप अर्थात् एक अन्धकार में नीचे पतन को प्राप्त होता है।

परूपविधायकं विधिसूत्रम् 6|1|92

४०. **ओमाङोश्च ६।१।९५॥**

ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्।

शिवायों नमः। शिव एहि।

....

कर्कन्धुः। कर्क नामक कोई राजा, उसका कूप। **कर्क+अन्धुः** में पहले **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा करते हैं। जैसे- **कर्क** में अच् हैं- **क** का **अकार** और **क** का अकार, अन्त्य अच् है द्वितीय **क** का **अकार**, वह अन्य किसी के आदि में नहीं है अपितु अपने ही आदि में है। अतः द्वितीय **क** के **अकार** की टिसंज्ञा हो गई। इसके बाद **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त था। उसे भी बाधकर **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप होता है। पररूप **टि** को लेकर के होता है, अतः टिसंज्ञा की आवश्यकता है। **कर्कन्धुः** यह शब्द **शकन्धु आदि गण** में आता है और **टि है क** में **अकार**, वह पूर्व में है और पर में **अन्धुः** का **अकार** है। इन दोनों के स्थान पर पररूप होगा। पररूप का तात्पर्य पूर्व और पर के स्थान मिलकर पर का जैसा वर्ण हो जाना। यहाँ पर पूर्व में भी अकार है और पर में भी अकार है। अतः दोनों के स्थान पर एक **अकार** हुआ- **कर्क्+अ+न्धुः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कर्कन्धुः** सिद्ध हुआ।

राजाओं की तरह धन, मान मिलने पर कूप के प्रतीक अज्ञानान्धकार में नहीं रहना चाहिए, अपितु ईश्वर की उपासना, ज्ञान आदि के द्वारा आत्मकल्याण करना चाहिए।

मनीषा। बुद्धि। **मनस्+ईषा** है। **अचोऽन्त्यादि टि** से **मनस्** में **अस्** की टिसंज्ञा हो गई, वह ऐसे कि **अच्** है **म** का **अकार** और **न** का **अकार**। इसमें **अन्त्य अच्** है **न** का **अकार**, वह **अस्** इस समुदाय के **आदि** में है। अतः **सकार** सहित **अकार** अर्थात् **अस्** की **टिसंज्ञा** हो गई। यहाँ पर टिसंज्ञा का फल **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप करना है। अतः **टि** को लेकर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **पररूप एकादेश** होगा। पूर्व में टिसंज्ञक है **अस्** और पर में **ईषा** का ईकार है। इन दोनों के स्थान पर अर्थात् **अस्** और **ई** के स्थान पर, परवर्ण का जैसा **ई** ही हो गया, **मन्+ई+षा** बना। वर्णसम्मेलन होकर **मनीषा** सिद्ध हुआ।

मनीषा यह भगवान् के द्वारा प्रदत्त बुद्धि है। इसका सदुपयोग करके कूपमण्डुक मत बनना अपितु उस सर्वशक्तिमान् को समझने की चेष्टा करना।

मार्तण्डः। सूर्य। **मार्त+अण्डः** में शकन्धु की तरह टिसंज्ञा और पररूप करके **मार्तण्डः** सिद्ध करें।

यदि बुद्धि को सही मार्ग में लगायेंगे तो अन्दर ही अन्दर सूर्य की तरह ज्ञान रूपी प्रकाश फैलने लगेगा।

४०- ओमाङोश्च। ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः-ओमाङोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। ओमाङोः सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः** से **आत्** और **एङि पररूपम्** से **पररूपम्** की अनुवृत्ति आ रही है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार भी है।

अवर्ण से ओम् और आङ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

6।1।84

अतिदेशसूत्रम्

४१. अन्तादिवच्च ६।१।८५॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्। शिवेहि।

....

ओम् यह अव्यय है और आङ् प्रादि(उपसर्ग) है। यह सूत्र, **वृद्धिरेचि** और **अकः सवर्णे दीर्घः** का बाधक है।

शिवायों नमः। ओं नमः शिवाय, शिव को नमस्कार है। **शिवाय+ओं नमः** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **ओमाङोश्च**। अवर्ण है **शिवाय** में यकारोत्तरवर्ती **अकार** और ओम् परे है **ओम्**। पूर्व में है **शिवाय** का **अकार** और पर में है **ओं नमः** का **ओकार**। दोनों के स्थान पर पररूप हुआ तो पर में **ओ** है, अतः **अकार** और **ओकार** के स्थान पर **ओ** ही बन गया, **शिवाय्+ओं नमः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शिवायों नमः** सिद्ध हुआ।

ईश्वर के प्रणाम से **शिव** अर्थात् कल्याण होता है।

४१- अन्तादिवच्च। अन्तश्च आदिश्च- अन्तादी (द्वन्द्वः), अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत्। अन्तादिवत् अव्ययपदं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

पूर्व और पर के स्थान पर जो एकादेश होता है, वह पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय के लिए उसके अन्त्य के समान होता है और परवर्ती वर्णसमुदाय के लिए उसी के आदि के समान होता है।

जैसे एकादेश पूर्व और पर के स्थान पर होता है, उस एकादेश को अन्त या आदि मानना पड़े तो कैसे माना जाय, क्योंकि एकादेश होकर न तो पूर्व का रह गया है और न ही पर का अर्थात् अखण्ड है। एकादेश हो जाने के बाद यदि पुनः सन्धि आदि करनी हो तो उस एकादेश को पूर्व में स्थित माना जाय अथवा पर में स्थित? दूसरी बात एकादेश होने से पूर्व की स्थिति के किसी वर्ण विशेष को मानकर कार्य करना हो उस एकादेश को पूर्व का माना जाय या पर का। इस सन्देह को दूर करता है यह सूत्र। इसका कहना है कि जो एकादेश हुआ है वह यद्यपि अखण्ड है तथापि पूर्व घटित कार्य के लिए उसे अन्त के समान माना जाय और पर घटित कार्य के लिए आदि के समान माना जाय अर्थात् एकादेश होने पर उसे आदि भी माना जाता है और अन्त भी।

इस सूत्र को अतिदेश सूत्र कहते हैं क्योंकि जो वैसा नहीं है उसको वैसा मान लेना ही अतिदेश है।

परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः। यह परिभाषा है। सूत्रों में **पूर्वसूत्र** की अपेक्षा **परसूत्र** बलवान् होता है। **पूर्वसूत्र** और **परसूत्र** की अपेक्षा **नित्यसूत्र** बलवान् होता है, **पूर्व, पर, नित्यसूत्रों** की अपेक्षा **अन्तरङ्गसूत्र** बलवान् होता है और **पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्गसूत्रों** की अपेक्षा **अपवादसूत्र** बलवान् होता है। अर्थात् **पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद** इन सूत्रों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के बलवान होते हैं। जो सूत्र अपेक्षाकृत बलवान् होता है, वह पहले प्रवृत्त होता है। **पूर्व** और **पर** का व्यवहार इस तरह से समझें- **अष्टाध्यायी** के क्रम से जो पहले पठित है वह पूर्वसूत्र और तदपेक्षया जो बाद में पठित है वह उत्तरसूत्र है।

सवर्णदीर्घविधायकं विधिसूत्रम् 6|1|97

४२. **अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१॥**

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

....

कृताकृतप्रसङ्गी नित्यः। किसी सूत्र के लगने के पूर्व भी वह सूत्र लग सकता है और उस सूत्र के लगने के बाद भी लग सकता है अर्थात् पूर्वस्थिति में भी लगने की क्षमता रखता है और परस्थिति में भी लगने की क्षमता रखता है। अतः उसे **नित्य** कहते हैं।

अन्तरङ्ग को जानने के लिए अनेक नियम हैं। जैसे कि **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यत्कार्यं बहिरङ्गम्। अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्। पूर्वोपस्थितिनिमित्तकमन्तरङ्गम्** आदि आदि। अर्थात् **धातु** और **उपसर्ग** के बीच में होने वाला कार्य अन्तरंग होता है। कम अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरंग होता है। आगे की अपेक्षा पहले के वर्णों के विषय में होने वाला कार्य अन्तरंग होता है, आदि आदि।

अपवाद। निरवकाशो विधिरपवादः। ज्यादा जगहों पर लगने वाले सूत्रों की अपेक्षा कम जगह पर लगने वाला निरवकाश सूत्र **अपवाद** सूत्र कहलाता है। जैसे कि **आद्गुणः** और **वृद्धिरेचि** में **आद्गुणः** अधिक जगहों पर लगता है और **वृद्धिरेचि** कम जगहों पर लगता है। अतः **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **आद्गुणः** की अपेक्षा **निरवकाश** है, अतः यह **अपवादसूत्र** है।

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। यह परिभाषा है। यदि **बहिरङ्ग** और **अन्तरङ्ग कार्य** एक साथ प्रवृत्त हो रहे हों तो वहाँ पर **बहिरङ्गकार्य** असिद्ध होकर हट जाता है और **अन्तरङ्गकार्य** होने लगता है।

शिवेहि। हे शिव यहाँ आइये। **शिव+आ+इहि** ऐसी स्थिति है। **शिव+आ** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त है और **आ+इहि** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त है। **धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होने के कारण बलवान्** है, अतः उपसर्ग **आ** और धातु **इहि** में पहले गुण होकर आ+इहि=**एहि** बना। इस तरह **शिव+एहि** बन गया है। **एहि** का **ए** यह **आ** और **इ** के स्थान पर **एकादेश** होकर बना हुआ है। उस **एकार** को **अन्तादिवच्च** से **पूर्वान्तवद्भाव** हो जाता है अर्थात् एकादेश होने से पहले पूर्व का अन्त **आ** और पर का आदि **इ** था। अब हमें **ए** को **आ** मानकर **ओमाङोश्च** से पररूप करना है तो **ए** को **आ** भी माना जा सकता है और **इ** भी। अतः पूर्वाश्रित कार्य करने में अन्त के समान हो गया। **आ+इ** में अन्त में **आ** था। **आ** यह आङ् है, उसे मानकर होने वाला पररूप हो गया। पररूप पूर्व और पर के स्थान पर होता है। **शिव+एहि** में पूर्व में है **शिव** का **अकार** और पर में है **एहि** का **एकार**। दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश ए हो गया। **शिव्+ए+हि** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शिवेहि** सिद्ध हुआ। यदि **अन्तादिवच्च** यह सूत्र न होता तो **शिव+एहि** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **शिवैहि** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। इस सूत्र के कारण **वृद्धिरेचि** को **ओमाङोश्च** बाध देता है।

४२- अकः सवर्णे दीर्घः। अकः प्रथमान्तं, सवर्णे सप्तम्यन्तं, दीर्घः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अक् से सवर्ण अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर दीर्घसंज्ञक एकादेश होता है।

अक् प्रत्याहार से सवर्ण **अच्**, अर्थात् समानजातीय **अच्** परे होना चाहिए। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार होने से **पूर्व और पर के स्थान पर** यह अर्थ बना। स्थानी दो होंगे और आदेश दीर्घसंज्ञक एक ही होगा। **अकार** के सवर्णी अठारह भेद वाले **अकार** ही हैं। इसी प्रकार इकार के सवर्णी भी अठारह प्रकार के **इकार** ही लिये जाते हैं और **उकार** के सवर्णी **उकार** एवं **ऋकार** के सवर्णी भी अठारह प्रकार के **ऋकार** और बारह प्रकार के लृकार को लेकर **तीस** प्रकार के हैं। अतः **अकार** से **अकार** के परे रहने पर, **इकार** से **इकार** के परे रहने पर, **उकार** से **उकार** के परे रहने पर, **ऋकार** से ऋकार और लृकार के परे रहने यह सूत्र **पूर्व** और **पर** के स्थान पर दीर्घ एकादेश करता है। जैसे- अ+अ=**आ**, इ+इ=**ई**, उ+उ=ऊ, ऋ+ऋ=ॠ आदि।

यह सूत्र **अ+अ** की स्थिति में **आद्गुणः** का बाधक है। **इ+इ, उ+उ, ऋ+ऋ,** की स्थिति में **इको यणचि** का बाधक है। ध्यान रहे कि यह सूत्र पूर्व में अक् प्रत्याहार के वर्ण और पर में उनके ही सवर्ण हों, तभी लगता है। अक् प्रत्याहार में **अ, इ, उ, ऋ, लृ,** ये पाँच वर्ण आते हैं और **लृ** का दीर्घाक्षर न होने के कारण जब **लृ** के लिए दीर्घादेश का विधान होता है तब **लृ** का सवर्णी **ॠ** ही दीर्घाक्षर हो जाता है।

जब इस सूत्र से दीर्घसंज्ञक एकादेश की प्राप्ति होती है तो सभी दीर्घ **आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ** ये सभी प्राप्त होते हैं और **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान से साम्य सवर्णदीर्घ ही हो, ऐसा नियम प्राप्त होता है।

दैत्यारिः। दैत्यों के शत्रु- भगवान् विष्णु। **दैत्य+अरिः** इस स्थिति में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर सूत्र लगा- **अकः सवर्णे दीर्घः**। अक् है **'दैत्य'** में यकारोत्तरवर्ती **अकार** और सवर्ण अच् परे है- **अरिः** का **अकार**। पूर्व और पर दोनों अकार के स्थान पर अकार का ही दीर्घ वर्ण आकार आदेश के रूप में हुआ- **दैत्य्+आ+रिः** बना, वर्ण सम्मेलन हुआ **दैत्यारिः** रूप सिद्ध हुआ।

संस्कृत में- **दैत्य+अरिः** इत्यत्र **संहितासंज्ञायाम्, आद्गुणः** इत्यनेन गुणे प्राप्ते तं प्रवाध्य **स्थानेऽन्तरतमः** इतिपरिभाषासूत्रसहकारेण **अकः सवर्णे दीर्घः** इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घैकादेशे **दैत्य्+आ+रिः** इति जाते वर्णसम्मेलने **दैत्यारिः** इति रूपं सिद्धम्।

श्रीशः। लक्ष्मी के पति। **श्री+ईशः** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त थां, उसे बाधकर के **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ एकादेश होकर **श्र्+ई+शः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **श्रीशः** सिद्ध हुआ।

विष्णूदयः। विष्णु का उदयः। **विष्णु+उदयः** में अक् है **'विष्णु'** का **उकार** और सवर्ण अच् परे है **'उदयः'** का **उकार**। दोनों के स्थान पर दीर्घ एक ही आदेश **ऊकार** हुआ। **विष्ण्+ऊ+दयः** बना। वर्णसम्मेलन में **(ष्ण्+ऊ=ष्णू)** **विष्णूदयः** सिद्ध हुआ।

होतॄकारः। होता का ऋकार। **होतृ+ऋकारः** में अक् है **होतृ** में **ऋकार** और सवर्ण अच् परे है- **ऋकारः** का **ऋ**। दोनों ऋकारों के स्थान पर दीर्घ रूप ॠकार एकादेश हुआ। **होत्+ॠ+कारः** बना, वर्णसम्मेलन होने पर **होतॄकारः** सिद्ध हुआ।

लृकार के विषय में पहले भी बताया जा चुका है कि इसका दीर्घ वर्ण नहीं

पूर्वरूपविधायकं विधिसूत्रम् 6|1|105

४३. एङः पदान्तादति ६।१।१०९॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

....

होता। इसलिए दीर्घ का विधान होने पर उसका सवर्णी ॠ ही हो जाता है। वैसे लृकार क उदाहरण अत्यन्त अप्रसिद्ध है। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में इसका उदाहरण मिलता है यहाँ नहीं दिया गया है।

वह **कृष्ण** भक्तों का दुःखनिवारण करता है। अतः **दैत्यों** का विनाश करता है वह लक्ष्मीपति है, अतः प्रभूत धन देता है। वह सर्वत्र उदित रहता है, सूर्य की तरह प्रकाश बिखेरता है अर्थात् ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार को हटाता है और उसे प्राप्त करने व यज्ञानुष्ठान अनेक उपाय हैं।

अभ्यासः

(क) **श्रीशः, विष्णूदयः** और **होतृकारः** इन प्रयोगों को संस्कृत भाषा में भी सिद्ध करें

(ख) निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करें-
देव+आलयः। विद्या+अर्थी। गिरि+ईशः। भानु+उदयः। परम+अर्थः। विद्या+आनन्दः
कर+अग्रम्। वेद+अभ्यासः। राम+आदिः। तरु+उपेतः। तुल्य+आस्यम्। पितृ+ऋणम्

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धिविच्छेद पूर्वक सिद्धि करें-
भूमीशः। हरीशः। यदासीत्। प्रतीक्षते। फलानीमानी। कमलाकरः। महीन्द्रः।
अल्पापराधः। कवीश्वरः। रोगातुरः। मुनीन्द्रः। अस्तीदम्। रसास्वादः। गुरूत्तमः।

(घ) **अकः सवर्णे दीर्घः** यह सूत्र कैसी स्थिति में किस-किस सूत्र का अपवाद है

(ङ) **अकः सवर्णे दीर्घः** इस सूत्र में **पूर्व और पर के स्थान पर एकादेश** इतना अर्थ कहाँ से आता है?

(च) अक् प्रत्याहार के प्रत्येक वर्णों के सवर्णी कौन-कौन से वर्ण हैं?

४३- **एङः पदान्तादति।** एङः पञ्चम्यन्तं, पदान्तात् पञ्चम्यन्तम्, अति सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिव सूत्रम्। **अमि पूर्वः** से **पूर्वः** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एक आदेश होता है।

जैसे **एङि पररूपम्** यह सूत्र पररूप करता है उसी प्रकार **एङः पदान्तादति** यह सूत्र **पूर्वरूप** करता है। **पररूप** में **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **परवर्णसदृश** वर्ण हो जाता है और इसके विपरीत **पूर्वरूप** में **पूर्व** और **परवर्ण** के स्थान पर **पूर्ववर्णसदृश** वर्ण होता है। दोनों में पूर्व और पर के स्थान पर एकादेश ही होता है।

यह सूत्र **पदान्त एङ** से केवल **ह्रस्व अकार** के परे रहने पर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **पूर्वरूप एकादेश** करता है। जैसे- **ए+अ** में पूर्व में **ए** है और पर में **अ**। जब पूर्वरूप हो जायेगा तो **ए** और **अ** दोनों के स्थान पर पूर्व का जैसा वर्ण केवल **ए** ही होता है। सूत्र के अनुसार पूर्व में **पद** के अन्त में विद्यमान **एङ्** हो और **पर** में केवल **ह्रस्व** अकार

हो तो वहाँ पूर्वरूप का विधान होना चाहिए। इसके द्वारा पूर्वरूप होने पर अकार के स्थान पर 'ऽ' इस चिह्न को लगाने की परम्परा रही है जिसे **अवग्रह** या **खण्डाकार** कहते हैं। यद्यपि अवग्रह चिह्न (खण्डाकार) का विधान कोई सूत्र नहीं करता फिर भी वह **पूर्व अकार** का संकेत देता हुआ यह चिह्न संस्कृत भाषा में बहुत प्रचलित हैं। इस चिह्न का प्रयोग करें या न करें, इसमें आप स्वतन्त्र हैं अर्थात् कोई अनिवार्यता नहीं है।

पूर्वरूप यह अर्थ इस सूत्र में **अमि पूर्वः** इस सूत्र से **पूर्वः** की अनुवृत्ति से प्राप्त हुआ है। यह सूत्र **एचोऽयवायावः** का बाधक है।

हरेऽव। हे हरे! रक्षा करें। **हरे+अव** इस स्थिति में संहितासंज्ञा के बाद **एचोऽयवायावः** सूत्र से **अय्** आदेश की प्राप्ति हुई और उसे बाधकर सूत्र लगा- **एङः पदान्तादति**। पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। पदान्त **एङ्** है **हरे** का **एकार** और **ह्रस्व** अकार परे है **अव** का अकार। पूर्व में है **हरे** का **एकार** और पर में है **अव** का **अकार**। एकार और अकार के स्थान पर जब पूर्वरूप एकादेश हुआ तो **एकार** ही हुआ- **हरेव** बना। परम्परा के अनुसार अकार की जगह 'ऽ' यह चिह्न लगाया गया- **हरेऽव**।

विष्णोऽव। हे विष्णो! रक्षा करें। **विष्णो+अव** इस स्थिति में संहितासंज्ञा के बाद **एचोऽयवायावः** इस सूत्र से **अव्** आदेश की प्राप्ति हुई और उसे बाधकर सूत्र लगा- **एङः पदान्तादति**। पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। पदान्त **एङ्** है **विष्णो** का **ओकार** और **ह्रस्व** अकार परे है **अव** का अकार। पूर्व में है **विष्णो** का **ओकार** और पर में है **अव** का **अकार**। इस तरह **ओकार** और **अकार** के स्थान पर जब पूर्वरूप एकादेश हुआ तो **ओकार** ही हुआ- **विष्णोव** बना। परम्परा के अनुसार अकार की जगह 'ऽ' यह चिह्न लगाया गया- **विष्णोऽव**।

हरे! विष्णो! ये सम्बोधन है और अव यह क्रियापद है। सुबन्त होने के कारण हरे और विष्णो पद हैं, और एकार और ओकार पद के अन्त में हैं।

सर्वरक्षक **विष्णु** ही हो सकता है, क्योंकि वह सृष्टि, पालन और संहार करने वाला होते हुए भक्तवश्य भी है। अतः अपनी रक्षा के लिए जब भी भक्तजन पुकारते हैं, वह दयालु वहाँ पहुँच जाता है।

अभ्यासः

(क) हरेऽव, विष्णोऽव को संस्कृत में सिद्ध करें।

(ख) यदि **एङः पदान्तादति** सूत्र न होता तो **हरे+अव**, **विष्णो+अव** में कैसे रूप बनते?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद करके सिद्धि करें-
सुन्दरेऽम्बरे। तेऽत्र। संसारेऽधुना। आधारोऽधिकरणम्। नमोऽस्तु। कोऽसि। दासोऽहम्। स्थानेऽन्तरतमः। वनेऽस्मिन्। विशेषेऽनुरक्तः।

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
नमो+अस्तु। एचो+अयवायावः। को+अपि। संसारे+अत्र। गुरवे+अदाम्। वायो+अत्र। ब्रह्मणे+अस्मै। ततो+अन्यत्र। वने+अस्मिन्। अग्ने+अत्र। मार्गेऽन्यः। कोऽपि।

(घ) यह सूत्र किस सूत्र का बाधक है?

प्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

४४. सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते।

गोअग्रम्। गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्? चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्? गोः।

....

४४- सर्वत्र विभाषा गोः। सर्वत्र त्रल्प्रत्ययान्तम् अव्ययं, विभाषा प्रथमान्तं, गोः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **एङः पदान्तादति** से **पदान्तात्** को सप्तमी विभक्ति में विपरिणाम करके **पदान्ते** तथा **एङः** एवं **अति** की और **प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** से **प्रकृत्या** की अनुवृत्ति आती है।

लौकिक एवं वैदिक प्रयोगों में एङन्त गो शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है पदान्त में।

विकल्प यह अर्थ **विभाषा** इस शब्द से निकलता है क्योंकि **न वेति विभाषा** इस सूत्र से **निषेध** और **विकल्प** की विभाषासंज्ञा होती है। **प्रकृत्या** का अर्थ प्रकृतिभाव है अर्थात् प्रकृति जैसी थी उसी रूप में रहना, सन्धि होकर कोई विकृति या परिवर्तन न होना, सन्धिविच्छेद के समय जो स्थिति थी, उसी स्थिति में रहना, मूल अवस्था में रहना। अन्य सन्धियों को रोककर प्रकृति में रहना। इस सूत्र में पहले से **यजुषि**(यजुर्वेद में) की अनुवृत्ति आ रही थी, उसे रोकने के लिए **सर्वत्र** (सभी जगह अर्थात् लौकिक और वैदिक प्रयोगों में) कहना पड़ा।

गोअग्रम्। गोऽग्रम्। गाय का अग्रभाग। **गो+अग्रम्** इस स्थिति में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश प्राप्त था। उसे बाधकर **एङः पदान्तादति** से **पूर्वरूप** प्राप्त था, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **सर्वत्र विभाषा गोः**। **गो** यह पद है और पदान्त ओकार है **गो** का **ओकार**। इस तरह **पदान्त** में **एङन्त गो** का ओकार है और उससे **ह्रस्व** अकार परे है **अग्रम्** का **अकार**। अतः **प्रकृतिभाव** हुआ। प्रकृतिभाव माने जैसी स्थिति थी, उसी रूप में रहना। **गो+अग्रम्** ऐसा ही था **गोअग्रम्** ऐसा ही रह गया। यह कार्य विकल्प से होता है। प्रकृतिभाव न होने के पक्ष में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होकर खण्डकार(ऽ) हो गया- **गोऽग्रम्**। प्रकृतिभाव न होने के पक्ष में **अवङ् स्फोटायनस्य** से अवङ् आदेश होकर **गवाग्रम्** भी बनता है, सो आगे बतायेंगे। यहाँ पर **गवाम् अग्रम्** लौकिक विग्रह और **गो+आम् अग्र+सु** अलौकिक विग्रह में समास करके विभक्ति का लुक् हुआ है। उस लुप्त विभक्ति को मानकर **गो** में पदत्व विद्यमान है।

एङन्तस्य किम्? चित्रग्वग्रम्। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **सर्वत्र विभाषा गोः** इस सूत्र में **एङन्तस्य** की अनुवृत्ति क्यों लायी गई अर्थात् एङन्तस्य यह पद क्यों पढ़ा गया? न पढ़ते तो सूत्र का अर्थ होता- **लोक और वेद में गो-शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव हो पदान्त में**। ऐसा अर्थ होने पर **चित्रगु+अग्रम्** इस जगह पर भी प्रकृतिभाव होने लगेगा क्योंकि **चित्रा गावो यस्य, चित्रा जस् गो जस्** में समास होकर **चित्रा** को पुंवद्भाव और **गो** को ह्रस्व करके **चित्रगु** बना है। अतः **गो शब्द** है ही। सूत्र में **एङन्तस्य** न पढ़ने पर यहाँ भी सूत्र लग जायेगा और प्रकृतिभाव होने से **चित्रगुअग्रम्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए सूत्र में **एङन्तस्य** जोड़ा गया। इससे जहाँ

सर्वादेशविधानार्थं परिभाषासूत्रम्

८५. अनेकाल् शित्सर्वस्य १।१।५५॥

इति प्राप्ते।

अन्त्यादेशविधानार्थं परिभाषासूत्रम्

८६. ङिच्च १।१।५३॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

....

एङन्त मिलेगा, वहीं पर ही प्रकृतिभाव होगा, अन्यत्र नहीं। अत: **चित्रगु+अग्रम्** में एङन्त न होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ, **इको यणचि** से यण् होकर **चित्रग्वग्रम्** सिद्ध हुआ।

पदान्ते किम्? गो:। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **सर्वत्र विभाषा गो:** इस सूत्र में **पदान्ते** की अनुवृत्ति क्यों लायी गई अर्थात् **पदान्ते** यह पद क्यों पढ़ा? न पढ़ते तो सूत्र का अर्थ होता- **लोक और वेद में एङन्त गो-शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव हो।** ऐसा अर्थ होने पर **गो+अस्**(षष्ठी विभक्ति के ङस् वाला अस्) इस जगह पर भी प्रकृतिभाव होने लगता क्योंकि **पदान्ते** इस पद के अभाव में सूत्र पदान्त, अपदान्त दोनों जगह कार्य करना। **पदान्ते** कहने से **गो+अस्** में केवल **गो** में पदत्व न होने के कारण **गो** का ओकार पदान्त नहीं है। **सुप्तिङन्तं पदम्** इस सूत्र से **गो+अस्** इस समुदाय की पदसंज्ञा होती है, केवल **गो** की नहीं। अत: प्रकृतिभाव नहीं हुआ। पदान्ते इस पद के अभाव में तो प्रकृतिभाव होकर **गोअस्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होता। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए सूत्र में **पदान्ते** यह पद पढ़ा गया। जिससे गो+अस् में प्रकृतिभाव न हुआ अपितु पूर्वरूप होकर सकार का रुत्वविसर्ग होने से गो: ऐसा रूप सिद्ध हुआ।

८५- अनेकाल्शित्सर्वस्य। न एक: अनेक:(नञ्तत्पुरुषसमास)। अनेक: अल् यस्य स अनेकाल्(बहुव्रीहिसमास:) अनेकाल् प्रथमान्तं, शित् प्रथमान्तं, सर्वस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अनेक अल् वाला आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर होते हैं।

अनेक+अल्=अनेकाल्। जिस आदेश में अनेक अर्थात् एक से अधिक अल् हों उसे **अनेकाल्** कहा जायेगा। जिस आदेश में **शकार** की इत्संज्ञा होगी उसे **शित्** कहा जायेगा। जब किसी अङ्ग आदि के स्थान पर किसी सूत्र से आदेश का विधान किया जाता है और उसमें स्पष्टतया यह निर्देश नहीं किया गया है कि आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो या स्थानी के अन्तिम-वर्ण या आदि-वर्ण के स्थान पर हो। ऐसा अनियम होने पर यह सूत्र परिभाषा बनकर वहाँ पर नियम करता है कि **यदि आदेश अनेक अल् वाला या शित् हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर ही होता है।**

यह सूत्र **अलोऽन्त्यस्य** सूत्र का अपवाद है जो केवल अन्त्य के स्थान पर आदेश होने का विधान करता है।

८६ -ङिच्च। ङित् प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। अलोऽन्त्यस्य से **अन्त्यस्य** की अनुवृत्ति आती है।

ङित् आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्त्य के ही स्थान पर होता है।

6/1/119

अवङ्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

४७. **अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३।**

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि।

गवाग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

....

यह सूत्र **अनेकाल् शित्सर्वस्य** का बाधक है। आदेश यदि **अनेकाल्** भी हो और ङित् भी हो तो अर्थात् आदेश में **ङकार** की इत्संज्ञा हो रही हो तो भी वह आदेश सभी के स्थान पर न होकर केवल **अन्त्य अल् वर्ण के स्थान** पर ही होता है अर्थात् स्थानी में जो अन्त्य-वर्ण, उसीके स्थान पर होता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि आदेश अनेकाल् हो या न हो, यदि ङित् है तो अन्त्य के स्थान पर होगा एवं अङित् अनेकाल् और शित् आदेश **अनेकाल् शित् सर्वस्य** के अनुसार सभी के स्थान पर होगा।

४७- **अवङ् स्फोटायनस्य**। अवङ् प्रथमान्तं, स्फोटायनस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **एङः पदान्तादति** से **एङः** और विभक्ति-विपरिमाण करके **पदान्तस्य** की, **इको यणचि** से **अचि** की और **सर्वत्र विभाषा गोः** से **गोः** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त में जो एङ्, तदन्त जो गो-शब्द, इसको अच् के परे होने पर विकल्प से अवङ् आदेश होता है।

स्फोटायन नामक प्राचीन आचार्य के मत में **अवङ्** का होना और अन्य आचार्यों के मत में न होना, यही विकल्प होना चाहिए था किन्तु **सर्वत्र विभाषा गोः** से **विभाषा** के आने के कारण स्वतः विकल्प सिद्ध है। अतः यहाँ पर **स्फोटायन** का पठन विकल्प के लिए नहीं है अपितु नाम लेकर **पाणिनि जी** ने **स्फोटायन** नामक आचार्य का आदर किया है।

अवङ् में **ङकार** की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल **अव** ही बचता है। ङकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह आदेश ङित् है। अतः अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर आदेश होकर अर्थात् **ओकार** को हटाकर बैठता है।

गवाग्रम्। गोऽग्रम्। गाय का अग्रभाग। **गवाम् अग्रम्**(गो+आम्+अग्रम्) में समास होकर विभक्ति का लोप होकर के **गो+अग्रम्** ऐसी स्थिति है। **एङः पदान्तादति** से **पूर्वरूप** प्राप्त था, उसे बाधकर के **सर्वत्र विभाषा गोः** से प्रकृतिभाव प्राप्त था, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **अवङ् स्फोटायनस्य**। आम् विभक्ति का लुक् होने पर भी भूतपूर्व विभक्ति के आश्रयण से **गो** यह पद है और **पदान्त** है **गो** का ओकार। इस तरह पदान्त में **एङन्त** गो शब्द का **ओ** है और उससे **अच्** परे है है **अग्रम्** का **अकार**। **ङकार** की इत्संज्ञा होने के कारण **अवङ्** आदेश **ङित्** है। अतः **ङिच्च** के नियम से अन्त्य वर्ण **ओकार** के स्थान पर आदेश हुआ। **ग्+अव+अग्रम्** बना। **ग्+अव** में वर्णसम्मेलन होकर **गव** बना। **गव+अग्रम्** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर **गवाग्रम्** सिद्ध हुआ। यह सूत्र विकल्प से अवङ् आदेश करता है। **अवङ्** न होने के पक्ष में **सर्वत्र विभाषा गोः** से विकल्प से प्रकृतिभाव हुआ- **गो अग्रम्** ही रह गया। उक्त प्रकृतिभाव विकल्प से हुआ है। न होने के पक्ष में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप हो खण्डकार(ऽ) होकर **गोऽग्रम्**। इस तरह तीन रूप सिद्ध हुए। **गवाग्रम्, गोअग्रम्, गोऽग्रम्।**

अवङ्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

४८. **इन्द्रे च ६।१।१२४॥**

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

प्लुतादेशविधायकं विधिसूत्रम्

४९. **दूराद्धूते च ८।२।८४॥**

दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

....

पदान्ते किम्? **गवि**। अब प्रश्न करते हैं कि **अवङ् स्फोटायनस्य** में पदान्ते की अनुवृत्ति न लाते तो क्या होता? उत्तर देते हैं कि यदि **पदान्ते** न होता तो यह सूत्र पदान्त, अपदान्त दोनों जगहों पर अवङ् आदेश करता। पदान्त में करना तो अभीष्ट है किन्तु अपदान्त में करना अभीष्ट नहीं है। **गवि** यह पूरा पद है किन्तु **गो**+इ में केवल **गो** यह पद नहीं है क्योंकि **गवि** में **गो** शब्द से सप्तमी के एकवचन में ङि विभक्ति लगी है। **पदसंज्ञा** केवल शब्द की नहीं होती, अपितु विभक्ति से युक्त की होती है। अतः केवल **गो** यह पद नहीं है। अतः **गो+इ** में केवल **गो** यह पदान्त **गोशब्द** भी नहीं है। ऐसी जगह पर भी यदि **अवङ्** आदेश हो जायेगा, तो ग्+अव+इ=गवे ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होने लगेगा। ऐसी अनिष्टसिद्धि के निवारण के लिए आचार्य ने इस सूत्र में **पदान्ते** की अनुवृत्ति की। अतः सूत्र **पदान्त गो** शब्द में ही प्रवृत्त होगा, अपदान्त में नहीं। **गो+इ** में **गो** अपदान्त है, अतः **अवङ्** आदेश नहीं हुआ। **गो+इ** में **एचोऽयवायावः** से अव् आदेश होकर **गवि** सिद्ध हुआ।

४८- **इन्द्रे च**। इन्द्रे सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सर्वत्र विभाषा गोः** से गोः की तथा **अवङ् स्फोटायनस्य** से **अवङ्** की अनुवृत्ति आती है।

इन्द्र शब्द के परे होने पर गो-शब्द को अवङ् आदेश होता है।

अवङ् में ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। ङित् होने के कारण **ङिच्च** की सहायता से अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर होगा।

गवेन्द्रः। श्रेष्ठ बैल, साँड़। **गो+इन्द्रः** में **अवङ् स्फोटायनस्य** से वैकल्पिक अवङ् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **इन्द्रे च** से नित्य से **अवङ्** आदेश हुआ। ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप होकर **अव** बचा। **ङिच्च** की सहायता से अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर यह आदेश हुआ है। इस तरह ग्+अव+इन्द्रः बना। ग्+अव=गव बना है। **गव+इन्द्रः** में **आद्गुणः** से गुण होकर **गवेन्द्रः** सिद्ध हुआ।

४९- **दूराद्धूते च**। दूराद् पञ्चम्यन्तं, हूते सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः** का अधिकार है।

दूर से सम्बोधन करने में प्रयुक्त जो वाक्य, उसके टि को विकल्प से प्लुत होता है।

सभी प्लुतों को वैकल्पिक माना गया है। इस सूत्र से एकमात्रिक ह्रस्व और

6|1|121

प्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

५०. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५१. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्।

हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू॥

द्विमात्रिक दीर्घ के स्थान पर त्रिमात्रिक प्लुत आदेश हो जाता है। वैसे लोक में जब किसी का नाम लेकर पुकारते हैं तो स्वाभाविक रूप से प्लुत का ही उच्चारण करते हैं। जैसे **अरे देवदत्त!** प्लुत का एक प्रयोजन प्रकृतिभाव करना भी होता है। जहाँ पर प्रकृतिभाव प्राप्त नहीं है, वहाँ केवल उच्चारण काल में भेद होगा। प्लुत हो जाने के बाद उसको समझने के लिए प्रायः ३ का अङ्क लिखने का प्रचलन है।

५०- प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्। प्लुताश्च प्रगृह्याश्च प्लुतप्रगृह्याः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। प्लुतप्रगृह्याः प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, नित्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** से **प्रकृत्या** की अनुवृत्ति आती है।

अच् के परे होने पर प्लुत और प्रगृह्य को प्रकृतिभाव होता है।

आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति। हे कृष्ण! आओ, गौ यहाँ पर चर रही है। **आगच्छ कृष्ण+अत्र गौश्चरति** में दूर से सम्बोधन किया जा रहा है, अतः **कृष्ण** में णकारोत्तरवर्ती अकार जो **टिसंज्ञक** भी है, उसकी **दूराद्धूते च** से **प्लुतसंज्ञा** हो गई। उसके बाद सूत्र लगा- **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।** प्लुत है **कृष्ण** का अन्तिम वर्ण **अकार**, उससे **अच्** परे है **अत्र** का **अकार**। अतः **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति** था, ऐसे ही रह गया। प्लुतसंज्ञा वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **कृष्ण+अत्र** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर **आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति** ऐसा रूप सिद्ध हो जाता है।

इस तरह से सम्बोधन के वाक्य में अच् के परे होने पर दो रूप हुआ करते हैं। जहाँ अच् परे नहीं है, वहाँ केवल प्लुत ही बना रहेगा अर्थात् **प्रकृतिभाव** नहीं होगा।

५१- ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। ईच्च, ऊच्च, एच्च ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्वः। ईदूदेत् प्रथमान्तं, द्विवचनं प्रथमान्तं, प्रगृह्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **ईदूदेद्** यह पद **द्विवचनं** का विशेषण है। **येन विधिस्तदन्तस्य** इस परिभाषा से तदन्तविधि करके **ईदन्त द्विवचन, ऊदन्त द्विवचन** और **एदन्त द्विवचन** ऐसा अर्थ किया जाता है।

ईकारान्त द्विवचन, ऊकारान्त द्विवचन और एकारान्त द्विवचन प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

इकारान्त पुँल्लिङ्ग **हरि** शब्द तथा उकारान्त पुँल्लिङ्ग **भानु** शब्दों की प्रथमा के द्विवचन में क्रमशः **हरी** एवं **भानू** ये दीर्घान्त रूप बनते हैं और आबन्त शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में **एकारान्त** रूप बनता है। इनकी **प्रगृह्यसंज्ञा** होने के बाद यदि आगे अच् हो तो **प्रकृतिभाव** हो जायेगा। स्मरण रहे कि **प्लुतसंज्ञा** वैकल्पिक है,

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५२. अदसो मात् १।१।१२॥

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः।
अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्? अमुकेऽत्र।

अतः एक पक्ष में **दीर्घ** आदि कार्य भी होते हैं किन्तु **प्रगृह्यसंज्ञा** नित्य से होती है, अतः प्रकृतिभाव वाला एक ही रूप होगा।

हरी एतौ। ये दो हरि हैं। **हरी+एतौ** में ईकारान्त द्विवचन **हरी** की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **हरी एतौ** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **हरी+एतौ** में **इको यणचि** से यण् होकर **हर्येतौ** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

विष्णू इमौ। ये दो विष्णु हैं। **विष्णू+इमौ** में ऊकारान्त द्विवचन **विष्णू** की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **विष्णू इमौ** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **विष्णू+इमौ** में **इको यणचि** से यण् होकर **विष्ण्वमौ** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

गङ्गे अमू। ये दो गङ्गाएँ हैं। **गङ्गे+अमू** में एकारान्त द्विवचन **गङ्गे** की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **गङ्गे अमू** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **गङ्गे+अमू** में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होकर **गङ्गेऽमू** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

५२- अदसो मात्। अदसः षष्ठ्यन्तं, मात् पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से ईदूद् और **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है।

अदस् शब्द के मकार से परे ईकार और ऊकार प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।

अदस् के तीनो लिङ्गों की प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन तथा बहुवचन में **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से **मत्व** होकर **मकार** मिलता है। यदि उस **मकार** से परे **ईकार** और **ऊकार** मिलेगा तो उसकी इस सूत्र से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो जायेगी। इस तरह **अमू**, **अमी** ये दो रूप मिलते हैं। **अदस्** शब्द में **मकार** से परे एकार नहीं मिलता है। अतः **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **एत्** की अनुवृत्ति नहीं आती है।

अमी ईशाः। ये स्वामी जन हैं। **अमी** यह रूप **अदस्** के प्रथमा बहुवचन का है। **अमी+ईशाः** में **अमी** के **ईकार** की **अदसो मात्** से प्रगृह्यसंज्ञा हो गई क्योंकि यहाँ पर **अदस्**-शब्द के **मकार** से परे **ईकार** है। इसके बाद **प्लुतप्रगृह्यसंज्ञा अचि नित्यम्** से प्रकृतिभाव हो गया। **अमी ईशाः** ऐसा था, ऐसा ही रह गया। प्रकृतिभाव होने से **अमी+ईशा** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से **सवर्णदीर्घ** न हो सका, क्योंकि सवर्णदीर्घ को बाधकर के प्रकृतिभाव होता है। अन्यथा सवर्णदीर्घ होकर **अमीशाः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

रामकृष्णावमू आसाते। ये दोनों राम और कृष्ण हैं। **रामकृष्णौ+अमू** में पहले

निपातसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५३. चादयोऽसत्त्वे १।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

....

एचोऽयवायावः से आव् आदेश होकर **रामकृष्णावमू** बन गया है। **रामकृष्णावमू+आसाते** में **अदसो मात्** से ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो गई क्योंकि **अदस्**-शब्द के **मकार** से परे ऊकार है। इसके बाद **प्लुतप्रगृह्यसंज्ञा अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। **रामकृष्णावमू आसाते** ऐसा था, ऐसा ही रह गया। प्रकृतिभाव होने से **रामकृष्णावमू+आसाते** में **इको यणचि** से **यण्** न हो सका, क्योंकि यण् को बाधकर के प्रकृतिभाव होता है। अन्यथा यण् होकर **रामकृष्णावम्वासाते** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

मात् किम्? अमुकेऽत्र। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि सूत्र में **मात्** यह पद क्यों पढ़ा गया? क्योंकि **अदस्** शब्द में **मकार** के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत्, ऊत् ये, तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते। अतः **मात्** ग्रहण न करने से भी **अमू, अमी** की **प्रगृह्यसंज्ञा** हो जायेगी। उत्तर यह देते हैं कि यदि सूत्र में **मात्** नहीं पढ़ेंगे तो **अमुकेऽत्र** में दोष आयेगा। **अमुके** यह **अदस्** शब्द से **अकच्** प्रत्यय होकर प्रथमा के बहुवचन में सिद्ध होता है। **मात्** के न पढ़ने पर **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से जब **ईत्, ऊत्** की अनुवृत्ति आती है तो **एत्** की भी अनुवृत्ति आयेगी और सूत्र का अर्थ होगा- **अदस् शब्द के ईकार, ऊकार और एकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो।** ऐसा अर्थ होने पर तो **अमुके+अत्र** में भी अदस् शब्द का एकार मिलता है। अतः प्रकृतिभाव होकर **अमुके अत्र** ऐसा अनिष्ट रूप बन जायेगा। ऐसे अनिष्ट रूप के निवारण के लिए इस सूत्र में **मात्** पढ़ा गया। **मात्** का अर्थ है मकार से परे। **मात्** पढ़ने से पूर्वसूत्र से **एत्** की अनुवृत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि अदस् शब्द के किसी भी रूप में मकार से परे एकार होता ही नहीं है। जब मकार से परे एकार होता ही नहीं है तो एत् की अनुवृत्ति आना भी व्यर्थ ही है। इस तरह से **मात्** पढ़ने के कारण **अमुके+अत्र** में प्रगृह्यसंज्ञा भी नहीं हुई और प्रकृतिभाव भी नहीं हुआ। **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होकर **अमुकेऽत्र** सिद्ध हुआ।

ईत्, ऊत् की अनुवृत्ति आने पर तो **एत्** की अनुवृत्ति क्यों आयेगी? इस सम्बन्ध में एक परिभाषा है। **सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः** अर्थात् एक साथ पढ़े गये वर्ण जब कहीं प्रवृत्त होते हैं तो एक साथ प्रवृत्त होते हैं और निवृत्त होते हैं तो साथ-साथ ही निवृत्त होते हैं। यहाँ पर **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** में **ईत्, ऊत्, एत्** ये साथ में पढ़े गये हैं। जब **ईत्, ऊत्** ये कहीं जायेंगे तो **एत्** भी जाना चाहेगा। **एत्** न आये, इसलिए **मात्** पढ़ना जरूरी है।

अभ्यासः

१. **प्रकृतिभाव** का तात्पर्य बतायें।

२. कहाँ-कहाँ **प्रगृह्यसंज्ञा** और कहाँ-कहाँ **प्लुतसंज्ञा** होती है, स्पष्ट करें।

३. **अन्त्यादेश** और **सर्वादेश** के विषय में आप क्या जानते हैं?

४. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

बालिके अधियाते। कवी अत्र। वायू आवातः। रमे अत्र। वर्धेते अस्मिन्।
उभे अभ्यस्तम्। धने इमे। माले अत्र। पाणी आस्ताम्।

निपातसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५४. प्रादयः १।४।५८॥

एतेऽपि तथा।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५५. निपात एकाजनाङ् १।१।१४॥

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्।

इ इन्द्रः। उ उमेशः। **वाक्यस्मरणयोरङित्।** आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्, आ ईषदुष्णम् ओष्णम्।

....

५३- **चादयोऽसत्त्वे।** चः आदिर्येषां ते चादयः, बहुव्रीहिः। न सत्त्वम्- असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे। चादयः प्रथमान्तम्, असत्त्वे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** से **निपाताः** का अधिकार चल रहा है।

द्रव्य अर्थ न होने पर च आदि निपातसंज्ञक होते हैं।

लिङ्गसङ्ख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वम्। जिस शब्द में लिङ्ग और सङ्ख्या का अन्वय अर्थात् सम्बन्ध हो अथवा जिस शब्द में लिङ्ग और सङ्ख्या हो, उसे द्रव्य कहते हैं। उससे भिन्न अद्रव्य हैं। जैसे **च, वा, हि, आ,** ये अद्रव्य हैं और **पशु, मनुष्य, पुस्तक, घर** आदि द्रव्य हैं। यह सूत्र चादिगण पठित शब्दों की निपातसंज्ञा करता है, यदि उनमें द्रव्यवाचकता न हो तो। निपातसंज्ञा के अनेक फल हैं, उनमें से एक फल प्रगृह्यसंज्ञा भी है।

५४- **प्रादयः।** प्रः आदिर्येषां ते प्रादयः, बहुव्रीहिः। **चादयोऽसत्त्वे** से **असत्त्वे** की अनुवृत्ति एवं **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** से **निपाताः** का अधिकार चल रहा है।

द्रव्य अर्थ न होने पर प्र आदि भी निपातसंज्ञक होते हैं।

प्रादि **उपसर्गाः क्रियायोगे** सूत्र में बताये जा चुके हैं। **प्रादि** की निपातसंज्ञा होने से अव्ययसंज्ञा भी हो जायेगी और **अव्यय** के बाद सुप् का लुक् हो सकेगा।

५५- **निपात एकाजनाङ्।** एकश्चासौ अच्- एकाच्, कर्मधारयः। न आङ्- अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। ईदूदेद्द्विवचनं **प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है।

आङ् को छोड़कर मात्र एक अच् वाला निपात प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

जिसकी पहले **निपातसंज्ञा** हो चुकी हो, उसमें केवल **एक ही अच्** हो और एक अच् भी **आङ् वाला न हो** तो उस एकाच् की **प्रगृह्यसंज्ञा** इस सूत्र से की जाती है। अनाङ् अर्थात् आङ्वर्जः आङ् को छोड़कर। ऐसा इसलिए कहना पड़ा कि आङ् में ङकार की इत्संज्ञा और उसका लोप करने पर आ बचता है, उसकी **निपातसंज्ञा** न हो सके। तात्पर्य यह हुआ कि आङ् को छोड़कर सभी एकाच् निपात प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।

इ इन्द्रः। ओह! ये इन्द्र हैं। यहाँ पर अद्रव्यार्थक चादि है इ, उसकी **चादयोऽसत्त्वे** से **निपातसंज्ञा** हो गई और **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। प्रगृह्यसंज्ञा का फल प्रकृतिभाव होना है तो इ+इन्द्रः में प्रकृतिभाव हो गया। अतः **इ इन्द्रः** ऐसा ही रहा। यहाँ पर **सवर्णदीर्घ** को बाधकर प्रकृतिभाव होता है। यदि **सवर्णदीर्घ** हो जाता तो **ईन्द्रः** ऐसा **अनिष्ट** रूप बन जाता।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५६. ओत् १।१।१५॥

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः।

....

उ उमेशः। ओ! ये उमेश हैं! यहाँ पर अद्रव्यार्थक चादि है उ, उसकी **चादयोऽसत्त्वे** से निपातसंज्ञा हो गई और **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। प्रगृह्यसंज्ञा का फल प्रकृतिभाव होना है तो **उ+उमेशः** में प्रकृतिभाव हो गया। अतः **उ उमेशः** ही रहा। यहाँ पर भी **सवर्णदीर्घ** को बाधकर प्रकृतिभाव होता है। सवर्णदीर्घ हो जाता तो ऊमेशः ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

वाक्यस्मरणयोरङित्। अन्यत्र ङित्। वाक्य और स्मरण अर्थ में आ अङित् होता है, अन्यत्र ङित् ही होता है।

चादिगण में **आ** तथा प्रादिगण **में आङ्** पढ़े गये हैं। इन दोनों की क्रमशः **चादयोऽसत्त्वे** तथा **प्रादयः** से **निपातसंज्ञा** होती है। इस प्रकार से दो निपात माने गये हैं। इनमे प्रथम आ की निपात एकाजनाङ् की प्रगृह्यसंज्ञा होती है किन्तु सूत्र में **अनाङ्** कहने के कारण द्वितीय आङ् की **प्रगृह्यसंज्ञा** नहीं होती है। अब यहाँ पर समस्या यह होती है कि आङ् के ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा करके **तस्य लोपः** से लोप हो जाने के बाद **आ** ही बचता है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह हो जाता है कि यह **आ** चादि वाला आ है या **प्रादि** वाला आङ्? चादि वाला **अङित्** है तो प्रादि वाला **ङित्**। किस जगह पर **ङित् आ** को मानें और किस जगह **अङित्** आ को? इसके लिए मूलकार ने लिखा- **वाक्यस्मरणयोरङित्, अन्यत्र ङित्**। वाक्य और स्मरण अर्थ में **आ** को **अङित्** माना जाय और अन्यत्र ङित् माना जाय। अन्यत्र का अर्थ निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट करते हैं-

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥

अर्थात् ईषत् अल्प अर्थ में, **क्रियायोगे** क्रिया के साथ योग होने पर, **मर्यादाभिविधौ च** मर्यादा और अभिविधि अर्थ में **आकार** को **ङित्** मानना चाहिए किन्तु वाक्य और स्मरण अर्थ में **अङित्** मानना चाहिए। **अङित् आकार** की **प्रगृह्यसंज्ञा** होती है और **ङित्** की नहीं होती है।

आ एवं नु मन्यसे अब तुम ऐसा मानते हो(वाक्य) तथा **आ एवं किल तत्** हाँ, ऐसा ही है (स्मरण) अर्थ में **आ अङित्** माना गया है। इसलिए **आ** की **निपात एकाजनाङ्** से प्रगृह्यसंज्ञा हुई और प्रकृतिभाव हो गया। आ+एवं यहाँ पर वृद्धि प्राप्त थी, उसे बाधकर प्रकृतिभाव हो गया।

इन दो अर्थों से भिन्न अर्थ अर्थात् ईषद् आदि अर्थों में ङित् होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई तो प्रकृतिभाव भी नहीं हुआ। अतः ईषद् (अल्प) अर्थ में विद्यमान **आ** का **उष्णम्** के उकार के साथ गुण होकर **ओष्णम्** बन गया।

५६- ओत्। ओत् प्रथमान्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **निपात एकाजनाङ्** से **निपातः** तथा **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है। यह पद **निपातः** का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** से तदन्तविधि होकर **ओदन्त** ऐसा अर्थ बनता है।

वैकल्पिकप्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५७. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६॥

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे।

विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति।

वकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

५८. मय उञो वो वा ८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वाऽचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

....

ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अहो ईशाः। अहो! ये स्वामी हैं। **अहो+ईशाः** में **अहो** की **चादयोऽसत्त्वे** से निपातसंज्ञा हुई है। उसके बाद सूत्र लगा- **ओत्।** ओकारान्त निपात है **अहो**, इसकी इस सूत्र से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **अव्** आदेश को बाधकर प्रकृतिभाव हो गया। **अहो ईशाः** ऐसा ही रह गया। **अहो** यह अनेकाच् निपात होने के कारण **निपात एकाजनाङ्** से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो रही थी, इसलिए यह सूत्र बनाया गया।

५७- सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। ऋषिर्वेदः, तत्र भवः आर्षः, न आर्षः- अनार्षः। सम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तम्, इतौ सप्तम्यन्तम्, अनार्षे सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है।

अवैदिक इति शब्द के परे होने पर सम्बुद्धि निमित्तक ओकार विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

आर्षः का अर्थ है **वैदिक** और **अनार्ष** का अर्थ **अवैदिक**। उक्त सूत्र को लगाने के लिए वेद का **इति** शब्द न होकर लोक में प्रयुक्त होने वाला **इति** शब्द परे होना चाहिए। जिस ओकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर रहे हैं वह ओकार-सम्बुद्धि को निमित्त मानकर बन गया हो तो इस सूत्र से उसकी पाक्षिक **प्रगृह्यसंज्ञा** होती है। **शाकल्य ऋषि** के मत में उक्त संज्ञा होगी, अन्यों के मत में नहीं। अतः विकल्प से होना सिद्ध हुआ।

विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति। विष्णो! यह शब्द। **विष्णो+इति** में **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** से अवैदिक इति शब्द के परे सम्बुद्धि को निमित्त मानकर बने **ओकार** की विकल्प से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। **विष्णु** शब्द के सम्बोधन में **ह्रस्वस्य गुणः** से गुण होकर **विष्णो** बना है। प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण **विष्णो+इति** में **एचोऽयवायावः** से प्राप्त **अव्** आदेश को बाधकर **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। **प्रकृतिभाव** का तात्पर्य है **यथास्थिति** में रहना। **विष्णो इति** था, **विष्णो इति** ही रह गया। यह सूत्र विकल्प से **प्रगृह्यसंज्ञा** करता है। प्रगृह्यसंज्ञा न होने के पक्ष में **विष्णो+इति** में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश हो गया, **विष्णव्+इति** बना। **वकार** का **लोपः शाकल्यस्य** से वैकल्पिक लोप हुआ, **विष्ण इति** बना। **पूर्वत्रासिद्धम्** से वकार के लोप को असिद्ध कर दिये जाने के कारण **आद्गुणः** से गुण नहीं हुआ। **वकार** के लोप न होने के पक्ष में व् जाकर इति से मिला **विष्णविति** सिद्ध हुआ। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए- प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने के पक्ष में **विष्णो इति**, अव् आदेश होकर वकार के लोप होने के पक्ष में **विष्ण इति** और लोप न होने के पक्ष में **विष्णविति**।

ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

५९. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ।

....

५८- **मय उञो वो वा**। मयः पञ्चम्यन्तम्, उञः षष्ठ्यन्तं, वः प्रथमान्तं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है।

मय् से परे उञ् (उकार)के स्थान पर वकार आदेश होता है अच् परे होने पर।

यह सूत्र प्रकृतिभाव को बाधकर के वैकल्पिक **वकार** आदेश करने के लिए प्रवृत्त होता है। आदेश न होने के पक्ष में प्रकृतिभाव ही होगा। **उञ्** का **ञकार** इत्संज्ञक है, अतः उ ही दीखता है।

किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्। क्या कहा? **किम्+उ=किमु**। **किमु+उक्तम्** में उकार की **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और उसे प्रकृतिभाव प्राप्त था। उसे बाधकर के **मय उञो वो वा** से उकार के स्थान पर विकल्प से **व्** आदेश हुआ, **किम्+व्+उक्तम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **किम्वुक्तम्** सिद्ध हुआ। **वकार** आदेश न होने के पक्ष में **किमु+उक्तम्** को प्रकृतिभाव होकर **किमु उक्तम्** ऐसा ही रह गया।

अभ्यासः

१. **चादयोऽसत्त्वे** और **प्रादयः** की तुलना करिये।

२. **निपात एकाजनाङ्, ओत्** और **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** की व्याख्या कीजिए।

३. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि दिखाइये-

शम्भो इति। अहो अद्य। वायो इति। किमु इच्छसि। इ इन्द्राणी।

५९- **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च**। न सवर्णः- असवर्णः, तस्मिन् असवर्णे, नञ्तत्पुरुषः। **एङः पदान्तादति** से विभक्ति और वचन का विपरिणाम करके **पदान्ताः** और **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है।

असवर्ण अच् के परे होने पर पदान्त में विद्यमान इक् को ह्रस्व होता है।

यह ह्रस्व अन्य सन्धियों को रोक कर **प्रकृतिभाव** करने के लिए है। **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** अर्थात् मेघ जब बरसते हैं तो जल में भी बरसते हैं और स्थल में भी। उसी प्रकार से सूत्र भी यदि प्राप्ति है तो उसके फल होने पर भी कार्य करते हैं और न होने पर भी। इसी तरह जब **इक्** को **ह्रस्व** होता है तो **ह्रस्व इक्** हो या **दीर्घ इक्**, दोनों को ह्रस्व होता है क्योंकि यहाँ पर ह्रस्व का फल सन्धि को रोकना है। ह्रस्व करने मात्र से यण् आदि सन्धि नहीं होगी, क्योंकि ह्रस्व करने के बाद भी यदि सन्धि करनी है तो ह्रस्व करना ही व्यर्थ है। अतः प्रकृतिभाव ही होगा। अत एव मूल में लिखा गया- **ह्रस्वविधान-सामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः**। शाकल्य के मत में ह्रस्व होगा, अन्यों के मत में नहीं, फलतः विकल्प से होना सिद्ध हुआ।

8|4|45

वैकल्पिकद्वित्वविधायकं विधिसूत्रम्

६०. अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

वार्तिकम्- **न समासे।** वाप्यश्वः।

....

इस सूत्र के कार्य को **ह्रस्वसमुच्चित-प्रकृतिभाव** कहते हैं। ह्रस्व भी और प्रकृतिभाव भी **ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव** हुआ।

चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। विष्णु यहाँ हैं। **चक्री+अत्र** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **इको सवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च।** पदान्त इक् है- **चक्री** का ईकार और असवर्ण अच् परे है- **अत्र** का अकार। अतः **चक्री** के **ईकार** को ह्रस्व करके **इकार** बन गया। अब भी **इको यणचि** से यण् हो सकता था किन्तु यण् नहीं होगा क्योंकि यदि ह्रस्व करने के बाद भी यण् ही करना है तो फिर **ह्रस्व** क्यों किया जाय? अतः **ह्रस्वविधानसामर्थ्यात्** अब यण् नहीं होगा। प्रकृतिभाव की अवस्था में रहेगा- **चक्रि अत्र।** यह ह्रस्व वैकल्पिक है, एक पक्ष में ह्रस्व नहीं होगा तो **चक्री+अत्र** में यण् होकर **चक्र्+य्+अत्र** बना। वर्णसम्मेलन होकर **चक्र्यत्र** सिद्ध हुआ।

अब इसी तरह अन्य जगहों पर भी उदाहरण देख सकते हैं। जैसे- **योगी+आगच्छति** में **योगि आगच्छति, योग्यागच्छति। वारि अत्र, वार्यत्र। भवति एव, भवत्येव।**

पदान्ताः इति किम्? गौर्यौ। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि **इको सवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** में **पदान्ताः** की अनुवृत्ति न लाते तो क्या हानि होती? उत्तर दिया- **गौर्यौ।** यदि **पदान्ताः** न होता तो पदान्त और अपदान्त दोनों इक् को ह्रस्व होता। फलतः **गौरी+औ** में अपदान्त ईकार को ह्रस्व हो जाता। ह्रस्व का फल सन्धि को रोकना है, अतः **गौरी+औ** में सन्धि न होकर प्रकृतिभाव होने की आपत्ति आती। फलतः **गौरिऔ** ऐसा अनिष्ट रूप बनता। उसके निवारणार्थ **पदान्ताः** की अनुवृत्ति की गई है जिससे **गौरी+औ** में **प्रकृतिभाव** न होकर **इको यणचि** से यण् होकर **गौर्यौ** सिद्ध हुआ।

६०- अचो रहाभ्यां द्वे। रश्च हश्च रहौ, ताभ्यां- रहाभ्याम्, द्वन्द्वः। अचः पञ्चम्यन्तं, रहाभ्यां पञ्चम्यन्तं, द्वे प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है।

अच् से परे जो रेफ और हकार, उससे परे यर् का विकल्प से द्वित्व होता है।

गौर्यौ। पूर्वसूत्र में जो **गौर्यौ** दिखाया गया, उसमें और आगे की विधि को बता रहे हैं कि **गौरी+औ** में यण् होने के बाद **गौर्+य्+औ** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **अचो रहाभ्यां द्वे।** अच् है **गौ** का **औकार**, उसके परे रेफ है **गौर्** का रेफ, उससे परे यर् है **य्**, उसका वैकल्पिक द्वित्व हुआ- **गौर्+य्य्+औ** बना। वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **गौर्य्यौ।** द्वित्व न होने के पक्ष में एक यकार वाला **गौर्यौ** रहता है।

इसी तरह **कर्म्म, कर्म। शर्म्मा, शर्मा, दुर्ग्गः, दुर्गः, कार्य्यम्, कार्यम्, आर्य्यः, आर्यः** आदि प्रयोगों में भी वैकल्पिक द्वित्व होता है। यद्यपि व्यवहार में प्रायः द्वित्व का रूप लिखा नहीं जाता तथापि उच्चारण जो है, द्वित्व वाला ही किया जाता है।

ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम् 6/1/124

६१. **ऋत्यकः ६।१।१२८।।**

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्वा। ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः।

पदान्ताः किम्? आर्च्छत्।

इत्यच्सन्धिः।।२।।

....

न समासे। यह वार्तिक **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से सम्बन्धित है। उक्त सूत्र से जो ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव होता है, वह **समास होने पर नहीं होता** अर्थात् समास हो जाने पर सन्धि ही हो जाती है।

वाप्यश्वः। तालाब में (स्थित) घोड़ा। **वाप्याम् अश्वः** लौकिक विग्रह करके **वापी ङि+अश्व सु** अलौकिक विग्रह में सप्तमीतत्पुरुष होकर विभक्ति का लुक् करके **वापी+अश्वः** बना है। यहाँ पर **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से ह्रस्व प्राप्त हुआ तो **न समासे** इस वार्तिक ने निषेध कर दिया। अतः **इको यणचि** से यण् हो गया- **वाप्+य्+अश्वः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **वाप्यश्वः** सिद्ध हुआ। यदि यह वार्तिक न होता तो एक पक्ष में **वापि अश्वः** ऐसा अनिष्ट रूप भी बन जाता।

६१- **ऋत्यकः**। ऋति सप्तम्यन्तम्, अकः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। एङः पदान्तादति से विभक्ति और वचन का विपरिणाम करके **पदान्ताः** की, **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से **ह्रस्वः** और **शाकल्यस्य** की अनुवृत्ति आती है। **प्राग्वद्**= पहले की तरह हो।

ह्रस्व ऋकार के परे होने पर पदान्त अक् को ह्रस्व होता है।

इस सूत्र से भी ह्रस्व ही किया जाता है जिससे सन्धि न हो और प्रकृतिभाव ही हो जाय। तात्पर्य यह हुआ कि **ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव** हो जाय। ह्रस्व करके प्रकृतिभाव हो। यदि सन्धि ही करनी होती तो ह्रस्व करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः। **ब्रह्मा+ऋषिः** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **ऋत्यकः**। ह्रस्व ऋकार परे है **ऋषिः** का ऋकार और पदान्त अक् है- **ब्रह्मा** का आकार। आकार को वैकल्पिक ह्रस्व होकर **ब्रह्म+ऋषिः** बना। अब ह्रस्व करने के कारण पुनः **आद्गुणः** की प्रवृत्ति नहीं हुई, **ब्रह्म ऋषिः** रह गया। ह्रस्व न होने के पक्ष में **ब्रह्मा+ऋषिः** में **आद्गुणः** से रपर-सहित **अर्-गुण** हुआ- **ब्रह्म्+अर्+षिः** बना। वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन होकर **ब्रह्मर्षिः** सिद्ध हुआ। इस तरह दो रूप बन गये।

पदान्ता किम्? आर्च्छत्। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि **ऋत्यकः** में **पदान्ताः** की अनुवृत्ति न लाते तो क्या होता? उत्तर दिया- **आर्च्छत्**। यदि **पदान्ताः** न होता तो पदान्त और अपदान्त दोनों **अक्** को **ह्रस्व** होता। फलतः **आ+ऋच्छत्** में आट् आगम वाले अपदान्त **आकार** को भी **ह्रस्व** हो जाता। **ह्रस्व** का फल सन्धि को रोकना है, अतः **अ+ऋच्छत्** में सन्धि न होकर प्रकृतिभाव होने की आपत्ति आती जिससे **अऋच्छत्** ऐसा अनिष्ट रूप बनता। उसके निवारणार्थ **पदान्ताः** की अनुवृत्ति की गई है। अतः ह्रस्व न होकर के **आ+ऋच्छत्** में **आटश्च** से वृद्धि होकर **आर्च्छत्** सिद्ध हुआ।

छात्रों को मेरा निर्देशः-

छात्रों को मेरा निर्देश है कि आपने अभी तक **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** के सूत्रों का पारायण शुरू नहीं किया हो तो अवश्य कर दें। यदि आप रट सकते हैं तो अच्छी बात है, नहीं तो प्रतिदिन दो अध्याय के नियम से सूत्रपाठ का पारायण करें। पहले महीने में प्रथम व द्वितीय अध्याय, दूसरे महीने में तीसरा और चौथा अध्याय, तीसरे महीने में पाँचवाँ और छठा अध्याय तथा चौथे महीने में सातवाँ और आठवाँ अध्यायों का पारायण करने से लगभग चार महीने में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जाती है क्योंकि बच्चे एक महीने तक प्रतिदिन जिस विषय का पारायण करेंगे, वह विषय उनको याद हो जाता है। यदि एक आवृत्ति में उनको याद नहीं भी हुआ तो दूसरी आवृत्ति में अर्थात् अगले चार महीनों में अवश्य याद हो जायेगा। यदि आठ महीने में पाणिनि जी के समस्त सूत्र याद हो जायें तो बहुत बड़ी बात है। यदि प्रतिदिन दो अध्याय का नियम नहीं कर सकते तो एक अध्याय ही पारायण करने का नियम बना लें। अपनी सुविधा के अनुसार अध्यायसंख्या निर्धारित करें किन्तु पारायण अवश्य करें।

लघुसिद्धान्तकौमुदी में भी आप सूत्र-वृत्ति को तो अच्छी तरह कण्ठस्थ कर ही लें और अर्थ तथा उसकी व्याख्या को भी अच्छी तरह समझ लें। यदि आप कहीं पर नहीं समझ रहे हैं तो अपने आचार्य को पूछना न भूलें। प्रत्येक सूत्र या प्रकरण के अन्त में दिये गये अभ्यासों(परीक्षा) को ठीक तरह से कर लें। एक प्रकरण को अच्छी तरह से जान लेने के बाद दूसरा प्रकरण या दूसरा सूत्र शुरू करें। यह ध्यान रहे कि जैसे मकान बनाने के लिये एक ईंट के बाद दूसरी, तीसरी ईंटें क्रमशः लगाई जाती हैं और बीच में खाली जगह छोड़कर या एक हाथ ऊपर से विना आधार के ईंटें नहीं लग सकतीं उसी प्रकार पहले के प्रकरण के विना आगे का प्रकरण भी नहीं लग सकता। अतः जितना आप पढ़ रहे हैं, उतना अपने अधिकार में सुरक्षित रखें।

संस्कृत में सन्धि का विशेष महत्त्व है। अभी तक आप अचों की सन्धि जान चुके हैं। अब हलों की सन्धि जानने के लिये तैयार रहें किन्तु उससे पहले सम्पूर्ण अच्सन्धि को एक बार अवश्य दुहराये और निम्नलिखित अभ्यास भी ठीक तरह कर लें। इसके पहले आप दो दिन के लिए **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को कपड़े से बाँधकर रखें और उसकी पूजा करें। निम्नलिखित प्रश्नावली में प्रत्येक प्रश्न ५-५ अंक के हैं। आपको उत्तीर्ण होने के लिए कम से कम ४० अंक प्राप्त करने होंगे। यदि आप उत्तीर्ण हो गये तो फिर आगे का प्रकरण पढ़ें, अन्यथा इसी प्रकरण को पुनः तैयार करके दूसरी बार परीक्षा प्रश्नावली का उत्तर दें। इसके उत्तर में पाँच घण्टे से ज्यादा समय नहीं लगना चाहिये। बाकी समय में आप अपने गुरु जी एवं सहपाठियों से विचार-विमर्श करें।

परीक्षा

१. यणसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
२. अयादिसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
३. गुणसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

४. वृद्धिसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
५. पररूप, पूर्वरूप एवं आर्‌वृद्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
६. सवर्णदीर्घसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
७. प्रकृतिभाव के किन्हीं पाँच प्रयोगों की सिद्धि दिखायें।
८. **परिभाषा** किसे कहते हैं और आपने **अच्‌सन्धि** में कितने **परिभाषा सूत्रों** को पढ़ा? उनसे सम्बन्धित किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें एवं हिन्दी में उनके एक-एक उदाहरण देकर समझायें।
९. **पूर्वरूप** और **पररूप** में क्या अन्तर है? पाँच उदाहरण देकर समझाइये।
१०. अच्‌सन्धि में जितने भी एकादेश करने वाले सूत्र हैं उनके एक-एक उदाहरण देकर समझायें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का अच्सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ हल्सन्धिः

श्चुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

६२. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः।

रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय॥

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब **हल्सन्धि** प्रारम्भ होती है। **हलों की सन्धि** अर्थात् **व्यञ्जनों** में होने वाली **सन्धि**। कहीं हल् से हल् परे और कहीं पूर्व में **हल्** किन्तु पर में **अच्** हो तो भी होने वाली सन्धि हल्सन्धि कहलाती है। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में हल्सन्धि के अन्तर्गत श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व, अनुनासिक, पूर्वसवर्ण, चर्त्व, छत्व, अनुस्वार, परसवर्ण, कुक्-टुक्, धुट्, तुक्, ङमुट् आगम, अनुनासिक और अनुस्वार आगम, विसर्ग आदेश, रु आदेश एवं तुगागम बताये गये हैं।

६२- स्तोः श्चुना श्चुः। स् च तुश्च स्तुः तस्य स्तोः, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। श् च चुश्च श्चुः, तेन श्चुना समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। श् च चुश्च श्चुः, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। यद्यपि इन तीनों शब्दों में समाहारद्वन्द्व होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए तथापि सूत्र में कहीं-कहीं आर्ष प्रयोग होने से पुँल्लिङ्ग भी हो सकता है। स्तोः षष्ठ्यन्तं, श्चुना तृतीयान्तं, श्चुः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

सकार और तवर्ग के स्थान पर शकार और चवर्ग का योग होने पर शकार और चवर्ग आदेश होते हैं।

यह सूत्र **श्चुत्व** करता है। **सकार** और **तवर्ग** ये **स्थानी** एवं **शकार** और **चवर्ग** ये **आदेश** हैं। **शकार** या **चवर्ग** का योग हो अर्थात् जिस वर्ण के स्थान पर श्चुत्व करना है उसके पूर्व या पर में या तो **तालव्य शकार** हो या तो **चवर्ग** (च्, छ्, ज्, झ्, ञ् में से कोई एक वर्ण) हो तो उस **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** और **तवर्ग** (त्, थ्, द्, ध् और न्) के स्थान पर **चवर्ग** आदेश होता है। **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** और **तवर्ग** के स्थान पर **चवर्ग** होगा। **दन्त्य सकार** स्थानी के रूप में अकेला ही है और आदेश भी **तालव्य शकार** अकेला ही है। एक स्थानी के स्थान पर एक ही आदेश प्राप्त होने पर कोई अनियम नहीं होता किन्तु तवर्ग का कोई एक अक्षर **स्थानी** होगा और आदेश में चवर्ग के सभी वर्ण प्राप्त होंगे। अतः एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति होना अनियम है। अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** इस परिभाषा सूत्र के नियमानुसार स्थानी

चुत्वनिषेधकं विधिसूत्रम्

६३. शात् ८।४।४४॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः॥

....

तवर्ग में प्रथम **तकार** के स्थान पर चवर्ग में प्रथम **चकार** आदेश, तवर्ग में द्वितीय **थकार** के स्थान पर चवर्ग में द्वितीय **छकार** आदेश, तवर्ग में तृतीय **दकार** के स्थान पर चवर्ग में तृतीय **जकार** आदेश, तवर्ग में चतुर्थ **धकार** के स्थान पर आदेश में चतुर्थ **झकार** आदेश, और तवर्ग में पञ्चम **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **ञकार** आदेश होंगे। **शकार** और **चवर्ग** का योग पूर्व में हो और **सकार** एवं **तवर्ग** पर में हो तो भी श्चुत्व होगा और **सकार** और **तवर्ग** पूर्व में हो और **शकार** और **चवर्ग** का योग पर में हो तो भी **श्चुत्व** होगा। इस सूत्र से किये गये कार्य को **श्चुत्व** कहते हैं।

रामश्शेते। राम सोता है। **रामस्+शेते** ऐसी स्थिति में **तालव्य शकार** का योग है- **शेते** के **शकार** और पूर्व में है **रामस्** का दन्त्य **सकार**। अतः **रामस्** के दन्त्य **सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** हो गया **रामश्+शेते** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामश्शेते**।

रामश्चिनोति। राम चुनता है। **रामस्+चिनोति** में भी **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व हुआ। यहाँ पर **चिनोति** के **चकार** का योग है। इसलिए **रामस्** के **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** आदेश हो गया- **रामश्चिनोति**।

सच्चित्। सत् और चित्। **सत्+चित्** ऐसी स्थिति में **स्तोः श्चुना श्चुः** से **श्चुत्व** हुआ। यहाँ पर **चित्** के **चकार** का योग है और स्थानी **तवर्ग** के **प्रथम** अक्षर **सत्** के **तकार** के स्थान पर **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से आदेश में प्रथम **चकार** आदेश हुआ- **सच्+चित्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ। (च्+चि=च्चि) **सच्चित्**।

शार्ङ्गिञ्जय। हे शार्ङ्गधारी विष्णु! तुम जीतो। **शार्ङ्गिन्+जय** में **स्तोः श्चुना श्चुः** से **श्चुत्व** हुआ। यहाँ पर **शार्ङ्गिन्** के **नकार** के स्थान पर चवर्ग में पञ्चम **ञकार** आदेश हुआ। यहाँ पर **जय** का **जकार** चवर्ग है। इस तरह **शार्ङ्गिञ्+जय** बना वर्णसम्मेलन हुआ (ञ्+ज=ञ्ज) **शार्ङ्गिञ्जय** सिद्ध हुआ।

६३- शात्। शात् पञ्चम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **तोः षि** सूत्र से **तोः** तथा **न पदान्ताट्टोरनाम्** सूत्र से **न** की अनुवृत्ति आती है।

तालव्य शकार से परे तवर्ग को चुत्व नहीं होता है।

यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** इस सूत्र का निषेधक सूत्र है, जो **तालव्य शकार** से परे तवर्ग के चुत्व का निषेध करता है। इस तरह शकार से परे तवर्ग का श्चुत्व नहीं होता है किन्तु चवर्ग से परे तवर्ग का चुत्व हो जाता है।

विश्नः। गमन। **विश्+नः** इस स्थिति में **शकार** से परे **नकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व प्राप्त था तो **शात्** ने शकार से परे होने के कारण निषेध कर दिया, **विश्नः** ही रह गया। यदि चुत्व हो जाता तो **विश्ञः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

प्रश्नः। सवाल। **प्रश्+नः** इस स्थिति में **शकार** से परे **नकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व प्राप्त था तो **शात्** ने शकार से परे होने के कारण निषेध कर दिया, **प्रश्नः** ही रह गया। यदि चुत्व हो जाता तो **प्रश्ञः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

ष्टुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

६४. ष्टुना ष्टुः।८।४।४१॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्।

रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे॥

....

६४- ष्टुना ष्टुः। ष् च टुश्च ष्टुः, तेन ष्टुना, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। ष् च टुश्च ष्टुः, समाहारद्वन्द्वः, अत्रापि सौत्रं पुँस्त्वम्। ष्टुना तृतीयान्तं, ष्टुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **स्तोः श्चुना श्चुः** से **स्तोः** की अनुवृत्ति आती है।

दन्त्य सकार और तवर्ग के स्थान पर मूर्धन्य षकार और टवर्ग का योग होने पर मूर्धन्य षकार और टवर्ग आदेश होते हैं।

यह सूत्र भी **स्तोः श्चुना श्चुः** के जैसा है। वह श्चुत्व करता है और यह ष्टुत्व। इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को **ष्टुत्व** कहते हैं। **स्तोः** का अर्थ है- सकारतवर्गयोः (सकार और तवर्ग के स्थान पर)। **ष्टुना** का अर्थ है **मूर्धन्य षकार** और **टवर्ग** का योग होने पर। **मूर्धन्य षकार** और **टवर्ग** का योग होने पर **दन्त्य सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** और **तवर्ग** के स्थान पर **टवर्ग** आदेश होगा। स्थानी **दन्त्य सकार** एक ही है और आदेश **मूर्धन्य षकार** भी एक ही है। इसलिये कोई अनियम नहीं हुआ। अतः किसी परिभाषा सूत्र की आवश्यकता नहीं पड़ी किन्तु प्रयोग में स्थानी में **तवर्ग** में कोई एक ही मिलेगा और आदेश **टवर्ग** के **पाँचों** प्राप्त हो जायेंगे, अतः अनियम हो जायेगा। इसलिये **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** के सहयोग से क्रमशः होने का विधान किया जायेगा। फलतः स्थानी में प्रथम **तकार** के स्थान पर आदेश में प्रथम **टकार** होगा और स्थानी में पञ्चम **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **णकार** होगा।

रामष्षष्ठः। राम छठा है। **रामस्+षष्ठः** में सूत्र लगा- **ष्टुना ष्टुः**। सूत्रार्थ घटाने पर **दन्त्य सकार** है **रामस्** वाला **सकार** और **मूर्धन्य षकार** का योग है **षष्ठ** वाले **षकार** का। अतः **रामस्** के **सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** आदेश हुआ- **रामष् षष्ठः** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामष्षष्ठः** सिद्ध हुआ।

रामष्टीकते। राम जाता है। **रामस्+टीकते** में **ष्टुना ष्टुः** से **टीकते** के टवर्ग वाले **टकार** के योग में **रामस्** के **सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** आदेश हुआ- रामष् टीकते बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामष्टीकते** सिद्ध हुआ।

पेष्टा। पीसने वाला। पेष्+ता में **ष्टुना ष्टुः** से ष्टुत्व हो कर **ता** के **तकार** के स्थान पर टवर्ग वाला **टकार** आदेश हुआ- **पेष्+टा** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **पेष्टा** सिद्ध हुआ।

तट्टीका। वह टीका। **तत्+टीका** में भी **ष्टुना ष्टुः** से ष्टुत्व होकर **तकार** के स्थान पर **टकार** आदेश तथा वर्णसम्मेलन होकर **तट्टीका** सिद्ध हुआ।

चक्रिण्ढौकसे। हे चक्रधारी! तुम जाते हो। **चक्रिन्+ढौकसे** में टवर्ग **ढकार** के योग में स्थानी में पञ्चम **चक्रिन्** के **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **णकार** हुआ- **चक्रिण् ढौकसे** बना। वर्णसम्मेलन होकर- **चक्रिण्ढौकसे** सिद्ध हुआ।

ष्टुत्वनिषेधकं विधिसूत्रम्

६५. **न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२॥**

पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्।

षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

वार्तिकम्- **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्।** षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

अभ्यासः

(क) **स्तोः श्चुना श्चुः** और **ष्टुना ष्टुः** की तुलना करें।

(ख) ये दोनों सूत्र सपादसप्ताध्यायी हैं या त्रिपादी?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

हरिष्षडाचार्यः। दृष्+तः। इण्न। पेष्टुम्। सर्पिष्+तमम्। ग्रामात्+चलितः।

उद्+ज्वलम्। तज्जलम्। सत्+छात्रः। उत्+छेदः। बालकस्+चपलः।

६५- **न पदान्ताट्टोरनाम्।** न अव्ययपदं, पदान्तात् पञ्चम्यन्तं, टोः पञ्चम्यन्तम्, अनाम् लुप्तषष्ठीकं पदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **स्तोः श्चुना श्चुः** से स्तोः और **ष्टुना ष्टुः** से ष्टुः की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त टवर्ग से परे नाम् के नकार को छोड़कर अन्य तवर्ग एवं सकार को ष्टुत्व नहीं होता है।

षट् सन्तः। छ सज्जन। **षट्+सन्तः** में **ष्टुना ष्टुः** से **षट्** के **टकार** से परे **सन्त** के **सकार** को **ष्टुत्व** अर्थात् **षकारादेश** प्राप्त था, उसका **न पदान्ताट्टोरनाम्** से पदान्त टवर्ग से परे होने के कारण निषेध हो गया क्योंकि **षष्** शब्द से प्रथमा के बहुवचन में **षट्** बनता है। उसकी **सुप्तिङन्तं पदम्** से पदसंज्ञा होती है। अतः **षट् सन्त** ही रह गया।

षट् ते। छ जने वे। **षट्+ते** में **ष्टुना ष्टुः** से **षट्** के **टकार** से परे **ते** के **तकार** को **टुत्व** अर्थात् **टकारादेश** प्राप्त था, उसका **न पदान्ताट्टोरनाम्** से पदान्त टवर्ग से परे होने के कारण निषेध हो गया। **षट् ते** ही रह गया।

पदान्तात् किम्? ईट्टे। अब प्रश्न करते हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **पदान्तात्** न पढ़ते तो क्या होता? उत्तर देते हैं- **ईट्टे** में दोष आता। क्योंकि जब **पदान्तात्** नहीं पढ़ेंगे तो पदान्त से परे हो या अपदान्त से, यह सूत्र सकार और तवर्ग के ष्टुत्व का निषेध करता। ऐसे में **ईट्+ते** में अपदान्त टकार से परे **ते** के **तकार** का टुत्व निषेध हो जाता और **इट्ते** ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता। उक्त दोष के निवारणार्थ इस सूत्र में **पदान्तात्** पढ़ा गया जिससे पदान्त से परे सकार और तवर्ग को ही ष्टुत्व-निषेध करेगा, अपदान्त से परे नहीं। यहाँ इट् का टकार अपदान्त है, क्योंकि **ईट्टे** यह रूप तिङ्प्रत्ययान्त है। अतः **ईट्टे** पूरे की पदसंज्ञा होती है, न कि केवल **ईट्** मात्र की। इस तरह उक्त टकार से पर **तकार** को टुत्व-निषेध नहीं हुआ अपितु **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व हो गया- ईट्टे सिद्ध हुआ।

टोः किम्? सर्पिष्टमम्। अब प्रश्न करते हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **टोः** न पढ़ते तो क्या होता? उत्तर देते हैं- **सर्पिष्टमम्** में दोष आता। क्योंकि **टोः** का अर्थ टवर्ग से परे। जब **टोः** नहीं पढ़ेंगे तो किसी से भी परे सकार और तवर्ग के ष्टुत्व का निषेध करता। ऐसे में **सर्पिष्+तमम्** में **षकार** से परे **तमम्** के **तकार** का भी टुत्व निषेध हो जाता और

ष्टुत्वनिषेधकं विध्यन्तर्गतं निषेधसूत्रम्

६६. **तोः षि ८।४।४३॥**

न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

....

सर्पिष्तमम् ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता। उक्त दोष के निवारणार्थ इस सूत्र में **टोः** पढ़ा गया जिससे टवर्ग से परे सकार और तवर्ग को ही ष्टुत्व-निषेध होगा, षकार से परे नहीं। यहाँ **सर्पिष्** में **षकार** है, उससे परे **तकार** है, उसका **टुत्व-निषेध** नहीं हुआ अपितु **ष्टुना ष्टुः** से **टुत्व** हो गया- **सर्पिष्टमम्** सिद्ध हुआ।

अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति और नगरी शब्दों के नकार को छोड़कर अन्य सकार और तवर्ग को ष्टुत्व न हो, ऐसा कहना चाहिए।**

वार्तिककार कह रहे हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **अनाम्** की जगह **अनाम्नवतिनगरीणाम्** ऐसा कहना चाहिए। सूत्र से जो निषेध किया गया है उसमें नाम्-शब्द को छोड़कर है। वार्तिककार का कहना है कि **केवल नाम् शब्द को छोड़कर** ऐसा कहना पर्याप्त नहीं है। उसके स्थान पर **नाम्, नवति और नगरी शब्दों को छोड़कर** ऐसा कहना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सूत्र से टुत्व निषेध करते समय केवल **नाम्** के **नकार** को टुत्व निषेध न हो ऐसा कहा गया था, वह **नवति** और **नगरी** शब्दों के भी नकार को टुत्व निषेध न हो, अर्थात् इन शब्दों के नकारों को टुत्व हो जाय।

षण्णाम्। छः का। **षड्+नाम्** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध से मुक्त कर देने पर **नाम्** के **नकार** को **टुत्व** हो गया। **नकार** को **टुत्व** होने पर **णकार** होता है, अतः **षड्+णाम्** बन गया। यहाँ पर आगे आने वाले सूत्र **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से विकल्प से अनुनासिक आदेश प्राप्त होता है, उसे बाधकर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** इस वार्तिक से **षड्** के डकार को नित्य से अनुनासिक होकर णकार बन गया- **षण्+णाम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णाम्** सिद्ध हुआ।

षण्णवतिः। छियान्नवे। **षड्+नवति** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध को रोक देने पर **नवति** के **नकार** को **टुत्व** हो गया। **नकार** को टुत्व **णकार** होता है, अतः **षड्+णवतिः** बन गया। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **षड्** के डकार को वैकल्पिक अनुनासिक आदेश होकर णकार बन गया- **षण्+णवतिः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णवतिः** सिद्ध हुआ। अनुनासिक न होने के पक्ष में **षड्णवतिः** भी बनता है।

षण्णगर्यः। छः नगरियाँ हैं। **षड्+नगर्यः** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध को रोक देने पर **नगर्यः** के नकार को टुत्व हो गया। **नकार** का टुत्व **णकार** होता है, अतः **षड्+णगर्यः** बन गया। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **षड्** के **डकार** को विकल्प से अनुनासिक आदेश होकर **णकार** बन गया- **षण्+णगर्यः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णगर्यः** सिद्ध हुआ। अनुनासिक न होने के पक्ष में **षड्णगर्यः** भी बनता है।

जश्त्वविधायकं विधिसूत्रम्

६७. झलां जशोऽन्ते ८।२।३९॥

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

....

६६- **तोः षि।** तोः षष्ठ्यन्तं, षि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **न पदान्ताट्टोरनाम्** से **न** तथा **ष्टुना ष्टुः** से **ष्टुः** की अनुवृत्ति आती है।

षकार के परे होने पर तवर्ग को ष्टुत्व न हो।

यह **ष्टुना ष्टुः** का निषेधक सूत्र है। अन्यत्र टुत्व हो जाय किन्तु **षकार** के परे होने पर **तवर्ग** को टुत्व न हो। **स्तोः श्चुना श्चुः** के निषेध के लिए **शात्** तथा **ष्टुना ष्टुः** के निषेध के लिए **न पदान्ताट्टोरनाम्** और **तोः षि** ये दो सूत्र हैं।

सन्षष्ठः। छठा श्रेष्ठ। **सन्+षष्ठः** में षष्ठः के षकार के योग में सन् के नकार के स्थान पर **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व प्राप्त था तो **तोः षि** ने निषेध कर दिया, **सन्षष्ठः** ही रह गया।

अभ्यासः

१. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
तत्+ठकारः। हरिस्+षष्ठः। इष्+तः। परिव्राट्+नगरी। पदान्तात्+टोरनाम्। भवान्षष्ठः।

२. **हल्सन्धि** में अभी तक के सूत्रों की समीक्षा करके **श्चुत्व, श्चुत्व निषेध** और **ष्टुत्व** तथा **ष्टुत्व निषेध** के दो-दो उदाहरण बतायें।

३. उक्त पाँच सूत्रों में पूर्व-पर तथा सपादसप्ताध्यायी या त्रिपादी का निर्णय करें।

६७- **झलां जशोऽन्ते**। झलां षष्ठ्यन्तं, जशः प्रथमान्तम्, अन्ते सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है। अतः **पद के अन्त में** यह अर्थ हुआ।

पद के अन्त में विद्यमान झल् के स्थान पर जश् आदेश होता है।

झल् के बाद कोई भी वर्ण हो या न हो। **अच्** हो तो भी जश्त्व करेगा और हल् हो तो भी करेगा। हाँ, इसको बाधकर अन्य कोई सूत्र लगे तो अलग बात है। झल् प्रत्याहार में वर्ग के **पंचम** अक्षरों को छोड़कर **प्रथम, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ** अक्षर तथा श्, ष्, स्, ह् ये वर्ण आते हैं। **जश्** प्रत्याहार में केवल वर्ग के तीसरे अक्षर **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये ही आते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थानी और आदेश में स्थान से तुल्यता होने पर आदेश होगा। **क्, ख्, ग्, घ् , ह्** के स्थान पर कण्ठस्थान की तुल्यता से **'ग्'** आदेश होगा। **च्, छ्, ज्, झ्, श्** के स्थान पर **तालुस्थान** की तुल्यता से **'ज्'** आदेश होगा। **ट्, ठ्, ड्, ढ्, ष्** के स्थान पर **मूर्धास्थान** की तुल्यता से **'ड्'** आदेश होगा। **त्, थ्, द्, ध्, स्** के स्थान पर **दन्तस्थान** की तुल्यता से **'द्'** आदेश होगा। इसी तरह **प्, फ्, ब्, भ्** के स्थान पर **ओष्ठस्थान** की तुल्यता से **'ब्'** आदेश होगा।

वागीशः। वाणी के स्वामी। **वाक्+ईशः** में **वाक्** शब्द का **ईशः** शब्द के साथ समास हुआ है। **वाक्** एक पद है। पद के अन्त में **क्** है। इसलिये **पदान्त झल्** है **वाक्** का **ककार**। इसके स्थान पर जश् अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँचों प्राप्त हुए। यहाँ भी

अनुनासिकादेशविधायकं विधिसूत्रम्

६८. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्।

एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः।

वार्तिकम्- **प्रत्यये भाषायां नित्यम्।** तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

....

एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति हुई, इसलिये अनियम हुआ तो **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से **कण्ठस्थान** वाले स्थानी ककार के स्थान पर **कण्ठस्थान** वाला ही ग् आदेश हुआ। **वाग्+ईशः** बना। वर्णसम्मेलन होकर वागीशः सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) **झलां जशोऽन्ते** इस सूत्र में पदान्त ऐसा अर्थ कैसे बनता है?

(ख) **झलां जशोऽन्ते** यह सूत्र त्रिपादी है या सपादसप्ताध्यायी?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

अजन्तः। वागत्र। जगदीशः। षष्+अत्र। अप्+जम्। तिबन्तः। सुबन्तः। कृदन्तः। समिध्+आदानम्। रामाद्+गृह्णाति।

६८- यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा। यरः षष्ठ्यन्तम्, अनुनासिके सप्तम्यन्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है। **अनुनासिक के पर में रहते पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।**

यदि पर में कोई **अनुनासिक** वर्ण हो और पूर्व में पद के अन्त में विद्यमान यर् प्रत्याहार के वर्ण हों तो **यर्** के स्थान पर **अनुनासिक** आदेश होगा विकल्प से। अनुनासिक भी दो प्रकार के होते हैं- अच् अनुनासिक और हल् अनुनासिक। जिनका उच्चारण नाक और मुख से हो वे अच्वर्ण और हल्वर्ण **अनुनासिक** कहलाते हैं- **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।** यहाँ **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये नाक और मुख से उच्चारण होने वाले हल्वर्ण **अनुनासिक** हैं। इस सूत्र के लगने के बाद पर **अनुनासिक** से **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ही ग्रहण किये गये हैं। इस सूत्र के लगने के बाद भी **स्थानेऽन्तरतमः** की आवश्यकता होगी क्योंकि स्थानी कोई एक वर्ण होगा और आदेश में उक्त पाँचों प्राप्त होंगे।

एतन्मुरारिः। एतत्+मुरारिः इस स्थिति में **झलां जशोऽन्ते** सूत्र से तकार के स्थान पर **जश्त्व** होकर **एतद् मुरारि** बना है। अब **यरोऽनुनासिकेऽनासिको वा** की उपस्थिति हुई। अनुनासिक परे है **मुरारिः** का मकार और पदान्त यर् है- एतद् का **दकार।** अब **एतद्** के **दकार** के स्थान पर अनुनासिक अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये सभी प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच अनुनासिकों की प्राप्ति होना भी अनियम हुआ तो **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से स्थान मिलाने से **दन्तस्थान** वाले दकार के स्थान पर दन्तस्थान वाला ही नकार आदेश हुआ। अतः द् को हटाकर **न्** आदेश हुआ- **एतन्+मुरारिः** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- न्+मु=न्मु, **एतन्मुरारिः** बना। अनुनासिक न होने के पक्ष में **एतद् मुरारिः** ही रह गया।

प्रत्यये भाषायां नित्यम्। यह वार्तिक है। **अनुनासिक वर्ण आदि में हो** ऐसे

परसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

६९. **तोर्लि ८।४।६०॥**

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः।

तल्लयः। विद्वाल्ँलिखति। नस्यानुनासिको लः।

....

प्रत्यय के परे होने पर लौकिक प्रयोगों में पदान्त यर् के स्थान पर नित्य से अनुनासिक होता है।

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से वैकल्पिक प्राप्त अनुनासिक आदेश को अनुनासिकादि के परे होने पर नित्य से करने के लिए वार्तिक का अवतरण हुआ।

तन्मात्रम्। उतना ही। **तत्+मात्रम्** में तत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **दकार** आदेश हुआ, **तद्** बना। **मात्रच्** प्रत्यय है, उसके परे होने पर **तद्** के **दकार** के स्थान पर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से नित्य से अनुनासिक **नकार** आदेश हुआ, **तन्+मात्रम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तन्मात्रम्** सिद्ध हुआ।

चिन्मयम्। चेतन-स्वरूप। **चित्+मयम्** में चित् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर दकार आदेश हुआ, **चिद्** बना। **मयट्** प्रत्यय है, उसके परे होने पर चिद् के दकार के स्थान पर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से नित्य से अनुनासिक **नकार** आदेश हुआ, **चिन्+मयम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **चिन्मयम्** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) अनुनासिक किसे कहते हैं?

(ख) विकल्प से होने का क्या अर्थ है?

(ग) क्या **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** का अपवाद हो सकता है? यदि है तो क्यों? औरयदि नहीं तो क्यों नहीं?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

जगन्नाथः। मन्माता। षण्मासाः। वाङ्मयम्। किञ्चिन्मात्रम्। वाक्+मलम्। सत्+मार्गः। त्वत्+मनः। इट्+निषेधः। तत्+न। चिन्मात्रम्। तन्मयम्।

६९- **तोर्लि।** तोः षष्ठ्यन्तं, लि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से **परसवर्णः** की अनुवृत्ति आती है।

लकार के परे होने पर तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण आदेश होता है।

पर में जो वर्ण, उसके जो सवर्णी, वे सब पूर्व में विद्यमान तवर्ग के स्थान पर आदेश के रूप में होते हैं। **लकार** के परे होने पर पूर्व के तवर्ग के स्थान **लकार** के ही **सवर्णी** आदेश रूप में हो जाते हैं। पर में विद्यमान लकार के सवर्णी **अनुनासिक** और **अननुनासिक लँ** और **ल्** ही हैं। यदि पूर्व का तवर्ग **अननुनासिक** अर्थात् **त्, थ्, द्, ध्** हो तो उनके स्थान पर **ल्** और यदि पूर्व का वर्ण अनुनासिक **न्** है तो उसके स्थान पर **लँ** आदेश हो जाता है। वैसे पूर्व में केवल दकार और नकार ही मिलते है क्योंकि इसके पहले **त्, थ्, ध्** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **द्** बन चुका होता है, तब यह

पूर्वसवर्णविधायकं ,विधिसूत्रम्

७०. उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१।।

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

७१. तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७।।

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

....

सूत्र लगता है। अतः **दकार** के स्थान पर **ल्**, और **नकार** के स्थान पर **लँ्** ही आदेश होंगे। **नकार** के स्थान पर **लँ्** का अनुनासिकत्व से साम्य के कारण होता है।

तल्लयः। उसमें नाश या उसका नाश, उसमें मिलना या उसका मिलना। **तत्+लयः** में **तत्** के तकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से **जश्** प्राप्त हुए और **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान की साम्यता के कारण दकार आदेश हुआ- **तद्+लयः** बना। **लयः** के **लकार** के परे होने पर तवर्ग **दकार** के स्थान पर **परसवर्ण** प्राप्त हुआ। पर में **लकार** है और उसके सवर्णी **ल्** और **लँ्** ये दोनों प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **दन्तस्थान** और **अननुनासिकत्व** की तुल्यता से **द्** के स्थान पर **ल्** आदेश हुआ- **तल्+लयः** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **तल्लयः** सिद्ध हुआ।

विद्वाल्ँलिखति। विद्वान् लिखते हैं। **विद्वान्+लिखति** में **लकार** के परे होने पर तवर्ग **नकार** के स्थान पर परसवर्ण प्राप्त हुआ। पर में लकार है और उसके सवर्णी **ल्** और **लँ्** ये दोनों प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से दन्तस्थान और अनुनासिक की नासिकास्थान की तुल्यता से **न्** के स्थान पर **लँ्** आदेश हुआ- **विद्वालँ्+लिखति** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **विद्वाल्ँलिखति** सिद्ध हुआ।

७०- उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य। स्था च स्तम्भ् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः स्थास्तम्भौ, तयोः स्थास्तम्भोः। इस सूत्र में **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से **सवर्णः** की अनुवृत्ति आती है।

उत् उपसर्ग से परे स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होता है।

इस सूत्र में **परे** यह अर्थ **तस्मादित्युत्तरस्य** इस परिभाषा सूत्र के बल पर निकलता है। पहले इस सूत्र में **पूर्व और पर** की व्यवस्था नहीं थी। सूत्र के अनुसार तो **उत्** से किसी भी ओर (पूर्व या पर) विद्यमान स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण का विधान था। ये दो धातु **उत्** से पूर्व में हों या पर में? यह अनियम हुआ तो नियमार्थ परिभाषा सूत्र आता है- **तस्मादित्युत्तरस्य**।

७१- तस्मादित्युत्तरस्य। तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणम् (इति अव्ययपदं), उत्तरस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

पञ्चम्यन्त पद के निर्देश से किया जाने वाला कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिए।

यह सूत्र **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** का प्रतिरूपक है। वह **पर से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर** होने का विधान करता है तो यह **पूर्व से अव्यवहित पर के स्थान पर** होने का विधान करता है। **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** आदि सूत्रों में **उदः** ऐसा पञ्चम्यन्त पद, उससे निर्दिष्ट कार्य किसी वर्ण के व्यवधान के विना **उत्** आदि से पर में विद्यमान के स्थान पर होना चाहिए।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

७२. **आदेः परस्य १।१।५४॥**

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः।

वैकल्पिकलोपविधायकं विधिसूत्रम्

७३. **झरो झरि सवर्णे ८।४।६५॥**

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

चरादेशविधायकं विधिसूत्रम्

७४. **खरि च ८।४।५५॥**

खरि झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्। उत्तम्भनम्।

....

यह परिभाषा सूत्र है। परिभाषाएँ स्वतन्त्रतया कुछ कार्य नहीं करतीं किन्तु विधिसूत्रों में जाकर एक व्यवस्था अथवा नियम बना देती हैं। उनके साथ मिलकर एक मिश्रित अर्थ को निकालती हैं। जैसे- **संयोगान्तस्य लोपः** में **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** जाकर सूत्रार्थ बनाया- **संयोगान्त पद के अन्त्य वर्ण का लोप हो**। इसी तरह **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** में **तस्मादित्युत्तरस्य** जाकर **अव्यवहित पर** यह अर्थ किया।

७२- **आदेः परस्य**। आदेः षष्ठ्यन्तं, परस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अलोऽन्त्यस्य** से अलः की अनुवृत्ति आती है। **पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है, वह कार्य उसके आदि अल् के स्थान पर होता है।**

षष्ठ्यन्त पद के निर्देश से किया जाने वाला आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है, ऐसा **अलोऽन्त्यस्य** सूत्र ने बताया था। इसके क्षेत्र को सीमित करते हुए यह सूत्र कहता है कि किसी से पर में विद्यमान को यदि कोई कार्य हो रहा हो तो उस पर के अन्त्य को कार्य न होकर आदि को हो। जैसे- प्रकृत में उद् से पर में विद्यमान **स्था** और **स्तम्भ** को पूर्वसवर्ण आदेश हो रहा है किन्तु वह आदेश षष्ठ्यन्त **स्थास्तम्भोः** से निर्दिष्ट होने के कारण अन्त्य **आ** और **भ्** को प्राप्त था। इस सूत्र के होने पर आदि सकार के स्थान पर ही कार्य होता है।

७३- **झरो झरि सवर्णे**। झरः षष्ठ्यन्तं, झरि सप्तम्यन्तं, सवर्णे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **हलो यमां यमि लोपः** से हलः और **लोपः** तथा **झयो होऽन्यतरस्याम्** से **अन्यतरस्याम्** की अनुवृत्ति आती है। **अन्यतरस्याम्** का अर्थ **विकल्प से** है।

हल् से परे झर् का विकल्प से लोप होता है सवर्ण झर् के परे होने पर।

यहाँ पर झरः झरि इन पदों को देखकर **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की प्रवृत्ति मानकर यथासङ्ख्य नहीं मानना चाहिए। यदि यथासङ्ख्य होता तो **झरो झरि** ही पढ़ा जाता, **सवर्णे** की आवश्यकता नहीं थी। **सवर्णे** यह पद यथासङ्ख्य का निराकरण करता है। अतः झर् प्रत्याहार के किसी वर्ण के परे होने पर यदि वह वर्ण पूर्व झर् का **सवर्णी** हो तो पूर्व के झर् का वैकल्पिक लोप होता है। **झर्** प्रत्याहार में वर्ग के **प्रथम, द्वितीय**, तृतीय और चतुर्थ अक्षर तथा **श्, ष्, स्** ये वर्ण आते हैं।

७४- **खरि च**। खरि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलां जश् झशि** से **झलां** तथा **अभ्यासे चर्च** से **चर्** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे रहने पर झल् के स्थान पर चर् आदेश होता है।

झल् में झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह् इतने वर्ण और चर् में च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स् वर्ण आते हैं। श्, ष्, स् के स्थान पर चर् आदेश होने पर क्रमशः श्, ष्, स् ही होंगे। यद्यपि श् के स्थान पर च् की, ष् के स्थान पर ट् की और स् के स्थान पर त् की प्राप्ति भी हो सकती थी किन्तु स्थानी शकार के स्थान पर आदेश चकार का केवल स्थान मात्र मिलत है किन्तु स्थानी शकार के स्थान पर आदेश शकार के साथ स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्यप्रयत्न ये तीनों मिलते हैं। अतः अधिक तुल्यता होने के कारण श् के स्थान पर श् एवं ष् के स्थान पर ष् और स् के स्थान पर स् ही होता है। अतः चर् आदेश का तात्पर्य केवल च्, ट्, त्, क्, प् से ही रहेगा। श्, ष्, स्, ह् को छोड़कर शेष झल् में वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षर आते हैं।

स्थानेऽन्तरतमः के नियम से स्थान की तुल्यता से क्, ख्, ग्, घ् के स्थान पर क् आदेश, च्, छ्, ज्, झ् के स्थान पर च् आदेश, ट्, ठ्, ड्, ढ् के स्थान पर ट् आदेश, त्, थ्, द्, ध् के स्थान पर त् आदेश और प्, फ्, ब्, भ् के स्थान पर प् आदेश होंगे।

उत्थानम्। उत्+स्थानम् में झलां जशोऽन्ते से तकार के स्थान पर जश्त्व होकर दकार हो गया, उद्+स्थानम् बना। अब सूत्र लगा- उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य। तस्मादित्युत्तरस्य की सहायता से उद् उपसर्ग से परे स्था को पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। स्थास्तम्भोः षष्ठ्यन्त होने के कारण अलोऽन्त्यस्य के नियम में षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश अन्त्य के स्थान पर होता है तो स्था के अन्त्य वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हो रहा था, उसे बाधकर परिभाषा सूत्र लगा- आदेः परस्य। पर के स्थान पर जो विधान किया जाता है वह पर के आदि अल् के स्थान पर होता है। पर है स्था और उसका आदि अल् है स्, सो उसके स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। यहाँ पर पूर्व के सवर्णी कौन हैं? स्था से पूर्व में द् है, उसके सवर्णी हैं- त्, थ्, द्, ध् और न्। सकार के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच-पाँच वर्ण प्राप्त हुए, अनियम हुआ। नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा- स्थानेऽन्तरतमः। स्थान से मिलाने पर भी अनियम हुआ, क्योंकि स्थानी सकार का दन्तस्थान और आदेशों के वर्ण भी सब के सब दन्तस्थान वाले हैं, अतः पुनः अनियम हुआ। अर्थ से मिलाने पर एक सकार का अर्थ नहीं है। गुण अर्थात् आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न से मिलाने पर भी अनियम ही हो रहा है, क्योंकि सकार का ईषद्विवृत प्रयत्न है और आदेशों में ईषद्विवृत प्रयत्न वाला कोई वर्ण नहीं है। अतः बाह्यप्रयत्न से मिलाया गया। बाह्यप्रयत्न में स्थानी सकार का विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न है। इसी तरह आदेश त्, थ्, द्, ध्, न् में विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न वाला केवल थ् मिलता है, अतः सकार को हटाकर थकार बैठ गया- उद्+थ्+थानम् बना। इसके बाद द्वितीय थकार को झर् परे मानकर प्रथम थकार का झरो झरि सवर्णे से वैकल्पिक लोप हुआ- उद्+थानम् बना। दकार के स्थान पर खरि च से चर्त्व होकर तकार बन गया। उत्+थानम् बना। वर्णसम्मेलन होकर उत्थानम् सिद्ध हुआ। झरो झरि सवर्णे से थकार के लोप न होने के पक्ष में दो थकार वाला उत्थ्थानम् रूप बन जाता है।

उत्तम्भनम्। उत्+स्तम्भनम् में झलां जशोऽन्ते से तकार के स्थान पर जश्त्व होकर दकार हो गया, उद्+स्तम्भनम् बना। अब सूत्र लगा- उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य।

वैकल्पिकपूर्वसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

७५. झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२॥

झय: परस्य हस्य वा पूर्वसवर्ण:।

नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य तादृशो वर्गचतुर्थ:।

वाग्घरि:, वाग्हरि:।

....

तस्मादित्युत्तरस्य की सहायता से **उद्** उपसर्ग से परे **स्तम्भ्** को पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। **स्थास्तम्भो:** षष्ठ्यन्त होने के कारण **अलोऽन्त्यस्य** के नियम में षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश अन्त्य के स्थान पर होता है तो **स्तम्भ** के अन्त्य वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हो रहा था, उसे बाधकर परिभाषा सूत्र लगा- **आदे: परस्य**। पर के स्थान पर जो विधान किया जाता है वह कार्य पर के आदि अल् के स्थान पर होता है। पर है **स्तम्भ्** और उसका आदि **अल्** है **स्**, उसके स्थान पर **पूर्वसवर्ण** प्राप्त हुआ। **स्था** से पूर्व में द् है, उसके **सवर्णी** हैं- **त्, थ्, द्, ध्** और **न्**। अत: **सकार** के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच-पाँच वर्ण प्राप्त हुए, अनियम हुआ। नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा- **स्थानेऽन्तरतम:**। स्थान से मिलाने पर भी अनियम हुआ, क्योंकि स्थानी **सकार** का **दन्तस्थान** और आदेशों के वर्ण भी सब के सब **दन्तस्थान** वाले हैं, अत: पुन: अनियम हुआ। अर्थ से मिलाने पर एक सकार का अर्थ नहीं है। **गुण** अर्थात् **आभ्यन्तर** और **बाह्य प्रयत्न**। **आभ्यन्तर प्रयत्न** से मिलाने पर भी अनियम ही हो रहा है, क्योंकि **सकार** का **ईषद्विवृत प्रयत्न** है और **आदेशों** में **ईषद्विवृत प्रयत्न** वाला कोई वर्ण नहीं है। अत: **बाह्यप्रयत्न** से मिलाया गया। **बाह्यप्रयत्न** में स्थानी **सकार** का **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** है, इसी तरह आदेश **त्, थ्, द्, ध्, न्** में **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** वाला केवल **थ्** मिलता है। अत: **सकार** को हटाकर **थ्** बैठ गया- उद्+थ्+तम्भनम् बना। इसके बाद **तकार** को **झर्** परे मानकर **थकार** का **झरो झरि सवर्णे** से वैकल्पिक लोप हुआ- उद्+**तम्भनम्** बना। **दकार** के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर तकार बन गया। उत्+**तम्भनम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उत्तम्भनम्** सिद्ध हुआ। **झरो झरि सवर्णे** से **थकार** के लोप न होने के पक्ष में दो **थकार** वाला **उत्थ्तम्भनम्** रूप बन जाता है।

अभ्यास:

१. निम्नलिखित रूप सिद्ध करें-

उत्+स्थाय। भेद्+तुम्। छेद्+तव्यम्। उत्थातव्यम्। हनुमान्+लङ्का। युयुध्+सु:।

२. **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** और **तस्मादित्युत्तरस्य** की तुलना करें।

३. **अलोऽन्त्यस्य** और **आदे: परस्य** में बाध्यबाधकभाव प्रदर्शित करें।

४. **खरि च** इस सूत्र से चर्त्व होने पर श्, ष्, स् के स्थान पर क्या आदेश होंगे?

५. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

तद्+त्वम्। प्रमद्+त:। लिभ्+सा। युयुध्+सव:। त्वद्+त:। तत्तरति। यत्तनोति।

७५- **झयो होऽन्यतरस्याम्**। झय: पञ्चम्यन्तं, ह: षष्ठ्यन्तम्, अन्यतरस्यां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **उद: स्थास्तम्भो: पूर्वस्य** से **पूर्वस्य** और **अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:** से **सवर्ण:** की अनुवृत्ति आती है।

झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है।

झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है। झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अक्षर आते हैं।
पूर्व में **झय्** हो। **झय्** में वर्ग के **प्रथम**, **द्वितीय**, तृतीय, चतुर्थ अक्षर आते हैं। **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर
उनमें से **प्रथम**, **द्वितीय** और **तृतीय** अक्षरों के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर
वर्ग का तीसरा वर्ण आदेश हो चुका होता है। अतः वर्ग का तीसरा वर्ण ही **झय्** के रूप में मिलेगा। यदि हकार से पूर्व में **ग्** होगा तो उसके सवर्णी **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** प्राप्त होंगे। यदि **ज्** होगा तो उसके सवर्णी **च्, छ्, ज्, झ्, ञ्**, यदि **ड्** होगा तो **ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्**, यदि **द्** होगा तो उसके सवर्णी **त्, थ्, द्, ध्, न्** और यदि **ब्** होगा तो उसके सवर्णी **प्, फ्, ब्, भ्, म्** ये आदेश के रूप में प्राप्त होंगे। एक के स्थान पर पाँच-पाँच प्राप्त होने पर अनियम होगा। **स्थानेऽन्तरतमः** के नियमानुसार **स्थान**, **अर्थ**, गुण और **प्रमाणों** से तुल्यतम आदेश होगा। यहाँ पर स्थान से बात बनेगी नहीं, अर्थ से भी नहीं बनने वाली है। गुण का अर्थ **प्रयत्न** है। **आभ्यन्तर प्रयत्न** से नियम नहीं बन पा रहा है क्योंकि स्थानी **हकार** का संवार, नाद, **घोष**, **महाप्राण प्रयत्न** है। आदेशों में भी इन्हीं प्रयत्न वाले वर्ण केवल वर्ग के चतुर्थ अक्षर **घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्** मिलते हैं। अतः इनमें से ही आदेश होगा। इस तरह से पूर्व में **ग्** होने पर **हकार** के स्थान पर **घ्** होगा। इसी तरह पूर्व में **ज्** होने पर **झ्** एवं **ड्** के होने पर **ढ्** होगा। इसी तरह **द्** होने पर **ध्**, और **ब्** होने पर **भ्** आदेश हो जायेंगे। अतः मूल में लिखा गया- **नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः**। इस तरह **वाग्+हरिः** में संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न वाले **हकार** के स्थान पर वैसा ही वर्ग का चतुर्थ अक्षर **घकार** आदेश होता है।

वाग्घरिः, **वाग्हरिः**। वाणी में श्रेष्ठ, बोलने में चतुर। **वाक्+हरिः** में **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **ककार** के स्थान पर **गकार** हो गया, **वाग्+हरिः** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **झयो होऽन्यतरस्याम्**। झय् है **वाग्** का **गकार**, उससे परे **हकार** है **हरिः** का **हकार**। हकार से पूर्व में **गकार** है, उसके **सवर्णी** हैं- **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्**। अतः **हरिः** के **हकार** के स्थान पर **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी **पूर्वसवर्णी** प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ। अतः नियमार्थ सूत्र आया- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से मिलाने पर **हकार** का कण्ठस्थान है और पाँचों आदेशों का भी **कण्ठस्थान** ही है। अतः नियम नहीं बना। अर्थ की साम्यता मिलाने पर एक **हकार** का क्या अर्थ हो सकता है? और आदेशों का भी कोई निश्चित अर्थ नहीं है। अतः फिर भी नियम नहीं बना। गुण की तुल्यता मिलाने पर **आभ्यन्तर प्रयत्न** से भी अनियम ही बना, क्योंकि **हकार** का **आभ्यन्तर प्रयत्न** में **ऊष्मसंज्ञक** होने के कारण **ईषद्विवृत** प्रयत्न है। आदेश **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** में से किसी का भी **ईषद्विवृत** प्रयत्न नहीं है। अतः **बाह्यप्रयत्न** से मिलाया गया। **बाह्यप्रयत्न** में **हकार** का **संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न** है। आदेशों में यही प्रयत्न वाला केवल **घ्** ही है, क्योंकि **क्, ग्**, और **ङ्** ये वर्ण **अल्पप्राण** प्रयत्न वाले हैं, इसलिए नहीं मिलते। **ख्** का **विवार**, **श्वास**, **अघोष प्रयत्न** होने के कारण नहीं मिलता। केवल **घ्** ही तादृश संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न वाला है। अतः **हरिः** के हकार को मिटाकर **घ्** बैठ गया। **वाग्घरिः** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में हकार ही रह गया- **वाग्हरिः**।

वैकल्पिकछत्वविधायकं विधिसूत्रम्

७६. **शश्छोऽटि ८।४।६३॥**

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। **तद्+शिव** इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते **खरि चेति** जकारस्य चकारः। तच्छिवः, तच्शिवः।

वार्तिकम्- **छत्वममीति वाच्यम्।** तच्छ्लोकेन।

....

अब इसी तरह निम्नलिखित प्रयोगों की भी सिद्धि करें-

समुद्+हर्ता=**समुद्धर्ता**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ध् आदेश हुआ।
अच्+हीनम्=**अज्झीनम्**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर झ् आदेश हुआ।
मधुलिड्+हसति=**मधुलिड्ढसंति**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ढ् आदेश हुआ।
दूराद्+हूते च= **दूराद्धूते च**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ध् आदेश हुआ।

७६- **शश्छोऽटि**। शः षष्ठ्यन्तं, छः प्रथमान्तम्, अटि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **झयो होऽन्यतरस्याम्** से **झयः** और **अन्यतरस्याम्** की अनुवृत्ति आती है।

झय् से परे शकार के स्थान पर छकार आदेश विकल्प से होता है, अट् के परे होने पर।

पूर्व में **झय्**-प्रत्याहार का वर्ण हो और पर में **अट्**-प्रत्याहार का वर्ण तथा मध्य में **शकार** हो तो उस **शकार** के स्थान पर एक पक्ष में **छकार** आदेश और एक पक्ष में **शकार** ही रहेगा। त्रिपादी, उसमें भी चतुर्थ पाद के लगभग अन्तिम का सूत्र होने के कारण यह सूत्र प्रायः पूर्व के सभी सूत्रों की दृष्टि में **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से असिद्ध रहता है। अतः श्चुत्व, जश्त्व, चर्त्व आदि कार्य इसके पहले ही होंगे।

तच्छिवः, तच्शिवः। वह कल्याणकारी है। **तत्+शिवः** में **तत्** के **तकार** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **तद्+शिवः** बना। **शिवः** के **शकार** के योग में **तद्** के **दकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से चुत्व होकर **तज्+शिवः** बना। जकार के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर **तच्+शिवः** बना। अब सूत्र लगा- **शश्छोऽटि**। झय् है **तच्** का **चकार**, उससे परे **शकार** है शिवः का **शकार** और उस **शकार** से **अट्** परे है **शि** में शकारोत्तरवर्ती **इकार**। अतः **शकार** के स्थान पर विकल्प से **छकार** आदेश हुआ- **तच्+छिवः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तच्छिवः** सिद्ध हुआ। वैकल्पिक होने के कारण एक पक्ष में नहीं हुआ तो **तच्शिवः** ही रह गया।

इसी तरह जगत्+शान्तिः=जगच्छान्तिः, यावत्+शक्यम्=यावच्छक्यम्, प्राक्+शेते=प्राक्छेते, जगत्+शिष्यः=जगच्छिष्यः, मत्+शिरः=मच्छिरः आदि बनाये जाते हैं।

छत्वममीति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शश्छोऽटि** में **अटि** के स्थान पर **अमि** कहना चाहिए अर्थात् **झय् से परे शकार के स्थान पर छकार आदेश विकल्प से हो अम् के परे रहने पर** ऐसा अर्थ होना चाहिए।

तच्छ्लोकेन। **अटि** के स्थान पर **अमि** पढ़ने पर **तत्+श्लोकेन** में भी **शकार** के स्थान पर **छकार** आदेश हो सकेगा। **अट्** प्रत्याहार में **लकार** नहीं आता है, अतः **छत्व** प्राप्त नहीं था। सूत्र में **अमि** कहने पर **अम्** प्रत्याहार में **लकार** के आने कारण छत्व होने में कोई समस्या नहीं रहेगी। फलतः **छत्व** होकर **तच्छ्लोकेन** यह रूप सिद्ध होगा।

अनुस्वारविधायकं विधिसूत्रम्

७७. मोऽनुस्वारः ८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

अनुस्वारविधायकं विधिसूत्रम्

७८. नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः।

यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यते।

....

७७- मोऽनुस्वारः। मः षष्ठ्यन्तम्, अनुस्वारः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **हलि सर्वेषाम्** से **हलि** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार आ रहा है।

मकारान्त पद के अन्त्य को अनुस्वार होता है हल् के परे होने पर।

येन विधिस्तदन्तस्य इस परिभाषासूत्र से तदन्तविधि होकर **मकारान्त पद** ऐसा अर्थ बना। **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** आता है अथवा इस सूत्र से **मकारान्त पद** को **अनुस्वार** आदेश होने पर **अलोऽन्त्यस्य** यह परिभाषा सूत्र **अन्त्य के स्थान पर होने** का नियम करता है। पद के अन्त में यदि **मकार** है और आगे **हल् परे** है तो **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** आदेश हो जाता है। **हल्** परे होना इसलिए जरूरी है कि **अच्** परे रहने पर अनुस्वार न हो। यहाँ पर कोई अनियम नहीं बनता। क्योंकि संसार में **मकार** भी एक ही होगा और अनुस्वार नाम वाला भी एक ही है। एक स्थानी के स्थान पर एक ही आदेश प्राप्त हो तो कोई अनियम नहीं है।

हरिं वन्दे। हरि को प्रणाम करता हूँ। **हरिम्+वन्दे** में **हरिम्** द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। सुबन्त होने के कारण पदसंज्ञा हुई है और पद के अन्त में विद्यमान हैं **हरिम्** का **मकार**। हल् परे है- **वन्दे** का **वकार**। अतः **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** (ऊपर बिन्दी) होकर **हरिं वन्दे** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

शत्रुम्+जयति। पुस्तकम् पठति। भारतम्+वन्दे। गुरुम् नमति। शिवम्+वन्दे। ओदनं खादामि। पत्रम्+लिखामि। त्वम्+गच्छसि। मातरम् पृच्छसि। पुस्तकम्+क्रीणाति।

(ख) क्या **मोऽनुस्वारः** यह सूत्र **खरि च** का बाधक सूत्र है?

७८- नश्चापदान्तस्य झलि। पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तः, तस्य अपदान्तस्य। नः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदम्, अपदान्तस्य षष्ठ्यन्तं, झलि सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। मः इस पद की अनुवृत्ति **मोऽनुस्वारः** से आती है।

अपदान्त नकार और मकार के स्थान पर अनुस्वार आदेश होता है झल् के परे होने पर।

मोऽनुस्वारः यह सूत्र **पद के अन्त में विद्यमान मकार के स्थान पर अनुस्वार करता है** और **नश्चापदान्तस्य झलि** यह सूत्र **अपदान्त में विद्यमान मकार और नकार दोनों के स्थान पर अनुस्वार करता है।** यहाँ पर **स्थानेऽन्तरतमः** जैसे परिभाषा सूत्र की

परसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

७९. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८॥

स्पष्टम्। शान्तः।

....

भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आदेश केवल एक ही अनुस्वार है। अनियम वहाँ पर होता है जहाँ अनेक आदेशों की प्राप्ति होती है।

यशांसि। बहुत यश। **यशान्+सि** ऐसी स्थिति है। **यशांसि** यह पूरा पद है, केवल **यशान्** पद नहीं है। अपदान्त नकार है **यशान्** का **नकार** और झल् परे है **सि** का **सकार**। अतः **नश्चापदान्तस्य झलि** सूत्र से **यशान्** के **नकार** के स्थान पर अनुस्वार हो गया- **यशांसि**।

आक्रंस्यते। आक्रमण करेगा, ऊपर चढ़ेगा। **आक्रम्+स्यते** ऐसी स्थिति है। अपदान्त **मकार** है **आक्रम्** का **मकार** और झल् परे है **स्यते** का **सकार**। अतः **आक्रम्** के **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हो गया- **आक्रंस्यते**।

झलि किम्? मन्यते। यहाँ पर यह प्रश्न करते हैं कि **नश्चापदान्तस्य झलि** में **झलि** यह पद क्यों पढ़ा गया? उत्तर देते हैं कि **मन्यते** आदि जगहों पर दोष न आये, इसलिए। यदि **झलि** नहीं पढ़ते तो झल् हो या न हो, सर्वत्र यह सूत्र लगता। फलतः **मन्+यते** में झल् परे न होने पर भी **मन्** के नकार के स्थान पर अनुस्वार हो जाता और **मंयते** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। उक्त दोष के निवारणार्थ यहाँ पर **झलि** पढ़ा गया।

अभ्यासः

(क) **मोऽनुस्वारः** और **नश्चापदान्तस्य झलि** इन दोनों सूत्रों की तुलना करिये।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

नम्+स्यति। मनान्+सि। पयान्+सि। श्रेयांसि। हंसि।

७९- **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**। परस्य सवर्णः- परसवर्णः, षष्ठी तत्पुरुषः। अनुस्वारस्य षष्ठ्यन्तं, ययि सप्तम्यन्तं, परसवर्णः प्रथमान्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्।

यय् प्रत्याहार के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण होता है।

परसवर्ण का अर्थ है- पर में जो वर्ण है उसके सवर्णियों में से आदेश होना। **यय्** प्रत्याहार में समस्त हलों में से केवल **ह्, श्, ष्, स्** को छोड़कर बाकी सारे हल्वर्ण आते हैं। पर के सवर्णी अनेक हो सकते हैं। अतः **स्थानेऽन्तरतमः** इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता पड़ेगी। यह सूत्र अनुस्वार हो जाने के बाद ही लगता है। अतः इस सूत्र के पूर्वप्रवृत्त सूत्र हैं- **मोऽनुस्वारः** और **नश्चापदान्तस्य झलि**।

शान्तः। **शाम्+तः** में पहले **नश्चापदान्तस्य झलि** से **शाम्** के **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **शां+तः** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**। यय् प्रत्याहार है **तः** का **तकार** और **शां** में **अनुस्वार** है ही। उसके स्थान पर परवर्ण के सवर्णी प्राप्त हुए। अनुस्वार से परे है **तः** का **तकार** और **तकार** के सवर्णी हैं- **त्, थ्, द्, ध्, न्**। **अनुस्वार** के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। अतः अनियम हुआ और नियमार्थ **स्थानेऽन्तरतमः** की प्रवृत्ति हुई और स्थान से मिलाने पर स्थानी **अनुस्वार** का **नासिका स्थान** है और आदेश **त्, थ्, द्, ध्, न्** में से **नासिकास्थान** वाला वर्ण केवल **न्** है। अतः अनुस्वार के स्थान पर **नकार** आदेश हो गया। **शान्+तः** बना, वर्णसम्मेलन होकर **शान्तः** सिद्ध हुआ।

वैकल्पिकपरसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

८०. वा पदान्तस्य ८।४।५९॥

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

मकारादेशविधायकं नियमसूत्रम्

८१. मो राजि समः क्वौ ८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

८०- वा पदान्तस्य। वा अव्ययपदं, पदान्तस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** यह समग्र सूत्र इस सूत्र में अनुवृत्त होता है।

पदान्त अनुस्वार के स्थान पर यय् के परे रहते परसवर्ण होता है।

यह सूत्र **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** का बाधक सूत्र है क्योंकि वह **पदान्त** एवं **अपदान्त** दोनों में **परसवर्ण नित्य से करता है** और यह सूत्र केवल **पदान्त में ही परसवर्ण करता है** विकल्प से। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से अवश्य प्राप्त होने पर **वा पदान्तस्य** का आरम्भ हुआ है। **यस्य नाप्राप्ते(न+अप्राप्ते, अवश्यप्राप्ते) यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति।**

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि। तुम करते हो। त्वम्+करोषि में पहले **मोऽनुस्वारः** से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** होगा। उसके बाद **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से नित्य से **परसवर्ण** प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **वा पदान्तस्य।** पदान्त अनुस्वार है **त्वं** का **अनुस्वार** और **यय्** प्रत्याहार परे है **करोषि का ककार।** अतः अनुस्वार के स्थान पर परवर्ण **ककार** के सवर्णी **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से स्थान की तुल्यता मिलाने पर **नासिका स्थानिक** अनुस्वार के स्थान पर **नासिकास्थान** वाला ही **ङकार** आदेश हुआ- **त्वङ्+करोषि** बना। वर्णसम्मेलन हुआ **त्वङ्करोषि।** जब विकल्प से होने के कारण **परसवर्ण** नहीं हुआ तो **अनुस्वार** वाला ही रूप रह गया- **त्वं करोषि।**

अभ्यासः

(क) **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** और **वा पदान्तस्य** में क्या अन्तर है?

(ख) **अनुस्वार** के स्थान पर **परसवर्ण** करने में अन्य किन सूत्रों की आवश्यकता होती है और क्यों?

(ग) **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** और **वा पदान्तस्य** इन दो सूत्रों में बलवान् सूत्र कौन है?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
अन्+कितः। अन्+चितः। कुन्+ठितः। गुम्फितः। दान्तः। गन्ता। त्वम्+भवसि। अहम्+पठामि। वयम्+गच्छामः।

८१- मो राजि समः क्वौ। मः प्रथमान्तं, राजि सप्तम्यन्तं, समः षष्ठ्यन्तं, क्वौ सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **मोऽनुस्वारः** से षष्ठ्यन्त मः की अनुवृत्ति आती है।

क्विप्-प्रत्ययान्त राज् धातु के परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर मकार ही होता है।

वैकल्पिकमकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

८२. हे मपरे वा ८।३।२६॥

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति।

वार्तिकम्- **यवलपरे यवला वा।** कियँ ह्यः, किं ह्यः। किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

....

राज् धातु से **क्विप्** प्रत्यय होकर उस प्रत्यय के सभी वर्णों का लोप हो जाता है। केवल **राज्** धातु ही बचता है फिर भी वह क्विप् **प्रत्ययान्त** कहलाता है। इसका प्रसंग हलन्तपुँल्लिङ्ग में देखेंगे। क्विबन्त राज् धातु के परे होने पर भी **किम् के मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसका यह निरोधक सूत्र है। अतः **सम् के मकार** के स्थान पर अनुस्वार न होकर **मकार** ही रह जाता है।

सम्राट्। चक्रवर्ती राजा। **सम्+राट्** में **राज्** धातु से **क्विप्**, उसका लोप, प्रथमा के एकवचन में सु, उसका भी **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ है। **राज्** के **जकार** को जश्त्व और चर्त्व होकर **राट्** बना है। ऐसी स्थिति में **सम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार आदेश प्राप्त था, उसे रोकने के लिए सूत्र लगा- **मो राजि समः क्वौ।** इस सूत्र के नियमानुसार **मकार** के स्थान पर **मकार** ही रहता है तो **सम्+राट्** ऐसा रह गया, वर्णसम्मेलन हुआ- **सम्राट्।**

८२- **हे मपरे वा।** मः परो यस्मात् स मपरः, तस्मिन् मपरे, बहुव्रीहिः। हे सप्तम्यन्तं, मपरे सप्तम्यन्तं, वा अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मोऽनुस्वारः** से षष्ठ्यन्त **मः** और **मो राजि समः क्वौ** से भी प्रथमान्त **मः** की अनुवृत्ति आती है।

म-परक हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर मकार आदेश विकल्प से होता है।

मकार परे हो ऐसे **हकार** के परे होने पर यदि **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त होता है तो उसे बाधकर एक पक्ष में यह सूत्र **मकार** ही आदेश करता है और **मकार** न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार हो जायेगा, जिससे दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति। क्या चलाता या हिलाता है? **किम्+ह्मलयति** में **किम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था। उसे बाधकर सूत्र लगा- **हे मपरे वा।** मकार परे हो ऐसा **हकार** है ह्+म=**ह्म** का **हकार**, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर एक पक्ष में **मकार** ही रहेगा। अतः **किम् ह्मलयति** ही रह गया। यह कार्य वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हो गया- **किं ह्मलयति।**

यवलपरे यवला वा। यह वार्तिक है। **हे मपरे वा** से पूर्ण कार्य सिद्ध नहीं हो रहे हैं। केवल **मकार** परक **हकार** परे रहने पर **मकार** आदेश करने से काम नहीं चलेगा अपितु **यकार, वकार और लकार परक हकार के परे रहने पर मकार के स्थान पर यँकार, वँकार और लँकार आदेश विकल्प से होते हैं।** **हकार** के बाद **यकार** हो या **वकार** हो अथवा **लकार** हो तो पूर्व में विद्यमान **मकार** के स्थान पर एक पक्ष में क्रमशः **यकार, वकार** और **लकार** ही आदेश होते हैं और एक पक्ष में **अनुस्वार** भी हो जायेगा।

वैकल्पिकनकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

८३. **नपरे नः ८।३।२७॥**

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते, किं ह्नुते।

आद्यन्तावयवविधायकं परिभाषासूत्रम्

८४. **आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६॥**

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

....

मकार का **नासिकास्थान** भी है, अतः अनुनासिक यँ, वँ, लँ होंगे। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** से यथासङ्ख्य होकर **यकार** परक **हकार** होगा तो **यँ** और **वकार** परक **हकार** होगा तो **वँ** एवं **लकार** परक **हकार** होगा तो **लँ** आदेश हो जायेंगे।

कियँ ह्यः, किं ह्यः। कल क्या ? **किम्+ह्यः** में **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा**। यहाँ पर **यकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **यँ** आदेश हुआ- **कियँ ह्यः** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्यः**।

किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। क्या हिलाता है? **किम्+ह्वलयति** में मकार के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा**। यहाँ पर **वकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **वँ** आदेश हुआ- **किवँ ह्वलयति** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से मकार के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्वलयति**।

किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति। कौन वस्तु प्रसन्न करती है? **किम्+ह्लादयति** में **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा**। यहाँ पर **लकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **वँ** आदेश हुआ- **किलँ ह्लादयति** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्लादयति**।

८३- **नपरे नः**। नः परो यस्मात्, स नपरः, तस्मिन् नपरे, बहुव्रीहिः। नपरे सप्तम्यन्तं, नः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **हे मपरे वा** से **हे** तथा **मोऽनुस्वारः** से **मः** की अनुवृत्ति आती है।

नकार परक हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर नकार आदेश विकल्प से होता है।

नकार पर हो ऐसे हकार के परे होने पर यह लगता है। **नकार** न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** ही होता है।

किन् ह्नुते, किं ह्नुते। क्या छिपाता है? **किम्+ह्नुते** में **किम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** प्राप्त था, **नकार परक हकार** परे होने के कारण उसे बाधकर **नपरे नः** से **नकार** आदेश हुआ, **किन् ह्नुते** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में मकार के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** हो गया- **किं ह्नुते**।

कुक्-टुक्-आगमविधायकं विधिसूत्रम्

८५. ङ्णोः कुक्टुक् शरि ८।३।२८॥

वा स्तः।

वार्तिकम्- चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्।

प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः।

सुगण्ठ् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः।

....

८४- आद्यन्तौ टकितौ। आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, टश्च कश्च टकौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ, बहुव्रीहिः। आद्यन्तौ प्रथमान्तं, टकितौ प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

टित् और कित् जिसको कहे गये हैं ये क्रमशः उनके आदि और अन्त के अवयव होते हैं।

आगम जिसको होता है, उसके **आदि** में या **अन्त** में जाकर के बैठें यह निर्णय करता है यह सूत्र। जिस **आगम** या **आदेश** में **टकार** की इत्संज्ञा होती है (टस्य इत्-टित्) वह **टित** कहलाता है और जिस में **ककार** की इत्संज्ञा होती है उसे (कस्य इत्-कित्) **कित्** कहते हैं। यदि आगम **टित्** होगा तो जिसको आगम हुआ है उसीके आदि में अर्थात् पहले और यदि आगम **कित्** होगा तो जिसको आगम हुआ है उसके अन्त में अर्थात् बाद में होगा। **टित्** है तो आदि में और **कित्** है तो अन्त में होना निश्चित है। जैसे **छे च** सूत्र से ह्रस्व को **तुक्** का आगम हुआ है। **तुक्** में अन्त्य ककार की **हलन्त्यम्** सूत्र से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हो गया और तु में उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा **तस्य लोपः** से लोप हो गया, बचा- त्। अब यह **तकार** कहाँ बैठे? क्योंकि **छे च** इस सूत्र से जो **तुक्** का आगम हुआ था वह छकार के परे रहने पर ह्रस्व को हुआ था सो ह्रस्व के आगे या पीछे बैठना चाहिए तो इस सूत्र से निर्णय कर दिया गया कि यदि **टित्** है तो उसके **आदि** में बैठे और **कित्** हो तो अन्त में बैठे। तुक् में **ककार** की इत्संज्ञा हुई है। अतः यह **कित्** है। **कित्** होने के कारण यह **त्** ह्रस्व वर्ण के **अन्त** में ही बैठेगा। इसी तरह **ङ्णोः कुक् टुक् शरि** से ङकार और **णकार** को **कुक्** और **टुक्** आगम होने पर **कित्** होने के कारण **क्** और **ट्** ये ङ् और ण् के अन्त में बैठेंगे किन्तु **डः सि धुट्** से **धुट्** का आगम होने पर **टकार** की इत्संज्ञा होती है, अतः **टित्** होने के कारण **सकार** के **आदि** में बैठेगा।

किसी भी प्रत्यय, आगम और आदेश में जिस वर्ण की भी इत्संज्ञा की जाने वाली है, वह **अनुबन्ध** कहलाता है- **इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्।** आगम आदि में लगे हुए वर्णों का **हलन्त्यम्** आदि सूत्रों से जो इत्संज्ञा करके **तस्य लोपः** से लोप किया जाता है उसे **अनुबन्धलोप** कहते हैं। इसलिये आगे जहाँ भी **अनुबन्धलोप** की बात आ जाये तो यही समझना चाहिए कि प्रत्यय, आगम आदि को टित्-कित् आदि बनाने के लिये जो अतिरिक्त वर्ण हैं, वे **अनुबन्ध** हैं और उनका लोप होना ही **अनुबन्धलोप** है।

आगम और **आदेश** का अन्तर- **शत्रुवदादेशा भवन्ति। मित्रवदागमा भवन्ति।** **आदेश** शत्रु की तरह होते हैं, जो किसी वर्ण को हटाकर के बैठते हैं और **आगम** मित्र की तरह होते हैं, जो किसी वर्ण के पास में आकर बैठते हैं।

८५- ङ्णोः कुक्टुक् शरि। ङ् च ण् च ङ्णौ, तयोः-ङ्णोः। कुक् च टुक् च तयोः

समाहारद्वन्द्वः। ङ्णोः षष्ठ्यन्तं, कुक्टुक् प्रथमान्तं, शरि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में हे मपरे वा से वा की अनुवृत्ति आती है।

शर् के परे होने पर ङकार और णकार को क्रमशः कुक् और टुक् आगम होता है।

कुक् और **टुक्** में **ककार** की **हलन्त्यम्** से **इत्संज्ञा** और **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा दोनों का **तस्य लोपः** से लोप होकर क्रमशः **क्** और **ट्** मात्र शेष बचते हैं। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण ये दोनों **कित्** हैं। ये आगम हैं, अतः किसी को हटाकर के नहीं अपितु उसके बगल में जा बैठते हैं। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से यदि **ङकार** है तो उसको **कुक्** का आगम और **णकार** है तो टुक् आगम होगा। ये दोनों कुक् और टुक् कित् हैं, अतः **आद्यन्तौ टकितौ** के नियमानुसार ङकार और णकार के अन्त में बैठेंगे।

चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शर् के परे होने पर चय् प्रत्याहार के वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का दूसरा वर्ण आदेश होता है, पुष्करसादि आचार्यों के मत में।**

वास्तव में यह वार्तिक **अनचि च** सूत्र पर पढ़ा गया है। वह द्वित्व करता है और वार्तिक वर्ग के दूसरे वर्ण रूपी आदेश करता है। पुष्करसादि आचार्यों के मत में च्, ट्, त्, क्, प् के स्थान पर उसी वर्ग का दूसरा अक्षर आदेश होता है और अन्य आचार्यों के मत में प्रथम अक्षर ही रहता है। फलतः दो मत होने के कारण विकल्प हुआ। **चय्** प्रत्याहार में वर्ग के प्रथम अक्षर **क्, च्, ट्, त्, प्** आते हैं और इनके द्वितीय अक्षर हुए **ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्**। इस कार्य के लिए **शर्** अर्थात् **श्, ष्, स्** का परे होना भी आवश्यक है।

प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः। छठे प्राचीन। **प्राङ्+षष्ठः** में **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** से **षष्ठः** के **षकार** के परे होने पर **प्राङ्** के **ङकार** को **कुक्** आगम हुआ। **ककार** की **हलन्त्यम्** से **इत्संज्ञा** होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप होता है तथा **उकार** उच्चारणार्थ है। अतः हट गया, केवल **क्** बचा। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह **कित्** है। यह **ककार** ङकार के पहले बैठे या बाद में? यह अनियम हुआ तो **आद्यन्तौ टकितौ** ने व्यवस्था दी कि **कित्** हो तो **अन्त** में हो। **कुक्** वाला **ककार** कित् है, अतः **ङकार** के **अन्त** में बैठा। **प्राङ्+क्+षष्ठः** बना। **शर्** परे है **षष्ठः** का **षकार**, अतः **चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** से चय् प्रत्याहारान्तर्गत **ककार** को द्वितीय वर्ण **खकार** आदेश हुआ- **प्राङ्ख् षष्ठः** यह रूप सिद्ध हुआ। वार्तिक वैकल्पिक है, द्वितीय वर्ण न होने के पक्ष में प्रथम ही वर्ण रहा- **प्राङ्क्+षष्ठः** है। **क्** और **ष्** का संयोग होने पर **क्ष्** बनता है। **प्राङ्क्** का **ककार** और **षष्ठः** का **षकार** दोनों को मिलाकर **क्ष्** बन गया तो **प्राङ् क्षष्ठः** सिद्ध हुआ। **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** भी वैकल्पिक है, उससे आगम न होने के पक्ष में **प्राङ् षष्ठः** ही रहा। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए।

सुगण्ठ् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः। छठे गणक(विद्वान्)। **सुगण्+षष्ठः** में **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** से **षष्ठः** के **षकार** के परे होने पर **सुगण्** के **णकार** को **टुक्** आगम हुआ। ककार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **ट्** बचा। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह **कित्** है। यह टकार **णकार** के पहले बैठे या बाद में? यह अनियम हुआ तो

वैकल्पिक-धुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८६. डः सि धुट् ८।३।२९॥

डात्परस्य सस्य धुड् वा। षट्त्सन्तः, षट् सन्तः।

....

आद्यन्तौ टकितौ ने व्यवस्था दी कि कित् हो तो अन्त में हो। टुक् वाला टकार कित् है, अतः णकार के अन्त में जा बैठा। सुगण्+ट्+षष्ठः बना। शर् परे है षष्ठः का षकार, अतः चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् से चय् प्रत्याहारान्तर्गत टकार का द्वितीय वर्ण ठकार आदेश हुआ- सुगणठ् षष्ठः यह रूप सिद्ध हुआ। वार्तिक वैकल्पिक है, द्वितीय वर्ण न होने के पक्ष में प्रथम ही वर्ण रहा- सुगणट्+षष्ठः बना। ङ्णोः कुक्टुक् शरि भी वैकल्पिक है, उससे आगम न होने के पक्ष में सुगण् षष्ठः ही रहा। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए।

८६- डः सि धुट्। डः पञ्चम्यन्तं, सि सप्तम्यन्तं, धुट् प्रथमान्तम्। हे मपरे वा से वा की अनुवृत्ति आती है।

डकार से परे सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है।

धुट् में टकार की हलन्त्यम् से और उकार की उपदेशेऽजनुनासिक से इत् इत्संज्ञा होती है और दोनों का तस्य लोपः से लोप हो जाता है। कई आचार्य उकार को उच्चारणार्थक मानते हैं। वह भी ठीक ही है। अतः केवल ध् शेष रह जाता है। इसको प्रकारान्तर से भी कह सकते हैं- अनुबन्धलोप हुआ। पहले भी बताया जा चुका है कि जो इत्संज्ञायोग्य है उसे अनुबन्ध कहते हैं, उसका लोप होना ही अनुबन्धलोप है। टकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह टित् है। आद्यन्तौ टकितौ के नियम से यह जिसको भी आगम होगा, उसके आदि में बैठेगा। इस सूत्र में एक समस्या यह है कि डः इस पञ्चम्यन्त पद के कारण तस्मादित्युत्तरस्य की उपस्थिति होती है जिससे डकार से अव्यवहित पर सकार को धुट् आगम प्राप्त होगा और सि इस सप्तम्यन्त के कारण तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य की उपस्थिति होती है जिससे सकार से अव्यवहित पूर्व डकार को धुट् आगम की प्राप्ति होती है। यदि डकार को धुट् होगा तो टित् होने के कारण डकार से पहले बैठेगा और यदि सकार को होगा तो सकार के पहले। ऐसा अनियम हुआ। इसके समाधान के लिए व्याकरण जगत् में एक परिभाषा है- उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्। जहाँ पञ्चमी और सप्तमी दोनों निर्देश प्राप्त हों वहाँ पर पञ्चमीनिर्देश को बलवान मानना चाहिए अर्थात् पञ्चमीनिर्देश के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस नियम के अनुसार प्रकृत सूत्र पर भी पञ्चमीनिर्देश को लेकर के कार्य किया जायेगा अर्थात् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य को बाधकर तस्मादित्युत्तरस्य से कार्य किया जायेगा। अतः डकार से अव्यवहित पर सकार को ही धुट् आगम होगा। टित् होने के कारण सकार के पहले धकार बैठेगा।

षट्त्सन्तः, षट् सन्तः। छ सज्जन। षट्+सन्तः में टकार के स्थान पर झलां जशोऽन्ते से जश्त्व होकर षड्+सन्त हुआ। अब सूत्र लगा- डः सि धुट्। इससे डकार से परे सकार को धुट् का आगम हुआ, अनुबन्धलोप होने पर ध् बचा। टित् होने के कारण सकार के आगे बैठा- षड्+ध्+सन्तः बना। सन्तः के सकार को खर् मानकर के खरि च से धकार के स्थान पर चर्त्व हुआ। धकार को चर्त्व होने पर स्थान एवं प्रयत्न से साम्य होने के कारण तकार ही हो सकता है, अतः धकार के स्थान पर तकार आदेश हुआ।

वैकल्पिक-धुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८७. नश्च ८।३।३०॥

नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा। सन्त्सः, सन्सः।

वैकल्पिक-तुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

८८. शि तुक् ८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा।

सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः।

....

षड्त्+सन्तः बना। षड्+त् में भी **तकार** को **खर्** परे मानकर पुनः उसी सूत्र से **डकार** के स्थान पर **चर्त्व** हुआ। **स्थान** और **प्रयत्न** से साम्य होने पर **डकार** को **टकार** ही हो सकता है। अतः **डकार** के स्थान पर **टकार** आदेश हुआ, **षट्त् सन्तः** बन गया। वर्णसम्मेलन होने पर **षट्त्सन्तः** सिद्ध हुआ। यह **धुट्** आगम वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **षट् सन्तः** ऐसा भी रहेगा।

८७- नश्च। न पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **डः सि धुट्** से **सि** और **धुट्** तथा **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

पदान्त नकार से परे सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है।

डः सि धुट् डकार से परे **सकार** को **धुट्** आगम करता है और यह सूत्र **नकार** से परे **सकार** को। इतना ही अन्तर है, शेष सभी विषय **डः सि धुट्** की तरह ही हैं।

सन्त्सः, सन्सः। वह सज्जन है। **सन्+सः** में नकार के **झल्** में न आने के कारण **झलां जशोऽन्ते** की प्रवृत्ति नहीं होती है। **सन्** के **नकार** से परे **सः** के **सकार** को **नश्च** से **धुट्** आगम हुआ और अनुबन्धलोप होने पर **ध्** मात्र बचा। **टित्** होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से **सकार** के **आदि** में जा बैठा। **सन्+ध्+सः** बना। **धकार** को **खरि च** से **चर्त्व** होकर **तकार** बन गया, **सन्त् सः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सन्त्सः** सिद्ध हुआ। यह **धुट्** वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **सन्सः** ही रह गया।

८८- शि तुक्। शि सप्तम्यन्तं, तुक् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नश्च** से **नः** और **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

शकार के परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प से तुक् आगम होता है।

डः सि धुट् डकार से परे **सकार** को **धुट्** आगम करता है और यह सूत्र **नकार** से परे **शकार** को **तुक्** का आगम। इतना ही अन्तर है, शेष सभी विषय **डः सि धुट्** की तरह ही हैं। **तुक्** में **ककार** की **हलन्त्यम्** से **इत्संज्ञा** और उकार उच्चारणार्थक है। केवल **त्** मात्र शेष रहता है। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई है, अतः **कित्** है। कित् होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से जिसको हुआ है उसके अन्त में बैठेगा। यहाँ पर **शकार** के परे रहते **नकार** को तुक् हो रहा है, फलतः **नकार** के **अन्त** में ही बैठना चाहिए।

सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः। शम्भु सत्स्वरूप हैं। **सन्+शम्भुः** में **शि तुक्** से **सन्** के **नकार** को वैकल्पिक **तुक्** आगम हुआ। अनुबन्धलोप होने के बाद **त्** बचा। **कित्** होने कारण **नकार** के **अन्त** में जा बैठा- **सन् त् शम्भुः** बना। **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** के योग में पहले **तकार** को **चुत्व** होकर **च्** हुआ और बाद में **चकार** के योग होने पर **नकार** को भी **चुत्व** होकर **ञ्** हुआ, **सञ्च् शम्भुः** बना। **शश्छोऽटि** से **शम्भुः**

ङमुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८९. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२॥

ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो ङमुट्।

प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

....

के **शकार** के स्थान पर वैकल्पिक **छकार** आदेश हुआ, **सञ्च् छम्भुः** बना। **ञकार** को हल्, **चकार** को **झर्** और **छम्भुः** के **छकार** को **सवर्ण झर्** परे मानकर **झरो झरि सवर्णे** से **चकार** का वैकल्पिक लोप हुआ तो **सञ्छम्भुः** यह प्रथम रूप सिद्ध हुआ। **झरो झरि सवर्णे** से **चकार** के लोप न होने के पक्ष में चकार सहित **सञ्च्छम्भुः** यह दूसरा रूप बना। छत्व भी **विकल्प** से हुआ है, न होने के पक्ष में **शकार** ही रह गया- **सञ्च्शम्भुः** यह तीसरा रूप बना। **तुक्** आगम भी वैकल्पिक है, **तुक्** न होने पर **सञ्शम्भुः** ऐसा चौथा रूप बना। इस तरह से चार रूप सिद्ध हुए। इस विषय में **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में निम्नलिखित पद्य लिखा गया है-

ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्॥

अर्थात् **तुक्** **आगम**, **छत्व** और **चकार** का लोप विकल्प से होने के कारण **सन्+शम्भुः** में **ञकार** और **छकार** वाला एक रूप, **ञकार**, **चकार** और **छकार** वाला एक रूप, **ञकार**, **चकार** और **शकार** वाला एक रूप तथा **ञकार** और **शकार** वाला एक रूप, इस तरह चार रूप सिद्ध होते हैं।

८९- **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्**। ङमः पञ्चम्यन्तं, ह्रस्वात् पञ्चम्यन्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, ङमुट् प्रथमान्तं, नित्यं क्रियाविशेषणं द्वितीयान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

ह्रस्व से परे जो ङम्, वह अन्त में है जिस के ऐसा जो पद, उससे परे अच् को नित्य से ङमुट् आगम होता है।

ङम् प्रत्याहार है, जिसमें **ङ्**, **ण्**, **न्**, ये तीन वर्ण आते हैं। **ङम्** को **उट्** जोड़कर पढ़ा गया है। **ङमुट्** ऐसा आगम नहीं है अपितु **ङम्** प्रत्याहार में जो वर्ण आते हैं, उन वर्णों में से **उट्** जोड़कर आगम माना गया है। इस तरह **ङुट्**, **णुट्**, **नुट्** आगम होंगे। **टकार** और **उकार** की इत्संज्ञा और लोप होकर **ङ्**, **ण्**, **न्** ही शेष रहते हैं। **ङमः** पञ्चमी और **अचि** सप्तमी इन दोनों पदों को देखकर **तस्मादित्युत्तरस्य** और **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इन दोनों परिभाषाओं की उपस्थिति थी। **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** के नियम पर पञ्चमी निर्देश के कारण **ङम्** से अव्यवहित परे **अच्** को ये आगम होंगे। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियमानुसार **ङम्** में **ङ्** से परे हो तो **ङुट्** आगम, **ण्** से परे हो तो **णुट्** आगम और **न्** से परे हो तो **नुट्** आगम होंगे।

हे मपरे वा से विकल्पार्थक **वा** की अनुवृत्ति के निराकरण के लिए इस सूत्र में **नित्यम्** पढ़ा गया है।

प्रत्यङ्ङात्मा। जीवात्मा। **प्रत्यङ्+आत्मा** में **ङकार** से **अच्** परे है। अतः **ङुट्** आगम अनुबन्धलोप होकर **ङ्** बचा। **प्रत्यङ्+ङ् आत्मा** बना। वर्णसम्मेलन होकर **प्रत्यङ्ङात्मा** सिद्ध हुआ।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०. समः सुटि ८।३।५॥

समो रुः सुटि।

अनुनासिकादेशविधायकं विधिसूत्रम्

११. अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२॥

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

अनुस्वारागमविधायकं विधिसूत्रम्

१२. अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः।

....

सुगण्णीशः। गणकों का स्वामी। सुगण्+ईश में णकार से अच् परे है। अतः **णुट्** आगम, अनुबन्धलोप होकर **ण्** बचा। सुगण्+ण् ईशः बना। वर्णसम्मेलन होकर **सुगण्णीशः** सिद्ध हुआ।

सन्नच्युतः। भगवान् अच्युत सत्स्वरूप हैं। **सन्+अच्युतः** में नकार से **अच्** परे है। अतः **नुट्** आगम, अनुबन्धलोप होकर **न्** बचा। **सन्+न् अच्युतः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सन्नच्युतः** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

१. **निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-**

पठन्+अगच्छत्। जानन्नपि। हसन् आगच्छति। तस्मिन्निति। भगवन्नद्य। सुगण्णास्ते।

२. **आद्यन्तौ टकितौ** के विषय में आप जितना जानते हैं, लिखें।

३. **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** की व्याख्या करें।

१०- **समः सुटि**। समः षष्ठ्यन्तं, सुटि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

सुट् के परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर रु आदेश होता है।

यह आदेश है अतः **सम्** के **मकार** को हटाकर बैठता है, यदि आगे सुट् आगमका सकार परे हो तो।

११- **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा**। अत्र अव्ययपदम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तं, तु अव्ययपदं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

इस रु के प्रकरण में रु से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

इस सूत्र में **अत्र** यह शब्द **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** आदि सूत्रों से किये गये रु को बताता है। अतः **ससजुषो रुः** से किये गये रु को नहीं लिया जाता है। पूर्वोक्त सूत्रों से रु करने पर उस रु से पहले जो भी **अच्** वर्ण हो, उसे यह अनुनासिक **अच्** आदेश करता है।

१२- **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः**। अनुनासिकात् पञ्चम्यन्तं, परः प्रथमान्तम्, अनुस्वारः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से रु को पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम

विसर्गविधायकं विधिसूत्रम्

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५॥

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

वार्तिकम्- **संपुंकानां सो वक्तव्यः।** सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता।

....

करके रोः की तथा अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से पूर्वस्य को पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम करके पूर्वात् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ अनुनासिक होता है, उस पक्ष को छोड़कर अन्य पक्ष में रु से पूर्व जो वर्ण, उससे परे अनुस्वार आगम होता है।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से किये गये अनुनासिक के पक्ष में यह सूत्र नहीं लगता किन्तु उससे अनुनासिक न होने के पक्ष में यह अनुस्वार आगम करता है।

९३- **खरवसानयोर्विसर्जनीयः।** खर् च अवसानं च (तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः) खरवसाने, तयोः खरवसानयोः। खरवसानयोः सप्तम्यन्तं, विसर्जनीयः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। रो रि से रोः की अनुवृत्ति आती है।

खर् परे रहते अथवा अवसान में स्थित रेफ हो तो उस रेफ के स्थान में विसर्ग आदेश होता है।

संज्ञाप्रकरण में बताया जा चुका है कि विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ये तीन प्रकार के विसर्ग होते हैं। उनमें से विसर्जनीय अर्थात् सामान्य विसर्ग का विधान यह सूत्र करता है। पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग का विधान करता है। यदि उस रेफ से पर में खर् प्रत्याहार के वर्ण हों या वह स्वयं अवसान में विद्यमान रेफ हो तो। र् को ही रेफ कहा जाता है। यह कभी विसर्ग बन जाता है, कभी पर में विद्यमान अच् वर्ण से मिल जाने पर र् ही रह जाता है और कभी पर में विद्यमान हल्वर्ण के ऊपर जा कर बैठता है।

रु में उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा होने के बाद तस्य लोपः से लोप होकर केवल र् बचता है।

संपुंकानां सो वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **सम्, पुम् और कान् से सम्बन्धित विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।**

सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता। संस्कार करने वाला। सम् यह उपसर्ग है और कृ धातु से तृच् प्रत्यय होकर कर्ता बना है। सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे से सुट् का आगम होकर सम्+स्कर्ता बना है। ऐसी स्थिति में समः सुटि से स्कर्ता के सकार को सुट् परे मान कर के सम् के मकार के स्थान पर ही रु आदेश हो गया। रु के उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई और तस्य लोपः से लोप हो गया। सर्+स्कर्ता बना। अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से रु के रेफ से पहले विद्यमान सकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर अनुनासिक अँ आदेश हो गया। सँर्+स्कर्ता बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः से रेफ के पहले अनुस्वार आगम हुआ तो संर्+स्कर्ता बना। इस तरह सँर्+स्कर्ता और संर्+स्कर्ता दो रूप बने। स्कर्ता का सकार खर् में आता है और सम् एक पद था अतः उसके स्थान पर आया हुआ रेफ भी पद के अन्तर्गत ही हुआ। साथ ही यह अन्त में भी है, अतः पदान्त रेफ हुआ। उसके स्थान पर

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९४. पुमः खय्यम्परे ८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुः। पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९५. नश्छव्यप्रशान् ८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः, न तु प्रशान्-शब्दस्य।

....

खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग आदेश हुआ- सँःस्कर्ता, संःस्कर्ता बना। अब विसर्ग के स्थान पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से सकार आदेश और **वा शरि** से विकल्प से विसर्ग आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से दोनों जगह **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ- **सँस्स्कर्ता** और **संस्स्कर्ता** ये दो रूप सिद्ध हुए। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** से **सँस्स्कर्ता** के एक सकार, द्विसकार, त्रिसकार, एक ककार, द्विककार, अनुनासिक और अननुनासिक आदि करके १०८ रूपों की सिद्धि दिखाई गई है।

९४- पुमः खय्यम्परे। अम् परो यस्मात् सः अम्परः, तस्मिन् अम्परे। (बहुव्रीहिः)। पुमः षष्ठ्यन्तं, खयि सप्तम्यन्तम्, अम्परे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से रुः की अनुवृत्ति आती है।

अम् परक खय् के परे होने पर पुम्-शब्द के मकार को रु आदेश होता है।

अम् प्रत्याहार है और **खय्** भी प्रत्याहार ही है। **अम्** प्रत्याहार में सभी **अच्** और ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न् आते हैं। खय् में वर्ग के **द्वितीय** और **प्रथम** अक्षर आते हैं। **खय्** से **अम्** परे हों अर्थात् **अम्** परे हो ऐसे **खय्** के परे होने पर **पुम्** के **मकार** के स्थान पर **रु** आदेश का विधान इस सूत्र से होता है।

पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः। नर कोयल। **पुम्+कोकिलः** ऐसी स्थिति में **पुमः खय्यम्परे** से **कोकिलः** के ककारोत्तरवर्ती **ओकार** को **अम्** और **ककार** को **खय्** मान कर **पुम्** के **मकार** के स्थान पर **रु** आदेश हो गया। **रु** के **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से **लोप** हो गया। **पुर्+कोकिलः** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से **रु** के रेफ से पहले विद्यमान मकारोत्तवरवर्ती **उकार** के स्थान पर अनुनासिक **उँ** आदेश हो गया। **पुँर्+कोकिलः** बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से रेफ के पहले अनुस्वार आगम हुआ तो **पुंर्+कोकिलः** बना। इस तरह **पुँर्+कोकिलः** और **पुंर्+कोकिलः** दो रूप बने। **कोकिलः** का **ककार** खर् में आता है और **पुम्** एक पद है तथा उससे सम्बन्धित रेफ भी पद के अन्तर्गत ही आया, साथ ही वह **अन्त** में भी है, अतः पदान्त रेफ हुआ। उसके स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग आदेश हुआ- **पुँःकोकिलः, पुंःकोकिलः** बना। **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से दोनों जगह विसर्ग के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ- **पुँस्कोकिलः** और **पुंस्कोकिलः** ये दो रूप सिद्ध हुए।

९५- नश्छव्यप्रशान्। नः षष्ठ्यन्तं, छवि सप्तम्यन्तम्, अप्रशान् षष्ठ्यर्थकं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से रुः की और **पुमः खय्यम्परे** से **अम्परे** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

सकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

९६. **विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४॥**

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व।

अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदस्येति किम्? हन्ति।

....

अम् परक छव् के परे होने पर नकारान्त पद को रु आदेश होता है किन्तु प्रशान्-शब्द के नकार को नहीं।

छव् एक प्रत्याहार है जिसमें छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त् ये वर्ण आते हैं। पूरे नकारान्त शब्द को **रु** प्राप्त होने की स्थिति में **अलोऽन्त्यस्य** की उपस्थिति से **अन्त्य नकार** के स्थान पर ही **रु** हो जाता है।

९६- **विसर्जनीयस्य सः**। विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से एकदेश **खरि** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे होने पर विसर्जनीय विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।

चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। हे चक्रिन् विष्णो! रक्षा करें। **चक्रिन्+त्रायस्व** ऐसी स्थिति में **नश्छव्यप्रशान्** से **त्रायस्व** के **त्र्** में तकारोत्तरवर्ती **रकार** को **अम् परक** और तकार को छव् मान कर **चक्रिन्** के **नकार** के स्थान पर **रु** आदेश हो गया। रु के उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप होकर **चक्रिर्+त्रायस्व** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से रु के रेफ से पहले विद्यमान रकारोत्तवरवर्ती **इकार** के स्थान पर अनुनासिक **इँ** आदेश हो गया। **चक्रिँर्+त्रायस्व** बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **रेफ** के पहले **अनुस्वार** आगम हुआ तो **चक्रिंर्+त्रायस्व** बना। इस तरह **चक्रिँर्+त्रायस्व** और **चक्रिंर्+त्रायस्व** दो रूप बने। **त्रायस्व** का **तकार** खर् में आता है और **चक्रिन्** एक पद है तथा उससे सम्बन्धित **रेफ** भी **पद** के अन्तर्गत ही आया, साथ ही वह **अन्त** में भी है। अतः **पदान्त** रेफ हुआ। उसके स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** आदेश हुआ- **चक्रिँःत्रायस्व, चक्रिंःत्रायस्व** बना। **विसर्जनीयस्य सः** से दोनों जगह विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हुआ- **चक्रिँस्त्रायस्व** और **चक्रिंस्त्रायस्व** ये दो रूप सिद्ध हुए।

अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। अब प्रश्न करते हैं कि **नश्छव्यप्रशान्** सूत्र में **अप्रशान्** क्यों कहा? उत्तर देते हैं कि **प्रशान् तनोति** में दोष न आवे, इसलिए। क्योंकि **अप्रशान्** कहकर **प्रशान्** शब्द को निषेध नहीं करेंगे तो **प्रशान्+तनोति** में भी **नकार** को रुत्व होकर **प्रशाँस्तनोति** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। इस अनिष्ट रूप के निवारणार्थ सूत्र में **प्रशान्** शब्द को रुत्व निषेध किया गया।

पदस्येति किम्? हन्ति। अब प्रश्न करते हैं कि **नश्छव्यप्रशान्** सूत्र में **पदस्य** की अनुवृत्ति क्यों की? उत्तर देते हैं कि **हन्ति** में दोष न आवे, इसलिए। क्योंकि **पदस्य** कहने से पदान्त **नकार** को ही **रुत्व** करता है, **अपदान्त** को नहीं। यदि **पदस्य** की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो यह सूत्र **पदान्त** या **अपदान्त** दोनों **नकारों** को **रुत्व** करने लगेगा, जिससे **हन्+ति** यहाँ पर **अपदान्त नकार** को भी **रुत्व** होकर **हँस्ति** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। इस अनिष्ट रूप के निवारणार्थ सूत्र में **पदस्य** की अनुवृत्ति की गई।

वैकल्पिक-रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९७. नॄन् पे ८।३।१०॥

नॄनित्यस्य रुर्वा पे।

जिह्वामूलीयोपध्मानीयविधायकं विधिसूत्रम्

९८. कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च ८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ≍ प ≍ पौ स्तः, चाद्विसर्गः।

नॄँ ≍ पाहि, नॄँः पाहि, नॄं ≍ पाहि, नॄंः पाहि, नॄन् पाहि।

९७- नॄन् पे। नॄन् लुप्तषष्ठीकं द्वितीयान्तानुकरणं, पे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से रुः की अनुवृत्ति आती है।

पकार के परे होने पर नॄन् के नकार के स्थान पर रु आदेश विकल्प से होता है।

९८- कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च। कुश्च पुश्च कुपू, तयोः कुप्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कश्च पश्च कपौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः।

कवर्ग और पवर्ग के परे होने पर विसर्जनीय-विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विसर्ग आदेश होते हैं तथा पक्ष में विसर्ग भी होता है।

इस सूत्र में **क पौ** इन दो वर्णों से पहले ज़िह्वामूलीय और **उपध्मानीय** विसर्ग के चिह्न के रूप में नीचे और ऊपर दो घुमावदार तिरछी लकीर ≍ लगाने का प्रचलन संस्कृतभाषा में है।

कवर्ग के परे होने पर **जिह्वामूलीय** और **पवर्ग** के परे होने पर **उपध्मानीय** विसर्ग होते हैं। ये विसर्ग **क, ख** और **प, फ** के परे ही हो पाते हैं, क्योंकि विसर्जनीय अर्थात् सामान्य विसर्ग के स्थान पर ही ये आदेश होते हैं तो **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** यह सूत्र खर् के परे होने पर या **अवसान** में ही **विसर्ग** करता है। खर् में वर्ग के **प्रथम** और **द्वितीय** अक्षर ही आते हैं। अतः **क, ख** और **प, फ** के परे होने पर ही ये दो **विसर्ग** हो सकते हैं। सूत्र में **च** पढ़ा गया है, इससे एक पक्ष में **विसर्जनीय भी होता है,** यह अर्थ निकलता है। **अनुनासिक, अनुस्वार** तथा **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय** के विकल्प से होने के कारण पाँच रूप बन जाते हैं।

नॄँ ≍ पाहि, नॄँः पाहि, नॄं ≍ पाहि, नॄंः पाहि, नॄन् पाहि। मनुष्यों की रक्षा करें। नॄन्+पाहि में **नकार** के स्थान पर **नॄन् पे** से **रु** आदेश, अनुबन्धलोप, **नॄर्** पाहि बना। **अनुनासिक** और **अनुस्वार** दोनों हुए तो **नॄँर् पाहि, नॄंर् पाहि** बने। **पकार** को खर् मानकर रेफ के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** हो गया **नॄँः** पाहि, नॄंः पाहि बना। **कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च** से **प** से पहले होने के कारण **उपध्मानीय** विसर्ग हुआ **नॄँ ≍ पाहि, नॄं ≍ पाहि** बना। **अनुनासिक** और **अनुस्वार** दोनों पक्ष में उपध्मानीय विसर्ग के दो रूप और विसर्जनीय के दो रूप तथा **नॄन् पे** से **रुत्व** न होने के पक्ष में **नॄन् पाहि** ही रहेगा।

आम्रेडितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

९९. तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२॥

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१००. कानाम्रेडिते ८।३।१२॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्, कांस्कान्।

....

९९- **तस्य परमाम्रेडितम्।** तस्य षष्ठ्यन्तं, परम् प्रथमान्तम्, आम्रेडितं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **सर्वस्य द्वे** से **द्वे** का अधिकार आ रहा है। उसीको यहाँ पर **तस्य** से दर्शाया जा रहा है।

शब्द के दो बार उच्चारण होने पर दूसरे रूप की आम्रेडितसंज्ञा होती है।

वैसे उच्चारण से हो या द्वित्व करके हो, एक ही शब्द का यदि दो बार उच्चारण अथवा लेखन किया जाय तो दूसरा जो शब्द है, उसकी यह **आम्रेडितसंज्ञा** करता है। संज्ञा का फल आगे स्पष्ट हो जायेगा।

१००- **कानाम्रेडिते।** कान् द्वितीयान्तानुकरणात्मकं लुप्तषष्ठीकं पदम्, आम्रेडिते सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

आम्रेडित के परे होने पर कान्-शब्द के नकार को रु आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य से **अन्त्यस्य** आकर **कान्** के **अन्त्य नकार** को **रु** आदेश हो जाता है। **रु** होने के बाद अनुबन्धलोप करके अनुनासिक तथा अनुस्वार ये दोनों कार्य हो जाते हैं।

काँस्कान्, कांस्कान्। किस् किस को। **कान्+कान्** यह किम् शब्द के पुँल्लिङ्ग में द्वितीया बहुवचन का रूप है। **नित्यवीप्सयोः** से **कान्** को द्वित्व हुआ है। द्वितीय **कान्** की **तस्य परमाम्रेडितम्** से **आम्रेडितसंज्ञा** हो गई और आम्रेडित के परे प्रथम **कान्** के नकार के स्थान पर **कानाम्रेडिते** से **रु** आदेश हुआ। अनुबन्धलोप होकर **कार्+कान्** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** और **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **अनुनासिक** और **अनुस्वार** हुए। **काँर्+कान्, कांर्+कान्** बना। रेफ के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ। **काँःकान्, कांःकान्** बना। **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ। इस तरह **काँस्कान्, कांस्कान्** ये रूप सिद्ध हुए।

अब इसी तरह **तान्+तान्** से भी **ताँस्तान्, तांस्तान्** रूप बनते हैं किन्तु यहाँ पर आम्रेडितसंज्ञा होने पर भी कोई फल नहीं है क्योंकि आम्रेडितसंज्ञा को निमित्त मानकर केवल **कान्**-शब्द को ही रुत्व हो रहा है, अन्य शब्दों में नहीं। अतः यहाँ पर **नश्छव्यप्रशान्** से रुत्व होकर **अनुनासिक** और **अनुस्वार** करके **ताँस्तान्, तांस्तान्** बन जाते हैं।

अभ्यासः

१. **रुत्वप्रकरण** के अन्तर्गत आने वाले सूत्रों पर एक विवरण लिखें।
२. क्या **रुत्वप्रकरण** के सभी सूत्र एक दूसरे में बाध्य-बाधक हैं? स्पष्ट करें।
३. **काँस्कान्** में **ताँस्तान्** की तरह **नश्छव्यप्रशान्** से काम क्यों नहीं चलता?
४. निम्नलिखित शब्दों की सिद्धि करें-
पुम्+चली। सँस्स्कार। पुम्+चरित्रम्। भवान्+छिनत्ति। कस्मिँचित्। महान्+तारकः। रामः पालयति। कः खादति?

तुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

१०१. छे च ६।१।७३।।

ह्रस्वस्य छे तुक्। शिवच्छाया।

वैकल्पिकतुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

१०२. पदान्ताद्वा ६।१।७६।।

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग् वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।।३।।

....

१०१- छे च। छे सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** से **ह्रस्वस्य** और **तुक्** दो पदों की अनुवृत्ति हुई है।

छकार के परे होने पर ह्रस्व को तुक् का आगम होता है।

यह सूत्र **तुक्** आगम करता है। शब्दों एवं अक्षरों से प्रत्यय, आगम और आदेश होते हैं जो आगे बताये जायेंगे। पहले भी बताया जा चुका है कि आदेश किसी वर्ण के स्थान पर उसे हटाकर होते हैं और आगम किसी के स्थान पर नहीं होता और किसी वर्ण को भी नहीं हटाता अपितु जिस वर्ण को आगम का विधान किया जाता है उसके बगल में आकर के बैठ जाता है। **शत्रुवदादेशा भवन्ति, मित्रवदागमा भवन्ति** अर्थात् आदेश शत्रु जैसे होते हैं जो स्थानी हटाकर बैठते हैं और आगम मित्र के समान होते हैं जो उसे किसी प्रकार की हानि किये विना उसके हितकारी होते हुए उसके बगल में बैठ जाते हैं। इस सूत्र से भी आगम किया गया है। वह **तुक्** आगम ह्रस्व को हुआ है। अतः ह्रस्व के बगल में बैठेगा। यहाँ पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि आगम जिस को हुआ वह उसके पहले बैठे या उसके बाद में बैठे? इसी का निर्णय करता है सूत्र **आद्यन्तौ टकितौ।** तुक् में **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण **कित्** है, अतः **ह्रस्व** के अन्त में बैठेगा।

शिवच्छाया (शिव की छाया)। **शिव+छाया** ऐसी स्थिति में **छे च** सूत्र ने **तुक्** का आगम किया। **छकार** परे है **छाया** का **छकार** और ह्रस्ववर्ण है **शिव** में वकारोत्तरवर्ती **अकार।** ऐसी स्थिति में **अकार** को तुक् का आगम हुआ। अनुबन्धलोप होकर **त्** बचा। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई थी सो **कित्** होने की बजह से **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से **ह्रस्व** के अन्त में बैठा। **शिव+त्+छाया** बना है। चवर्ग **छकार** के योग में तवर्ग **तकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **चुत्व** होकर **चकार** बन गया- **शिव+च्+छाया** बना, वर्णसम्मेलन होकर- **शिवच्छाया** यह रूप सिद्ध हुआ।

१०२- पदान्ताद्वा। पदान्तात् पञ्चम्यन्तं, वा अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **दीर्घात्** से **दीर्घात्** और **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** से **ह्रस्वस्य** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त दीर्घ से छकार परे होने पर दीर्घ को तुक् आगम विकल्प से होता है।

इस तरह उपर्युक्त दो सूत्रों से **ह्रस्व** से छकार के परे होने पर **नित्य** से और **दीर्घ पदान्त** से **छकार** के परे होने पर **विकल्प** से **तुक्** आगम हो जाता है।

लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया। लक्ष्मी की छाया। **लक्ष्मी+छाया** ऐसी स्थिति में **पदान्ताद्वा** सूत्र ने वैकल्पिक **तुक्** का आगम किया। **छकार** परे है **छाया** का **छकार** और पदान्त दीर्घ है **लक्ष्मी** में मकारोत्तरवर्ती **ईकार।** ऐसी स्थिति में **ईकार** को **तुक्** का आगम

हुआ। अनुबन्धलोप हुआ, त् बचा। **तुक्** में ककार की इत्संज्ञा हुई थी सो **कित्** होने की वजह से **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से दीर्घ के **अन्त** में जा बैठा। **लक्ष्मी+त्+छाया** बना। चवर्ग **छकार** के योग में तवर्ग **तकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **चुत्व** होकर **चकार** बन गया- **लक्ष्मी+च्+छाया** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **लक्ष्मीच्छाया** यह रूप सिद्ध हुआ। **तुक्** का आगम वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **लक्ष्मीछाया** ही रह गया।

अभ्यासः

(क) **आद्यन्तौ टकितौ** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?

(ख) **छे च** सूत्र से किस वर्ण को तुगागम होता है।

(ग) **छे च** और **पदान्ताद्वा** का क्षेत्र स्पष्ट करें।

(ग) शिव+शर्मा में तुक् का आगम क्यों नहीं होता?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

ग+छति। इ+छा। य+छति। ममच्छात्रः। मधुच्छादनम्। सन्तिच्छिद्राणि। तीक्ष्णाच्छुरिका। मधुच्छन्दसः।

परीक्षा

अब आपका **विसर्गसन्धि** में प्रवेश होने वाला है। **हल्सन्धि** पूर्ण हो गई है। **हल्सन्धि** के मुख्य सूत्र एवं लोक में अधिक प्रचलित हल्सन्धि वाले प्रयोगों का प्रदर्शन इस प्रकरण में किया गया है। अब आपके सामने परीक्षा की घड़ी आ गई है। परीक्षा में सफल होने वाला व्यक्ति ही जीवन में सफल माना जाता है। हमारे जीवन में हर पल परीक्षा ही परीक्षा है। परीक्षाओं से घबराने वाला व्यक्ति कायर माना जाता है। वह कोई प्रगति नहीं कर सकता है। अतः हमेशा परीक्षा के लिए तैयार रहना चाहिये। परीक्षा-रूपी अग्नि में तपकर मानव भी कुन्दन जैसा खरा बन जाता है। आपने हल्सन्धि की कितनी तैयारी की है? इसका प्रमाण परीक्षा में मिलेगा।

आप प्रतिदिन एक घण्टा स्वाध्याय में अपने को अवश्य लगाये रखना। स्वाध्याय का तात्पर्य होता है कि पढ़े हुए विषयों को दुहराना, चिन्तन करना, उन विषयों को पुष्ट करने के लिए नया अध्ययन एवं शोध करना। यदि स्वाध्याय नहीं किया तो आगे पढ़ते रहने पर भी पीछे भूलते जायेंगे। इस प्रकार प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को प्रतिदिन एक घण्टा अवश्य स्वाध्याय करना चाहिये। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखित रूप में दें। इसके पहले **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को कपड़े से बाँधकर दो दिन के लिए रख दें और पूजा करें। इस बीच में इन अभ्यासों को दुहरायें। निम्नलिखित प्रश्नों के ५-५ अंक हैं। आपको उत्तीर्ण होने के लिए कम से कम ४० अंक प्राप्त करने होंगे।

प्रश्न

१- **श्चुत्व** और **ष्टुत्व** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

२- **जश्त्व, अनुनासिकत्व** और **चर्त्व** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

३- **अनुस्वार** एवं **परसवर्णसन्धि** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

४- **'छे च'** और **आद्यन्तौ टकितौ** इन दो सूत्रों की कम से कम एक पृष्ठ में व्याख्या करें।

५- **अच्सन्धि** और **हल्सन्धि** के अन्तर को बतायें।

६- इस प्रकरण में कौन-कौन सूत्र किन-किन सूत्रों के बाधक हैं? समझाइये।

७- **परसवर्णविधायक** सूत्र की व्याख्या करें।
८- **आगम** और **आदेश** में क्या अन्तर है? अच्छी तरह समझाइये।
९- **हल्सन्धि** के सारे सूत्र एवं उनकी वृत्ति को विना पुस्तक देखे पूरा ही उतारें।
१०- इस प्रकरण में कौन-कौन से सूत्र किस अध्याय एवं पाद के हैं?

छात्रों को मेरा निर्देश

छात्रों को मेरा निर्देश है कि यदि आपने अभी तक अष्टाध्यायी का पारायण शुरू नहीं किया है तो अब आप **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** के सूत्रों का पारायण अवश्य शुरू कर दें। यदि आप रट सकते हैं तो अच्छी बात है, नहीं तो प्रतिदिन दो अध्याय के नियम से सूत्रपाठ का पारायण करें। पहले महीने में प्रथम व द्वितीय अध्याय, दूसरे महीने में तीसरे और चौथे अध्याय, तीसरे महीने में पाँचवें और छठवें अध्याय तथा चौथे महीने में सातवें और आठवें अध्याय का पारायण करने से लगभग चार महीने में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जाती है क्योंकि बच्चे एक महीने तक प्रतिदिन जिस विषय का पारायण करेंगे, वह विषय उनको याद हो जाता है। यदि एक आवृत्ति में उनको याद नहीं भी हुआ तो दूसरी आवृत्ति में अर्थात् अगले चार महीनों में अवश्य याद हो जायेगा। यदि आठ महीने पाणिनि जी के समस्त सूत्र याद हो जायें तो भी बहुत बड़ी बात है। यदि कथंचित् दो अध्याय का नियम नहीं बन पाता है तो एक अध्याय का नियम अवश्य रखें।

यह बात भी ध्यान रहे कि **लघुसिद्धान्तकौमुदी** व्याकरणशास्त्र में प्रवेशिका मात्र है। आगे जाकर आपको **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** का अध्ययन करना है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में पाणिनीय-अष्टाध्यायी के एक तिहाई सूत्र और वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में पूरे के पूरे लगभग ४००० सूत्र हैं। उन चार-हजार सूत्रों का ज्ञान एवं उनके उदाहरण जाने विना व्याकरण का ज्ञान पूर्ण नहीं होगा। आप यह न समझना कि जब **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** पढ़ेंगे तब सभी सूत्र याद कर लेंगे, क्योंकि तब याद नहीं हो पायेगा। **सूत्रपाठ** याद करना अलग बात है और **विषयवस्तु को समझना** अलग बात है। उस समय समझने का विषय रहेगा तो सूत्रपाठ भी उस समय के लिए रखना ठीक नहीं है। जो आज का विषय है, उसे आज ही याद कर लें तो अच्छा रहेगा। मेरा अनुभव है कि उस समय केवल समझने की ही प्रधानता रहती है और सूत्र याद करना अप्रधान (गौण) हो जाता है। फ़लतः सूत्रों के विषय में जीवन भर सन्देह की स्थिति बनी रहती है।

आपको पुनः स्मरण कराता हूँ कि पाणिनि जी के द्वारा रचित अष्टाध्यायी के सारे सूत्रों के विना व्याकरण अधूरा ही है।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में
गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का
हल्सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ विसर्गसन्धिः

सकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०३. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४॥

खरि। विष्णुस्त्राता।

वैकल्पिकविसर्गादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०४. वा शरि ८।३।३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते।

....

श्रीधरमुखोल्लासिनी

आपने अभी तक **संज्ञाप्रकरण, अच्सन्धि, हल्सन्धिप्रकरणों** को जान लिया है। अब आइये **विसर्ग** से सम्बन्धित सन्धि का ज्ञान करते हैं। सामान्यतया **विसर्ग** वह है जो अक्षरों के बाद दो बिन्दु के रूप में (:) लगता है। विसर्ग की उत्पत्ति रेफ से होती है। विसर्ग बनने वाला रेफ प्रायः स् से बनता है। इस प्रकार से स् जो है वह र् बनता है और र् विसर्ग (:) बनता है। अब हमें यह अध्ययन करना है कि कैसी स्थिति में स् से र् और र् से विसर्ग बनता है?

१०३- विसर्जनीयस्य सः। विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से एकदेश **खरि** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे होने पर विसर्जनीय विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।

यह सूत्र हल्सन्धि में भी पढ़ा गया और यहाँ भी पढ़ा गया है। यद्यपि यह सूत्र विसर्ग को सकार करता है, अतः यहीं पढ़ना ठीक था, फिर भी प्रसंगवश वहाँ भी पढ़ा गया।

खर् प्रत्याहार में वर्ग के **प्रथम** और द्वितीय अक्षर तथा **श्, ष्, स्,** ये वर्ण आते हैं। इनके परे होने पर **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हो जाता है। इनमें भी **क** और **ख** के परे होने पर वैकल्पिक **जिह्वामूलीय** तथा **प** और **फ** के परे होने पर वैकल्पिक **उपध्मानीय** होता है। **च** और **छ** के परे होने पर इसके द्वारा किये गये **सकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** आदेश हो जाता है तथा **ट** और **ठ** के परे होने पर **ष्टुना ष्टुः** से **षकार** होता है। **त** और **थ** के परे होने पर **सकार** ही रहता है।

विष्णुस्त्राता। विष्णु रक्षक हैं। विष्णुः+त्राता में त्राता के तकार को **खर्** परे मानकर **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हो गया- **विष्णुस्त्राता** बना।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०५. स-सजुषो रुः ८।२।६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

उत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०६. अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

....

१०४- **वा शरि।** वा अव्ययपदं, शरि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में शर्परे विसर्जनीयः से विसर्जनीयः की तथा **विसर्जनीयस्य सः** से विसर्जनीयस्य की अनुवृत्ति आती है।

शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग आदेश होता है।

शर् प्रत्याहार **खर्** प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। **शर्** के परे होने पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से **सकार** आदेश प्राप्त था। एक पक्ष में **विसर्ग** और एक पक्ष **सकार** करने के लिए **अपवाद** के रूप में इस वैकल्पिक सूत्र का आरम्भ है। तात्पर्य यह हुआ कि **खर्** में से श, ष, स के परे होने पर एक पक्ष में **विसर्ग** और एक पक्ष में **सकार** तथा शेष **खर्** के परे होने पर नित्य से **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** ही रहता है।

हरिः शेते, हरिश्शेते। हरि शयन करते हैं। **हरिः+शेते** में विसर्ग के स्थान पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से **सकार** आदेश प्राप्त था। **शेते** का **शकार** शर् है, उसके परे होने पर उक्त सूत्र को बाधकर के **वा शरि** से एक पक्ष में **विसर्ग** ही आदेश हुआ, **हरिः शेते** ही रहा। यह वैकल्पिक है, अतः न होने के पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** से **सकार** आदेश हुआ- **हरिस्+शेते** बना। **शकार** के योग में **सकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** आदेश होकर वर्णसम्मेलन होने पर **हरिश्शेते** सिद्ध हुआ। इस तरह दो रूप बने।

१०५- **ससजुषो रुः।** सश्च सजूश्च ससजुषौ, तयोः ससजुषोः, इतरेतरद्वन्द्वः। **ससजुषोः** षष्ठ्यन्तं, रुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** का अधिकार है।

पदान्त सकार तथा सजुष् शब्द के षकार के स्थान पर रु आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य के बल पर पद के अन्त्य में विद्यमान दन्त्य **सकार** के स्थान पर और सजुष् शब्द में जो **मूर्धन्य षकार** है उसके स्थान पर रु आदेश का विधान करता है। सजुष् शब्द में दन्त्य **सकार** न होने से **रुत्व** प्राप्त नहीं हो रहा था, इसलिये इस सूत्र में सजुष्शब्द का अलग से कथन करना पड़ा। इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को रुत्व कहा जाता है। **रु** (र्+उ=रु) में उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल र् ही बचता है।

विसर्ग से सम्बन्धित चार सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। जैसे- **ससजुषो रुः** से सकार के स्थान पर **रुत्व** कर दिए जाने के बाद **विरामोऽवसानम्** से **अवसानसंज्ञा** होकर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** हो जाता है। उसके बाद **विसर्जनीयस्य सः** से **विसर्ग** के स्थान पर **सकारादेश** होता है। **सकारादेश** होने के पहले **विसर्ग** होना जरूरी है और **विसर्ग** होने के पहले **सकार** के स्थान पर **रुत्व** होना जरूरी है।

१०६- **अतो रोरप्लुतादप्लुते।** न प्लुतः अप्लुतः, तस्मात् अप्लुतात्, तस्मिन् अप्लुते। अतः

उत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०७. हशि च ६।१।११४॥

तथा। शिवो वन्द्यः।

....

पञ्चम्यन्तं, रोः षष्ठ्यन्तम्, अप्लुतात् पञ्चम्यन्तम्, अप्लुते सप्तम्यन्तम् अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में एङः पदान्तादति से अति की अनुवृत्ति आती है।

प्लुत-भिन्न ह्रस्व अकार से परे रु सम्बन्धी रेफ को उकार आदेश होता है प्लुत-भिन्न ह्रस्व अकार के परे रहते।

सूत्र का कार्य रु में से शेष बचे रेफ के स्थान पर उ आदेश करना है किन्तु उस रेफ से पूर्व भी अप्लुत ह्रस्व अकार हो और परे भी अप्लुत ह्रस्व अकार हो तो। दोनों तरफ अप्लुत ह्रस्व अकार और बीच् में रु का रेफ हो तो उस के स्थान पर उकारादेश हो जायेगा।

यहाँ पर सपादसप्ताध्यायी अतो रोरप्लुतादप्लुते की दृष्टि में त्रिपादी ससजुषो रुः यह पूर्वत्रासिद्धम् के नियम से असिद्ध नहीं होता क्योंकि यदि रुत्व असिद्ध हो तो उत्व का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। कारण यह है कि जब भी उत्व होगा तो रु के स्थान पर ही होगा। यदि रु ही असिद्ध हो जाय तो यह किसको उत्व करेगा?

शिवोऽर्च्यः। शिव पूज्य हैं। शिवस्+अर्च्यः इस स्थिति में अन्त्य दन्त्य सकार के स्थान पर ससजुषो रुः से रु आदेश होने पर शिवरु अर्च्यः बना। रु के उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा और तस्य लोपः से लोप हुआ- शिव र् अर्च्यः बना। अव अतो रोरप्लुतादप्लुते इस सूत्र से उस रेफ के स्थान उकार आदेश हुआ क्योंकि ह्रस्व अकार है शिव में वकारोत्तरवर्ती अकार और उससे परे रेफ है रु से बचा र् तथा रेफ से भी ह्रस्व अकार परे है अर्च्यः वाला अकार। इस तरह इस सूत्र से उत्व होने पर- शिव+उ+अर्च्यः बना। शिव+उ में आद्गुणः से गुण होकर शिवो+अर्च्यः बना। शिवो+अर्च्यः में एचोऽयवायावः से अव् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर एङः पदान्तादति से पूर्वरूप हुआ तो ओकार और अकार मिलकर पूर्वरूप ओ ही बन गये। शिवो+र्च्यः बना। अकार के स्थान पर संकेताक्षर ऽ (खण्डकार) यह चिह्न आकर के बैठ जाने पर शिवोऽर्च्यः रूप वन गया।

१०७- हशि च। हशि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। अतो रोरप्लुतादप्लुते से अतो रोरप्लुतात् की अनुवृत्ति आती है।

अप्लुत ह्रस्व अकार से परे रु वाले र् के स्थान पर उकारादेश होता है हश् प्रत्याहार परे हो तो।

इस सूत्र का काम भी उत्व करना ही है किन्तु अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र ह्रस्व अकार के परे रहने पर लगता है और हशि च यह सूत्र हश् प्रत्याहार के परे रहने पर लगता है। इन दोनों सूत्रों में इतना ही अन्तर है, बाँकी सब में समानता है। अतः ये दोनों सूत्र समानान्तर सूत्र हैं।

शिवो वन्द्यः। शिव वन्दनीय हैं। शिवस्+वन्द्यः में सकार के स्थान पर रुत्व हो जाने पर शिवर्+वन्द्यः बना। वन्द्यः में जो वकार है, वह हल्वर्ण है। अतः ह्रस्व अकार परे

यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०८. भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह, देवायिह।
भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते-

....

न होने के कारण **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से उत्व नहीं हो सका तो **हशि च** की जरूरत पड़ी। इस सूत्र ने वकार रूपी हश् के परे रहने पर रेफ के स्थान पर **उकार** आदेश कर दिए जाने के कारण शिव+उ+वन्द्यः बना। शिव+उ में **आद्गुणः** से **गुण** होने पर रूप सिद्ध हुआ- शिवो वन्द्यः।

१०८- **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि।** भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, भोभगोअघोआः। भोभगोअघोआः पूर्वे यस्मात् स भोभगोअघोअपूर्वः, तस्य भोभगोअघोअपूर्वस्य। रोः सुपि से रोः की अनुवृत्ति आती है।

अश् के परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रु के स्थान पर यकार आदेश होता है।

भोस्, भगोस् और **अघोस्** ये सकारान्त निपात हैं। चादिगण में पाठ होने के कारण इनकी **चादयोऽसत्त्वे** से **निपातसंज्ञा** और **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययसंज्ञा** भी हो जाती है। इनमें **भोस्** का प्रयोग सामान्य सम्बोधन में, **भगोस्** का प्रयोग भगवान् के सम्बोधन में और **अघोस्** का प्रयोग पापी के सम्बोधन में देखा गया है। इनके अन्त्य में विद्यमान **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से रु आदेश होने पर यह सूत्र लगता है। अश् परे होने रु के रेफ के स्थान पर ही यकार आदेश होता है।

देवा इह, देवायिह। हे देवों! यहाँ(आइये)। देवास्+इह में **ससजुषो रुः** से सकार के स्थान पर रु आदेश, अनुबन्धलोप करके देवार्+इह बना। **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से अवर्णपूर्वक रेफ के स्थान पर **यकार** आदेश हुआ- देवाय्+इह बना। इह के **इकार** को **अश्** परे मानकर **लोपः शाकल्यस्य** से **यकार** का वैकल्पिक लोप हुआ- **देवा इह** बना। **लोपः शाकल्यस्य** यह सूत्र **त्रिपादी** है, अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** से किया गया आकार का लोप **आद्गुणः** की दृष्टि में **असिद्ध** हुआ। फलतः **गुण** नहीं हुआ। इस तरह **देवा इह** एक रूप सिद्ध हुआ। **लोपः शाकल्यस्य** से यकार का लोप न होने के पक्ष में य् जाकर इह के इकार से मिला तो **देवायिह** बन गया। यह **अवर्णपूर्व** का उदाहरण है, शेष उदाहरण आगे बताये जा रहे हैं।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि इस सूत्र में **भोस्+भगोस्, भगोस्+अघोस्, अघोस्+अपूर्वस्य** इन जगहों पर सकार को रुत्व होकर इसी सूत्र से यकारादेश होने पर उसका **हलि सर्वेषाम्** से लोप होकर **भो+भगो, भगो+अघो, अघो+अपूर्वस्य** बना। उसमें प्रथम रूप को छोड़कर शेष दो प्रयोगों में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश प्राप्त होता है किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** से त्रिपादी **हलि सर्वेषाम्** को असिद्ध कर दिये जाने के कारण **यकार** का लोप **एचोऽयवायावः** की दृष्टि में **असिद्ध** हुआ अर्थात् उसने बीच में **यकार** ही देखा। फलतः **अव्** आदेश नहीं हुआ। **भोभगोअघोअपूर्वस्य** ही रह गया।

यलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१०९. हलि सर्वेषाम् ८।३।२२॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि।
भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

रेफादेशविधायकं विधिसूत्रम्

११०. रोऽसुपि ८।२।६९॥

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

....

१०९- हलि सर्वेषाम्। हलि सप्तम्यन्तं, सर्वेषाम् षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **भोभगोअघोअपूर्वस्य** तथा **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से **व्योः** में से केवल यकार का वचनविपरिणाम करके **यस्य** एवं **लोपः शाकल्यस्य** से **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

हल् परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है।

यह सूत्र त्रिपादी है, अतः इसके द्वारा **यकार** का लोप होने पर **आद्गुणः** आदि सपादसप्ताध्यायी सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध ही रहता है।

भो देवाः। हे देवताओं! **भोस्+देवाः** में **भोस्** के सकार को **ससजुषो रुः** से रुत्व, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से रेफ के स्थान पर **यकार** आदेश करके **भोय्+देवाः** बना। **यकार** का **हलि सर्वेषाम्** से **लोप** होकर **भो देवाः** बन गया।

भगो नमस्ते। हे भगवन्! आपको नमस्कार है। **भगोस्+नमस्ते** में **भगोस्** के सकार को **ससजुषो रुः** से रुत्व, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **रेफ** के स्थान पर **यकार** आदेश करके **भगोय्+नमस्ते** बना। यकार का **हलि सर्वेषाम्** से लोप होकर **भगो नमस्ते** बन गया।

अघो याहि। हे पापी! चले जाओ। **अघोस्+याहि** में **अघोस्** के **सकार** को **ससजुषो रुः** से **रुत्व**, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **रेफ** के स्थान पर यकार आदेश करके **अघोय्+याहि** बना। **यकार** का **हलि सर्वेषाम्** से लोप हो गया, **अघो याहि** बन गया।

अभ्यासः

१. रु आदेश, उत्व, यत्व एवं यलोप करने वालों सूत्रों पर दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखें

२. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
हरिस्तिष्ठति। कृष्णस्तत्र। अतोऽत्र। भो देवदत्त। पण्डिता भाग्यवन्तः। अश्वा धावन्ति। नरो हन्ति। बाला आगच्छन्ति। कृतोऽत्र। पुनर्हसति।

३. रुत्व और उत्व में कौन किस के प्रति क्यों असिद्ध है? स्पष्ट करें।

११०- रोऽसुपि। रः प्रथमान्तम्, असुपि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अहन्** से **अहन्** की षष्ठीविभक्ति में विपरिणाम करके अनुवृत्ति आती है।

रेफलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१११. रो रि ८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

११२. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः।

पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्? तृढः। वृढः।

मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्वे रो रीति लोपे च प्राप्ते-

....

अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है, किन्तु सुप् परे होने पर नहीं।

अलोऽन्त्यस्य-परिभाषा के बल पर अहन् के अन्त्य वर्ण के स्थान पर रेफ आदेश होगा किन्तु उस रेफ से परे सुप् विभक्ति नहीं होनी चाहिए। यह सूत्र अहन् के नकार के स्थान पर रु आदेश करने वाले अहन् इस सूत्र का बाधक है।

अहरहः। प्रतिदिन। अहन्+अहन् में नित्यवीप्सयोः से अहन् को द्वित्व हुआ है और सु विभक्ति का स्वमोर्नपुंसकात् से लुक् हुआ है। रोऽसुपि से दोनों नकारों के स्थान पर रेफ आदेश हुआ तो अहर्+अहर् बना। प्रथम का रेफ द्वितीय अहन् के साथ मिला, अहरहर् बना। द्वितीय रेफ का अवसान परे होने के कारण खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग आदेश होकर अहरहः सिद्ध हुआ।

अहर्गणः। दिनों का समूहः। अहन्+गणः में रोऽसुपि से अहन् के नकार के स्थान पर रेफ आदेश हुआ। अहर्+गणः बना। रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ, अहर्गणः सिद्ध हुआ। यहाँ पर अवसान भी नहीं है और खर् परे भी नहीं है। अतः रेफ का विसर्ग नहीं हुआ।

१११- रो रि। रः षष्ठ्यन्तं, रि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। ढो ढे लोपः से लोपः की अनुवृत्ति आती है।

रेफ के परे होने पर पूर्व रेफ का लोप होता है।

फलतः दो रेफ एक साथ कहीं भी नहीं मिलेंगे क्योंकि दूसरे रेफ के परे होने पर प्रथम रेफ का इस सूत्र से लोप हो जाता है।

११२- ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। ढ् च, र् च ढ्रौ, इतरेतरद्वन्द्वः। ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, तस्मिन् ढ्रलोपे। ढ्रलोपे सप्तम्यन्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तं, दीर्घः प्रथमान्तम्, अणः षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

ढकार और रेफ के लोप होने में निमित्त भूत वर्ण रेफ और ढकार के परे होने पर पूर्व के अण् को दीर्घ होता है।

व्याकरणशास्त्र में दूसरे ढकार के परे होने पर पूर्व ढकार का लोप ढो ढे लोपः करता है और दूसरे रेफ के परे होने पर पहले रेफ का लोप तो रो रि करता ही है। इस तरह ढकार और रेफ के लोप होने में निमित्त बने रेफ और ढकार ही हैं।

परिभाषासूत्रम्

११३. विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्।

इति लोपे प्राप्ते पूर्वत्रासिद्धमिति रोरीत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

....

उनके परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् प्रत्याहार अर्थात् अ, इ, उ को दीर्घ कर देना इस सूत्र का कार्य है।

पुना रमते। पुन: रमण करता है। पुनर्+रमते में पूर्व रेफ का रमते के रेफ के परे रो रि से लोप हुआ। यहाँ पर एक रेफ के लोप में दूसरा रेफ निमित्त बना। यदि दूसरा रेफ न होता तो प्रथम रेफ के लोप की प्राप्ति ही नहीं होती। अत: दूसरा रेफ लोप का निमित्तक है। लोप होने पर पुन+रमते बना। द्वितीय रेफ के परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् पुन के अकार को ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: से दीर्घ होने पर पुना रमते सिद्ध हुआ।

हरी रम्य:। हरि सुन्दर हैं। हरिस्+रम्य: में सकार के स्थान पर ससजुषो: रु: से रुत्व होकर हरिर्+रम्य: बना। पूर्व रेफ का रम्य: के रेफ के परे रो रि से लोप हुआ। यहाँ पर भी एक रेफ के लोप में दूसरा रेफ निमित्त बना। यदि दूसरा रेफ न होता तो प्रथम रेफ के लोप की प्राप्ति ही नहीं होती। अत: दूसरा रेफ लोप का निमित्तक है। लोप होने पर हरि+रम्य: बना। द्वितीय रेफ के परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् हरि के इकार को ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: से दीर्घ होने पर हरी रम्य: सिद्ध हुआ।

शम्भू राजते। शिव जी शोभित होते हैं। शम्भुस्+राजते में सकार के स्थान पर ससजुषो: रु: से रुत्व होकर शम्भुर्+राजते बना। पूर्व रेफ का राजते के रेफ के परे रो रि से लोप हुआ। हरि+रम्य: बना। द्वितीय रेफ के परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् शम्भु के उकार को ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: से दीर्घ होने पर शम्भू राजते सिद्ध हुआ।

अण: किम्? तृढ:। वृढ:। अब प्रश्न करते हैं कि ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: इस सूत्र में अण: पढ़ने की क्या जरूरत है? ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत ढकार और रेफ के परे होने पर पूर्व को दीर्घ हो, इतने मात्र अर्थ से पुना रमते आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते। उत्तर दिया- यदि अण: न पढ़ते तो तृढ:, वृढ: इन प्रयोगों में दोष आता अर्थात् यहाँ पर दीर्घ होने लगता। क्योंकि जब अण: नहीं पढ़ा जायेगा तो सूत्र अण् हो या अण् से भिन्न कोई भी अच् हो, उसको दीर्घ करने लगेगा। फलत: तृह्, वृह् धातु से क्त प्रत्यय, अनुवन्धलोप, तकार को धत्व, हकार को ढत्व, धकार को टुत्व आदि करके तृढ्+ढ:, वृढ्+ढ: बन जाने पर ढो ढे लोप: से लोप होने पर तृ+ढ:, वृ+ढ: बना हुआ है। यहाँ पर ढकार के लोप होने में निमित्तक ढकार परे है। अत: पूर्व ऋकार को दीर्घ होने लगता जिसके कारण तॄढ:, वॄढ: ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। उक्त अनिष्ट सिद्धि के निवारणार्थ इस सूत्र में अण: पढ़ा गया। अण् में ऋकार नहीं आता, अत: ऋकार को दीर्घ नहीं हुआ। यदि अण: यह पद न पढ़ते तो दीर्घ हो जाता।

११३- विप्रतिषेधे परं कार्यम्। विप्रतिषेधे सप्तम्यन्तं, परं प्रथमान्तं, कार्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

तुल्यबल वाले सूत्रों में विरोध होने पर परकार्य होता है।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

११४. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२॥

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्? असः शिवः। हलि किम्? एषोऽत्र।

....

अष्टाध्यायी के क्रम से जो सूत्र पर अर्थात् बाद का हो उसे **परसूत्र** एवं उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य को **परकार्य** कहते हैं। **अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः**। पृथक्-पृथक् स्थानों पर कार्य कर चुके सूत्र यदि कहीं एक साथ लगने के लिए प्रवृत्त हो जायें तो वह **तुल्यबलविरोध** कहाता है। यह सूत्र यह निर्णय देता है कि **तुल्यबलविरोध** होने पर **परकार्य** अर्थात् अष्टाध्यायी के क्रम में जो सूत्र पर हो, उस सूत्र के द्वारा किया जाने वाला कार्य हो जाना चाहिए। आगे **मनर्+रथः** में **हशि च** से रेफ के स्थान पर **उत्व** और **रो रि** से रेफ का लोप एकसाथ दोनों प्राप्त हुए। यही तुल्यबलविरोध हुआ। अतः इस सूत्र ने निर्णय दिया कि तुल्यबलविरोध होने पर **परकार्य** हो। अष्टाध्यायी के क्रम में परसूत्र **रो रि** ८।३।१४ परसूत्र है। यह आठवें अध्याय के तृतीय पाद का चौदहवाँ सूत्र है और **हशि च** ६।१।१३४॥ पूर्वसूत्र है, क्योंकि यह छठे अध्याय के प्रथम पाद का एक सौ चौतीसवाँ सूत्र है। इस तरह इस परिभाषा सूत्र के नियमानुसार **रो रि** से रेफ का लोप होना चाहिए था किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियमानुसार **सपादसप्ताध्यायी** की दृष्टि में **त्रिपादी** सूत्र असिद्ध होते हैं। **रो रि** त्रिपादी है और **हशि च** सपादसप्ताध्यायी। त्रिपादी और सपादसप्ताध्यायी सूत्र एकत्र एक साथ लगने के लिए जहाँ पर प्रवृत्त होते हैं वहाँ **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से त्रिपादी असिद्ध होकर वापस चला जाता है। अतः **मनर्+रथः** में **रो रि** असिद्ध होकर **हशि** च से ही उत्व हो जायेगा। तात्पर्य यह हुआ कि **सपादसप्ताध्यायियों** में तुल्यबलविरोध होने पर परकार्य होता है अर्थात् **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** का नियम **सपादसप्ताध्यायियों** में ही फलित होता है, **सपादसप्ताध्यायी** एवं **त्रिपादियों** के बीच में नहीं।

मनोरथः। मन की इच्छा, अभिलाषा। **मनस्+रथः** में **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से रु आदेश होकर अनुबन्धलोप होने पर **मनर्+रथः** बना। अब **रो रि** से रेफ का लोप भी प्राप्त हुआ और **हशि च** से उत्व भी एक साथ प्राप्त हुआ। **तुल्यबलविरोध** हुआ तो **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से परकार्य होने का नियम कर दिया। इस नियम के अनुसार परसूत्र **रो रि** से रेफ का लोप होना था किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियमानुसार यह सूत्र **रो रि** के समक्ष असिद्ध हुआ। अतः **हशि च** से ही उत्व हुआ। रेफ के स्थान पर उकार आदेश होने पर **मन+उ+रथः** बना। **मन+उ** में **आद्गुणः** से गुण होकर **मनोरथः** सिद्ध हुआ।

११४- एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि। एतच्च तच्च- एतत्तदौ, तयोः- एतत्तदोः इतरेतरद्वन्द्वः। सोर्लोपः- सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। न नञ्समासः- अनञ्समासः, तस्मिन् अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ अकौ, तयोः- अकोः, बहुव्रीहिः। एतत्तदोः षष्ठ्यन्तं, सुलोपः प्रथमान्तम्, अकोः षष्ठ्यन्तम्, अनञ्समासे सप्तम्यन्तं, हलि सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

हल् के परे होने पर एतद् और तद् शब्द के बाद आने वाले सुप्रत्यय का लोप होता है किन्तु उन शब्दों में अकच् प्रत्यय न हुआ हो तो।

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः से एतत् और तद् शब्दों में अकच् होता है। विना अकच् के रूप एष कृष्णः, स श्याम और अकच् प्रत्यय वाला रूप एषकः कृष्णः, सकः श्यामः। सु का लोप हल् प्रत्याहार के परे रहने पर ही होगा। जैसे- कृष्ण का ककार हल्वर्ण परे है, श्याम का शकार हल्वर्ण है। यदि उस शब्द में नञ्समास हुआ हो तो भी नहीं होगा। जैसे- न सः= असः। इस तरह एतद् और तद् शब्द से अकच् प्रत्यय न हुआ हो, नञ्समास न हुआ हो और हल् परे हो तो एतद् और तद् शब्द से हुए प्रथमा एकवचन वाले सुप्रत्यय का लोप हो जाता है।

एष विष्णुः। ये विष्णु हैं। एष+सु+विष्णुः में सु यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। सु उसमें उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई और तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ तो उसमें केवल स् बचा। उस सकार का एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ स् से परे हल् भी है तथा नञ्समास भी नहीं है और अकच् प्रत्यय भी नहीं हुआ है। फलतः सु के सकार के लोप होने के बाद एष बचा। इस तरह एष विष्णुः बन गया।

स शम्भुः। वे शम्भु हैं। स+सु+शम्भुः में सु यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। सु उसमें उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई और तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ तो उसमें केवल स् बचा। उस सकार का एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ स् से परे हल् भी है तथा अकच् प्रत्यय और नञ्समास भी नहीं हैं। सु के सकार के लोप होने के बाद स बचा। इस तरह स शम्भुः बन गया।

इस तरह से अनञ्समास में हल् परे होने पर तद् और एतद् शब्दों की प्रथमा के एकवचन में सु के लोप होने के कारण कहीं भी विसर्ग नहीं रहता। स गच्छति, स पठति, एष चलति, एष हसति आदि।

अकोः किम्? एषको रुद्रः। सूत्र में यदि अकोः अर्थात् अकच् प्रत्यय के ककार से रहित एतद् और तद् शब्द ऐसा अर्थ न करते तो एषको रुद्रः में एषकस् के सु का लोप हो जाता और एषक रुद्रः ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अकोः कहने से अकच् प्रत्यय वाले एषक+स् में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा। एषक+स्+रुद्रः में सकार के स्थान पर ससजुषो रुः से रु हुआ और उसके स्थान पर हशि च से उत्व हुआ, एषक+उ+रुद्रः बना। एषक+उ में आद्गुणः से गुण हो गया- एषको रुद्रः सिद्ध हुआ।

अनञ्समासे किम्? असः शिवः। सूत्र में यदि अनञ्समासे न कहते तो अस+स्+शिवः में दोष आता क्योंकि तब सूत्र नञ्समास में भी लगता और अनञ्समास में भी लगता। असः में नञ्समास हुआ है। यहाँ पर भी सु का लोप होकर अस शिवः ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अनञ्समासे कहकर नञ्समास के लिए निषेध होने के कारण अस+स्+शिवः में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा, सु का लोप नहीं हुआ अपितु सु वाले सकार को रुत्व होकर विसर्ग हो गया- असः शिवः सिद्ध हुआ।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

११५. सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४॥ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४॥ स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

इति विसर्गसन्धिः।।४।।

....

हलि किम्? एषोऽत्र। सूत्र में यदि हलि न कहते तो एष+स्+अत्र में दोष आता क्योंकि तब सूत्र हल् परे होने पर भी लगता और अच् परे होने पर भी तथा कोई भी परे न हो तब भी लगता। एष+स्+अत्र में अच् परे है अत्र का अकार। यहाँ पर भी सु का लोप होकर एष+अत्र और सवर्णदीर्घ होकर एषात्र ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। हलि कहकर अच् परे होने पर निषेध होने के कारण एष+स्+अत्र में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा, सु का लोप नहीं हुआ अपितु सु वाले सकार को रुत्व होकर अतो रोरप्लुतादप्लुते से उत्व हो गया- एष+उ+अत्र बना। एष+उ में आद्गुणः से गुण होकर एषोऽत्र सिद्ध हुआ।

११५- सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्। पादस्य पूरणं पादपूरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। सः तद् इत्यस्य अनुकरणं षष्ठ्यर्थे प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, लोपे सप्तम्यन्तं, चेत् अव्ययपदं, पादपूरणं प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि से सुलोपः की अनुवृत्ति आती है और स्यश्छन्दसि बहुलम् से बहुलम् की अनुवृत्ति लाकर इस सूत्र में उसका अर्थ एव अर्थात् ही कियां जाता है।

यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् के परे होने पर तद् शब्द के सु का लोप हो जाय।

लौकिक श्लोक और वैदिक मन्त्रों में पाद, चरण होते हैं। लौकिक श्लोक में प्रायः चार चरण होते हैं और उनमें निश्चित संख्या में वर्ण हुआ करते हैं। एक अक्षर या एक मात्रा की भी न्यूनता या अधिकता होने पर छन्दोभंग हो जाता है। श्लोक को पद्य या छन्द भी कहते हैं। अनुष्टुप्, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्द होते हैं।

पाद अर्थात् श्लोक, वैदिक मन्त्र आदि का चरण। अच् परे होने पर इस सूत्र की आवश्यकता पड़ती है। हल् परे होने पर तो एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि से ही काम हो जाता है। यदि सु के लोप करने पर ही पादपूर्ति अर्थात् छन्दः ठीक बैठता हो तो सु का लोप हो, अन्यथा न हो।

सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। यह ऋग्वेद के जगतीच्छन्दः वाले मन्त्र का एक पाद है सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे। इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। स+स्+इमामविड्ढि में सु वाले स् का लोप होने पर बारह अक्षर बनते हैं और यदि लोप नहीं हुआ तो सकार को रुत्व, यत्व करके यकार का लोप करने पर स+इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे बनता है। त्रिपादी होने के कारण यकार का लोप असिद्ध होगा तो स+इमा में आद्गुणः से गुण भी नहीं हो सकेगा। अतः स इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे ऐसा वनेगा। अब पाद में बारह अक्षर होने चाहिए थे, तेरह अक्षर हो गये। इस तरह छन्दोभंग हुआ। यदि सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् से सकार का लोप करते हैं तो स+इमा में गुण

हल् के परे होने पर एतद् और तद् शब्द के बाद आने वाले सुप्रत्यय का लोप होता है किन्तु उन शब्दों में अकच् प्रत्यय न हुआ हो तो।

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः से एतत् और तद् शब्दों में अकच् होता है। बिना अकच् के रूप एष कृष्णः, स श्याम और अकच् प्रत्यय वाला रूप एषकः कृष्णः, सकः श्यामः। सु का लोप हल् प्रत्याहार के परे रहने पर ही होगा। जैसे- कृष्ण का ककार हल्वर्ण परे है, श्याम का शकार हल्वर्ण है। यदि उस शब्द में नञ्समास हुआ हो तो भी नहीं होगा। जैसे- न सः= असः। इस तरह एतद् और तद् शब्द से अकच् प्रत्यय न हुआ हो, नञ्समास न हुआ हो और हल् परे हो तो एतद् और तद् शब्द से हुए प्रथमा एकवचन वाले सुप्रत्यय का लोप हो जाता है।

एष विष्णुः। ये विष्णु हैं। एष+सु+विष्णुः में सु यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। सु उसमें उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई और तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ तो उसमें केवल स् बचा। उस सकार का एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ स् से परे हल् भी है तथा नञ्समास भी नहीं है और अकच् प्रत्यय भी नहीं हुआ है। फलतः सु के सकार के लोप होने के बाद एष बचा। इस तरह एष विष्णुः बन गया।

स शम्भुः। वे शम्भु हैं। स+सु+शम्भुः में सु यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। सु उसमें उकार की उपदेशेऽजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा हुई और तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ तो उसमें केवल स् बचा। उस सकार का एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ स् से परे हल् भी है तथा अकच् प्रत्यय और नञ्समास भी नहीं हैं। सु के सकार के लोप होने के बाद स बचा। इस तरह स शम्भुः बन गया।

इस तरह से अनञ्समास में हल् परे होने पर तद् और एतद् शब्दों की प्रथमा के एकवचन में सु के लोपे होने के कारण कहीं भी विसर्ग नहीं रहता। स गच्छति, स पठति, एष चलति, एष हसति आदि।

अकोः किम्? एषको रुद्रः। सूत्र में यदि अकोः अर्थात् अकच् प्रत्यय के ककार से रहित एतद् और तद् शब्द ऐसा अर्थ न करते तो एषको रुद्रः में एषकस् के सु का लोप हो जाता और एषक रुद्रः ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अकोः कहने से अकच् प्रत्यय वाले एषक+स् में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा। एषक+स्+रुद्रः में सकार के स्थान पर ससजुषो रुः से रु हुआ और उसके स्थान पर हशि च से उत्व हुआ, एषक+उ+रुद्रः बना। एषक+उ में आद्गुणः से गुण हो गया- एषको रुद्रः सिद्ध हुआ।

अनञ्समासे किम्? असः शिवः। सूत्र में यदि अनञ्समासे न कहते तो अस+स्+शिवः में दोष आता क्योंकि तब सूत्र नञ्समास में भी लगता और अनञ्समास में भी लगता। असः में नञ्समास हुआ है। यहाँ पर भी सु का लोप होकर अस शिवः ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अनञ्समासे कहकर नञ्समास के लिए निषेध होने के कारण अस+स्+शिवः में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा, सु का लोप नहीं हुआ अपितु सु वाले सकार को रुत्व होकर विसर्ग हो गया- असः शिवः सिद्ध हुआ।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

११५. सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४।।

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत।
सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

इति विसर्गसन्धिः।।४।।

....

हलि किम्? एषोऽत्र। सूत्र में यदि हलि न कहते तो एष+स्+अत्र में दोष आता क्योंकि तब सूत्र हल् परे होने पर भी लगता और अच् परे होने पर भी तथा कोई भी परे न हो तब भी लगता। एष+स्+अत्र में अच् परे है अत्र का अकार। यहाँ पर भी सु का लोप होकर एष+अत्र और सवर्णदीर्घ होकर एषात्र ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। हलि कहकर अच् परे होने पर निषेध होने के कारण एष+स्+अत्र में एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि नहीं लगा, सु का लोप नहीं हुआ अपितु सु वाले सकार को रुत्व होकर अतो रोरप्लुतादप्लुते से उत्व हो गया- एष+उ+अत्र बना। एष+उ में आद्गुणः से गुण होकर एषोऽत्र सिद्ध हुआ।

११५- सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्। पादस्य पूरणं पादपूरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। सः तद् इत्यस्य अनुकरणं षष्ठ्यर्थे प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, लोपे सप्तम्यन्तं, चेत् अव्ययपदं पादपूरणं प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि से सुलोपः की अनुवृत्ति आती है और स्यश्छन्दसि बहुलम् से बहुलम् की अनुवृत्ति लाकर इस सूत्र में उसका अर्थ एव अर्थात् ही कियां जाता है।

यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् के परे होने पर तद् शब्द के सु का लोप हो जाय।

लौकिक श्लोक और वैदिक मन्त्रों में पाद, चरण होते हैं। लौकिक श्लोक में प्रायः चार चरण होते हैं और उनमें निश्चित संख्या में वर्ण हुआ करते हैं। एक अक्षर या एक मात्रा की भी न्यूनता या अधिकता होने पर छन्दोभंग हो जाता है। श्लोक को पद्य या छन्द भी कहते हैं। अनुष्टुप्, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्द होते हैं।

पाद अर्थात् श्लोक, वैदिक मन्त्र आदि का चरण। अच् परे होने पर इस सूत्र की आवश्यकता पड़ती है। हल् परे होने पर तो एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि से ही काम हो जाता है। यदि सु के लोप करने पर ही पादपूर्ति अर्थात् छन्दः ठीक बैठता हो तो सु का लोप हो, अन्यथा न हो।

सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। यह ऋग्वेद के जगतीच्छन्दः वाले मन्त्र का एक पाद है **सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे।** इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। स+स्+इमामविड्ढि में सु वाले स् का लोप होने पर बारह अक्षर बनते हैं और यदि लोप नहीं हुआ तो सकार को रुत्व, यत्व करके यकार का लोप करने पर स+इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे बनता है। त्रिपादी होने के कारण यकार का लोप असिद्ध होगा तो स+इमा में आद्गुणः से गुण भी नहीं हो सकेगा। अतः स इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे ऐसा बनेगा। अब पाद में बारह अक्षर होने चाहिए थे, तेरह अक्षर हो गये। इस तरह छन्दोभंग हुआ। यदि सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् से सकार का लोप करते हैं तो स+इमा में गुण हो

जायेगा, क्योंकि यह सूत्र **सपादसप्ताध्यायी** का है। इसके द्वारा **सु** का लोप होने पर **आद्गुणः** की दृष्टि में **असिद्ध** नहीं होगा। **स+इ** में दो अक्षरों से एक ही अक्षर **से** बनेगा, जिससे पाद में बारह ही अक्षर रह जायेंगे। इस तरह पाद की पूर्ति होगी अर्थात् **छन्दः** ठीक से बैठेगा। अतः **सु** का लोप इस सूत्र से हो जाता है, फलतः **सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे** सिद्ध हो जाता है। यह वैदिक मन्त्र का उदाहरण है। लौकिक श्लोक के चरण का उदाहरण आगे देखिये।

सैष दाशरथी रामः। ये वे ही दशरथ-पुत्र राम हैं। यह **अनुष्टुप्-छन्दः** का एक **चरण** अर्थात् **पाद** है। इस छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। **स+स्+एष दाशरथी रामः** में **सु** वाले **स्** का लोप होने पर आठ अक्षर बनते हैं और यदि लोप नहीं हुआ तो **सकार** को **रुत्व**, **यत्व** करके **यकार** का लोप करने पर **स+एष दाशरथी रामः** बनता है। **त्रिपादी** होने के कारण **यकार** का लोप **असिद्ध** होगा तो **स+एष** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि भी नहीं हो सकेगी। अतः **स एष दाशरथी रामः** ऐसा बनेगा। अब पाद में **आठ** अक्षर होने चाहिए थे, **नौ** अक्षर हो गये। **छन्दोभंग** हुआ। यदि इस सूत्र से **सकार** का लोप करते हैं तो **स+एष** में वृद्धि हो जायेगी, क्योंकि यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी का है। **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** के द्वारा **सु** का लोप होने पर **वृद्धिरेचि** की दृष्टि में असिद्ध नहीं होगा। **स+ए** में दो अक्षरों से एक ही अक्षर **सै** बनेगा, जिससे पाद में **आठ** ही अक्षर रह जायेंगे। पाद की पूर्ति होगी अर्थात् छन्दः ठीक से बैठेगा। अतः **सु** का लोप इस सूत्र से हो जाता है। फलतः **सैष दाशरथी रामः** सिद्ध हो जाता है।

सैष दाशरथी रामः यह लौकिक उदाहरण है। इससे सम्बन्धित एक श्लोक प्रसिद्ध है, जिसमें चारों पादों में इस सूत्र के उदाहरण मिलते हैं-

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः॥

(ये वे भगवान् दशरथपुत्र श्रीराम हैं, ये वे राजा युधिष्ठिर हैं, ये वे महादानी कर्ण हैं और ये वे ही महाबली भीम हैं।)

जहाँ लोप करके नहीं अपितु अन्य किसी कारण से पादपूर्ति हो जाती है वहाँ तो **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से सु का लोप नहीं होता है। जैसे **सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्** भी **अनुष्टुप् छन्दः** का **चरण** है। यहाँ पर **सु** का लोप करते हैं तो **स+अ=सा**, **साहमाजन्मशुद्धानाम्** बन जाता है। ऐसा बनने पर भी **छन्दोभंग** तो नहीं हो रहा है किन्तु **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से सु का लोप न करने पर भी **स्** को रुत्व करके **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से **उत्व** और **स+उ** में गुण करके **सो+अहम्** में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप करने पर भी पादपूर्ति होती है, **सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्** बनता है। **एक चरण** में **आठ** अक्षर होने चाहिए, आठ ही अक्षर बनते हैं और **छन्दोभंग** भी नहीं होता है। अतः अन्य कारणों से **पादपूर्ति** हो रही है, इसलिए **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से **सु** का लोप नहीं होगा।

परीक्षा

सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ। इसके बाद भी आप वैसे ही करें जैसे **संज्ञाप्रकरण**, **अच्सन्धि** और **हल्सन्धि** के अन्त में निर्देश दिया गया है। अब परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए आपको कम से कम ४० अंक प्राप्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक प्रश्न पाँच-पाँच अंक के हैं।

१- व्याकरण के तीन मुनि कौन कौन हैं?
२- अभी तक आपने जितने सूत्र पढ़े उनमें किसी प्रत्याहार को लेकर कार्य करने वाले सूत्र कौन कौन से हैं?
३- यदि प्रत्याहार न बनते तो **'इको यणचि'** इस सूत्र के स्थान पर क्या और कैसा बनाना पड़ता? कल्पना कीजिए।
४- अच्सन्धि के कोई पाँच प्रयोग सिद्ध करें।
५- हल्सन्धि के भी पाँच प्रयोग सिद्ध करें।
६- विसर्गसन्धि के भी कोई पाँच प्रयोग सिद्ध करें।
७- सवर्णसंज्ञा के विषय वमें आप क्या जानते हैं? समझाइये।
८- हल्सन्धि, अच्सन्धि और विसर्गसन्धि की तुलना कीजिए।
९- स्थान और प्रयत्न से आप क्या समझते हैं?
१०- अब तक की प्रगति के आधार पर आप लघुसिद्धान्तकौमुदी को आगे कितने महीने में पूर्ण करेंगे?

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का विसर्गसन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ षड्लिङ्गेषु अजन्तपुँल्लिङ्गाः

प्रातिपदिकसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

११६. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५॥

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वार्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब षड्लिङ्गों के अन्तर्गत आने वाले शब्दों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। अभी तक आपने सन्धि का ज्ञान कर लिया है। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में सन्धि पाँच प्रकार की मानी गई है- १- अच्सन्धिः, २- प्रकृतिभावसन्धिः, ३- हल्सन्धिः, ४- स्वादिसन्धि और, ५- विसर्गसन्धि, किन्तु **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में अच्सन्धि, हल्सन्धि और विसर्गसन्धि में सभी सन्धियों को अन्तर्भूत किया गया है।

संस्कृत भाषा में सन्धिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। तदनन्तर शब्दज्ञान अर्थात् पदज्ञान की आवश्यकता होती है। शब्द या पद भी तीन प्रकार के माने गये हैं- १- सुबन्त, २- तिङन्त और ३- अव्यय। अव्यय शब्दों का वर्णन अव्यय-प्रकरण में तथा तिङन्त शब्दों का वर्णन भ्वादि से लकारार्थ-प्रक्रिया तक करेंगे। यहाँ सुबन्त शब्दों का विवेचन कर रहे हैं। सुबन्त शब्दों में **अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण** प्रथम है, क्योंकि माहेश्वरसूत्रों में अच् वर्ण पहले आते हैं।

सुप् ये २१ प्रत्यय हैं जो इसी प्रकरण में बताये जा रहे हैं। जैसे- सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप्,। सु, औ के सु से लेकर अन्तिम प्रत्यय सुप् के पकार को लेकर सुप् प्रत्याहार माना गया है। सुप् प्रत्यहार में ये सारे के सारे इक्कीसों प्रत्यय आ गये। सुप् प्रत्याहार के प्रत्यय जिस शब्द के अन्त में लगे हों उस शब्द और प्रत्यय के समूह को सुबन्त कहते हैं। सुबन्त होने के बाद **"सुप्तिङन्तं पदम्"** से पदसंज्ञा हो जाती है। पदसंज्ञा होने के बाद वह पदसंज्ञा वाला अर्थात् **'पद'** कहलायेगा। व्यवहार में पद का प्रयोग होता है। जब-तक कोई शब्द पद नहीं होता तब-तक उसको भाषा के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकरण में प्रत्यय का प्रयोग हो रहा है। प्रत्ययों का विधान सूत्र करते हैं। जिस शब्द से प्रत्यय होगा, वह शब्द प्रकृति है। प्रकृति से ही प्रत्यय होते हैं और प्रत्यय यदि है तो प्रकृति भी अवश्य है। इसलिए इस प्रकरण को पढ़ते समय **प्रकृति-प्रत्यय** क्या-क्या हैं? इसका ध्यान जरूर रखना।

सुबन्त अर्थात् जिनके में अन्त सुप् प्रत्यय लगते हैं ऐसे शब्द प्रथमतः दो प्रकार के हैं- अजन्त और हलन्त। जिन शब्दों के अन्त में अच् प्रत्याहार वाले वर्ण हों ऐसे शब्द अजन्त और जिन शब्दों के अन्त में हल् वर्ण लगे हों ऐसे शब्द हलन्त हैं। पुनः अजन्त और हलन्त दोनों ही शब्द पुँलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग करके तीनों ही लिङ्ग में हैं। इस प्रकार से इन शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया गया-

१- अजन्तपुँलिङ्ग २-अजन्तस्त्रीलिङ्ग ३- अजन्तनपुंसकलिङ्ग
४- हलन्तपुँल्लिङ्ग ५- हलन्तस्त्रीलिङ्ग, ६- हलन्तनपुंसकलिङ्ग

इस प्रकार से इन के छ भेद हो गये। अतः कहीं-कहीं इनके लिए षड्लिङ्ग शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम अजन्तपुल्लिङ्ग के शब्दों का प्रदर्शन कर रहे हैं।

११६-अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत्।, मतुप्-प्रत्ययः। न धातुः- अधातुः, न प्रत्ययः- अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषः। अर्थवत् प्रथमान्तम्, अधातुः प्रथमान्तम्, अप्रत्ययः प्रथमान्तं, प्रातिपदिकं प्रथमान्तम् अनेकपदमिदं सूत्रम्।

धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्द स्वरूप प्रातिपदिकसंज्ञक होता है।

प्रातिपदिकसंज्ञा के लिए **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** और **कृत्तद्धितसमासाश्च** ये दो ही सूत्र हैं। प्रातिपदिकसंज्ञा इसलिए जरूरी है कि जो आगे प्रत्यय बताये जा रहे हैं जैसे सुप् (सु, औ, जस्) आदि ये प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से होते हैं। प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं होगी तो सुप् आदि प्रत्यय भी नहीं होंगे।

शब्दों को पुनः दो भागों में रखा गया है- १- **व्युत्पन्न** अर्थात् **यौगिक** और २- **अव्युत्पन्न** अर्थात् **रूढ**। व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न के विषय में सरलतया सामान्य रूप में समझने के लिए अभी केवल इतना ही जानें कि जिस शब्द के धातु, प्रकृति एवं प्रत्यय के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हुए भी समुदाय में एक ही अर्थ बनता है उसे **व्युत्पन्न** शब्द कहते हैं और जिस शब्द में धातु, प्रकृति, प्रत्यय की कल्पना किये विना एवं उनके अर्थ विशेष की अपेक्षा के विना केवल सामान्य अर्थ मात्र समझा जाता है उन्हें **अव्युत्पन्न** कहते हैं। जैसे **रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः** अर्थात् जिस ब्रह्म में योगिजन रमण करते हैं वह राम है, ऐसा अर्थ वाला रामशब्द **रमु क्रीडायाम्** धातु से घञ् प्रत्यय= (अ) होकर बना है, जिसमें प्रकृति और प्रत्यय दोनों के विशेष अर्थ एक हो जाते हैं, इसलिए यह शब्द व्युपन्न है।

जब रामशब्द का प्रयोग सामान्य व्यक्ति के लिए किया जाता है तब वहाँ न धातु का अर्थ घटित होता है और न प्रत्यय का । अतः ऐसा राम शब्द अव्युत्पन्न है। अव्युत्पन्न शब्द की **प्रातिपदिकसंज्ञा अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से होगी और व्युत्पन्न पक्ष के शब्द की **प्रातिपदिकसंज्ञा** अगले सूत्र **"कृत्तद्धितसमासाश्च"** से होगी। आइये अब इस सूत्र के अर्थ पर विचार करते हैं-

उस शब्द की **प्रातिपदिकसंज्ञा** हो जिसका एक सामान्य कोई अर्थ हो किन्तु वह धातु, प्रत्यय या प्रत्ययान्त के रूप में न जाना जाता हो। इस प्रकार से धातुभिन्न, प्रत्ययभिन्न और प्रत्ययान्तभिन्न किन्तु अर्थ वाले शब्द की **प्रातिपदिकसंज्ञा** होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस शब्द का धातु और प्रत्यय के हिसाब से कोई विभाजन न हो किन्तु उसका अर्थ शास्त्र एवं लोक में प्रसिद्ध हो, ऐसे शब्द की **प्रातिपदिकसंज्ञा** होती है।

प्रातिपदिकसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

११७. कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

स्वादिप्रत्ययविधायकं विधिसूत्रम्

११८. स्वौ-जसमौट्-छष्टाभ्याम्-भिस्-ङे-भ्याम्-भ्यस्-ङसि-भ्याम्-भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्-सुप् ४।१।२॥

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया।
टा भ्याम् भिस् इति तृतीया। ङे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी।
ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी। ङस् ओस् आम् इति षष्ठी।
ङि ओस् सुप् इति सप्तमी।

....

११७- **कृत्तद्धितसमासाश्च।** कृच्च, तद्धितश्च, समासश्च, कृत्तद्धितसमासाः, इतरेतरद्वन्द्वः। कृत्तद्धितसमासाः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से **प्रातिपदिकम्** की अनुवृत्ति आती है।

कृदन्त, तद्धितान्त और समास भी पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञक होते हैं।

कृदन्त। कृत् ये प्रत्यय हैं जो धातु के बाद लगते हैं। धातु के बाद लगने वाले प्रत्ययों को तिङ् और कृत् कहते हैं। इन प्रत्ययों में **तिङ्** प्रत्ययों को छोडकर शेष प्रत्ययों की **कृत्** संज्ञा होती है। ऐसे **कृत्** प्रत्ययों का पूरा का पूरा प्रकरण ही है जो **कृदन्तप्रकरण** कहलाता है। धातु से कृत् प्रत्यय लगने के बाद वे शब्द **कृदन्त** कहलाते हैं- (कृत्+अन्त-कृदन्त)।

तद्धितान्त। सुबन्त शब्दों से **तद्धित** प्रत्यय होते हैं। जब सुबन्त शब्दों से विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिए जो प्रत्यय होते हैं, तब उन्हें **तद्धित-प्रत्यय** कहते हैं। तद्धित-प्रत्यय अन्त में हो ऐसे शब्दों को **तद्धितान्त** शब्द कहते हैं। तद्धित प्रत्ययों के भी कई प्रकरण हैं जो आगे बताये जायेगें।

समास। समास का अर्थ संक्षेप होता है। अनेक पद मिलकर एक पद हो जाने पर संक्षेप होता है। अतः इसे समास कहा जाता है। व्याकरणशास्त्र में समास एक अन्वर्थ संज्ञा है। समास में दो या दो से अधिक पद मिलकर एक पद हो जाते हैं एवं उनकी भिन्न-भिन्न अनेक विभक्तियाँ भी लुप्त हो जाती हैं और अन्त वाले शब्द में पुनः एक कोई विभक्ति आ जाती है। जैसे- रामः+हरिः+श्यामः- **रामहरिश्यामाः**। समास हो जाने के बाद पुनः प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

यह सूत्र कृदन्त, तद्धितान्त और समास की प्रातिपदिकसंज्ञा करता है। इस सूत्र के द्वारा जिसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाती है वह शब्द यौगिक अर्थात् व्युत्पन्न ही होता है। इस प्रकार यहाँ पर व्युत्पन्न पक्ष के राम शब्द की **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिकसंज्ञा होती है और अव्युत्पन्न पक्ष के राम शब्द की **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

११८- **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्।** सुश्च, औश्च,

अधिकारसूत्राणि त्रीणि

११९. ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१॥

१२०. प्रत्ययः ३।१।१॥

१२१. परश्च ३।१।२॥

इत्यधिकृत्य। ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः।

....

जश्च, अम्च, औट् च, शश्च, टाश्च, भ्याञ्च, भिश्च, ङेश्च, भ्याञ्च, भ्यश्च, ङसिश्च, भ्याञ्च, भ्यश्च, ङश्च, ओश्च, आञ्च, ङिश्च, ओश्च, सुप् च तेषां समाहारद्वन्द्वः। यहाँ पर सु, औ, जस् आदि सभी में केवल समाहारद्वन्द्व-समास हुआ है। समाहारद्वन्द्व होने पर नपुंसकलिंग और एकवचन मात्र होता है। इसलिये सम्पूर्ण सूत्र में प्रथमा का एकवचन हुआ है। अतः **स्वौजसमौट्**........सुप् प्रथमान्तम् एकपदमिदं सूत्रम् इतना ही समझना चाहिए। इस सूत्र का आगे के तीनों सूत्र **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्** का अधिकार लेकर निम्नलिखित अर्थ कर लिया जाता है।

सु, औ, जस् आदि ये प्रत्यय ङीप्रत्ययान्त, आप्प्रत्ययान्त और प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से परे होते हैं।

११९- ङ्याप्प्रातिपदिकात्। ङी च, आप् च, प्रातिपदिकञ्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, ङ्याप्प्रातिपदिकम्, तस्मात् ङ्याप्प्रातिपदिकात्। ङ्याप्प्रातिदिकात् पञ्चम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्।

१२०- प्रत्ययः। प्रत्ययः प्रथमान्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्।

१२१- परश्च। परः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

इन तीन सूत्रों का अधिकार लेकर **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्** का सम्मिलित अर्थ होता है-

ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे सु आदि प्रत्यय हों।

फलितार्थ यह है कि सु आदि प्रत्यय पर में ही होगा और पर में होने वाला वह प्रत्यय या तो ङी के बाद होगा या आप् के बाद होगा और या तो प्रातिपदिकसंज्ञक शब्द के बाद ही होगा। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च** ये तीन अधिकार सूत्र हैं। अधिकार सूत्र अपने में कुछ काम नहीं करते किन्तु दूसरे सूत्रों के उपकारक हो जाते हैं। प्रत्येक सूत्र में अधिकार बनकर जाते हैं और उनका कार्य सिद्ध करते हैं। इन तीन सूत्रों का अधिकार को लेकर ही **स्वौजसमौट्०** यह विधिसूत्र सु-औ-जस् आदि प्रत्ययों का विधान करता है।

संस्कृत साहित्य में जितने भी शब्द हैं वे प्रायः धातु से बने हैं। धातु से या तो तिङ् प्रत्यय होते हैं या तो कृत् प्रत्यय होते हैं। तिङ् प्रत्यय होने के बाद भवति, पठति, गच्छामि आदि रूप बनते हैं। उनकी प्रातिपदिक संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं है और न ही इनकी प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। तिङन्त बन जाने के बाद **सुप्तिङन्तं पदम्** से पदसंज्ञा होकर व्यवहार में आता है। किन्तु कृत् प्रत्यय होने के बाद कृदन्त शब्द की **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिक संज्ञा होने के बाद जब सु आदि विभक्तियाँ लगती हैं, तब उस सुबन्त की **पदसंज्ञा** होती है। पद के बाद भी जब अर्थविशेष की विवक्षा होने पर तद्धितप्रकरण के प्रत्यय लगते हैं, तब वे तद्धितान्त कहलाते हैं। फिर उनकी तद्धितान्त

एकवचनादिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१२२. सुपः १।४।१०३॥

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः।

एकवचन-द्विवचनविधायकं नियमसूत्रम्

१२३. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२॥

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

....

मानकर प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। इसी प्रकार प्रातिपदिक से स्त्रीत्वबोधन कराने के लिए ङी, आप् आदि प्रत्यय होते हैं। यह सूत्र यही कहता है कि जो सुप् आदि प्रत्यय हैं वे ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे ही हों।

ये सुप् प्रत्यय सात विभक्तियों में बँटे हैं-

प्रथमा में- सु, औ, जस्। द्वितीया में- अम्, औट्, शस्।
तृतीया में- टा, भ्याम्, भिस्। चतुर्थी में- ङे, भ्याम्, भ्यस्।
पंचमी में- ङसि, भ्याम्, भ्यस्। षष्ठी में- ङस्, ओस्, आम्
सप्तमी में- ङि, ओस्, सुप्।

इन प्रत्ययों की प्रथमा, द्वितीया आदि संज्ञा करने वाला पाणिनीय व्याकरण में कोई सूत्र नहीं है किन्तु पाणिनि जी से पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रथमा से सप्तमी तक की विभक्तिसंज्ञा की है। उसी का व्यवहार यहाँ पर भी किया जाता है। कारक प्रकरण में प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तिविधायक सूत्र तो हैं।

१२२- सुपः। सुपः षष्ठ्यन्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। पाणिनीय-अष्टाध्यायी में इससे पहले एक सूत्र है- **तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः**। वह सम्पूर्ण सूत्र इस सूत्र में अनुवृत्त होकर आता है। अतः अर्थ बनता है- सुपः तानि एकशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि भवन्ति, अर्थात् सुप् के वे सारे वचन क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक हो जाते हैं। इस प्रकार से सु की एकवचनसंज्ञा, औ की द्विवचनसंज्ञा और जस् की बहुवचनसंज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार द्वितीया तृतीया आदि में समझना चाहिए। इसी विषय को तालिका के माध्यम से समझ सकते हैं-

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्।

१२३- द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने। द्वे च एकञ्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, द्व्येके, तयोर्द्व्येकयोः। द्विवचनञ्च एकवचनञ्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, द्विवचनैकवचने। द्व्येकयोः सप्तम्यन्तं, द्विवचनैकवचने प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

अवसानसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१२४. विरामोऽवसानम् १।४।११०।

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ। रामः।

....

द्वित्व संख्या और एकत्व संख्या की विवक्षा में क्रमशः द्विवचन और एकवचन होता है।

संस्कृत-व्याकरण में वचन का अर्थ है- संख्या। एक वस्तु या एक व्यक्ति के लिए एकसंख्या और दो वस्तु या दो व्यक्तियों के लिए दो संख्या एवं अनेक वस्तु एवं अनेक व्यक्तियों के लिए अनेक संख्या का व्यवहार लोक में होता है। उसी को यहाँ पर वचन कहते हैं। एक संख्या के लिए एकवचन का, दो संख्या के लिए द्विवचन का और तीन एवं तीन से अधिक संख्या के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है। कैसी जगह पर कौन सी विभक्ति हो इसका विधान आगे कारक(विभक्त्यर्थ) प्रकरण में किया जायेगा किन्तु कौन सा वचन हो, इसका विधान **द्व्येकयोर्द्विवचैकवचने** और **बहुषु बहुवचनम्** ये दो सूत्र यहाँ पर कर रहे हैं। इस सूत्र ने यहाँ पर कहा कि यदि दो संख्या की विवक्षा हो तो द्विवचन और एक संख्या की विवक्षा हो तो एकवचन का प्रयोग किया जाय। जैसे- दो राम हैं तो द्विवचन औ आयेगा- राम राम औ तथा एक राम है तो एकवचन सु आयेगा-राम सु। यद्यपि सु आदि विभक्तियाँ **स्वौजसमौट्०** से प्राप्त थीं ही तथापि इस सूत्र से यह नियम किया गया कि एकत्व संख्या के लिए एकवचन और द्वित्व संख्या के लिए द्विवचन ही हो। **बहुषु बहुवचनम्** के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। अतः ये दोनों सूत्र नियमसूत्र माने जाते हैं।

१२४- विरामोऽवसानम्। विरामः प्रथमान्तम्, अवसानं प्रथमान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्।

वर्णों का अभाव अवसानसंज्ञक होता है।

लोक में **अवसान** का अर्थ होता है- **समाप्त होना**। यहाँ पर भी अवसान का समाप्त होना ही अर्थ है अर्थात् वर्णों का अभाव हो जाना। किसी भी शब्द के बाद फिर उस शब्द से सम्बन्धित कोई भी वर्ण न हो। जैसे **रामर्** के बाद कोई वर्ण नहीं है। रामर् के बाद जो खाली जगह है, वही वर्णों का अभाव है और उसी की अवसान-संज्ञा हुई। यहाँ पर **अवसान-संज्ञा** का एक प्रयोजन **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग करना।

रामः। अब आइये रामशब्द के सिद्ध करने की प्रक्रिया को समझते हैं। सुप् प्रत्यय सात विभक्तियों और तीन वचनों में बँटे हुए हैं। सात तिक्के इक्कीस अर्थात् इक्कीस रूप बनेंगे। सात विभक्तियों के अतिरिक्त एक **सम्बोधन** विभक्ति भी है किन्तु उसमें लगभग प्रथमा के जैसे ही रूप बनते हैं, केवल एकवचन में प्रायः अलग होता है। अब सबसे पहले प्रथमा विभक्ति के एकवचन में क्या रूप बनता है? इसको देखते हैं।

ध्यान रहे कि पुंल्लिङ्गों में सामान्य रूप राम-शब्द की तरह ही बनेंगे और विशेष रूप तत्तद् स्थलों पर बताये जायेंगे। अतः रामशब्द को आप अच्छी तरह से समझ लें, अन्यथा आगे समझ नहीं पायेंगे।

रामः। रमु क्रीडायाम्। **रमु** धातु है और उसका अर्थ क्रीडा करना है। रमु में उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप होकर के केवल रम् बनता है। कृदन्त में **हलश्च** सूत्र से घञ् प्रत्यय हुआ और घकार का **लशक्वतद्धिते** से तथा ञकार का **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होने के बाद **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल अ बचा है। **रम्+अ** बना। रकारोत्तरवर्ती **अकार** की **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** से उपधासंज्ञा होकर **अत उपधाया** सूत्र से वृद्धि हुई तो अकार जो है वह **आकार** बन गया। **राम्+अ** बना। **म्+अ=म**, वर्णसम्मेलन हुआ **राम** बना। इतनी प्रक्रिया तो पहले की है। अब हमें **राम** के बाद की प्रक्रिया जाननी है।

पहले ही बताया जा चुका है कि शब्द व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न के रूप में दो प्रकार के हैं। व्युत्पन्नपक्ष के रामशब्द की **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिकसंज्ञा होती है और अव्युत्पन्नपक्ष के रामशब्द की **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञा होने के बाद **प्रत्ययः**, **परश्च** और **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** इन तीन सूत्रों के अधिकार से युक्त होकर **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङे-भ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्-भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्** इस सूत्र ने सुप् प्रत्यय होने का विधान किया। राम के बाद सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए और उनको सात विभक्तियों में विभाजित किया गया। इसके बाद प्रथमादि सातों विभक्तियों में **सुपः** इस सूत्र से एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन की व्यवस्था की गई। तदनन्तर कारक प्रकरण के सूत्र **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** से प्रथमा विभक्ति का विधान हुआ। प्रथमा विभक्ति में सु, औ, जस् ये तीन प्रत्यय हैं तो कौन सा प्रत्यय यहाँ लगेगा? ऐसी आकांक्षा में **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** सूत्र ने एकसंख्या की विवक्षा में एकवचन का विधान कर दिया। इन तीनों प्रत्ययों में एकवचन प्रत्यय है- सु। अतः राम के बाद सु प्रत्यय हो गया- **राम सु** बना। सु में उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा होकर और **तस्य लोपः** से लोप हो गया तो केवल स् बचा- **राम स्** बना। सकार के स्थान पर **ससजुषो रुः** से रु आदेश हो गया- **राम रु** बना। रु में भी उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हो गया- **राम र्** बना। रामर् के बाद की खाली जगह की **विरामोऽवसानम्** से अवसानसंज्ञा हो गई और रकार के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हो गया- **रामः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार से बालकशब्द से बालकः, श्यामशब्द से श्यामः आदि बनाइये।

इस प्रक्रिया को आप पुनः समझें, बार-बार आवृत्ति करें। तभी आगे बढ़ें, अन्यथा आगे समझ में नहीं आयेगा।

इसी को संस्कृत में संक्षिप्ततया इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं-

रामः। अव्युत्पन्नस्य रामशब्दस्य **अर्थवदधातुरप्रातिपदिकम्** इतिसूत्रेण एवञ्च व्युत्पन्नस्य रामशब्दस्य **कृत्तद्धितसमासाश्च** इतिसूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा**, **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** इतिसूत्रद्वयसहकारेण **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङे-भ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्-भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्** इतिसूत्रेण प्रथमाया एकवचने सुविभक्तौ 'राम सु' इति जाते अनुबन्धलोपे रामस् इति जाते सकारस्य स्थाने **ससजुषो रुः** इतिसूत्रेण रुत्वे रु इत्यत्र उकारस्य इत्संज्ञायां लोपे रामर् इति जाते **विरामोऽवसानम्** इति सूत्रेण अवसानसंज्ञायां **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** इति सूत्रेण रेफस्य स्थाने विसर्गादेशे रामः इति रूपं सिद्धम्।

एकशेषविधायकं विधिसूत्रम्

१२५. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते।

पूर्वसवर्णदीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

१२६. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते,

....

१२५- सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ। समानं रूपं येषां ते सरूपाः, तेषां सरूपाणाम्, बहुव्रीहिः। शिष्यते इति शेषः, एकश्चासौ शेषः, एकशेषः, कर्मधारयसमासः। एका चासौ विभक्तिः, एकविभक्तिः, तस्याम् एकविभक्तौ, कर्मधारयः। सरूपाणां षष्ठ्यन्तम्, एकशेषः प्रथमान्तम्, एकविभक्तौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। एकविभक्तौ सरूपाणाम् एकशेषः (भवति)।

एक (यावत् अर्थात् सभी) विभक्ति के विषय में जितने शब्द एक ही जैसे दीखते हैं, उनमें से एक ही शेष रहता अर्थात् बाकी शब्दों का लोप हो जाता है।

[1]एक ही विभक्ति में जितने शब्द समान रूप के हैं और समान रूप से उच्चारित हैं उनमें से एक ही शेष रह जाता है और बाकी लोप हो जाते हैं। जो शेष रहता है वह लोप हुए वर्णों के अर्थ का वाचक होता है- **यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी।**

समानो रूपः सरूपः, तेषां सरूपाणाम् एकशेषः। एक ही विभक्ति में यदि एक जैसे ही अनेक शब्द उच्चारित हों तो उनमें एक शब्द ही रहता है और बाकी शब्द नहीं रहते। जैसे दो राम के लिए राम राम दो बार उच्चारण होगा, अनेक रामों के लिए राम, राम, राम, राम आदि अनेक रामों का उच्चारण होगा। यदि ये सारे राम आदि एक ही विभक्ति में हैं तो केवल एक राम का शेष होगा और बाकी लुप्त हो जायेंगे। जो शेष है वह लुप्त हुए का भी वाचक होगा। इस प्रकार से एक राम से अनेक राम समझे जायेंगे। यह सूत्र एकशेष-प्रकरण का है। इस प्रकरण में भी एकशेष ही हुआ है।

१२६- प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। प्रथमयोः षष्ठ्यन्तं, पूर्वसवर्णः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घः की, **इको यणचि** से अचि की, **एकः पूर्वपरयोः** इस सूत्र से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है।

अकः प्रथमयोः अचि पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीघ एकादेशो भवति। अर्थात् अक् प्रत्याहार से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होता है।

टिप्पणी- १- यहाँ पर एक शब्द एकत्वसंख्यावाची न होकर सम्पूर्ण के अर्थ में है। इसीलिए भिन्न-भिन्न अर्थ को बताने वाले व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो राम शब्द हों तो भी एकशेष होता है, क्योंकि दोनों के सभी विभक्तियों में समानरूप होते हैं परन्तु जननीवाची मातृ शब्द और परिमाणवाची मातृ शब्द का एकशेष नहीं होता, क्योंकि जननीवाची मातृ शब्द के माता, मातरौ, मातरः आदि और परिमाणवाची मातृ शब्द के माता, मातारौ, मातारः आदि रूप होते हैं। इस तरह दो मातृ शब्दों के भ्याम् आदि कुछ विभक्तियों में समान रूप होने पर भी सभी विभक्तियों में समान रूप न होने से एकशेष नहीं होता। अतः माता च माता च मातृमातरौ बनता है।

पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधकं विधिसूत्रम्

१२७. नादिचि ६।१।१०४॥

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिरेचि। रामौ।

एकादेश के विषय में तो आप अच्छी तरह से जानते ही होंगे कि पूर्व और पर के स्थान पर एक ही आदेश होता है किन्तु यहाँ पर जो एकादेश होगा वह पूर्व का ही सवर्णी होगा और दीर्घ भी होगा। जैसे- हरि+अस् में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होगा तो पूर्व का ही सवर्णी ई होगा। कथञ्चित् यदि परसवर्ण का विधान होता तो आ हो जाता है। किन्तु यहाँ पर पूर्वसवर्णदीर्घ का विधान हुआ है। यदि यह सूत्र न होता तो **हरीन्** आदि रूप नहीं बन पाते, क्योंकि वहाँ पर **अकः सवर्णे दीर्घः** नहीं लगता, यण् होकर अनिष्ट रूपों की सिद्धि होती।

१२७- नादिचि। न अव्ययपदम्, आद् पञ्चम्यन्तम्, इचि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से **पूर्वसवर्ण** और **अकः सवर्णे दीर्घः** से **दीर्घः** की अनुवृत्ति आती है।

अवर्ण से इच् के परे होने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ न हो।

यह सूत्र **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** का निषेधसूत्र है। यदि अवर्ण से इच्(प्रत्याहार) परे हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हो और अन्यत्र तो पूर्वसवर्णदीर्घ हो जाय।

रामौ। दो राम की विवक्षा में राम-राम से प्रथमा का द्विवचन औ विभक्ति हुई। [1]**राम राम औ** बना। यहाँ पर एक ही विभक्ति में दो रामों का उच्चारण हुआ है। अतः एक राम का **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** से लोप और एक राम का शेष हुआ। **राम औ** बना। **राम+औ** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई। उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**। इस सूत्र का अर्थ है- **अक् से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो।** अक् है राम में मकारोत्तरवर्ती अकार, प्रथमा विभक्ति-सम्बन्धी अच् परे है **औ**, पूर्व में है अकार और पर में है औकार। दोनों के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ अर्थात् पूर्व में विद्यमान वर्ण का सवर्णी दीर्घ आ होगा, क्योंकि पूर्व का वर्ण अकार है उसका सवर्णी दीर्घ आ ही हो सकता है। इस प्रकार से आकाररूप पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हो रहा था तो उसे निषेध करने के लिए सूत्र लगा- **नादिचि**। यह सूत्र अवर्ण से इच् परे रहने पर पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध करता है। अवर्ण है राम में **अकार**, इच् परे है **औ**। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया। अब पुनः **राम+औ** में **वृद्धिरेचि** सूत्र लगा और वृद्धि हो गई- **रामौ** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार से आप **बालक** से **बालकौ**, **श्याम** से **श्यामौ** आदि भी बना सकते हैं।

टिप्पणी- (१) यह प्रक्रिया शास्त्र में प्रथम प्रवेश करने वाले छात्रों की सरलता के लिए है। वस्तुतः द्वित्व की विवक्षा में जब **राम राम** या बहुत्व की विवक्षा में **राम राम राम** आयेंगे, तब उसी अवस्था में एकशेष होगा और शिष्ट जो एक **राम** है, वह **यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी** के अनुसार द्वित्व या बहुत्व का वाचक होकर उससे द्वित्वविवक्षा में द्विवचन तथा बहुत्वविवक्षा में बहुवचन प्रत्यय होते हैं।

बहुवचनविधायकं नियमसूत्रम्

१२८. बहुषु बहुवचनम् १।४।२१।।

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१२९. चुटू १।३।७।।

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

विभक्तिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम् 103

१३०. विभक्तिश्च १।४।१०४।।

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः।

इत्संज्ञानिषेधसूत्रम्

१३१. न विभक्तौ तुस्माः १।३।४।।

विभक्तिस्थास्तवर्गसमा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

१२८- **बहुषु बहुवचनम्।** बहुषु सप्तम्यन्तं, बहुवचनं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

बहुत्व संख्या की विवक्षा में बहुवचन होता है।

जिस प्रकार से **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** द्वित्वसंख्या की विवक्षा द्विवचन और एकत्वसंख्या की विवक्षा में एकवचन करता है, उसी प्रकार यह सूत्र बहुवचन की विवक्षा हो अर्थात् अनेक संख्या की विद्यमानता हो तो बहुवचन का विधान करता है। राम राम राम या उससे भी अधिक संख्या की, बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन के प्रत्यय जस् आदि होंगे। इसके बाद **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** से एक राम का शेष रहेगा और बाकी राम का लोप हो जायेगा।

१२९- **चुटू।** चुश्च टुश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, चुटू। चुटू प्रथमान्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **षः प्रत्ययस्य** इस सूत्र से **प्रत्ययस्य** की, **आदिर्ञिटुडवः** इस सूत्र से **आदिः** की और **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्** की अनुवृत्ति आती है।

प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक होते हैं।

किसी भी अर्थात् कृत्, तद्धित, सुप्, तिङ् आदि प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग च्, छ्, ज्, झ्, ञ् और टवर्ग ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् की इत्संज्ञा हो जाती है। जैसे- जस् में जकार की और टा में टकार की इत्संज्ञा हो जाती है। बाद में उन वर्णों का **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है।

१३०- **विभक्तिश्च।** विभक्तिः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में सुपः से विभक्तिविपरिणाम करके **सुप्** तथा **तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः** से विभक्तिविपरिणाम करके **तिङ्** की अनुवृत्ति आती है।

सुप् और तिङ् ये विभक्तिसंज्ञक होते हैं।

सुप् और तिङ् की विभक्तिसंज्ञा होने का एक फल अगले सूत्र से इत्संज्ञानिषेध करना भी है।

सम्बुद्धिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१३२. एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९॥

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

अङ्गसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१३३. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३॥

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात्।

....

१३१-न विभक्तौ तुस्माः। तुश्च, स् च, मश्च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः, तुस्माः न अव्ययपदं, विभक्तौ सप्तम्यन्तं, तुस्माः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार और मकार इत्संज्ञक नहीं होते हैं।

यह **हलन्त्यम्** का बाधक सूत्र है। तु-तवर्ग, सकार और मकार यदि ये विभक्ति में स्थित हैं तो इनकी इत्संज्ञा का निषेध करता है। जैसे- जस्, शस्, भिस्, भ्यस्, ओस् में सकार की और अम्, भ्याम्, आम् में मकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा प्राप्त हो रही थी, उसे इस सूत्र से निषेध किया गया।

रामाः। बहुत्व संख्या की विवक्षा में राम, राम, राम, राम से **बहुषु बहुवचनम्** से बहुवचन जस् प्रत्यय का विधान किया गया- **राम राम राम जस्** बना। **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** से एक राम का शेष और अन्यों का लोप- **राम जस्** बना। जस् में जकार की प्रत्ययादि चवर्ग होने से **चुटू** से इत्संज्ञा करके **तस्य लोपः** से लोप हो गया- **राम अस्** बना। अस् में सकार की भी **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा प्राप्त हो रही थी। उसे **न विभक्तौ तुस्माः** से निषेध हो गया। **राम अस्** है। राम+अस् में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उसे भी बाधकर के सूत्र लगा- **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**। इस सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रामास् बना। सकार के स्थान पर **ससजुषो रुः** से रुत्व हुआ। अनुबन्ध लोप होने के बाद रेफ के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ- **रामाः**। अब इसी प्रकार से बालक से **बालकाः**, श्याम से **श्यामाः** आदि भी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

उक्त प्रकार से आपने प्रथमा विभक्ति के तीनों वचनों के रूप देखा। अब इनका पुनःपुनः अभ्यास करें। कहीं भी कोई सन्देह हो तो अपने गुरु जी से पूछें। अब इसके बाद सम्बोधन के विषय में जानेंगे। सम्बोधन में भी **प्रथमा** विभक्ति ही होती है।

१३२- एकवचनं सम्बुद्धिः। एकवचनं प्रथमान्तं, सम्बुद्धिः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सम्बोधने च** से **सम्बोधने** की तथा **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** से **प्रथमा** इस पद की विभक्तिविपरिणाम अर्थात् षष्ठीविभक्तियुक्त करके **प्रथमायाः** की अनुवृत्ति आती है।

सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन सम्बुद्धिसंज्ञक होता है।

दूसरे को अपनी तरफ आकृष्ट करना और तदर्थ उसके नाम या किसी शब्दविशेष से उसे इंगित करने को **सम्बोधन** कहते हैं। जैसे अरे राम! हे कृष्ण! ओ पिता जी! अयं वत्स! आदि। इस प्रकार से सम्बोधन में जो प्रथमा विभक्ति है उसके एकवचन की सम्बुद्धिसंज्ञा होती है अर्थात् 'सु' की सम्बुद्धिसंज्ञा होती है। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान **सम्बोधने च** यह सूत्र करता है।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

१३४. एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ६।१।६९॥

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्।

हे राम। हे रामौ। हे रामाः।

....

१३३-यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्। विधानं विधिः। प्रत्ययस्य विधिः प्रत्ययविधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। तत् प्रकृतिरूपम् आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्- तदादि, बहुव्रीहिः। यस्मात् पञ्चम्यन्तं, प्रत्ययविधिः प्रथमान्तं, तदादि प्रथमान्तं, प्रत्यये सप्तम्यन्तम्, अङ्गं प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

जो प्रत्यय जिस शब्द से विधान किया जाता है, वह शब्द आदि में है जिसके, ऐसा शब्दस्वरूप उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसंज्ञक होता है।

जिस प्रकृति से प्रत्यय होता है उस प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व में जो भी प्रकृति है और प्रकृति में आगम, आदेश आदि अथवा उस प्रकृति से विहित प्रत्यय के पहले कोई दूसरा शप्, **श्नम्** आदि जैसे विकरण प्रत्यय हुए हों तो भी उस विकरण शप् आदि प्रत्ययविशिष्ट प्रकृति को अङ्ग कहा जाता है। अतः तादृश सम्पूर्ण प्रकृति की अङ्गसंज्ञा होती है। **तदादि**-शब्द के प्रयोग से उस प्रत्यय के परे होने पर यदि प्रत्यय के समय प्रकृति कुछ और रही हो और प्रत्यय के बाद पुनः अन्य कोई विकरण प्रत्यय हुए हों या आगम, आदेश आदि हुए हों तो भी उस आगम, आदेश सहित प्रकृति की अङ्गसंज्ञा हो जाती है। जैसे- तिङन्तप्रकरण में **भू-धातु** से मिप् प्रत्यय आया तो मिप् के परे होने पर भू अङ्गसंज्ञक है तो भू से मिप् के बीच में शप्, अनुबन्धलोप, भू को गुण, अव् आदेश करने के बाद भव+मि बना तो भी मि के परे होने पर पूर्व में विद्यमान **भव** भी अङ्गसंज्ञक हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में अङ्ग कहने से पर में प्रत्यय होते हुए पूर्व में जो प्रकृति है उसे जानना चाहिए। जैसे **राम+सु** में **सु** प्रत्यय **राम** इस प्रकृति से हुआ। अतः **सु** के परे रहते **राम** यह शब्द **अङ्गसंज्ञक** है।

राम सु इत्यादि में सु प्रत्यय के परे रहते [1]व्यपदेशिवद्भाव से **राम** को भी **तदादि** मानकर **अङ्गसंज्ञा** होती है।

१३४- एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः। एङ् च, ह्रस्वश्च तयोः समाहारद्वन्द्वः- एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्, एङ्ह्रस्वात्। एङ्ह्रस्वात् पञ्चम्यन्तं, सम्बुद्धेः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से हल् की अनुवृत्ति आती है।

एङन्त अङ्ग और ह्रस्वान्त अङ्ग से पर में रहने वाले सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है।

एङ् प्रत्याहार है, अङ्ग संज्ञा है। यह सूत्र केवल सम्बोधन के एकवचन में ही लगता है, क्योंकि सम्बुद्धिसंज्ञा केवल उसी की ही होती है। इस तरह एङन्त अङ्ग और

टिप्पणी(१) विशिष्टः(मुख्यः) अपदेशः(व्यवहारः) व्यवदेशः, स अस्यास्तीति व्यपदेशी-मुख्यव्यवहारवान्। व्यपदेशिना तुल्यं व्यपदेशिवत्- मुख्य व्यवहार वाले जैसा। वस्तुतः जो मुख्यव्यवहार वाला नहीं है, उसे वैसा मानना ही **व्यवदेशीवद्भाव** करना है। यहाँ **सु** के परे रहते प्रकृति **राम** किसी के आदि में नहीं है अर्थात् तदादि नहीं है, फिर भी वैसा मानकर अर्थात् **व्यपदेशीवद्भाव** करके उस **राम** की **अङ्गसंज्ञा** की जाती है।

पूर्वरूपविधायकं विधिसूत्रम्

१३५. अमि पूर्वः ६।१।१०७॥

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः। रामम्। रामौ।

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१३६. लशक्वतद्धिते १।३।८॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

....

ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है। ह्रस्वान्त का उदाहरण- **हे रामस्- हे राम**, एङन्त का उदाहरण- **हे हरेस्- हे हरे, विष्णोस्- हे विष्णो। हे रमेस्- हे रमे** इत्यादि। हे, भोः, अयि आदि सम्बोधनसूचक शब्दों का पूर्वप्रयोग होता है अर्थात् सम्बोधन में हे, अयि, भोः आदि के प्रयोग करने का प्रचलन है। प्रथमा विभक्ति के समान ही सम्बोधन में रूप बनते हैं किन्तु एकवचन में एङन्त और ह्रस्वान्त से परे सु के सकार का लोप होता है।

हे राम। सम्बोधन के एकवचन में प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप करके **राम+स्** बना। राम की अङ्गसंज्ञा और स् की सम्बुद्धिसंज्ञा करके स् की **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** से लोप हुआ और हे का पूर्वप्रयोग हुआ **हे राम।**

हे रामौ। हे रामाः। जैसे प्रथमा के द्विवचन और बहुवचन में आपने **रामौ, रामाः** बनाया, उसी तरह सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में भी **रामौ, रामाः** बनाने के बाद हे का पूर्वप्रयोग करने पर **हे रामौ** और **हे रामाः** सिद्ध हो जाते हैं।

१३५- **अमि पूर्वः।** अमि सप्तम्यन्तं, पूर्वः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अकः सवर्णे दीर्घः** से **अकः** की और **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अक् से अम् सम्बन्धी अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एक आदेश होता है।

पूर्वरूप और पररूप के विषय में हम पहले भी समझा चुके हैं। हाँ, यहाँ इतना जानना जरूरी है कि यह अक् पूर्व में हो और अम् का अकार पर में हो तो ही पूर्वरूप एकादेश करता है।

रामम्। राम-शब्द से **कर्मणि द्वितीया** इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति का विधान हुआ और एकत्वविवक्षा में द्वितीया विभक्ति का एकवचन **अम्** आया- **राम अम्** बना। **राम+अम्** में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति हुई उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **अमि पूर्वः।** अक् है राम में मकारोत्तरवर्ती अकार और अम् का अकार भी परे है। पूर्व में है अ और पर में भी अ ही है। दोनों के स्थान पर पूर्वरूप हुआ तो एक ही अकार बना। **राम्+अ+म्** हुआ। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामम्** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आप श्याम से श्यामम्, बालक से बालकम् आदि सिद्ध करने का भी अभ्यास करें।

रामौ। द्वितीया के द्विवचन में **औट्** आया। टकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **राम राम औ** बना। एकशेष हुआ। **राम औ** बना। प्रथमा के द्विवचन में जैसे वृद्धि होकर रामौ बना था, वैसे ही यहाँ पर भी **रामौ** सिद्ध करें।

नत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१३७. तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३॥

पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

णत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१३८. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२॥

अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते।

....

१३६- लशक्वतद्धिते। लश्च, शश्च, कुश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, लशकु। न तद्धितम् अतद्धितं, तस्मिन् अतद्धिते। लशकु प्रथमान्तम्, अतद्धिते सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **षः प्रत्ययस्य** से **षः** की, **आदिर्ञिटुडवः** से **आदिः** की और **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्** की अनुवृत्ति आती है।

तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि में विद्यमान लकार, तालव्य शकार और कवर्ग इत्संज्ञक होते हैं।

इस तरह इस सूत्र से शस् में शकार, लट्, लिट्, लुट्, लेट् आदि में लकार और क्विप् आदि में ककार की इत्संज्ञा इस सूत्र के द्वारा प्राप्त होती है। तद्धित वाले प्रत्ययों में उक्त कार्य नहीं होता। **पाणिनीयाष्टाध्यायी** के चतुर्थाध्याय के प्रथमपाद के **तद्धिताः** सूत्र के अधिकार में पढ़े गये पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक के सभी सूत्रों से किये गये प्रत्ययों को तद्धित प्रत्यय कहा जाता है।

१३७- तस्माच्छसो नः पुंसि। तस्मात् पञ्चम्यन्तं, शसः षष्ठ्यन्तं, नः प्रथमान्तं, पुंसि सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

पूर्वसवर्णदीर्घ से परे शस् के सकार के स्थान पर नकार आदेश होता है, पुँल्लिङ्ग में।

तस्मात् का अर्थ यहाँ पर **पूर्वसवर्ण** है, क्योंकि **तत्** शब्द पूर्व प्रसंग का बोधक होता है। इस सूत्र से पूर्व का सूत्र था- **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**। अतः उस पूर्वसवर्ण से परे शस् के सकार के स्थान पर नकार आदेश होता है, केवल पुँल्लिङ्ग में, ऐसा अर्थ सम्पन्न होता है। ध्यान रहे कि यह पूर्वसवर्णदीर्घ के हो जाने के बाद ही लगता है और पूर्वसवर्णदीर्घ अक् से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी अच् के परे रहने पर ही होता है।

१३८- अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि। अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः, अट्कुप्वाङ्नुमः, अट्कुप्वाङ्नुम्भिर्व्यवायः- अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायः, तस्मिन् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, तृतीयातत्पुरुषः। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये सप्तम्यन्तम्, अपि अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **रषाभ्यां नो णः समानपदे** यह पूरा सूत्र अनुवृत्त होकर आता है।

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इनका अलग-अलग या दो, तीन, चार वर्ण मिलकर व्यवधान होने पर भी रेफ और षकार से परे नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है, समानपद में।

अष्टाध्यायी में इस के पहले का सूत्र **रषाभ्यां नो णः समानपदे** है। वह रेफ और

णत्वनिषेधसूत्रम्

१३९. पदान्तस्य ८।४।३७॥

नस्य णो न। रामान्।

इनात्त्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१४०. टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२॥

अदन्ताट्टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्। रामेण।

....

षकार से परे नकार के स्थान पर णकार आदेश करता है समानपद में। रेफ या षकार के बाद नकार के बीच में किसी भी वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए। किन्तु यह सूत्र भी कहता है कि व्यवधान नहीं होना चाहिए, हाँ यदि किसी का व्यवधान भी हो तो केवल अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् का ही व्यवधान हो। अर्थात् रेफ से परे नकार का णत्व होता है और षकार से परे नकार का भी णत्व हो जाता है। रेफ और नकार के बीच या षकार और नकार के बीच यदि कोई वर्ण हो तो अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम ही हो, अन्य कोई वर्ण न हो। इनके व्यवधान में भी णत्व होता है और व्यवधान न होने पर भी णत्व हो जाता है। समानपदे का तात्पर्य यह है कि रेफ या षकार और नकार दोनों एक ही पद में विद्यमान हों।

१३९- पदान्तस्य। पदान्तस्य षष्ठ्यन्तम्। इस सूत्र में **रषाभ्यां नो णः समानपदे** से **नः** और **णः** की तथा **न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्** से **न** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त नकार को णत्व नहीं होता है।

यह निषेध सूत्र है। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से प्राप्त णत्व यदि पद के अन्त्य में विद्यमान नकार के स्थान पर हो रहा है तो वह न हो। अन्यत्र वह सूत्र णत्व करता है किन्तु पद के अन्त्य में यदि नकार है तो उसके स्थान पर प्राप्त णत्व नहीं होता।

रामान्। राम राम राम से बहुत्वविवक्षा में द्वितीया का बहुवचन शस् आया। एकशेष हुआ। **राम शस्** बना। शस् के शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ- अस् बचा, राम+अस् बना। **राम+अस्** में गुण को बाधकर वृद्धि प्राप्त, उसे भी बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ, **रामास्** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **तस्माच्छसो नः पुंसि।** पूर्वसवर्णदीर्घ से परे शस् के सकार को नकारादेश होता है। इससे रामास् के सकार को नकार हुआ- **रामान्** बना। रामान् के नकार को **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** णत्व करना चाहता था किन्तु **पदान्तस्य** ने निषेध कर दिया। रामान् ही रह गया। अर्थात् णत्व नहीं हुआ। **रामान्** सिद्ध हुआ। अब इसी प्रकार बालकान्, श्यामान् आदि की भी सिद्धि करें।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि यह सूत्र यहाँ पर कैसे घटित हुआ? उसे देखिये- रामान् में प्रथम वर्ण रकार (रेफ) है और अन्तिम वर्ण है नकार। रेफ से परे नकार को णत्व होता है किन्तु इन दोनों के मध्य आ, म्, आ इतने वर्णों का व्यवधान है। क्या इतने वर्णों के व्यवधान होने पर भी णत्व हो सकता है? सूत्र के अर्थ पर विचार करिये। यदि रेफ और नकार के बीच किसी वर्ण का व्यवधान हो तो अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इतने वर्णों का व्यवधान हो सकता है। यहाँ पर तीन वर्णों में से आ, आ ये दो वर्ण तो अट् प्रत्याहार

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

१४१. सुपि च ७।३।१०२॥

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम्

ऐसादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१४२. अतो भिस ऐस् ७।१।९॥

अनेकाल्शित्सर्वस्य। रामैः।

....

में आते हैं और मकार पवर्ग में आता है। अतः इनके व्यवधान के में णत्व के लिए कोई बाधा नहीं है। इसलिए णत्व की प्राप्ति हुई थी।

१४०- टाङसिङसामिनात्स्याः। टाश्च ङसिश्च ङश्च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः, टाङसिङसः, तेषां- टाङसिङसाम्। इनश्च, आच्च, स्यश्च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः, इनात्स्याः। टाङसिङसां षष्ठ्यन्तम्, इनात्स्याः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अतो भिस ऐस्** से अतः, **अङ्गस्य** से विभक्तिविपरिणाम होकर **अङ्गात्** की अनुवृत्ति आ रही है।

अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस् इनके स्थान पर क्रमशः इन, आत्, स्य ये आदेश होते हैं।

यहाँ स्थानी भी तीन हैं और आदेश भी तीन। अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** इस सूत्र के नियमानुसार क्रम से होगा। स्थानी में प्रथम टा के स्थान पर आदेश में प्रथम इन आदेश, स्थानी में द्वितीय ङसि के स्थान पर आदेश में द्वितीय आत् आदेश और स्थानी में तीसरें ङस् के स्थान पर आदेश में तीसरा स्य आदेश होगा। अदन्त= ह्रस्व अकारान्त।

रामेण। तृतीया विभक्ति के एकवचन में **टा** है। तृतीया विभक्ति का विधान करता है कारक-प्रकरण का सूत्र- **कर्तृकरणयोस्तृतीया**। एकत्वसंख्या की विवक्षा में एकवचन टा है। **राम टा** बना। टा में टकार की **चुटू** सूत्र से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **राम आ** बना। टा सम्बन्धी आकार के स्थान पर **टाङसिङसामिनात्स्याः** से **इन** आदेश हुआ- **राम इन** बना। **राम+इन** में **आद्गुणः** से गुण हो गया, **रामेन** हुआ। अब **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से नकार के स्थान पर णत्व हुआ- **रामेण**। अब इसी प्रकार श्यामेन, बालकेन आदि भी बनायें। इनमें अन्तर इतना ही है कि रेफ या षकार के अभाव में नकार का णत्व नहीं हुआ।

१४१- सुपि च। सुपि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अतो दीर्घो यञि** इस सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति होती है। **अङ्गस्य** का अधिकार भी चल ही रहा है। **अदन्ताङ्गस्य दीर्घो भवति यञादौ सुपि।**

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के अन्त्य को दीर्घ हो यञ् प्रत्याहार वाला वर्ण आदि में हो ऐसे सुप् विभक्ति के परे रहने पर।

अलोऽन्त्यस्य की उपस्थिति से **अन्त्य के स्थान** पर यह अर्थ बनता है।

रामाभ्याम्। राम-राम शब्द से तृतीय का द्विवचन भ्याम् आया, एक राम का शेष और एक राम का लोप- **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** से। **राम+भ्याम्** बना। **सुपि च**। अदन्त अङ्ग है राम और उसका अन्त्य वर्ण है राम में मकारोत्तरवर्ती अकार, उससे यञादि सुप् परे है भ्याम्- सुप् तो पूरा भ्याम् है और उसका आदि वर्ण भ् यञ् प्रत्याहार में आता है। अतः भ्याम् के परे रहने पर राम के अकार का दीर्घ हुआ- **रामाभ्याम्** बना। इसी प्रकार

यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१४३. ङेर्यः ७।१।१३॥

अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः।

स्थानिवद्भावविधायकम् अतिदेशसूत्रम्

१४४. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६॥

आदेशः स्थानिवत्स्यान्नतु स्थान्यलाश्रयविधौ।

इति स्थानिवत्त्वात् सुपि चेति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्।

....

चतुर्थी एवं पञ्चमी विभक्ति के द्विवचन में भी **रामाभ्याम्** ही बनेगा। इसी प्रकार श्याम से **श्यामाभ्याम्** और बालक से **बालकाभ्याम्** भी बनाइये।

१४२- अतो भिस ऐस्। अतः पञ्चम्यन्तं, भिसः षष्ठ्यन्तम्, ऐस् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। यहाँ **अङ्गस्य** का भी अधिकार है।

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश होता है।

भिस् के सकार की इत्संज्ञा प्राप्त है, उसका **न विभक्तौ तुस्माः** से निषेध होता है। **अनेकाल् शित्सर्वस्य** इस परिभाषा सूत्र के बल पर सम्पूर्ण **भिस्** के स्थान पर **ऐस्** आदेश होता है। ह्रस्व अकारान्त शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में ही मिलेंगे, स्त्रीलिङ्ग में नहीं क्योंकि स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व अकारान्त सभी शब्द **अजाद्यतष्टाप्** सूत्र से आकारान्त बन जाते हैं या अन्य सूत्रों से स्त्रीत्वबोधक ङीप्, ङीष् आदि होकर ईकारान्त आदि बनते हैं।

रामैः। राम-राम-राम से तृतीया का बहुवचन भिस् आया। एक राम का शेष और अन्य राम का लोप। राम भिस् में **अतो भिस ऐस्** लगाया गया। अदन्त अङ्ग है राम और उससे परे भिस् सम्पूर्ण के स्थान पर ऐस् आदेश हुआ। राम+ऐस् बना। राम+ऐस् **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **रामैस्** बना। सकार का **ससजुषो रुः** से रुत्व और रेफ का **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ, **रामैः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार श्याम से **श्यामैः** और बालक से **बालकैः** भी बनाइये।

१४३- ङेर्यः। ङेः षष्ठ्यन्तं, यः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अतो भिस ऐस्** से **अतः** की अनुवृत्ति आती है और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

ह्रस्व अवर्णान्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होता है।

इस सूत्र से राम ङे में ङे के स्थान पर **य** आदेश होकर **राम+य** बन जाता है।

१४४- स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। स्थानिवद् अव्ययपदम्, आदेशः प्रथमान्तम्, अनल्विधौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

आदेश स्थानी के समान होता है किन्तु यदि स्थानी सम्बन्धी अल् को आश्रय लेकर कोई विधि(कार्य) करना हो तो नहीं होता।

इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को **स्थानिवद्भाव** कहते हैं। **स्थानिवद्भाव** का तात्पर्य **स्थानी के जैसा भाव**। पहले स्थानी में हम जो भाव रखते थे, वैसा ही भाव आदेश में भी रखना, क्योंकि आदेश स्थानी के स्थान पर, स्थानी को हटाकर होता है। स्थानिवद्भाव से स्थानी का स्थानित्व आदेश में भी आ जाता है। लोक व्यवहार में जैसे गुरु के बाद गुरु का स्थानापन्न व्यक्ति लगभग उसी प्रकार का अधिकार, सम्मान आदि प्राप्त करता है। पिता के बाद

एत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१४५. बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३॥

झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किम्? पचध्वम्।

....

पिता के स्थानापन्न पुत्र पिता के कतिपय अधिकार खास करके सम्पत्ति आदि का स्वतः ही अधिकारी हो जाता है। वहाँ केवल कागजी खाना-पूर्ति करनी पड़ती है। इसी प्रकार स्थानी के स्थान पर आने वाला आदेश भी आदेश के गुणों को प्राप्त हो जाता है। आदेश स्थानी जैसा होता है, अनल्विधि में **स्थानिना तुल्यं- स्थानिवत्,** स्थानी का जैसा होना अर्थात् स्थानी में जो गुण है वह गुण आदेश में भी आ जाय, स्थानी को मानकर के होने वाले सारे कार्य आदेश को भी हो जायें। किन्तु यह कार्य अल्विधि में नहीं होगा। अल्विधि का तात्पर्य अल् प्रत्याहार है और अल् को निमित्त मानकर होने वाली विधि। किसी एक अल् मात्र को (एक वर्ण विशेष को) निमित्त मानकर के होने वाली विधि में स्थानिवद् भाव नहीं होगा। जैसे आगे **सुपि च** से दीर्घ करना है। इस सूत्र से होने वाली दीर्घविधि में सुप् को निमित्त माना गया। सुप् केवल एक वर्ण न होकर वर्णों के समुदाय से बना प्रत्यय है। **राम+ङे** में 'ङे' के स्थान पर जो 'य' आदेश हुआ, उस आदेश में 'ङे' इस स्थानी का जो सुप् अर्थात् सुप्त्व गुण था वह गुण आ जायेगा।

वैसे केवल 'य' यह आदेश सुप् के अन्तर्गत नहीं आता फिर भी इस सूत्र से स्थानिवद्भाव हो जाने पर ङे में जो सुप्त्व था वह 'य' में भी आ जाता है। 'य' को सुप् मान लिया जाता है। अत एव **सुपि च** सूत्र से राम+य में दीर्घ होकर **रामाय** बन जाता है।

रामाय। राम शब्द से **चतुर्थी सम्प्रदाने** इस कारक के सूत्र से चतुर्थी का विधान किया गया। एकत्व संख्या में एकवचन **ङे** आया। ङकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ- **राम+ए** बना। इसके बाद **ङेर्यः** से ङे-सम्बन्धी एकार के स्थान पर **'य'** आदेश हुआ- **राम+य** बना। **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** से **य** के स्थानिवद्भाव होने से सुप् मान लिया गया। **राम+य** में यञादि सुप् य को मान कर अदन्त अंग राम के अन्त्य वर्ण अकार के स्थान पर दीर्घ आदेश हुआ- **रामाय** बना। अब इसी प्रकार श्याम से श्यामाय और बालक से बालकाय बनाने का प्रयत्न करें।

चतुर्थी के द्विवचन में भी तृतीया के द्विवचन के समान **रामाभ्याम्** ही बनेगा। इसी प्रकार से बालक से बालकाभ्याम् और श्याम से श्यामाभ्याम् भी बनाकर देखिये।

१४५- **बहुवचने झल्येत्।** बहुवचने सप्तम्यन्तं, झलि सप्तम्यन्तम्, एत् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अतो दीर्घो यञि** से **अतः** की एवं **सुपि च** से **सुपि** की अनुवृत्ति और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

झलादि बहुवचन सुप् के परे रहने पर अदन्त अङ्ग के अन्त के स्थान पर एकार आदेश हो।

पूर्व में अदन्त अर्थात् ह्रस्व अकार हो और पर में सुप् हो, वह सुप् बहुवचन वाला हो और उसका आदि वर्ण झल् प्रत्याहार के अन्तर्गत का वर्ण हो। ऐसी स्थिति में पूर्व में विद्यमान ह्रस्व अकार के स्थान पर एकार आदेश हो जायेगा। इस सूत्र में **बहुवचने** कहने के कारण रामस्य आदि एकवचन में एत्व नहीं हुआ।

रामेभ्यः। रामशब्द से बहुत्व विवक्षा में चतुर्थी का बहुवचन भ्यस् आया, एकशेष

चर्त्वविधायकं विधिसूत्रम्

१४६. वाऽवसाने ८।४।५६॥

अवसाने झलां चरो वा। रामात्, रामाद्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य।

एत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१४७. ओसि च ७।३।१०४॥

अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः।

....

हुआ। राम+भ्यस् बना। बहुवचने झल्येत् से राम के अकार के स्थान पर एकार आदेश हुआ। रामेभ्यस् बना। अन्त सकार को रुत्व हुआ और उसके स्थान पर विसर्ग हुआ- रामेभ्यः। बालक के बालकेभ्यः और श्याम से श्यामेभ्यः आदि भी बनाने का प्रयत्न करें।

१४६- वावसाने। वा अव्ययपदम्, अवसाने सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में झलां जश् झशि से झलां की तथा अभ्यासे चर्च से चर् की अनुवृत्ति है।

अवसान परे होने पर झल् के स्थान पर विकल्प से चर् आदेश होता है।

विरामोऽवसानम् का स्मरण करें। अवसान परे होने पर झलों के स्थान पर चर् आदेश होते हैं विकल्प से। अतः इस सूत्र के लगने के बाद दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। झल्-प्रत्याहार में वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अक्षर तथा श्, ष्, स्, ह् ये वर्ण आते हैं। इस विषय में **खरि च** की व्याख्या का अवलोकन करें।

रामात्, रामाद्। **अपादाने पञ्चमी** से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है। रामशब्द से एकत्वसंख्या की विवक्षा में पञ्चमी का एकवचन **ङसि** आया। ङकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और इकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा, दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हो गया, अस् बचा, राम अस् बना। ङसि-सम्बन्धी अस् के स्थान पर **टाङसिङसामिनात्स्याः** से आत् आदेश हुआ- **राम आत्** बना। राम+आत् में **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ हुआ- **रामात्** बना। तकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर दकार हो गया- **रामाद्** बन गया। दकार के स्थान पर **वावसाने** से चर्त्व होकर तकार हो गया। जब झल् के स्थान पर चर् आदेश का विधान होता है तो **स्थानेऽन्तरतमः** के सहयोग से स्थान और अल्पप्राण प्रयत्न की तुल्यता पर च्, ट्, त्, क्, प् में से कोई एक वर्ण होगा। रामाद् के दकार के स्थान पर स्थान और अल्पप्राण की तुल्यता होने के कारण तकार आदेश हुआ। **रामात्** बना। चर्त्व का विधान विकल्प से है। चर्त्व न होने के पक्ष में दकार ही रह गया, अतः **रामाद्** भी बनेगा। इस प्रकार से पञ्चमी के एक वचन में **रामात्, रामाद्** दो रूप बन गये। अब इसी प्रकार से श्याम से **श्यामात्-श्यामाद्** और बालक से **बालकात्-बालकाद्** रूप बनाइये।

पञ्चमी के द्विवचन में पूर्ववत् **रामाभ्याम्** और बहुवचन में **रामेभ्यः** भी बनाते जाइये। इसी प्रकार श्याम से **श्यामाभ्याम्** और **श्यामेभ्यः** तथा बालक से **बालकाभ्याम्** और **बालकेभ्यः** भी बनाकर ही आगे बढ़िये।

रामस्य। षष्ठी विभक्ति का विधान कारक प्रकरण में **षष्ठी शेषे** से होता है। राम शब्द से षष्ठी का एकवचन ङस् आया। ङकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हो गया। **राम अस्** बना। अस् के स्थान पर **टाङसिङसामिनात्स्याः** से स्य आदेश हुआ- **रामस्य** बना। इसी प्रकार से श्याम से **श्यामस्य** और बालक से **बालकस्य** बनाइये।

नुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

१४८. ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४॥

ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

१४९. नामि ६।४।३॥

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः। सुपि एत्वे कृते-

....

१४७- ओसि च। ओसि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अतो भिस ऐस्** और **बहुवचने झल्येत्** से क्रमशः अतः और एत् की अनुवृत्ति एवं **अङ्गस्य** का अधिकार आता है।

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से ओस् के परे रहने पर अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है।

रामयोः। रामशब्द से षष्ठी का द्विवचन ओस् आया और एकशेष हुआ- राम ओस् बना। **न विभक्तौ तुस्माः** से निषेध होने के कारण ओस् के सकार की इत्संज्ञा नहीं हुई। **राम+ओस्** में गुण, वृद्धि प्राप्त हुई तो उसे बाधकर सूत्र लगा- **ओसि च।** अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है ओस् के परे रहने पर। अदन्त अङ्ग है राम और उसके अकार के स्थान पर एकार आदेश हो गया- **रामे+ओस्** बना। रामे+ओस् में **एचोऽयवायावः** से एकार के स्थान पर अय् आदेश हुआ- **राम्+अय्+ओस्** बना। वर्णसम्मेलन होते हुए म् अ से मिला, य् जाकर ओ से मिला- **रामयोस्** बना। सकार का रुत्व हुआ और उसके स्थान पर विसर्ग हुआ- **रामयोः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार से सप्तमी के द्विवचन में भी **रामयोः** ही बनता है। इसी प्रकार श्याम से **श्यामयोः** और बालक से **बालकयोः** भी बनाइये।

१४८- ह्रस्वनद्यापो नुट्। ह्रस्वश्च, नदी च, आप्च, ह्रस्वनद्याप्, तस्मात्, ह्रस्वनद्यापः, समहारद्वन्द्वः। ह्रस्वनद्यापः पञ्चम्यन्तं, नुट् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अङ्गस्य** का अधिकार है और **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से **आमि** की अनुवृत्ति आती है। अङ्गस्य का सम्बन्ध ह्रस्वान्त से भी है, नद्यन्त से भी है और आबन्त से भी है।

ह्रस्वान्त अङ्ग, नद्यन्त अङ्ग और आबन्त अङ्ग से परे आम् को नुट् आगम हो।

ह्रस्व वर्ण अन्त में हो उसे ह्रस्वान्त, नदीसंज्ञक वर्ण (स्त्रीलिंग के ईकार और ऊकार) अन्त में हों उन्हें नद्यन्त और आप् प्रत्यय अन्त में हो ऐसे आबन्त, ऐसे शब्दों से परे षष्ठीविभक्ति के बहुवचन वाले आम् को नुट् का आगम हो जाता है। नुट् में टकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा होती है तथा दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। इस आगम में टकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह टित् कहलाता है। टित् होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियमानुसार जिसको आगम का विधान किया गया उसके आदि में होगा। यहाँ पर **ह्रस्वनद्यापो नुट्** ने आम् को नुट् का विधान किया है। अतः आम् के आदि में स्थित आकार के आद्यावयव होकर के बैठेगा।

१०१- नामि। नामि सप्तम्यन्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। **अङ्गस्य** का अधिकार है और **अचश्च** इस परिभाषा सूत्र से यहाँ पर **अचः** उपस्थित होता है और वह **अङ्ग** का विशेषण बन जाता है। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** की अनुवृत्ति आती है।

षत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१५०. **आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९॥**

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशस्य प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

....

नाम् के परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।

यह निषेधसूत्र नहीं है; अपितु नाम् के परे रहने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ का विधान करने वाला सूत्र है। नाम् अर्थात्- न्+आम्=नाम्, तस्मिन् नामि। नुट् वाला नकार और आम् का वर्णसम्मेलन होकर नाम् बनता है तथा नाम् के परे रहने पर उक्त अर्थ को लाने के लिए सप्तमी विभक्ति लगाई गई। यदि शब्द अजन्त हो और जब **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् हो गया हो ऐसे नकार सहित आम् के परे रहने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

रामाणाम्। रामशब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय हुआ, अन्य रामों का लोप और एक राम का शेष (एकशेष) हुआ, **राम+आम्** में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से ह्रस्वान्त मानकर नुट् का आगम हुआ। टकार और उकार की इत्संज्ञा तथा लोप, टित् होने के कारण आम् के पहले अर्थात् आदि में आद्यावयव बनकर बैठ गया- **राम+न्+आम्** बना। न्+आ=ना हुआ। **राम+नाम्** में **नामि** से राम में मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ हुआ- **रामानाम्** बना। नाम् के नकार को **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व हुआ- **रामाणाम्** बना। इसी प्रकार बालक से **बालकानाम्** और श्याम से **श्यामानाम्** भी बनेंगे। आप प्रयत्न करिये, अन्तर केवल इतना ही है कि बालक और श्याम शब्द में रेफ या मूर्धन्य षकार के न होने के कारण णत्व सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई।

रामे। सप्तमी विभक्ति का विधान **सप्तम्यधिकरणे च** करता है। राम शब्द से सप्तमी का एकवचन **ङि** आया। ङकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ। **राम+इ** बना। **आद्गुणः** से गुण हुआ- **रामे** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार बालक से **बालके** और श्याम से **श्यामे** भी बनाइये।

रामयोः। जिस प्रकार से आपने षष्ठी के द्विवचन में रामयोः बनाया था, उसी प्रकार से सप्तमी के द्विवचन में भी **रामयोः** बनाइये, क्योंकि षष्ठी के द्विवचन में ओस् है और सप्तमी के द्विवचन में भी ओस् है। अतः समान ही रूप होंगे। इसी प्रकार श्याम शब्द से **श्यामयोः** और बालकशब्द से **बालकयोः** ऐसे रूप होंगे।

१५०- **आदेशप्रत्यययोः।** आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ, तयोः- आदेशप्रत्यययोः। इतरेतरद्वन्द्वः। षष्ठ्यन्तमेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इण्कोः** और **अपदान्तस्य मूर्धन्य** का अधिकार है और **सहे साडः सः** से **सः** की अनुवृत्ति आती है।

इण् प्रत्याहार और कवर्ग से परे अपदान्त आदेश रूप सकार या प्रत्ययावयव जो सकार, उसके स्थान पर मूर्धन्य वर्ण आदेश होता है।

जिस सकार को हम षत्व करने जा रहे हैं वह सकार इण् से परे या कवर्ग से परे हो, पद के अन्त में स्थित न हो, या तो प्रत्यय का अवयव सकार हो या आदेश रूप सकार हो, दोनों प्रकार के सकार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है। मूर्धन्य वर्ण तो **ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष्** ये सभी हैं। एक सकार के स्थान पर ये सभी मूर्धन्य वर्ण प्राप्त हो जायेंगे। एक के स्थान पर अनेक की प्राप्ति होना अनियम है। नियमार्थ सूत्र आता है- **स्थानेऽन्तरतमः।** स्थान से मिलता ही नहीं, क्योंकि स्थानी सकार का स्थान दन्त है और

आदेश सभी मूर्धास्थानी हैं। अब प्रयत्न से मिलाया गया तो बाह्यप्रयत्न में सकार का विवार-श्वास-अघोष-महाप्राण प्रयत्न है। उपर्युक्त मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार का वर्ण षकार के अतिरिक्त अन्य हो ही नहीं सकता। अतः सकार के स्थान पर षकार आदेश हो जाता है।

रामेषु। राम से सप्तमी के बहुवचन में सुप् प्रत्यय हुआ, पकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ- राम सु बना। राम+सु में **बहुवचने झल्येत्** से अकार के स्थान पर एत्व हुआ- रामे+सु बना। इसके बाद सूत्र लगा- **आदेशप्रत्यययोः।** एत्व हो जाने के बाद रामे का एकार इण् बन गया है। उससे परे प्रत्यय का अवयव सकार है और पद के अन्त में भी नहीं है, क्योंकि रामेसु इतना पद होता है और उसके अन्त में तो सु का उकार ही आता है। इसलिये पदान्त वर्ण उकार है सकार नहीं। अतः सकार के स्थान पर सभी मूर्धन्य वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त हुए और **स्थानेऽन्तरतमः** के द्वारा बाह्यप्रयत्न की तुल्यता से केवल **षकार** आदेश हुआ- **रामेषु** सिद्ध हुआ। अब इसी प्रकार श्याम से **श्यामेषु** और बालक से **बालकेषु** भी बनाइये।

इस प्रकार से आपने रामशब्द के सातों विभक्तियों में तीनों वचनों के इक्कीस रूपों का साधन किया। इनको तालिका के माध्यम से भी देखते हैं-

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्-रामाद्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु
सम्बोधन	हे राम!	हे रामौ!	हे रामाः!

विभक्तियों का सामान्य अर्थ इस प्रकार से किया गया है-

विभक्ति	कारक	चिह्न
प्रथमा	कर्ता	ने
द्वितीया	कर्म	को
तृतीया	करण	से, द्वारा
चतुर्थी	सम्प्रदान	के लिये, को
पञ्चमी	अपादान	से (पृथवत्व में)
षष्ठी	सम्बन्ध	का, के, की, रा, रे, री
सप्तमी	अधिकरण	में, पर
सम्बोधन	सम्बोधन	हे, भो, अरे आदि।

रामशब्द अकारान्त पुँल्लिङ्ग है और संसार में ह्रस्व-अकारान्त पुँल्लिङ्ग वाले जितने भी शब्द हैं, उनमें केवल सर्वादिगण पठित शब्दों को छोड़कर अन्य सभी शब्द रामशब्द के समान सिद्ध किये जायेंगे और रूप भी उसी प्रकार के बनेंगे। रामशब्द के सारे रूप कण्ठाग्र होंगे तो उन समस्त शब्दों की सिद्धि भी आप कर सकेंगे। इस लिये आप लोगों

से बार-बार यही निवेदन किया जा रहा है कि रामशब्द के सारे रूपों की सिद्धि प्रक्रिया को ठीक तरह से समझ लें एवं कण्ठस्थ कर लें। आइये आगे कुछ शब्दों को अर्थ सहित जानते हैं जिनके रूप रामशब्द के समान होते हैं और जो ह्रस्व-अकारान्त पुँल्लिङ्ग हैं तथा सर्वादियों से भिन्न हैं-

अध्यापक=शिक्षक	अर्चक-पुजारी	काण=काना
कृपण=कंजूस	केशव=श्रीकृष्ण	कोविद=विद्वान
विप्र=ब्राह्मण	चिकित्सक=वैद्य	तस्कर=चोर
नारिकेल=नारियल	मधुप=भौंरा	गर्दभ=गदहा
गज=हाथी	खग=पक्षी	याचक=भिक्षुक

रामशब्द की सिद्धि आपने कर ली है। अब आपको यह आत्मविश्वास हो जाना चाहिए कि संस्कृतभाषा में सर्वादियों को छोड़कर जितने भी अकारान्त शब्द हैं वे सभी शब्द रामशब्द के समान होते हैं। रामशब्द के समान ही सातों विभक्तियों में उनके रूप बनेंगे। अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि तृतीया के एकवचन में और षष्ठी के बहुवचन में जहाँ णत्व का प्रसंग आता है वहीं पर रेफ और मूर्धन्य षकार से परे किन्तु अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से अव्यवहित न हो ऐसे नकार को णत्व हो जाता है, अन्यत्र णत्व नहीं होता। जैसे रामेण, चौरेण, गर्भाणाम् इत्यादि।

अब आप कुछ अभ्यास करें किन्तु पुस्तक देखकर नहीं। बीच-बीच में अभ्यास इस लिए करना होता है कहीं आप भूल तो नहीं गये हैं? क्योंकि जब तक यह विषय आत्मसात् नहीं होता तब तक भूलने की सम्भावना ज्यादा रहती है।

अभ्यास

(१) व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों के विषय में आप क्या जानते हैं?
(२) प्रातिपदिकसंज्ञा के लिये एक ही सूत्र से काम क्यों नहीं चलता?
(३) ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इन तीन सूत्रों की क्या उपयोगिता है?
(४) एकशेष कहने का तात्पर्य क्या है?
(५) पूर्वसवर्णदीर्घ और सवर्णदीर्घ में क्या अन्तर है?
(६) विभक्ति किसे कहते हैं?
(७) सम्बुद्धिसंज्ञा कहाँ होती है?
(८) व्याकरण में अङ्गसंज्ञा किसकी होती है?
(९) पूर्वरूप और पूर्वसवर्णदीर्घ में क्या अन्तर हो सकता है?
(१०) सुप् विभक्ति में जिनकी इत्संज्ञा रोकी गई है वे वर्ण कौन-कौन से हैं?
(११) णत्व के लिए किस की अनिवार्य आवश्यकता होती है?
(१२) णत्व में किन वर्णों का व्यवधान मान्य है?
(१३) किस अवस्था में णत्व का निषेध हो जाता है?
(१४) स्थानिवद्भाव किसे कहते हैं?
(१५) स्थानिवद्भाव न होता तो क्या हानि होती?
(१६) नामि और आदेशप्रत्यययोः इनका स्पष्ट अर्थ लिखिये।
(१७) केशव, नारायण, विवेक इन शब्दों के रूप लिखिये।

सर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१५१. सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७॥

सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम।

गणसूत्रम्- **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्।**

गणसूत्रम्- **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।**

गणसूत्रम्- **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।**

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

---

(१८) अकारान्त और अदन्त में क्या अन्तर है?

(१९) रामाभ्याम् में **बहुवचने झल्येत्** से एत्व क्यों नहीं हुआ?

(२०) रामेभ्यः में **सुपि च** से दीर्घ क्यों नहीं होता?

(२१) रामौ, रामान्, रामाभ्याम्, रामाय, रामेभ्यः, रामात्, रामस्य, रामाणाम् और रामेषु इन प्रयोगों की लिखित रूप में सिद्धि दिखाइये।

यदि आप ऊपर के सारे प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हैं तो आप आगे पढ़ने के अधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। क्योंकि रामशब्द की पूर्ण तैयारी के विना आगे का पाठ समझ में ही नहीं आयेगा। इसीलिए हम बार-बार यही निर्देश दे रहे हैं कि जैसे मकान बनाने वाला जमीन से एक हाथ खाली जगह छोड़कर उसके ऊपर मकान नहीं बना सकता, उसी प्रकार यदि पहले की प्रक्रिया तैयार नहीं है तो आगे की प्रक्रिया भी तैयार नहीं हो सकती, समझ में ही नहीं आयेगा। अतः विषय को समझते हुए आगे बढ़ें। पुस्तक को बार-बार पढ़ें, अपने गुरु जी से पूछने में न हिचकें। जहाँ समझ में न आये, वहाँ चिन्तन करें। समझ में अवश्य आयेगा। यह टीका हम ने हर प्रकार के लोगों को समझ में आये, इस दृष्टि से लिखी है।

जिन अकारान्त शब्दों में **राम**-शब्द की अपेक्षा कुछ अन्तर होता है, अब उनका वर्णन किया जा रहा है। वे शब्द सर्वादि हैं। पाणिनि जी ने प्रक्रिया में सरलता के लिए एक अलग से गणपाठ भी बनाया है। शब्दों को सीधे सूत्र में लेने की अपेक्षा गणपाठ बनाकर एक सूत्र से अनेक शब्दों का अनुशासन किया है। इस विषय में आप गणपाठ को देखना। यहाँ पर प्रथमतः सर्वादि ही दिये जा रहे हैं।

१५१- सर्वादीनि सर्वनामानि। सर्वः आदिर्येषां तानि (शब्दस्वरूपाणि सर्वादीनि), बहुव्रीहिः। सर्वादीनि प्रथमान्तं, सर्वनामानि प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि स्युः।**

जो शब्द सर्वादि गण में पढ़े गये हैं, वे सर्वनामसंज्ञक होते हैं।

सर्वादिगण में कौन-कौन से शब्द आते हैं, यह भी यहीं पर दिखाया गया है। सर्वनामसंज्ञा का प्रयोजन भी आगे क्रमशः स्पष्ट होता जायेगा। सर्वादिगण में **सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम** ये शब्द तो हैं ही साथ ही आगे भी अन्य गणसूत्रों के अनुसार कुछ विशेष शब्द भी माने गये हैं।

शीविधायकं विधिसूत्रम्

१५२. जसः शी ७।१।१७॥

अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। सर्वे।

....

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। संज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर शब्द की सर्वादि में गणना की जाती है। अतः इन सात शब्दों की उक्त अर्थ में सर्वनामसंज्ञा होती है, अन्य अर्थों में नहीं।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। यदि स्वशब्द का अर्थ धन और ज्ञाति (बन्धु) हो तो उस अवस्था में सर्वादिगण में माना जायेगा। अतः उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ में सर्वनामसंज्ञा हो जायेगी।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। अन्तर शब्द का अर्थ बाहर या पहनने योग्य ऐसा अर्थ हो तो वह सर्वादिगण में माना जाता है। अतः उक्त अर्थ में सर्वनामसंज्ञा होती है।

त्यद्, तद्, यद्-। सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण है। त्यदादि अर्थात् त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् की भी सर्वनामसंज्ञा होती है।

इस तरह सर्वादिगण में कुल ३५ शब्द ही आते हैं। सर्वादिगण वाले शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है।

सर्वः, सर्वौ। सर्वशब्द के प्रथमा में रामशब्द के समान ही **सर्वः** बनता है, अर्थात् सर्वशब्द की **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** से प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रथमाविभक्ति का एकवचन सु प्रत्यय, उकार की इत्संज्ञा और लोप, सकार के स्थान पर **ससजुषो रुः** से रुत्व, अवसानसंज्ञा और **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग करके **सर्वः** बन जाता है। इसी प्रकार रामौ के समान सर्वशब्द से प्रथमा का द्विवचन औ प्रत्यय, पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति और उसका निषेध, पुनः **वृद्धिरेचि** से दीर्घ होकर **सर्वौ** बन जायेगा। अब रामशब्द की अपेक्षा सर्वशब्द में जो विशेष रूप सूत्रों के द्वारा सिद्ध होते हैं, उनकी प्रक्रिया को आगे के सूत्रों से देखिये।

१५२- जसः शी। जसः षष्ठ्यन्तं, शी प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अतो भिस ऐस्** से अतः की और **सर्वनाम्नः स्मै** से **सर्वनाम्नः** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामसंज्ञक अदन्तशब्द से परे जस् के स्थान पर शी आदेश होता है।

शी आदेश शित् भी है और अनेकाल् भी। किन्तु यहाँ पर अनेकाल् मानकर के ही **अनेकाल्शित्सर्वस्य** से सम्पूर्ण जस् के स्थान पर **शी** आदेश हो जाता है क्योंकि आदेश के समय शकार की इत्संज्ञा प्राप्त ही नहीं थी क्योंकि **लशक्वतद्धिते** प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार आदि की इत्संज्ञा करता है। यहाँ पर जिस तरह से ज़स् में प्रत्ययत्व है, उसी तरह **शी** में प्रत्ययत्व लाने के लिए **स्थानिवद्भाव** करना पड़ेगा। तभी **शी** प्रत्यय कहलायेगा। प्रत्ययत्व आ जाने के बाद ही **शी** में शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हो सकेगी। इस तरह प्रत्ययत्व के विना इत्संज्ञा नहीं हो सकती और इत्संज्ञा के विना शित् नहीं बनेगा। अतः शित् को मानकर सर्वादेश भी नहीं किया जा सकेगा। अतः **शि** (श्+ई) को अनेकाल् मानकर के ही **जसः शी** से सर्वादेश हुआ है। **शी** हो जाने के बाद उसके शकार की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के बाद केवल **ई** बचता है।

स्मैविधायकं विधिसूत्रम्

१५३. सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४॥

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

स्मात्स्मिन्नादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१५४. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५॥

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

....

सर्वे। सर्वशब्द से प्रथमा के बहुवचन में जस् विभक्ति अर्थात् जस् प्रत्यय उपस्थित हुआ। सर्व जस् बना। जस् में जकार की चुटू से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। सकार की भी **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा की प्राप्ति हुई थी किन्तु **न विभक्तौ तुस्माः** से इत्संज्ञा का निषेध हुआ तो सर्व अस् बना। जस् सम्बन्धी अस् के स्थान पर **जसः शी** से शी आदेश हुआ और उसके शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ- **सर्व** ई बना। सर्व+ई में आद्गुणः से गुण हुआ- **सर्वे** बना। इसी प्रकार विश्व से **विश्वः, विश्वौ, विश्वे**, उभय से **उभयः, उभये** आदि भी बनाते जाइये। **उभय-शब्द** का द्विवचन नहीं होता, अतः एकवचन और बहुवचन में ही रूप बनते हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान देना है कि **डतर** और **डतम** ये प्रत्यय हैं। जहाँ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहाँ प्रत्ययान्त का भी ग्रहण होता है। अतः **डतर** और **डतम** से डतर-डतम प्रत्ययान्त का ग्रहण होगा, जिनका कथन यथासमय किया जायेगा। कुछ सर्वादि हलन्त हैं तो उनका कथन हलन्त प्रकरण में होगा, कुछ अन्य लिंगों के हैं तो उनका कथन भी यथास्थान ही होगा।

सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः। ये सभी रूप रामशब्द के समान हैं। इसलिये आप स्वयं ही सिद्ध करने का प्रयत्न करें।

१५३- सर्वनाम्नः स्मै। सर्वनाम्नः पञ्चम्यन्तं, स्मै लुप्प्रथमाकं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अतो भिस ऐस्** से **अतः** की और **ङेर्यः** से **ङे** की अनुवृत्ति है।

सर्वनामसंज्ञक अदन्त शब्द से परे ङे के स्थान पर स्मै आदेश होता है।

ङे में ङकार की इत्संज्ञा और लोप होने के बाद **ए** के स्थान पर **स्मै** आदेश होता है। यद्यपि **स्मै** यह आदेश अनेकाल् वाला है फिर भी यहाँ पर आदेशी अर्थात् स्थानी **ए** ऐसे एक वर्ण होने के कारण अन्त्यादेश-सर्वादेश का प्रश्न ही व्यर्थ है।

सर्वस्मै। सर्वशब्द से चतुर्थी का एकवचन ङे आया, ङ् की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। ङे-सम्बन्धी **ए** के स्थान पर **सर्वनाम्नः स्मै** से स्मै आदेश हुआ- सर्व स्मै- **सर्वस्मै** सिद्ध हुआ।

सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः। जैसे रामाभ्याम् और रामेभ्यः आपने बनाया था, उसी प्रकार से **सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः** भी बना सकते हैं।

१५४- ङसिङ्योः स्मात्-स्मिनौ। ङसिङ्योः षष्ठ्यन्तं, स्मात्स्मिनौ प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। यहाँ पर भी **सर्वनाम्नः** और **अतः** की अनुवृत्ति आती है। ह्रस्व-अकारान्त सर्वनामसंज्ञक-शब्द से परे पञ्चमी के एकवचन ङसि के स्थान पर स्मात् आदेश और सप्तमी के एकवचन ङि के स्थान पर स्मिन् आदेश करता है। यहाँ पर स्थानी की संख्या

सुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

१५५. आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२॥

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे। सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः।

उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ। उभौ। उभाभ्याम्। उभाभ्याम्। उभयोः। उभयोः। तस्येह पाठोऽकजर्थः।

उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। उभयः। उभये। उभयम्। उभयान्। उभयेन। उभयैः। उभयस्मै। उभयेभ्यः। उभयस्मात्। उभयेभ्यः। उभयस्य। उभयेषाम्। उभयस्मिन्। उभयेषु।

डतरडतमौ प्रत्ययौ, प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः।

नेम इत्यर्धे।

समः सर्वपर्यायस्तुल्यपर्यायस्तु न, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात्।

....

भी दो है और आदेश की संख्या भी दो ही है, अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** इस परिभाषा सूत्र के बल पर क्रमशः स्थानी में प्रथम ङसि के स्थान पर आदेश में प्रथम स्मात् आदेश और स्थानी में द्वितीय ङि के स्थान पर आदेश में द्वितीय स्मिन् आदेश होते हैं।

सर्वस्मात्, सर्वस्माद्। सर्वशब्द से पञ्चमी का एकवचन ङसि आया और ङकार एवं इकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ। सर्व+अस् बना। ङसि-सम्बन्धी अस् के स्थान पर **टाङसिङसामिनात्स्याः** से आत् आदेश की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से स्मात् आदेश हुआ- **सर्व+स्मात्** बना। तकार की **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर द् हो गया- **सर्वस्माद्** बना। दकार के स्थान पर वावसाने से विकल्प से चर्त्व होकर **सर्वस्मात्** बना। चर्त्व न होने के पक्ष में **सर्वस्माद्** ही रह गया। इस प्रकार दो रूप बन गये।

सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः। सर्वस्य। सर्वयोः। जैसे रामाभ्याम्, रामेभ्यः, रामस्य, रामयोः आपने बनाये थे उसी प्रकार से ही इनकी भी सिद्धि करें।

१५५- आमि सर्वनाम्नः सुट्। आमि सप्तम्यन्तं, सर्वनाम्नः पञ्चम्यन्तं, सुट् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आज्जसेरसुक्** से **आत्** की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है। **अवर्णान्त से परे सर्वनाम से विहित आम् को सुट् का आगम होता है।**

यह सूत्र **ह्रस्वनद्यापो नुट्** का बाधक है। अन्यत्र सर्वत्र नुट् होता है किन्तु सर्वनामसंज्ञकशब्दों से सुट् होगा।

सर्वेषाम्। सर्वशब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय हुआ। **सर्व+आम्** में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **आमि सर्वनाम्नः सुट्।** अवर्णान्त शब्द है सर्व, सर्वनामसंज्ञक से विहित आम् है ही, उसको सुट् आगम हुआ। सुट् का टकार और सु में उकार इत्संज्ञक हैं, अतः इत्संज्ञक होकर लुप्त हुये। केवल स् बचा। टित् होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से आम् के आदि में **स्** बैठा- **सर्व+स्+आम्** हुआ। स्+आ=सा, **सर्व+साम्** में **बहुवचने झल्येत्** से एत्व हुआ- **सर्वे+साम्** बना। एत्व हो जाने से अकारान्त सर्वशब्द में इणप्रत्याहार आ गया, क्योंकि एकार इणप्रत्याहार में आता है। अब

सूत्र लगा- **आदेशप्रत्यययोः**। इसने इण् से परे प्रत्यय के अवयव साम् के सकार को षत्व कर दिया- **सर्वेषाम्** बन गया।

सर्वस्मिन्। सप्तमी के एकवचन में ङि- विभक्ति, ङकार की इत्संज्ञा, लोप, **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से स्मिन् आदेश। सर्वस्मिन्।

सर्वयोः। **सर्वेषु**। रामयोः, रामेषु की तरह बनाइये।

हे सर्व! हे सर्वौ! हे राम! हे रामौ! की तरह ही बनाइये।

हे सर्वे! जैसे सर्वशब्द के प्रथमा के एकवचन बनाया, वैसे ही बनाकर हे का पूर्वप्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार से आपने अकारान्त सर्वशब्द की सिद्धि की। ये सर्वनामसंज्ञक शब्द विशेषण होते हैं। विशेष्य जिस लिङ्ग और वचन का होता है विशेषण भी उसी लिङ्ग और वचन का होता है। अतः विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार विशेषण का भी लिङ्ग बदलता है। फलतः सर्वादि-गण के शब्द तीनों लिङ्गों में होते हैं। यहाँ पर केवल पुँल्लिङ्ग के रूप बताये गये हैं, अन्य लिङ्गों के रूप उसी प्रकरण में देखेंगे।

शब्दों की सिद्धि के साथ रूप भी कण्ठस्थ होने चाहिए कि जब जिस विभक्तियुक्त शब्दरूप की आवश्यकता हो, तत्काल उच्चारित हो सके।

सर्व-शब्द की रूपमाला

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सर्वः	सर्वौ	सर्वे
द्वितीया	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
चतुर्थी	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पञ्चमी	सर्वस्मात्, सर्वस्माद्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
सप्तमी	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
सम्बोधन	हे सर्व	हे सर्वौ	हे सर्वे

सर्वादिगण में दूसरा शब्द है विश्व (सम्पूर्ण)। उसके रूप भी सर्वशब्द के समान ही होंगे।

विश्व-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विश्वः	विश्वौ	विश्वे
द्वितीया	विश्वम्	विश्वौ	विश्वान्
तृतीया	विश्वेन	विश्वाभ्याम्	विश्वैः
चतुर्थी	विश्वस्मै	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्यः
पञ्चमी	विश्वस्मात्-द्	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्यः
षष्ठी	विश्वस्य	विश्वयोः	विश्वेषाम्
सप्तमी	विश्वस्मिन्	विश्वयोः	विश्वेषु
सम्बोधन	हे विश्व	हे विश्वौ	हे विश्वे

तीसरे और चौथे सर्वादि हैं- **उभ और उभय।**

उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभशब्द में एकवचन और बहुवचन नहीं होते, केवल द्विवचन ही होता है। इस प्रकार से प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में **उभौ, उभौ** एवं तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी के द्विवचन में **उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभाभ्याम्,** तथा षष्ठी, सप्तमी के द्विवचन में **उभयोः, उभयोः** ये सात रूप ही होते हैं।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब उभ शब्द केवल द्विवचनान्त ही है और द्विवचन में सर्वनामसंज्ञा को मानकर होने वाला कोई कार्य होता नहीं है तो इसे सर्वादिगण में क्यों पढ़ा गया? उत्तर देते हैं- **तस्येह पाठोऽकजर्थः।** उभशब्द का सर्वादिगण में पाठ अकच् प्रत्यय के लिए है। **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः** यह सूत्र अव्ययसंज्ञक-शब्द और सर्वनामसंज्ञक-शब्दों से **अकच्** प्रत्यय करता है। उभ की सर्वनामसंज्ञा का फल उक्त सूत्र से अकच् करके **उभकौ** की सिद्धि है।

उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। उभय-शब्द में द्विवचन नहीं है, अतः एकवचन और बहुवचन में ही रूप बनते हैं।

प्रथमा में-	उभयः, उभये।	द्वितीया में-	उभयम्, उभयान्।
तृतीया में-	उभयेन, उभयैः।	चतुर्थी में-	उभयस्मै, उभयेभ्यः।
पञ्चमी में-	उभयस्मात्-द्, उभयेभ्यः।	षष्ठी में-	उभयस्य, उभयेषाम्।
सप्तमी में-	उभयस्मिन्, उभयेषु।	सम्बोधन में-	हे उभय! हे उभये।

डतर-डतमौ प्रत्ययौ, प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः। सर्वादिगण में पाँचवें और छठे हैं- **डतर** और **डतम**। ये प्रत्यय हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** यह एक परिभाषा है। **प्रत्यय के ग्रहण के प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है।** अतः डतर और डतम से डतर-डतम प्रत्ययान्त ही लिये जायेंगे। **किम्, यद्, तद्, एक** इन चार शब्दों से डतर-डतम प्रत्ययान्त रूप देखे जाते हैं। जैसे किम्-शब्द से **कतर-कतम**, यद् शब्द से **यतर-यतम** और तद् से **ततर-ततम**। इनके रूप भी सर्वशब्द के समान ही बनते हैं। केवल कतरशब्द के रूप यहाँ दिये जा रहे हैं, बाकी के रूप बनाना आपका काम है।

कतर-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	कतरः	कतरौ	कतरे
द्वितीया	कतरम्	कतरौ	कतरान्
तृतीया	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
चतुर्थी	कतरस्मै	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
पञ्चमी	कतरस्मात्-द्	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
षष्ठी	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
सप्तमी	कतरस्मिन्	कतरयोः	कतरेषु
सम्बोधन	हे कतर	हे कतरौ	हे कतरे।

सर्वादिगण में सातवाँ शब्द **अन्य** (दूसरा), आठवाँ **अन्यतर** (दोनों में से एक), नौवाँ **इतर** (भिन्न) दशवाँ **त्वत्** तथा ग्यारहवाँ **त्व** (अथवा) बारहवाँ **नेम**(आधा), तेरहवाँ **सम** (सब) और चौदहवाँ **सिम** (सब) हैं। त्वत् शब्द का प्रयोग केवल वेद में देखा गया

वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१५६. पूर्व-परावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४॥

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां च सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असंज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। **स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था।**

व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः।

....

है। उसके रूप कुछ भिन्न होंगे। बाकी के रूप सर्वशब्द के समान ही होंगे। त्व के रूप भी सर्व की तरह ही होते हैं।

नेम इत्यर्धे। नेम शब्द की **अर्ध** (आधा) अर्थ में ही सर्वनामसंज्ञा होगी जिसकी जस् के परे होने पर **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** से विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है और शेष जगहों पर नित्य से सर्वनामसंज्ञा होती है।

समः सर्वपर्यायस्तुल्यपर्यायस्तु न, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात्। **सम-शब्द** के दो अर्थ हैं- तुल्य और सब अर्थात् तुल्यपर्याय और सर्वपर्याय। तुल्यपर्याय होने पर अर्थात् **सम** का अर्थ **तुल्य** होने पर सर्वनामसंज्ञा नहीं होगी और सर्वपर्याय अर्थात् सर्व का जो अर्थ है वही अर्थ सम का भी हो तो सम की सर्वनामसंज्ञा होगी। तुल्यपर्याय होने पर सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है, इस पर प्रमाण देते है पाणिनि जी का सूत्र- **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्।** यदि तुल्यपर्याय की भी सर्वनामसंज्ञा होती तो पाणिनि जी **समानाम्** की जगह **समेषाम्** लिखते। इस तरह सर्वपर्याय सम-शब्द के भी रूप सर्व-शब्द की तरह ही होंगे।

१५६- पूर्व-परावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणञ्च उत्तरञ्च, अपरञ्च, अधरञ्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि। न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् असंज्ञायाम्, नञ्-तत्पुरुषः। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि प्रथमान्तं, व्यवस्थायां सप्तम्यन्तम्, असंज्ञायां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सर्वादीनि सर्वनामानि** से **सर्वनामानि** और **विभाषा जसि** से **विभाषा** और **जसि** की अनुवृत्ति आती है।

संज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इन सात शब्दों की **सर्वादिगण में आने वाले पूर्वपरावर०** इत्यादि गणसूत्र से सभी जगह जो सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी वह (सर्वनामसंज्ञा) जस् के परे होने पर विकल्प से होती है।

संज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में **पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर** शब्द भी सर्वादिगण में माने जाते हैं, जिनकी सर्वनामसंज्ञा **सर्वादीनि सर्वनामानि** से होती है किन्तु जस् परे होने पर इस सूत्र से विकल्प से सर्वनामसंज्ञा की गई। वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा का फल है जस् में **पूर्वे, पूर्वाः** आदि दो रूपों का होना। सर्वनामसंज्ञा के पक्ष में **जशः शी** से शी होगा और संज्ञा न होने के पक्ष में शी भी नहीं होगा। सर्वादिगण में पाठ नित्य से सर्वत्र पूर्वादि-शब्दों की सर्वनामसंज्ञा करने के लिए है तो इस सूत्र में केवल जस् के परे होने पर

वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१५७. स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५॥

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः। आत्मीयाः, आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः, ज्ञातयोऽर्था वा।

....

विकल्प से संज्ञा करने के लिए है। इसी तरह **परे, पराः। अवरे, अवराः। दक्षिणे, दक्षिणाः। उत्तरे, उत्तराः, अपरे, अपराः। अधरे, अधराः** आदि दो-दो रूप बनते हैं।

असंज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। इस सूत्र में **असंज्ञायां** यह पद न पढ़ा जाय तो यह सूत्र संज्ञा में भी लगेगा और असंज्ञा में भी। संज्ञा अर्थ में भी सर्वनामसंज्ञा होने से **उत्तराः कुरवः**(उत्तर कुरु) इस प्रयोग में भी संज्ञा होकर **उत्तरे कुरवः** ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। अतः सूत्र में **असंज्ञायाम्** पढ़कर यह व्यवस्था बनी कि असंज्ञा में पूर्व आदि की सर्वनामसंज्ञा हो और संज्ञा अर्थ में न हो।

स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य अभिधेयेन अर्थेन अपेक्षस्य अवधेर्नियमो व्यवस्था। **जहाँ पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो वहाँ पर प्रयुक्त पूर्व आदि शब्दों में व्यवस्था है।** जैसे- **अयोध्या पूर्वा। कुतः? वृन्दावनात्।** अयोध्या पूर्वदिशा में स्थित है। इस वाक्य के बाद इस अवधि की अपेक्षा होती है कि कहाँ से पूर्व है? इस पर उत्तर मिलता है- वृन्दावन से। यहाँ पर पूर्व शब्द का अर्थ अवधि के नियम की आकांक्षा रखता है। अतः **पूर्व-शब्द** यहाँ पर व्यवस्था अर्थ में है।

व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। इस सूत्र में **व्यवस्थायाम्** यह न पढ़ा जाय तो क्या होगा? उत्तर देते हैं- **दक्षिणा गाथकाः** में दोष आयेगा। क्योंकि यहाँ पर दक्षिणाः यह शब्द व्यवस्था अर्थ में न होकर कुशल, चतुर अर्थ में है। यदि व्यवस्थायाम् नहीं पढेंगे तो व्यवस्था या व्यवस्थाभिन्न किसी भी अर्थ में संज्ञा होने लगेगी और जस् के स्थान पर शी होकर कुशल अर्थ वाले दक्षिण शब्द में भी **दक्षिणे, दक्षिणाः** ऐसे दो रूप बनने लगेंगे। **दक्षिणे** ऐसा अनिष्ट रूप न बने, एतदर्थ **व्यवस्थायाम्** लिखा गया है।

१५७- स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। ज्ञातिश्च धनञ्च ज्ञातिधने, ज्ञातिधनयोराख्या ज्ञातिधनाख्या, न ज्ञातिधनाख्या अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् अज्ञातिधनाख्यायाम्। स्वं प्रथमान्तम्, अज्ञातिधनाख्यायाम् सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सर्वादीनि सर्वनामानि** से **सर्वनामानि** तथा **विभाषा जसि** पूरा सूत्र आता है।

स्वशब्द का बन्धु एवं धन से भिन्न अर्थ हो तो गणसूत्र से सभी विभक्तियों के परे प्राप्त सर्वनामसंज्ञा जस् के परे होने पर विकल्प से होती है।

सर्वादीनि सर्वनामानि के गण में ऐसा ही सूत्र पठित है। वहाँ पर ज्ञाति और धन से भिन्न अर्थ में सभी विभक्तियों के परे अथवा विभक्ति न हो तो भी नित्य से सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी किन्तु यह सूत्र केवल **जस्** के परे रहते **सर्वनामसंज्ञा** विकल्प से करता है।

स्व-शब्द के चार अर्थ हैं- आत्मा(स्वयं) आत्मीय(अपना) ज्ञाति(बान्धव) और धन। इनमें आत्मा और आत्मीय अर्थ में सर्वनामसंज्ञा होती है और ज्ञाति तथा बान्धव अर्थ में नहीं होती है।

वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१५८. अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा।

अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः, बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः, परिधानीया इत्यर्थः।

वैकल्पिक-स्मात्-स्मिन्नादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१५९. पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६॥

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्-स्मिनौ वा स्तः।

पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनाम्। शेषं सर्ववत्।

....

स्वे, स्वाः। सर्वादीनि **सर्वनामानि** गणसूत्र के अन्तर्गत **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** का पाठ होने से नित्य से सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी तो जस् के परे होने पर उसे बाधकर के इस **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** सूत्र से विकल्प से सर्वनामसंज्ञा हो गई। सर्वनामसंज्ञा होने के पक्ष में **जसः शी** से **शी** आदेश हुआ, **सर्वे** की तरह **स्वे** बना और न होने के पक्ष में **रामाः** की तरह **स्वाः** बना। इस तरह दो रूप हो गये। **स्वे, स्वाः** का अर्थ हुआ **स्वयं** या अपने। जहाँ ज्ञाति और धन होगा वहाँ पर सर्वनामसंज्ञा न होने से केवल **स्वाः** बनेगा।

१५८- अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। बहिसा योगो बहिर्योगः, बहिर्योगश्च उपसंव्यानञ्च बहियोगोपसंव्याने, तयोः बहिर्योगोपसंव्यानयोः। अन्तरं प्रथमान्तं, बहिर्योगोपसंव्यानयोः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सर्वादीनि सर्वनामानि** से **सर्वनामानि** तथा **विभाषा जसि** पूरा आता है।

अन्तर-शब्द का बाहर तथा परिधानीय अर्थ हो तो गणसूत्र से सभी विभक्तियों में प्राप्त सर्वनामसंज्ञा जस् के परे होने पर विकल्प से होती है।

सर्वादीनि सर्वनामानि के गण में ऐसा ही सूत्र पठित है। वहाँ पर **बाह्य** और **परिधानीय** अर्थ में सभी विभक्तियों परे अथवा विभक्ति न भी हो, सर्वत्र नित्य से सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी किन्तु केवल जस् के पर यह संज्ञा यहाँ पर विकल्प से हो जाती है। सर्वनामसंज्ञा होने के पक्ष में जस् के स्थान पर शी आदेश होकर **अन्तरे** और न होने के पक्ष में **अन्तराः** बनता है। इसका अर्थ होगा **बाहर स्थित घर आदि** और **परिधानीय वस्त्र साड़ी** आदि।

इस तरह पूर्व तीन सूत्रों से **पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर्** इन नौ शब्दों की जस् विभक्ति के परे रहने पर सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है जिससे प्रथमा के बहुवचन में दो-दो रूप होते हैं। इन नौ शब्दों में पञ्चमी के एकवचन और सप्तमी के एकवचन में भी अग्रिम सूत्र **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** के द्वारा **स्मात्** और **स्मिन्** आदेश विकल्प से होते हैं। फलतः इन दो वचनों में एकपक्ष में सर्वशब्द के समान तथा एकपक्ष में रामशब्द के समान रूप होते हैं।

१५९- पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा। पूर्वः आदिर्येषां ते पूर्वादयः, तेभ्यः पूर्वादिभ्यः, बहुव्रीहिः। इस सूत्र में **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से पूरा सूत्र अनुवर्तन होता है।

जसि वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१६०. प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३॥

एते जसि उक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे, प्रथमाः।

तयः प्रत्ययः। द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे, नेमाः। शेषं सर्ववत्।

वार्तिकम्- **तीयस्य ङित्सु वा।** द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः।

....

पूर्व, पर आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि के स्थान पर स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प से होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिसूत्री में स्थित पूर्व, पर आदि नौ शब्दों में सर्वनामसंज्ञा के नित्य से होने के कारण ङसिङ्योः **स्मात्स्मिनौ** से **स्मात्** और **स्मिन्** ये आदेश भी नित्य से ही प्राप्त थे। उन्हें बाधकर यह सूत्र विकल्प से उक्त आदेश करता है। **स्मात्** और **स्मिन्** होने के पक्ष में सर्वशब्द की तरह **पूर्वस्मात्, परस्मात्, पूर्वस्मिन्, परस्मिन्** आदि तथा न होने के पक्ष में रामशब्द की तरह **पूर्वात्, परात्, पूर्वे, परे** आदि दो-दो रूप बनते हैं। इस तरह से उक्त नवों शब्दों से पञ्चमी और सप्तमी की एकवचन में दो-दो रूप हो जाते हैं। पूर्वशब्द के रूप यहाँ पर दिये जा रहे हैं, अन्य आठ शब्दों के रूप आप स्वयं बनाइये।

पूर्व-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
द्वितीया	पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्
तृतीया	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
चतुर्थी	पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पञ्चमी	पूर्वस्मात्, पूर्वात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
षष्ठी	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
सप्तमी	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
सम्बोधन	हे पूर्व!	हे पूर्वौ!	हे पूर्वे! हे पूर्वाः!

इस प्रकार से सर्वादिगण में पठित तेईस शब्दों के रूपों के विषय में आपको जानकारी हुई। शेष **त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, युष्मद्, अस्मद्, भवतु-भवत्, किम्** ये दस जो सर्वादिगणीय शब्द हैं, वे हलन्त हैं। अतः इनके रूप हलन्तप्रकरण में देखेंगे। शेष के अर्थात् एक और द्वि शब्दों के रूप यहाँ बनाने पड़ेंगे। द्वि शब्द में तो **त्यदादीनामः** इस सूत्र से इकार के स्थान पर अकार आदेश होकर यह अकारान्त बन जाता है तथा केवल द्विवचन में ही रूप बनते हैं। द्विवचन में सर्वनामसंज्ञा को मानकर कोई कार्य नहीं हो रहा है, अतः इसके रूप अकारान्त बनाकर **राम** की तरह बनेंगे। जैसे- **द्वौ, द्वौ, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः।** एक शब्द का केवल एकवचन मात्र है। अतः इसके रूप होंगे- **एकः, एकम्, एकेन, एकस्मै, एकस्मात्, एकस्य, एकस्मिन्।**

१६०- प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च। प्रथमश्च चरमश्च, तयश्च, अल्पश्च, अर्धश्च, कतिपयश्च, नेमश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः। प्रथमचरमतयाल्पार्ध-

कतिपयनेमाः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सर्वादीनि सर्वनामानि** से **सर्वनामानि** तथा **विभाषा जसि** यह पूरा सूत्र अनुवर्तन होता है।

प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दों की जस् के परे होने पर सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।

उपर्युक्त शब्दों में केवल **नेम** शब्द की **सर्वनामसंज्ञा** गणसूत्र से प्राप्त थी और शेष शब्दों की प्राप्त ही नहीं थी। विकल्प को विभाषा कहते हैं। यह सूत्र **उभयत्र विभाषा** है। अन्य सूत्रों से नित्य प्राप्त होने पर उसे बाधकर विकल्प से करने वाले सूत्र को **प्राप्त-विभाषा**, अन्य सूत्रों से प्राप्त न होने पर सीधे विकल्ल्प से करने वाला **अप्राप्त-विभाषा** और प्राप्त होने पर भी तथा प्राप्त न होने पर भी विकल्प से करने वाला **प्राप्ताप्राप्त-विभाषा** अर्थात् **उभयत्रविभाषा** कहते हैं। यहाँ पर **नेम** शब्द में प्राप्त होने पर और शेष प्रथम आदि शब्दों में प्राप्त न होने पर विकल्प से करने के कारण यह सूत्र **उभयत्र-विभाषा** है। **सर्वनामसंज्ञा** होने के पक्ष में **जसः शी** से **शी** आदेश होकर **सर्वे** की तरह **प्रथमे, चरमे** आदि तथा **सर्वनामसंज्ञा** न होने के पक्ष में **रामाः** की तरह **प्रथमाः, चरमाः** आदि रूप सिद्ध होते हैं। **नेम-शब्द** के जस् में वैकल्पिक रूप और शेष विभक्तियों में सर्व-शब्द की तरह बनते हैं तथा प्रथम आदि शब्दों के जस् में वैकल्पिक रूप और शेष विभक्तियों में राम-शब्द की तरह बनते हैं। **नेम-शब्द** जस् में मात्र विकल्प से करने के लिए यहाँ पर पठित है, अन्यथा इसकी सर्वनामसंज्ञा तो गणसूत्र से प्राप्त है।

सूत्र में **तय-शब्द** से **तय्-प्रत्ययान्त** का ग्रहण किया जाता है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्**। द्वि-शब्द से तयप् प्रत्यय होकर **द्वितय** बना है। उससे **जस्** में **द्वितये, द्वितयाः** ये दो रूप तथा शेष विभक्तियों में रामशब्द की तरह बनते हैं।

तीयस्य ङित्सु वा। यह वार्तिक है। **तीय-प्रत्ययान्त शब्दों से ङित् विभक्ति के परे होने पर सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।**

तीय-प्रत्ययान्त शब्दों से सर्वनामसंज्ञा प्राप्त ही नहीं थी, अप्राप्तसंज्ञा को यह विकल्प से करता है। ङकार की इत्संज्ञा होने के कारण **ङे, ङसि, ङस्, ङि** ये चार **ङिद्विभक्ति** कहलाते हैं। इनके परे होने पर तीय-प्रत्ययान्त शब्दों की वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा इस वार्तिक से की जाती है। सर्वनामसंज्ञा होने से संज्ञाप्रयुक्त कार्य **ङे** के स्थान पर **स्मै** आदेश, **ङसि** के स्थान पर **स्मात्** आदेश और **ङि** के स्थान पर **स्मिन्** आदेश हो जायेंगे जिससे **सर्व** की तरह रूप बनेंगे तथा सर्वनामसंज्ञा न होने के पक्ष में **राम** की तरह रूप बनेंगे। द्वि और त्रि शब्दों से तीय प्रत्यय होता है। अतः ङिद्विभक्ति में **द्वितीयस्मै-द्वितीयाय, तृतीयस्मै-तृतीयाय, द्वितीयस्मात्-द्वितीयात्, तृतीयस्मात्-तृतीयात्, द्वितीयस्मिन्-द्वितीये, तृतीयस्मिन्-तृतीये** तथा शेष विभक्तियों में राम-शब्द की तरह रूप बनाइये।

निर्जरः। देवता। **निर्गता जरा यस्मात्** जिससे जरा अवस्था निकल चुकी है अर्थात् जरा=बुढ़ापा ही नहीं है जिसमें, उसे **निर्जर** कहते हैं। अकारान्त पुँल्लिङ्ग होने के कारण सु विभक्ति में **रामः** की तरह रुत्व और विसर्ग करके **निर्जरः** बनाइये।

स्मरण रहे कि **सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सुप्** ये हलादि विभक्ति और **औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि** ये अजादि विभक्ति हैं। अनुबन्धलोप होने के बाद जिसके आदि में अच् वर्ण हो वह अजादि और अनुबन्धलोप होने के बाद भी हल् वर्ण ही आदि में रहे, वह हलादि विभक्ति है। अतः उपदेश काल में जस्,

वैकल्पिकजरसादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१६१. जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१॥

अजादौ विभक्तौ।

परिभाषा- **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च।**

परिभाषा- **निर्दिश्यमानस्यादेशा भवति।**

परिभाषा- **एकदेशविकृतमनन्यवत्।** इति जर-शब्दस्य जरस्।

निर्जरसौ। निर्जरस इत्यादि। पक्षे हलादौ च रामवत्। विश्वपाः।

....

शस् आदि हलादि होने पर भी जकार और शकार आदि की इत्संज्ञा और लोप होकर ये अजादि बन जाते हैं। अग्रिम सूत्र से अजादिविभक्ति के परे होने पर जरस् आदेश होता है।

१६१- जराया जरसन्यतरस्याम्। जरायाः षष्ठ्यन्तं, जरस् प्रथमान्तम्, अन्यतरस्यां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अचि र ऋतः** से **अचि**, **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है। **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** इस परिभाषा से **अचि** यह पद **विभक्तौ** का विशेषण बनता है। विभक्ति के परे होने पर, कैसी विभक्ति? अजादि विभक्ति। अतः अजादि विशेषण है और विभक्ति विशेष्य है।

अजादि विभक्ति के परे होने पर जरा के स्थान जरस् आदेश विकल्प से होता है।

निर्जरसौ। निर्जर+औ में अजादि विभक्ति परे है औ। अतः **जराया जरसन्यतरस्याम्** से **जरस्** आदेश का विधान हुआ किन्तु **निर्जर** में **जरा** तो है नहीं। **निर्गता जरा यस्मात्** इस विग्रह में **निर्** के साथ **जरा** का समास होकर **जरा** को ह्रस्व होने से **निर्जर** बन गया है। अब वर्तमान में जरा-शब्द तो है नहीं। कैसे जरा के स्थान पर जरस् आदेश हो? इस समस्या का समाधान अग्रिम परिभाषा से करते हैं-

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च। यह परिभाषा-सूत्र न होकर पृथक् परिभाषा है। **पद और अङ्ग के अधिकार में जिसके स्थान पर जो आदेश विधान किया जाये वह आदेश उसके तथा तदन्त अर्थात् वह जिसके अन्त में हो, उस समुदाय के स्थान पर भी होता है।**

जराया जरसन्यतरस्याम् में **अङ्गस्य** का अधिकार है। अतः यहाँ पर **जरा** के स्थान पर विहित आदेश **जरान्त निर्जर** के स्थान पर भी माना जाना चाहिए। इस तरह पूरे जरान्त **निर्जर** शब्द के स्थान पर **जरस्** आदेश प्राप्त हुआ क्योंकि **अनेकाल् शित्सर्वस्य** इस परिभाषा सूत्र के अनुसार अनेकाल् आदेश सम्पूर्ण **निर्जर** के स्थान पर प्राप्त होता है। अतः सर्वादेश को रोकने के लिए अग्रिम परिभाषा आती है।

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। यह भी परिभाषा है। **आदेश जिसके स्थान पर निर्दिष्ट किये गये हों, केवल उसी के स्थान पर ही होते हैं।** अर्थात् सूत्र से जितने वर्णों के स्थान पर आदेश बताये गये हैं, उतने ही वर्णों के स्थान आदेश हों, न अधिक वर्णों के स्थान पर और न ही कम वर्णों के स्थान पर। इस तरह जरस् आदेश **निर्जर** के अन्तर्गत जरा के स्थान पर ही होगा।

इस तरह इस परिभाषा के नियम से **निर्जर** के स्थान पर आदेश न होकर **जरा**

के स्थान पर ही होने की व्यवस्था बनी किन्तु **निर्जर** में जरा कहाँ है? यहाँ तो **जर** है और **जराया जरसन्यतरस्याम्** तो जरा के स्थान पर आदेश का विधान करता है और निर्दिश्यमान भी जरा ही है। इस समस्या का समाधान अग्रिम परिभाषा कर रही है।

एकदेशविकृतमनन्यवत्। यह भी पृथक् परिभाषा ही है, परिभाषा सूत्र नहीं। **किसी एक भाग अथवा अवयव के विकृत होने से वह अन्य के समान नहीं होता अर्थात् वही माना जाता है।**

यह परिभाषा लौकिक न्याय पर आधारित है। **छिन्ने पुच्छे शुनि न चाश्वो न तु गर्दभः।** जैसे कुत्ते की पूँछ कट जाने पर वह कुत्ता ही रहता है, न तो घोड़ा और न तो गदहा ही बन जाता है अर्थात् अन्य नहीं बन जाता। उसी तरह **जरा** में ह्रस्व होकर **जर** बनने के बाद भी वह जरा-शब्द ही कहलाता है। इस तरह से इस परिभाषा के बल पर **निर्जर** के अन्तर्गत **जर** के स्थान पर **जरस्** आदेश हो जाता है जिससे **निर्जरस्** बन जाता है।

निर्जरसौ। निर्जर-निर्जर से औ विभक्ति आने पर एकशेष होकर **निर्जर औ** बना। उपर्युक्त तीन परिभाषाओं की सहायता से जर के स्थान पर **जराया जरसन्यतरस्याम्** से जरस् आदेश हो गया, **निर्जरस्+औ** बना। अब अवणान्त न होकर सकारान्त बना। अतः वृद्धि आदि का प्रसंग नहीं रह गया। **स्+औ** में वर्णसम्मेलन होकर **निर्जरसौ** सिद्ध हुआ।

अब अजादि-विभक्ति के परे होने पर इसी तरह जरस् आदेश करके वर्णसम्मेलन करने पर **निर्जरसौ, निर्जरसः** आदि बनते हैं। हलादि विभक्ति के परे होने पर जरस् आदेश प्राप्त ही नहीं है। अतः अजादि विभक्ति में जरस् आदेश न होने के पक्ष में तथा हलादि विभक्ति के परे होने पर राम-शब्द की तरह रूप बनते हैं।

तृतीया के बहुवचन भिस् के परे हलादि विभक्ति होने के कारण जरस् आदेश प्राप्त नहीं है किन्तु **अतो भिस ऐस्** से **ऐस्** आदेश करने पर अजादि बन जाता है। अतः अब **जरस्** आदेश हो जाय? इस प्रश्न पर **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** आदि ग्रन्थों में एक और परिभाषा पढ़ी गई है- **सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य।** द्वयोः संयोगः सन्निपातः। सन्निपातो लक्षणं निमित्तं यस्य स संनिपातलक्षणः, तादृशो विधिः तस्य सम्बन्धस्य विघाताय निमित्तं न भवति अर्थात् **जिस के विद्यमान होने पर जो कार्य हुआ हो, वह कार्य उसके निमित्त के विनाशक कार्य में निमित्त नहीं बनता।** लौकिक उदाहरण भी देखें- जैसे पिता से पुत्र उत्पन्न होता है और वह पुत्र पिता के विनाश के लिए निमित्त नहीं बनता। इस परिभाषा के कार्य को **उपजीव्यविरोध** भी कहते हैं। वैसे यह परिभाषा **कष्टाय क्रमणे** इत्यादि सूत्रों के निर्देश से अनित्य मानी जाती है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो **कष्ट+ङे** में कष्ट को अदन्त मानकर ङे के स्थान पर य आदेश होने के बाद उसी य को निमित्त मानकर कष्ट के अकार को **सुपि च** से दीर्घ नहीं होना चाहिए था। इस तरह अनेक निर्देशों से यह परिभाषा अनित्य है। अनित्य होने के कारण भाष्य आदि में जिस जगह पर इसकी प्रवृत्ति बताई गई है, वहाँ पर ही प्रवृत्त होगी, अन्यत्र नहीं।

यहाँ पर भी **निर्जर** के अकार को निमित्त बनाकर ऐस् आदेश हुआ। अब ऐस् को निमित्त बनाकर उसी अकार का विनाश अर्थात् निर्जर के स्थान पर हलन्त जरस् आदेश करने में ऐस् निमित्त नहीं बनता। अतः ऐस् के परे होने पर **जरस्** नहीं किया जाता है। फलतः **निर्जरैः** ऐसा रूप बनता है।

पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधकं विधिसूत्रम्

१६२. दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५॥

दीर्घाज्जसि इचि च परे पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात्।

विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

निर्जर-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जरः	निर्जरसौ-निर्जरौ	निर्जरसः-निर्जराः
द्वितीया	निर्जरसम्-निर्जरम्	निर्जरसौ-निर्जरौ	निर्जरान्
तृतीया	निर्जरसा-निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
चतुर्थी	निर्जरसे-निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
पञ्चमी	निर्जरसः-निर्जरात्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
षष्ठी	निर्जरसः-निर्जरस्य	निर्जरसोः-निर्जरयोः	निर्जरसाम्-निर्जराणाम्
सप्तमी	निर्जरसि-निर्जरे	निर्जरसोः-निर्जरयोः	निर्जरेषु
सम्बोधन	हे निर्जर!	हे निर्जरसौ-हे निर्जरौ	हे निर्जरसः-हे निर्जराः

विश्वपाः। विश्वं पाति=रक्षतीति विश्वपाः, विश्व की रक्षा करने वाला। विश्व-पूर्वक पा-धातु से कृत्प्रकरण में विच्-प्रत्यय करके उसके सर्वापहार लोप से विश्वपा बना है। **क्विब्विड्विजन्ता धातुत्वं न जहति** अर्थात् **क्विप्, विट्** और **विच्** प्रत्ययों के लगने के बाद भी **धातुत्व** बना ही रहता है, इस नियम से **विश्व-पा** में **पा** का धातुत्व विद्यमान है, अतः उसे धातु मानकर के आगे आकार का लोप आदि किया जाता है। उक्त प्रत्यय और लोप के बाद **विश्वपा** ही रहा। इससे सु-प्रत्यय आया। उकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर सकार को रुत्व और विसर्ग करके **विश्वपाः** सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि यह शब्द आकारान्त धातु से निर्मित है, स्त्रीलिङ्ग आबन्त नहीं।

१६२- **दीर्घाज्जसि च**। दीर्घात् पञ्चम्यन्तं, जसि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **नादिचि** से **इचि** और **न, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से **पूर्वसवर्णः** और **अकः सवर्णे दीर्घः** से **दीर्घः** की अनुवृत्ति आती है।

दीर्घ से जस् और इच् परे रहने पर पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता है।

विश्वपौ में **नादिचि** से निषेध होने पर काम चल सकता था किन्तु आगे पपी-शब्द के औ में इसकी आवश्यकता पड़ती ही है, अतः यहाँ पर पढ़ा गया।

विश्वपौ। विश्वपा से औ, **वृद्धिरेचि** से **वृद्धि** प्राप्त, उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से **पूर्वसवर्णदीर्घ** प्राप्त, उसका दीर्घाज्जसि से निषेध होने पर पुनः **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **विश्वपौ** सिद्ध हुआ।

विश्वपाः। बहुवचन में भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर **विश्वपा+अस्** में **अकः सवर्णे दीर्घ** से दीर्घ होकर सकार को रुत्वविसर्ग करके **विश्वपाः** बन जाता है।

हे विश्वपाः। सम्बोधन में प्रथमा एकवचन की तरह **विश्वपाः** बनाकर **हे** का पूर्वप्रयोग करके **हे विश्वपाः** बन जाता है। एङन्त और ह्रस्वान्त न होने के कारण **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** से सकार का लोप नहीं हुआ।

सर्वनामस्थानसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१६३. सुडनपुंसकस्य १।१।४३॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

पदसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्।

१६४. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७॥

कप्-प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्।

....

विश्वपाम्। विश्वपौ। पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधकर **विश्वपा+अम्** में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **विश्वपाम्** बन जाता है। प्रथमा के द्विवचन की तरह द्वितीया के द्विवचन में भी **विश्वपौ** बनता है।

१६३- सुडनपुंसकस्य। न नपुंसकम्- अनपुंसकं, तस्य अनपुंसकस्य, नञ्तत्पुरुषः। सुट् प्रथमान्तम्, अनपुंसकस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **शि सर्वनामस्थानम्** से **सर्वनामस्थानम्** की अनुवृत्ति आती है।

सु आदि पाँच वचनों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है किन्तु नपुंसकलिङ्ग में नहीं।

इस सूत्र में सुट्-प्रत्याहार का व्यवहार है। जो सु-औ-जस्-अम्-औट् विभक्तियाँ हैं उनमें प्रथमा के एकवचन सु से लेकर द्वितीया के द्विवचन औट् तक पाँच वचनों को सुट्-प्रत्याहार माना गया है। इनकी इस सूत्र से **सर्वनामस्थानसंज्ञा** की जाती है किन्तु यह संज्ञा नपुंसकलिङ्ग में नहीं होगी। सर्वनामसंज्ञा का फल **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, अप्तृन्तृच्०** आदि सूत्रों से दीर्घ आदि करना है। यहाँ तो इस लिए पढ़ा गया है कि अग्रिम सूत्र में असर्वनामस्थान की आवश्यकता होती है। असर्वनामस्थान को जानने के लिए पहले सर्वनामस्थान जानना जरूरी है।

१६४-स्वादिष्वसर्वनामस्थाने। न सर्वनामस्थानम्- असर्वनामस्थानं, तस्मिन् असर्वनामस्थाने, नञ्तत्पुरुषः। स्वादिषु सप्तम्यन्तम्, असर्वनामस्थाने सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सुप्तिङन्तं पदम्** से **पदम्** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर सु लेकर कप् प्रत्यय पर्यन्त के प्रत्ययों के परे होने पर पूर्व का शब्दस्वरूप पदसंज्ञक होता है।

स्वौजसमौट्- ४।१।२ से **उरः प्रभृतिभ्यः कप्** ५।४।१५१ तक के सभी प्रत्यय **स्वादि** कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत आने वाले असर्वनामस्थान अर्थात् सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों से भिन्न की पदसंज्ञा होती है। जिस तरह **सुप्तिङन्तं पदम्** सूत्र सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा करता है उसी तरह यह सूत्र जो सु, औ, जस् आदि सुप् प्रत्यय हैं, उनमें से सर्वनामस्थानसंज्ञक से भिन्न और भसंज्ञक से भिन्न, इसी प्रकार कप् प्रत्यय के पूर्व के स्वादि प्रत्ययों के बाद के सभी प्रत्ययों के परे रहते **पदसंज्ञा** करता है। यह सूत्र उक्त सुप् आदि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व में स्थित केवल शब्द की पदसंज्ञा करता है किन्तु **सुप्तिङन्तं पदम्** यह सूत्र सुप् सहित शब्द की पदसंज्ञा करता है। दोनों के पदों में यह एक विशेष अन्तर है। अग्रिम सूत्र **यचि भम्** से यकारादि या अजादि प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व की भसंज्ञा होती है और शेष अर्थात् हलादि विभक्ति के परे रहने पर पूर्व की इस सूत्र से

भ-संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१६५. **यचि भम् १।४।१८॥**

याादिष्वजादिषु च कप्-प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात्।

एकसंज्ञाधिकारार्थं नियमसूत्रम्

१६६. **आ कडारादेका संज्ञा १।४।१॥**

इत ऊर्ध्वं कडाराः कर्मधारय इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया। या पराऽनवकाशा च।

....

पदसंज्ञा हो जाती है। दोनों सूत्र असर्वनामस्थान में ही लगते हैं। इस तरह यह व्यवथा बन गई कि असर्वनामस्थान यकारादि या अजादि प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व की भसंज्ञा और असर्वनामस्थान स्वादि हलादि प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है। इस सूत्र से जिसकी पदसंज्ञा हो गई, उसे पद के द्वारा ग्रहण केवल व्याकरण की प्रक्रिया में ही होगा, लोक में या सामान्यतया भाषा आदि में इस सूत्र के द्वारा की गई पदसंज्ञा को पद के रूप में नहीं माना जाता।

१६५- **यचि भम्।** य् च, अच् च यच्, (समाहारद्वन्द्वः), तस्मिन् यचि। यचि सप्तम्यन्तं, भं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** सम्पूर्ण सूत्र अनुवर्तन होता है। यच् का अर्थ है यकार और अच्।

सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों से भिन्न यकारादि या अजादि प्रत्यय जो स्वादि से लेकर कप् प्रत्यय तक में आते हैं, उनके परे रहने पर पूर्व में विद्यमान प्रकृति भसंज्ञक होती है।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा करता है और यह सूत्र अजादि स्वादि प्रत्ययों एवं यकारादि स्वादि प्रत्ययों के परे रहने पर **भसंज्ञा** करता है। यह सूत्र भी कप्प्रत्ययावधिक है।

१६६- **आ कडारादेका संज्ञा।** आ अव्ययपदं, कडारात् पञ्चम्यन्तम्, एका प्रथमान्तं, संज्ञा प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

इस सूत्र से लेकर 'कडारा कर्मधारये' तक एक की एक ही संज्ञा होती है, ऐसा समझना चाहिए।

अनेक जगहों पर एक शब्द की कई संज्ञायें होती हैं। जैसे- तव्यत् आदि की कृत् संज्ञा भी और कृत्यसंज्ञा भी। इसी तरह असर्वनामस्थान अजादि के परे **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से **पदसंज्ञा** और **यचि भम्** से **भसंज्ञा**, यदि एक जगह दोनों संज्ञायें होती हैं तो दोनों संज्ञाओं को मानकर होने वाले दोनों कार्य एक ही जगह पर होंगे। इससे अनेक अनिष्ट रूपों की सिद्धि होने लगेगी। अतः सूत्रकार ने इस सूत्र को बनाकर यह निर्णय दिया कि अन्यत्र दो संज्ञायें होती है किन्तु प्रथमाध्याय, चतुर्थपाद के प्रथमसूत्र **आ कडारादेका संज्ञा** से द्वितीयाध्याय, द्वितीयपाद के अड़तीसवें सूत्र **कडारा कर्मधारये** तक के सूत्रों से जो भी संज्ञायें होती हैं वे एक की एक ही संज्ञा होगी, दो संज्ञायें नहीं। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** और **यचि भम्** ये दोनों सूत्र इसके अन्तर्गत आते हैं, अतः यहाँ पर किसी शब्द की या तो पदसंज्ञा होगी और या तो भसंज्ञा।

आकारलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१६७. आतो धातोः ६।४।१४०॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। धातोः किम्? हाहान्। हरिः। हरी।

....

इस तरह से एकसंज्ञाधिकार होने से एक समस्या और आती है कि जब दोनों संज्ञायें एक साथ प्राप्त हों तो कौन सी संज्ञा की जाय? इस पर मूलकार ने लिखा- **या पराऽनवकाशा च**। अष्टाध्यायी के क्रम से जो पर हो और जो संज्ञासूत्र परस्पर में अनवकाश अर्थात् कम जगहों पर लगने वाली हो, वह संज्ञा हो जाय अर्थात् दो संज्ञाओं की प्राप्ति एक साथ हो जाय तो दो संज्ञाओं में जो पर भी हो और निरवकाश हो, वही संज्ञा मानी जाय। उक्त दोनों सूत्रों में **यचि भम्** परसूत्र है और अनवकाश भी क्योंकि **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा असर्वनामस्थान से भिन्न सभी स्वादियों में प्राप्त हो सकती है किन्तु **यचि भम्** से भसंज्ञा स्वादियों में भी केवल अजादि या यकार आदि में हो ऐसे प्रत्ययों के परे होने पर ही होती है। अतः दोनों संज्ञाओं की प्राप्ति में निरवकाश होने से **भसंज्ञा** ही बलवती हो जाती है। जहाँ भसंज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती, वहाँ पर पदसंज्ञा हो जायेगी। इस तरह यहाँ पर शस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् के परे होने पर **भसंज्ञा** और शेष भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् के परे पूर्व की पदसंज्ञा हो जाती है।

१६७- आतो धातोः। आतः षष्ठ्यन्तं, धातोः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अल्लोपोऽनः** से लोपः की अनुवृत्ति आती है। **भस्य** और **अङ्गस्य** का अधिकार है। **आतः** और **धातोः** में तदन्तविधि होकर आकारान्त धातु और तदन्त **अङ्ग** लिया जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** की प्रवृत्ति से उस अङ्ग के **अन्त्य का** यह अर्थ आ जाता है।

आकारान्त जो धातु, वह धातु अन्त में हो ऐसा जो भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है।

यह सूत्र आकारान्त धातु अन्त में होने पर भी लोप करता है और भसंज्ञक होने पर **व्यपदेशीवद्भाव** से केवल धातु में भी प्रवृत्त होकर लोप करता है।

विश्वपः। द्वितीया के बहुवचन में **विश्व** से **शस्** आया और अनुबन्धलोप होने पर **विश्वपा+अस्** बना। यहाँ पर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त था उसे बाधकर के **आतो धातोः** से भसंज्ञक विश्वपा के अन्त्य आकार का लोप हो जाता है। इस सूत्र के लगने पहले **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा और **यचि भम्** से भसंज्ञा की प्राप्ति थी तो **आ कडारादेका संज्ञा** के द्वारा पर और अनवकाश एक ही संज्ञा के निर्णय से **यचि भम्** से विश्वपा की भसंज्ञा हो गई है। आकार का लोप होने पर **विश्वप्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन होकर सकार का रुत्वविसर्ग करके **विश्वपः** सिद्ध हुआ।

उक्त रीति से ही टा आदि अजादि विभक्ति के परे होने पर आकार का लोप करके **विश्वप्** बनाकर वर्णसम्मेलन करने पर **विश्वपा, पिश्वपे, विश्वपः** आदि बनते हैं और हलादिविभक्ति के परे होने पर भसंज्ञा न होने के कारण पदसंज्ञा तो होती है किन्तु यहाँ पर पदसंज्ञाप्रयुक्त कोई कार्य नहीं है। अदन्त न होने के कारण **सुपि च, बहुवचने झल्येत्**

आदि की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः केवल प्रत्यय जोड़ना और प्रत्यय के अन्त में सकार हो तो रुत्व विसर्ग आदि करने से **विश्वपाभ्याम्, विश्वपाभिः, विश्वपाभ्यः** आदि रूप बन जाते हैं। **आम्** में भी **ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त** के अभाव में नुट् का आगम नहीं होता है, अतः आकार का लोप होकर **विश्वपाम्** बनता है।

विश्वपा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वितीया	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
तृतीया	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
चतुर्थी	विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
पञ्चमी	विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
षष्ठी	विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
सप्तमी	विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
सम्बोधन	हे विश्वपाः!	हे विश्वपौ!	हे विश्वपाः

विश्वपा की तरह **शङ्खध्मा** आदि शब्दों के रूप भी समझना चाहिए। शङ्खं धमति शङ्ख बजाता है। यह भी आकारान्त ध्मा-धातु है। उसी तरह आकार का लोप आदि करके रूप बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

शङ्खध्मा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	शङ्खध्माः	शङ्खध्मौ	शङ्खध्माः
द्वितीया	शङ्खध्माम्	शङ्खध्मौ	शङ्खध्मः
तृतीया	शङ्खध्मा	शङ्खध्माभ्याम्	शङ्खध्माभिः
चतुर्थी	शङ्खध्मे	शङ्खध्माभ्याम्	शङ्खध्माभ्यः
पञ्चमी	शङ्खध्मः	शङ्खध्माभ्याम्	शङ्खध्माभ्यः
षष्ठी	शङ्खध्मः	शङ्खध्मोः	शङ्खध्माम्
सप्तमी	शङ्खध्मि	शङ्खध्मोः	शङ्खध्मासु
सम्बोधन	हे शङ्खध्माः!	हे शङ्खध्मौ!	हे शङ्खध्माः!

धातोः किम्? हाहान्। अब प्रश्न करते हैं कि **आतो धातोः** में **धातोः** क्यों पढ़ा गया? उत्तर देते हैं कि यदि **धातोः** नहीं पढ़ा जायेगा तो यह सूत्र धातु के आकार का भी लोप करेगा और अधातु के आकार का भी। फलतः हाहा इस आकारान्त अधातु के आकार भी लोप होकर हाहः ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। अतः धातोः पढ़ा गया जिसके कारण **हाहा+अस्** में आकार का लोप न होकर पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ और सकार के स्थान पर **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नकारादेश होकर **हाहान्** सिद्ध हुआ।

हाहा-शब्द गन्धर्व का वाचक है। तृतीया के एकवचन **हाहा+आ** में सवर्णदीर्घ, चतुर्थी के एकवचन **हाहा+ए** में वृद्धि, पञ्चमी और षष्ठी एकवचन **हाहा+अस्** में सवर्णदीर्घ करके सकार को रुत्वविसर्ग, षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन **हाहा+ओस्** में वृद्धि और रुत्वविसर्ग, षष्ठी के बहुवचन **हाहा+आम्** में सवर्णदीर्घ, सप्तमी के एकवचन **हाहा+इ** में गुण करके निम्नलिखित रूप सिद्ध हो जाते हैं।

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

१६८. जसि च ७।३।१०९॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः। हरयः।

हाहा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हाहाः	हाहौ	हाहाः
द्वितीया	हाहाम्	हाहौ	हाहान्
तृतीया	हाहा	हाहाभ्याम्	हाहाभिः
चतुर्थी	हाहै	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
पञ्चमी	हाहाः	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
षष्ठी	हाहाः	हाहौः	हाहाम्
सप्तमी	हाहे	हाहौः	हाहासु
सम्बोधन	हे हाहाः!	हे हाहौ!	हे हाहाः।

अभी तक अकारान्त शब्दों के बारे में बताया गया। अब इकारान्त शब्दों का कथन कर रहे हैं, जैसे- हरिशब्द। यह इकारान्त पुँल्लिङ्गशब्द है।

हरिः। हरि-शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया, उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। सकार को रुत्व करके रेफ के स्थान पर विसर्ग कर देने पर हरिः सिद्ध हो जाता है।

हरी। हरि-शब्द से प्रथमा का द्विवचन औ आया। **हरि+औ** में **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ। पूर्व में इकार है अतः पूर्व के इकार और पर के औकार के स्थान पर पूर्व का दीर्घसवर्णी **ईकार** एकादेश हुआ- **हर्+ई** हुआ। **र्+ई** में वर्णसम्मेलन हुआ- **हरी**।

१६८- **जसि च**। जसि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ह्रस्वस्य गुणः** से पूरा सूत्र अनुवृत्त हो जाता है।

जस् विभक्ति के परे रहते अन्त में ह्रस्व हो ऐसे अङ्ग के अन्त्यवर्ण को गुण होता है।

हरयः। इकारान्त पुँल्लिङ्ग हरि-शब्द से प्रथमा के बहुवचन में जस् विभक्ति आई। जकार की **चुटू** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **हरि+अस्** बना। इस स्थिति में सूत्र लगा- **जसि च**। जस् परे है जस् वाला अस् और ह्रस्वान्त अङ्ग है हरि, उसका अन्तिम वर्ण है इकार, उसी का गुण हुआ। इकार का जब गुण होता है तो एकार होता है। क्योंकि जब इकार के स्थान पर गुण की प्राप्ति होगी तो **अ, ए, ओ** ये तीनों प्राप्त होंगे। एक के स्थान पर तीनों की प्राप्ति होना अनियम हुआ। नियमार्थ सूत्र लगता है- **स्थानेऽन्तरतमः**। प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश होता है। स्थान से मिलाने पर स्थानी इकार का स्थान है- तालु। आदेश **अ, ए, ओ** में तालुस्थान वाला कोई भी वर्ण नहीं है किन्तु कण्ठतालुस्थान वाला ए है। यत्किञ्चित् स्थान से तुल्यता इकार का एकार के साथ हुआ। इसलिये हरि के इकार के स्थान पर गुणरूप एकार आदेश

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

१६९. ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८॥

सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्।

घिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१७०. शेषो घ्यसखि १।४।७॥

शेष इति स्पष्टार्थम्। ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम्।

....

हुआ। **हर् ए+अस्** बना। र्+ए=रे, हरे+अस् में **एचोऽयवायावः** से एकार के स्थान पर अय् आदेश हुआ। **हर्+अय्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **हरयस्** बना। सकार के रुत्व और विसर्ग करने पर **हरयः** सिद्ध हुआ।

१६९- **ह्रस्वस्य गुणः**। ह्रस्वस्य षष्ठ्यन्तं, गुणः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सम्बुद्धौ च** से सम्बुद्धौ की अनुवृत्ति है।

सम्बुद्धि के परे रहते ह्रस्व को गुण होता है।

यह सूत्र केवल सम्बुद्धि के परे गुण करने के लिए है।

हे हरे! इकारान्त पुँल्लिङ्ग हरि-शब्द से सम्बोधन के लिए प्रथमा का एकवचन सु आया। अनुबन्ध लोप हुआ। स् बचा। सम्बुद्धिसंज्ञा हुई और **ह्रस्वस्य गुणः** से इकार के स्थान पर गुण आदेश हुआ। **हरे स्** बना। गुण होकर एङन्त बन जाने के बाद **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से सकार का लोप हुआ और हे का पूर्वप्रयोग हुआ- **हे हरे**। द्विवचन और बहुवचन में केवल हे का ही पूर्वप्रयोग करना है। **हे हरी! हे हरयः!**

हरिम्। हरी। हरीन्। इकारान्त पुँल्लिङ्ग हरि-शब्द से द्वितीया एकवचन अम् आया, हरि+अम् में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप हुआ- **हरिम्**। प्रथमा के द्विवचन के समान यहाँ भी **हरी** है। बहुवचन में शस्, शकार की इत्संज्ञा और लोप। **हरि+अस्** में **प्रथमयोः पूर्वसवर्ण** से पूर्वसवर्णदीर्घ होकर **हरीस्** बना। **तस्माच्छसो नः पुंसि** से सकार के स्थान पर नकार आदेश हुआ- **हरीन्**।

१७०- **शेषो घ्यसखि**। न सखि असखि। शेषः प्रथमान्तं, घि प्रथमान्तम्, असखि प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ङिति ह्रस्वश्च** से **ह्रस्वः** और **यूस्त्र्याख्यौ नदी** से **यू** की अनुवृत्ति आती है।

ह्रस्व जो इकार और उकार, तदन्त शब्द घिसंज्ञक होता है, सखि-शब्द को छोड़कर।

यू का अर्थ है (इ+उ, प्रथमा के द्विवचन में यू) इकार और उकार। शेष का अर्थ है बचा हुआ। इससे पहले के सूत्र **ङिति ह्रस्वश्च** से बचा हुआ जो ह्रस्व इकार और उकार, उसकी घिसंज्ञा हो। वैसे दीर्घ ईकार और ऊकार वाले नित्य स्त्रीलिंगी शब्द की नदीसंज्ञा होती है। कभी-कभी ह्रस्व इकार और उकार की भी नदी संज्ञा होती है **ङिति ह्रस्वश्च** आदि सूत्रों से। इन सूत्रों से जिनकी नदीसंज्ञा नहीं हुई है ऐसे ह्रस्व इकार और उकार की घिसंज्ञा होती है किन्तु ह्रस्व इकारान्त होते हुए भी सखिशब्द की घिसंज्ञा नहीं होनी चाहिए। घिसंज्ञा का प्रयोजन ना-आदेश, गुण आदि कार्य हैं।

नादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१७१. आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०॥

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङिति टासंज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

१७२. घेर्ङिति ७।३।१११॥

घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः। हरये। हरिभ्याम्। हरिभ्यः।

....

सूत्र में शेषः का प्रयोजन बताते हैं- **शेष इति स्पष्टार्थम्।** यहाँ पर शेष का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है, केवल स्पष्टता के लिए है। **उक्तादन्यः शेषः।** कहने के बाद जो बचे, उसे शेष कहते हैं। **यू स्त्र्याख्यौ नदी** और **ङिति ह्रस्वश्च** से स्त्रीलिङ्ग में दीर्घ ईकार और ऊकार तथा स्त्रीलिङ्गीय ह्रस्व इकार-उकार की नदीसंज्ञा होने के बाद शेष ह्रस्व इकार और उकार की स्वतः **घिसंज्ञा** प्राप्त होगी, क्योंकि अपवाद के क्षेत्र को छोड़कर उत्सर्ग शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। **प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते।** **शेषो घ्यसखि** उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र है और **ङिति ह्रस्वश्च** अपवाद सूत्र। अपवाद सूत्र के द्वारा छोड़े गये इ-उ-वर्ण की स्वतः घिसंज्ञा प्राप्त होती है। अतः **शेषो घ्यसखि** में **शेष-शब्द** केवल स्पष्टता के लिए है, अत्यावश्यक नहीं है।

१७१- **आङो नास्त्रियाम्।** न स्त्री- अस्त्री, तस्याम्- अस्त्रियाम्। आङः षष्ठ्यन्तं, ना लुप्तप्रथमाकम्, अस्त्रियां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अच्च घेः** से घेः की अनुवृत्ति आ रही है।

घिसंज्ञक शब्द से परे आङ् के स्थान पर ना आदेश होता है, स्त्रीलिंग में नहीं।

इस सूत्र में आङ् से तृतीया-एकवचन का टा लिया गया है क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने टा की आङ्-संज्ञा की है।

हरिणा। हरि-शब्द से तृतीया के एकवचन में टा आया। टकार की **चुटू** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **हरि+आ** बना। ऐसी स्थिति में हरि की **शेषो घ्यसखि** से घिसंज्ञा हुई। **आङो नास्त्रियाम्** से टा के आकार के स्थान पर ना आदेश हुआ- **हरि+ना** बना। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व हुआ- **हरिणा** सिद्ध हुआ।

हरिभ्याम्। हरि से तृतीया का द्विवचन भ्याम् आया- हरिभ्याम् बना। यहाँ पर **सुपि च** से दीर्घ नहीं होगा, क्योंकि हरि शब्द अदन्त न होकर इदन्त है।

चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में भी हरिभ्याम् ही बनता है।

हरिभिः। बहुवचन भिस् आया। यहाँ पर भी **अतो भिस ऐस्** से ऐस् आदेश नहीं होगा, क्योंकि हरि शब्द अदन्त नहीं है इदन्त है। **हरि+भिस्** में सकार का रुत्व हुआ और विसर्ग हुआ- **हरिभिः** सिद्ध हुआ।

१७२- **घेर्ङिति।** घेः षष्ठ्यन्तं, ङिति सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ह्रस्वस्य गुणः** से गुणः और **सुपि च** से सुपि की अनुवृत्ति आ रही है।

पूर्वरूपविधायकं विधिसूत्रम्

१७३. **ङसिङसोश्च ६।१।११०॥**

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः २। हर्योः २। हरीणाम्।

....

घिसंज्ञक को गुण होता है ङित् सुप् के परे रहने पर।

जिस में ङकार की इत्संज्ञा होती है वह ङित् हो जाता है। जैसे **ङे, ङसि, ङस्,** ङि में ङकार की इत्संज्ञा हो रही है। ऐसे ङित् सुप् के परे रहने पर ही यह सूत्र काम करता है।

हरये। हरि-शब्द से चतुर्थी का एकवचन ङे आया। ङकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। हरि की **शेषो घ्यसखि** से घिसंज्ञा हुई। हरि+ए में इकार के स्थान पर **घेर्ङिति** से गुण हुआ- हरे+ए बना। ऐसी स्थिति में **एचोऽयवायावः** से एकार के स्थान पर अय् आदेश हुआ- **हर्+अय्+ए** बना। वर्णसम्मेलन हुआ-हरये सिद्ध हुआ।

हरिभ्यः। हरि से चतुर्थी का बहुवचन भ्यस् आया। हरिभ्यस् में सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- **हरिभ्यः** सिद्ध हुआ। यहाँ पर **बहुवचने झल्येत्** से एत्व नहीं हुआ, क्योंकि हरि अदन्त नहीं है, इदन्त है। पञ्चमी के बहुवचन में **हरिभ्यः** ही बनेगा।

एक बात बताना चाहता हूँ कि प्रत्यय, आगम और आदेशों में जिस वर्ण की भी इत्संज्ञा और लोप किया जाता है, ऐसे वर्णों को अनुबन्ध कहते हैं। **इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्**। अर्थात् जो वर्ण इत्संज्ञा का योग्य है उसे अनुबन्ध कहा जाता है। अब हम **हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनुनासिक इत्, लशक्वतद्धिते, चुटू** आदि सूत्रों से जो जिस वर्ण की इत्संज्ञा होती है, उसे आगे केवल **अनुबन्धलोप** कहेंगे और आप समझना कि अमुक-अमुक वर्ण की अमुकसूत्र से इत्संज्ञा और उसका तस्य लोपः से लोप हो रहा है।

अब बार-बार सूत्र घटाने की प्रक्रिया को संक्षेप कर रहे हैं अर्थात् केवल संकेत मात्र करेंगे तो भी आप समझना कि यह कार्य अमुक सूत्र से हो रहा है। जैसे आपने एत्व, दीर्घ, णत्व, षत्व आदि करने वाले सूत्र पढ़ लिये हैं, उसी प्रकार घिसंज्ञा, सर्वनामसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा आदि भी जान चुके हैं। अतः सूत्रों की व्याख्या या साधनी प्रक्रिया को ज्यादा लम्बा न करके संकेत करते हुए चलेंगे। जैसे **'हरि की घिसंज्ञा हुई'** ऐसा कहा तो आप समझेंगे कि हरि शब्द ह्रस्व इकारान्त है, अतः इसकी **शेषो घ्यसखि** से घिसंज्ञा हुई। इसी प्रकार णत्व हुआ कहने से **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व, षत्व कहने से **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व आदि समझते जाना। जहाँ पर समझ में न आये, अपने शिक्षकों से तो पूछ ही सकते हैं।

१७३- **ङसिङसोश्च**। ङसिश्च ङस् च, ङसिङसौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, तयोः ङसिङसोः। ङसिङसोः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। एङः पदान्तादति से एङः और अति की अनुवृत्ति आई है। **एकः पूर्वपरयोः** पूरे सूत्र का अधिकार है।

एङ् से ङसि और ङस् सम्बन्धी ह्रस्व अकार के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

हरेः। हरि-शब्द से पञ्चमी का एकवचन ङसि आया, अनुबन्धलोप हुआ,

औदादेशादिविधायकं विधिसूत्रम्

१७४. अच्च घेः ७।३।११९॥

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरच्च। हरौ। हरिषु। एवं कव्यादयः।

....

घिसंज्ञा हुई। **हरि+अस्** में **घेर्ङिति** से गुण हुआ- **हरे+अस्** बना। **हरे+अस्** में अय् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर के **ङसिङसोश्च** से पूर्व के एकार और पर के अकार के स्थान पर पूर्वरूप एकार एकादेश हुआ-**हरेस्** बना। सकार का रुत्व-विसर्ग, **हरेः** यह रूप सिद्ध हुआ।

षष्ठी के एकवचन में भी **हरेः** ही बनेगा।

हर्योः। षष्ठी-द्विवचन ओस्, हरि+ओस् में **इको यणचि** से यण् हर्+य्+ओस् बना। **र्+य्+ओस्** में वर्णसम्मेलन हुआ- **हर्योस्** बना। सकार का रुत्व-विसर्ग, **हर्योः**।

सप्तमी के द्विवचन में भी **हर्योः** ही बनेगा।

हरीणाम्। षष्ठी-बहुवचन में आम् आया, **हरि+आम्** में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् आगम, **नामि** से दीर्घ करके **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व हुआ- **हरीणाम्** सिद्ध हुआ।

१७४-अच्च घेः। अत् प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, घेः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इदुद्भ्याम्** से **इदुद्भ्याम्** की, **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से **ङेः** की और **औत्** से **औत्** की अनुवृत्ति है।

ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि के स्थान पर औत् (औकार) आदेश और घिसंज्ञक के स्थान पर अत् (अकार) आदेश होता है।

यह सूत्र दो काम करता है- प्रथमतः ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि के स्थान पर औकार आदेश और दूसरा- घिसंज्ञक वर्ण अर्थात् ह्रस्व इकार और उकार के स्थान पर **अत्** अर्थात् **ह्रस्व अकार** आदेश।

हरौ। हरि-शब्द से सप्तमी का एकवचन ङि-विभक्ति, अनुबन्धलोप, घिसंज्ञा, **घेर्ङिति** से गुण प्राप्त, उसे बाधकर **अच्च घेः**। इससे हरि से परे ङि के इकार के स्थान पर औकार आदेश और हरि के इकार के स्थान पर अकार आदेश करके **हर+औ** बना। **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **हरौ** सिद्ध हुआ।

हरिषु। सप्तमी के बहुवचन में सुप्, अनुबन्धलोप, षत्व करके **हरिषु** सिद्ध हुआ।

हरिशब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हरिः	हरी	हरयः
द्वितीया	हरिम्	हरी	हरीन्
तृतीया	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
चतुर्थी	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
पञ्चमी	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
षष्ठी	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
सप्तमी	हरौ	हर्योः	हरिषु
सम्बोधन	हे हरे	हे हरी	हे हरयः।

अनङादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१७५. अनङ् सौ ७।१।९३॥

सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ।

उपधासंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१७६. अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५॥

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

....

अब इसी प्रकार ह्रस्व-इकारान्त पुँल्लिग के सारे शब्दों का रूप बनाने चाहिए। कुछ ही शब्द ऐसे हैं जो हरि-शब्द जैसे नहीं हैं, जैसे पति, सखि आदि। बाकी सारे ह्रस्व-इकारान्त शब्द हरि के अनुसार रूप वाले होते हैं। अब आप निम्नलिखित शब्दों के रूप बनाइये।

शब्द-अर्थ	शब्द-अर्थ	शब्द-अर्थ
अग्नि=आग	अतिथि=मेहमान	अरि=शत्रु
उदधि=समुद्र	अहि=साँप	उपाधि=उपाधि
ऋषि=मुनि	कपि=वानर	कवि=कविताकार
गिरि=पहाड	ध्वनि=आवाज	निधि=खजाना
नृपति=राजा	पशुपति=शिव	पाणि=हाथ
प्रतिनिधि=प्रतितिधि	पाणिनि=प्रसिद्ध मुनि	मणि=मणि
मारुति=हनुमान	मुनि=ऋषि	यति=संन्यासी
रमापति=विष्णु	रवि=सूर्य	राशि=ढेर
विधि=तरीका	सन्धि=मेल	सभापति= सभा मुख्य
समाधि=समाधि	सारथि=ड्राइवर	सुमति=श्रेष्ठ बुद्धि वाला

१७५- अनङ् सौ। अनङ् प्रथमान्तं, सौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **सख्युरसम्बुद्धौ** यह पूरा सूत्र आता है। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

सम्बुद्धि-भिन्न सु के परे होने पर अङ्गसंज्ञक सखि-शब्द के स्थान पर अनङ् आदेश होता है।

अनङ् में ङकार तथा नकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञा का फल लोप है, यह विदित है ही। अन् शेष रहता है। ङित् होने के कारण **ङिच्च** के नियम से अन्त्य-वर्ण सखि के इकार के स्थान पर **अनङ्** होगा। सु परे हो किन्तु वह सम्बुद्धि न हो। स्मरण रहे कि **एकवचनं सम्बुद्धिः** से सम्बोधन के एकवचन की **सम्बुद्धिसंज्ञा** होती है।

१७६- अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा। अलः पञ्चम्यन्तम्, अन्त्यात् पञ्चम्यन्तं, पूर्वः प्रथमान्तम्, उपधा प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। यह सूत्र उपधासंज्ञा करता है।

वर्णों के समुदाय में से जो अन्तिम वर्ण हो, उससे पूर्व के वर्ण की यह उपधासंज्ञा होती है।

इस सूत्र के प्रवृत्त होने में पद, अपद, धातु, प्रातिपदिक, आगम, आदेश आदि किसी की अपेक्षा न होकर वर्णों के किसी भी समुदाय में जो अन्त्य हो उससे पूर्ववर्ण की अपेक्षा होती है। जैसे राम में अन्त्यवर्ण है मकार के बाद का अकार और उससे पूर्व का

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

१७७. सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

अपृक्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१७८. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः १।२।४१॥

एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१७९. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८॥

हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते।

...

वर्ण है मकार, अतः मकार की उपधासंज्ञा हो जायेगी किन्तु मकार की उपधासंज्ञा करने का कोई फल नहीं है। अतः इत्संज्ञा भी नहीं की जाती। क्योंकि **या या संज्ञा सा सा फलवती** जो भी संज्ञा की जाती है, उसका कोई न कोई प्रयोजन होता है। संज्ञा करने के बाद भी कोई प्रयोजन सिद्ध न हो रहा हो तो संज्ञा का करना ही व्यर्थ है। अतः महाभाष्य में अनेक जगहों पर भाष्यकार का वचन आता है **प्रयोजनाभावादित्सञ्ज्ञापि न**। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

१७७- सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ। न सम्बुद्धिः- असम्बुद्धिः, तस्याम् असम्बुद्धौ। सर्वनामस्थाने सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदम्, असम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **नोपधायाः** से न तथा उपधायाः की और **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घः की अनुवृत्ति आती है। यहाँ न का अर्थ निषेध न होकर **नकारान्त** ऐसा अर्थ है।

सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे रहने पर नकारान्त उपधासंज्ञक वर्ण को दीर्घ आदेश होता है।

१७८- अपृक्त एकाल् प्रत्ययः। एकश्चासौ अल् एकाल्। अपृक्तः प्रथमान्तम्, एकाल् प्रथमान्तं, प्रत्ययः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

एक अल् अल् रूप जो प्रत्यय वह अपृक्तसंज्ञक होता है अर्थात् उसकी अपृक्तसंज्ञा होती है।

उदाहरणार्थ- सु प्रत्यय में स् तथा उ दो अल् थे किन्तु उकार की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के कारण केवल स् बचा हुआ है। इसलिए सु का सकार एक मात्र अल् है, अतः उसकी अपृक्तसंज्ञा हो गई।

१७९- हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्। हल् च ङीप् च आप् च तेषामितरेतरद्वन्द्वो हल्ङ्यापः, तेभ्यो हल्ङ्याब्भ्यः। सु श्च, तिश्च, सिश्च तेषां समाहारद्वन्द्वः, सुतिसि, सुतिसिनोऽपृक्तं सुतिस्यपृक्तम्। हल्ङ्याब्भ्यः पञ्चम्यन्तं, दीर्घात् पञ्चम्यन्तं, सुतिस्यपृक्तं प्रथमान्तं, हल् प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **लोपो व्योर्वलि** से लोपः की अनुवृत्ति आती है। सुतिसिनो यत् अपृक्तं हल्, स लुप्यते।

नकारलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१८०. न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७॥

प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

णिद्वद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्

१८१. सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२॥

सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्।

....

जिसके अन्त्य में हल् हो ऐसे हलन्त से परे तथा दीर्घ जो ङी और आप् अन्त में हों ऐसे ङ्यन्त एवं आबन्त शब्दों से परे सु-ति-सि का जो अपृक्तसंज्ञक हल्, उसका लोप होता है।

जिसका लोप होगा वह **सु** का सकार होगा या **ति** का तकार होगा या **सि** का सकार होगा किन्तु अपृक्त (एक अल्) हो तो और उसके पूर्व में हल् अक्षर हो या ङी प्रत्यय के बाद बचा हुआ ईकार अथवा आप् (टाप्) प्रत्यय के बाद बचा हुआ आकार दीर्घ ही बने हुए हों तभी।

१८०- न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य। न लुप्तषष्ठीकं पदं, लोपः प्रथमान्तं, प्रातिपदिक लुप्तषष्ठीकं पदं, अन्तस्य षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, उसके अन्त में विद्यमान नकार का लोप होता है।

मेरे द्वारा लिखित **ऋजुसिद्धान्तकौमुदी** और उसकी टीका **श्रीधरमुखोल्लासिनी** में इस सूत्र का पदविभाग कुछ भिन्न तरीके से किया गया था। वहाँ पर **नलोपः** एक पद माना गया था। ऋजुता के लिए ऐसा था, किन्तु प्रौढ़ छात्रों को यहाँ लघुसिद्धान्तकौमुदी के हिसाब से समझना चाहिए।

सखि। मित्र। **सखि-शब्द** इकारान्त है, किन्तु **शेषो घ्यसखि** में **असखि** निषेध के कारण इसकी घिसंज्ञा नहीं होती है। अतः घिसंज्ञाप्रयुक्त कार्य ना आदेश, गुण, अत् आदेश आदि नहीं होंगे।

सखा। सखि से प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप होने के बाद **सखि स्** बना। **ङिच्च** की सहायता से सखि के अन्त्य वर्ण के इकार के स्थान पर **अनङ् सौ** से **अनङ्** आदेश हुआ। ङकार और अकार की इत्संज्ञा होने के बाद **अन्** बचा। **सख्+अन्+स्** हुआ। **सख्+अन्** में वर्णसम्मेलन हुआ- **सखन्** बना। अन्त्य वर्ण नकार से पहले का वर्ण खकारोत्तरवर्ती अकार की **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** से उपधासंज्ञा और सु की **सुडनपुंसकस्य** से **सर्वनामस्थानसंज्ञा** हो जाती है। **सखन्+स्** में **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से उपधा को दीर्घ हुआ- **सखान्+स्** बना। स् केवल एक अल् है और प्रत्यय भी। अतः उसकी **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** से **अपृक्तसंज्ञा** हो गई और सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ। यहाँ पर हलन्त **सखान्** से परे सु-सम्बन्धी अपृक्त हल् **स्** है। उसके लोप होने पर **सखान्** बना। नकार की **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ। **सखा** सिद्ध हुआ। यहाँ पर सु का लोप पहले ही हो गया था तथापि **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** से सु-प्रत्ययत्व मानकर पदसंज्ञक माना जाता है और पद के अन्त में विद्यमान नकार का लोप हो जाता है।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

१८२. अचो ञ्णिति ७।२।११५॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च परे। सखायौ। सखायः। हे सखे। सखायम्। सखायौ। सखीन्। सख्या। सख्ये।

उत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१८३. ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२॥

खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः।

....

१८१- सख्युरसम्बुद्धौ। न सम्बुद्धिः- असम्बुद्धिः, तस्यां सम्बुद्धौ। सख्युः पञ्चम्यन्तम्, असम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से **सर्वनामस्थाने** तथा **गोतो णित्** से **णित्** की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

अङ्गसंज्ञक सखिशब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव होता है।

णिद्वद्भाव का तात्पर्य- जो णित् नहीं है अर्थात् जिस प्रत्यय आदि में णकार की इत्संज्ञा नहीं हुई है, वह भी णित् की तरह हो जाय अर्थात् णित् को मानकर जो कार्य हो सकता है, वह कार्य हो जाय। यह अतिदेश सूत्र है। जो वैसा नहीं है, उसे वैसा मानना ही अतिदेश है। औ, जस्, अम्, औट् ये स्वतः णित् नहीं हैं किन्तु इस सूत्र से सखि-शब्द से परे इनको णित् जैसा कर दिया जाता है। यहाँ पर णिद्वद्भाव का फल **अचो ञ्णिति** से वृद्धि करना है।

१८२- अचो ञ्णिति। ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य तत् ञ्णित्, तस्मिन् ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अचः षष्ठ्यन्तं, ञ्णिति सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **मृजेर्वृद्धिः** से **वृद्धिः** की अनुवृत्ति आती है और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

ञित् या णित् प्रत्यय के परे होने पर अजन्त अङ्ग की वृद्धि होती है।

सखायौ। सखि से प्रथमा का द्विवचन औ आया। सखि से परे औ की **सख्युरसम्बुद्धौ** से णिद्वद्भाव हो जाने पर सखि के इकार की **अचो ञ्णिति** से वृद्धि हो गई। इकार की वृद्धि ऐ होती है। अतः सखै+औ बना। **एचोऽयवायावः** से ऐकार के स्थान पर **आय्** आदेश हुआ- **सख्+आय्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **सखायौ** सिद्ध हुआ।

सखायः। सखायम्। सखायौ। सर्वनामस्थान अर्थात् औट् तक इसी तरह णिद्वद्भाव करके **अचो ञ्णिति** से वृद्धि करके आय् आदेश करके वर्णसम्मेलन करें।

हे सखे। हे सखायौ। हे सखायः। सखि+स् में **एकवचनं सम्बुद्धि** से सम्बुद्धिसंज्ञा, **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** से स् का लोप, हे का पूर्वप्रयोग **हे सखे**। द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा की तरह बनाकर हे का पूर्वप्रयोग करने पर **हे सखायौ, हे सखायः** बन जाते हैं।

सखीन्। सखि+शस्, सखि+अस्, पूर्वसवर्णदीर्घ-सखीस्, नत्व- **सखीन्।**

सख्या। सखि+टा, सखि+आ, यण्- **सख्या।** घिसंज्ञा न होने से **आङो नाऽस्त्रियाम्** से ना आदेश नहीं हुआ।

सखिभ्याम्। सखिभिः। सखिभ्यः। भ्याम् में कुछ भी नहीं करना है, केवल प्रत्यय लाकर जोड़ना है। भिस् और भ्यस् में सकार का रुत्वविसर्ग करना है।

औदादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१८४. **औत् ७।३।११८॥**

इतः परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

....

सख्ये। सखि+ङे, सखि+ए, यण्-सख्+य्+ये=सख्ये। घिसंज्ञा न होने के कारण घेर्ङिति से गुण नहीं हुआ।

१८३- **ख्यत्यात्परस्य**। ख्यश्च त्यश्च तयोः समाहारद्वन्द्वः- ख्यत्यम्, तस्मात् ख्यत्यात्। ख्यत्यात् पञ्चम्यन्तं, परस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ङसिङसोश्च** से **ङसिङसोः** तथा **एङः पदान्तादति** से विभक्तिविपरिणाम करके **अतः** एवं **ऋत उत्** से उत् का अनुवर्तन है।

जिनके स्थान पर यण् किया गया हो ऐसे खि-शब्द और ति-शब्द अथवा खी-शब्द और ती-शब्द से परे ङसि और ङस् के अकार के स्थान पर उत् अर्थात् ह्रस्व उकार आदेश होता है।

सूत्र में **ख्यत्यात्** ऐसा खि+अ=ख्य, ति+अ=त्य यण् किया हुआ शब्द पढ़ा गया है। खि-ति और खी-ति में यण् करके **ख्यत्य** बनता है। यण् होने पर ही यह सूत्र लगे, इसलिए ऐसा निर्देश किया गया है।

सख्युः। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में ङसि और ङस् के आने पर अनुबन्धलोप करने पर **सखि+अस्** बना है। यण् करके **सख्+य्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन करने पर **सख्यस्** बना। विभक्ति के अकार के स्थान पर **ख्यत्यात्परस्य** से उकार आदेश होकर **सख्युस्** बना। सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **सख्युः**।

सख्योः। **सखीनाम्**। हर्योः की तरह सख्योः और हरीणाम् की तरह सखीनाम्। रेफ और षकार न होने के कारण नकार को णकार नहीं हुआ।

१८४- **औत्**। औत् प्रथमान्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इदुन्भ्याम्** से **इदुद्भ्याम्** तथा **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से **ङेः** की अनुवृत्ति आती है।

ह्रस्व इकार और उकार से परे ङे के स्थान पर औत् अर्थात् औकार आदेश होता है।

इसका बाधक **अच्च घेः** है। घिसंज्ञा होने पर वह लगता है और न होने पर यह। **अच्च घेः** अकार आदेश और औकार आदेश दो कार्य एक साथ करता है किन्तु यह केवल औकार आदेश ही करता है। वह अनेक जगह पर लगता है, क्योंकि पुँल्लिङ्ग में **सखि** और **पति** को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त सभी शब्द घिसंज्ञक होते हैं, अतः **अच्च घेः** का कार्य ज्यादा होता है फिरभी यह उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र है और वह अपवाद, क्योंकि यह केवल इकार, उकार से परे कार्य करता है तो वह घिसंज्ञक इकार उकार में।

सख्यौ। सखि से ङि, अनुबन्धलोप करके सखि+इ में इकार के स्थान पर **औत्** से औकार आदेश, **सखि+औ** में यण् करने पर **सख्यौ** सिद्ध होता है।

सखिषु। हरिषु की तरह यह भी बन जाता है।

घिसंज्ञाविधायकं नियमसूत्रम्

१८५. पतिः समास एव १।४।८।।

घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः२। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

सखि-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सखा	सखायौ	सखायः
द्वितीया	सखायम्	सखायौ	सखीन्
तृतीया	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
चतुर्थी	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
पञ्चमी	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
षष्ठी	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सप्तमी	सख्यौ	सख्योः	सखीषु
सम्बोधन	हे सखे	हे सखायौ	सखायः

१८५- **पतिः समास एव**। पतिः प्रथमान्तं, समासे सप्तम्यन्तम्, एव अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। अनुवृत्तिः- **शेषो घ्यसखि** से **घिः** आता है।

समास होने पर ही पति शब्द घिसंज्ञक होता है।

शेषो घ्यसखि से समास और असमास दोनों स्थिति में घिसंज्ञा की प्राप्त हो रही थी तो इस सूत्र ने नियम कर दिया कि पतिशब्द की घिसंज्ञा तभी होगी जब किसी शब्द के साथ समस्त हो अर्थात् समास को प्राप्त हुआ हो। समास होने के लिए कम से कम दो शब्द तो चाहिए ही। अकेले शब्द में कभी समास नहीं होता। जैसे रमायाः पतिः= रमा+पति=रमापति। **रमापति** ऐसे ही किसी शब्द के साथ समास हो जाने के बाद ही **पति** शब्द की **घिसंज्ञा** होगी, अकेले पति शब्द की नहीं। घिसंज्ञा का फल तृतीया का एकवचन में **आङो नास्त्रियाम्** से ना आदेश, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी के एकवचनों में **घेर्ङिति** से गुण होना और **अच्च घेः** से औत्व एवं अत्व करना आदि-आदि। ये सब कार्य अकेले पति शब्द में नहीं होंगे। शेष जगह पति के रूप हरि शब्द के जैसे ही होंगे जैसे- पतिः, पती, पतयः, पतिम्, पती, पतीन् आदि।

पत्या। पति शब्द के तृतीया एकवचन में टा विभक्ति है। अनुबन्धलोप, पति+आ, घिसंज्ञा के अभाव मे ना आदेश नहीं हुआ। ति के इकार के स्थान पर **इको यणचि** से यण् हुआ- **पत्+य्+आ** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **पत्या** सिद्ध हुआ।

पत्ये। चतुर्थी के एकवचन में **पति+ए** है। घिसंज्ञा के अभाव में **घेर्ङिति** से गुण नहीं हुआ। यण् होकर **पत्य् ए** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **पत्ये** सिद्ध हुआ।

पत्युः। पति के पञ्चमी के एकवचन में ङसि और षष्ठी के एकवचन में ङस् आया। अनुबन्धलोप हुआ- **पति+अस्** बना। **इको यणचि** से यण् हुआ- **पत्य्+अस्** बना। अस् के अकार के स्थान पर **ख्यत्यात्परस्य** से उत्व हुआ- **पत्य्+उस्** बना। वर्णसम्मेलन हुआ-पत्युस् बना। सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **पत्युः** सिद्ध हुआ।

सङ्ख्यासंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१८६. बहुगणवतुडति सङ्ख्या १।१।२३॥

षट्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१८७. डति च १।१।२५॥

डत्यन्ता सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्।

....

पत्यौ। पति शब्द से सप्तमी में ङि-विभक्ति आई, अनुबन्धलोप हुआ। पति+इ में **औत्** से ङि वाले इकार के स्थान पर औकार आदेश हुआ। **पति+औ में इको यणचि** से यण् हुआ- **पत्यौ** सिद्ध हुआ।

पतिशब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पतिः	पती	पतयः
द्वितीया	पतिम्	पती	पतीन्
तृतीया	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
चतुर्थी	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पञ्चमी	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
षष्ठी	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
सप्तमी	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
सम्बोधन	हे पते	हे पती	हे पतयः।

जब पति शब्द का किसी शब्द के साथ समास होगा तो उसके रूप हरि शब्द के समान होंगे। जैसे **भुवः पतिः= भूपतिः।**

भूपतिशब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	भूपतिः	भूपती	भूपतयः
द्वितीया	भूपतिम्	भूपती	भूपतीन्
तृतीया	भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभिः
चतुर्थी	भूपतये	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
पञ्चमी	भूपतेः	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्यः
षष्ठी	भूपतेः	भूपत्योः	भूपतीनाम्
सप्तमी	भूपतौ	भूपत्योः	भूपतिषु
सम्बोधन	हे भूपते	हे भूपती	हे भूपतयः।

कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। किम्-शब्द से डति-प्रत्यय होकर **कति** बनता है और नित्य बहुवचन में ही प्रयोग होता है। **कति**=कितना।

१८६- बहुगणवतुडति सङ्ख्या। बहुश्च, गणश्च, वतुश्च, डतिश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, बहुगणवतुडति। बहुगणवतुडति प्रथमान्तं, सङ्ख्या प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। (बहुगणशब्दौ वतु-डति प्रत्ययान्तौ च सङ्ख्यासंज्ञकाः स्युः।)

लुग्विधायकं विधिसूत्रम्

१८८. षड्भ्यो लुक् ७।१।२२॥

जश्शसोः।

लुक्-श्लु-लुप्-संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१८९. प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१॥

लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्।

अतिदेशसूत्रम्

१९०. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२॥

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति जसि चेति गुणे प्राप्ते।

....

बहु, गण शब्द तथा वतु और डति प्रत्ययान्त शब्द सङ्ख्यासंज्ञक होते हैं।

प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् इस परिभाषा के बल से वतु और डति से वतुप्रत्ययान्त और डतिप्रत्ययान्त का ग्रहण किया जाता है।

१८७- डति च। डति प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **बहुगणवतुडति सङ्ख्या** से सङ्ख्या की तथा **ष्णान्ता षट्** से षट् की अनुवृत्ति आती है।

डतिप्रत्ययान्त सङ्ख्यासंज्ञक शब्द षट्-संज्ञक होते हैं।

१८८- षड्भ्यो लुक्। षड्भ्यः पञ्चम्यन्तं, लुक् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **जश्शसोः शिः** से जश्शसोः की अनुवृत्ति आती है।

षट्संज्ञक शब्दों से परे जस् और शस् का लुक् होता है।

१८९- प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः। लुक् च श्लुश्च, लुप्च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वः। **अदर्शनं लोपः** से अदर्शनम् की अनुवृत्ति आती है।

लुक्, श्लु और लुप् शब्द का उच्चारण करके जो प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है, उस अदर्शन की क्रमशः लुक्, श्लु और लुक् संज्ञा होती है।

अदर्शन मात्र को लोप कहते हैं किन्तु व्याकरण शास्त्र में विविध कार्यों की सिद्धि के लिए आचार्य ने लुक्, श्लु और लुप् के द्वारा भी अदर्शन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह लोप एक अदर्शन है, उसी तरह लुक्, श्लु और लोप भी अदर्शन ही है। यह सूत्र विधान करता है कि यदि सूत्र में लुक्, श्लु और लुप् शब्द का उच्चारण करके प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है तो जिस तरह से सामान्य अदर्शन को लोप कहा जाता है उसी तरह यहाँ क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् कहा जाय।

लोप करने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** के नियम से उनको मानकर के होने वाला कार्य, उनके अदर्शन होने पर भी होता है किन्तु **न लुमताङ्गस्य** से निषेध होने के कारण लुक्, श्लु, लुप् होने पर तदाश्रित कार्य नहीं होता। यह बात आगे स्पष्ट होगी।

१९०- प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्। प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः, तस्मिन् प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रत्ययस्य लक्षणं निमित्तं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, बहुव्रीहिः।

प्रत्यय लुप्त होने पर अर्थात् प्रत्यय के लोप हो जाने पर प्रत्यय को मानकर होने वाला कार्य हो जाता है।

प्रत्ययलक्षणनिषेधसूत्रम्

१९१. **न लुमताङ्गस्य १।१।६३॥**

लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्।

कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिषु।

युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः।

त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २।

वे कार्य जो प्रत्यय को निमित्त मान कर होते हैं, प्रत्यय के अदर्शन होने पर भी हों। जैसे **जसि च** से जस् के परे होने पर पूर्व इगन्त अङ्ग को गुण होता है, वह प्रत्यय जस् के लोप होने पर भी हो।

१९१- **न लुमताङ्गस्य।** लुः (एकदेशः) अस्यास्तीति लुमान्, तेन लुमता। न अव्ययपदं, लुमता तृतीयान्तम्, अङ्गस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** यह पूरा सूत्र अनुवृत्त होता है।

लु-वाले (लुक्, श्लु, लुप्) वाले शब्द से प्रत्यय का अदर्शन होने पर उन्हें निमित्त मानकर होने वाला अङ्गसम्बन्धी कार्य नहीं होता।

लुक्, श्लु और **लु** ये लु वाले वर्ण हैं अर्थात् इनमें लु का उच्चारण है। लोप में लु नहीं है। जहाँ पर लु वाले शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन किया गया हो, वहाँ तदाश्रित कार्य अर्थात् प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला अङ्गकार्य नहीं होता है। इस तरह लोप और श्लुक्, श्लु, लुप् में अन्तर स्पष्ट हुआ कि लोप होने पर भी तदाश्रित अङ्गकार्य होता है और लुक्, श्लु, लुप् होने पर तदाश्रित अङ्गकार्य नहीं होता है। यद्यपि उक्त चारों शब्दों से अदर्शन अर्थात् एक तरह का लोप ही किया जाता है तथापि इसका अगला जो परिणाम है, वह भिन्न-भिन्न है।

कति। किम्-शब्द से डति-प्रत्यय होकर कति बना है। उससे बहुवचन में जस् आया। अनुबन्धलोप होकर **कति+अस्** बना। कति की **बहुगणवतुडति सङ्ख्या** से सङ्ख्यासंज्ञा और **डति च** से **षट्संज्ञा** करके षट्संज्ञक कति से परे जस् का **षड्भ्यो लुक्** से लुक् हुआ तो **कति** मात्र रह गया। अब यहाँ पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** के नियम से जस् को निमित्त मानकर होने वाला कार्य **जसि च** से कति के इकार को गुण हो जाना चाहिए था किन्तु श्लु इस लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन होने के कारण **न लुमताङ्गस्य** से निषेध हो गया। अतः गुण नहीं हुआ। इस तरह सिद्ध रूप **कति** ही है। शस् में भी यही प्रक्रिया होती है।

कतिभिः। कतिभ्यः। कतीनाम् और **कतिषु** ये प्रयोग हरि-शब्द की तरह बनते हैं। अतः हरिशब्द की प्रक्रिया का स्मरण करें। इस तरह **कति** के रूप केवल बहुवचन में इस तरह बने- **कति, कति, कतिभिः, कतिभ्यः, कतिभ्यः, कतीनाम्, कतिषु।**

युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। युष्मत्, अस्मत् और षट्-संज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान रूप वाले होते हैं। तीनों लिङ्गों के लिए त्वम्, युवाम्, यूयम्। अहम्, आवाम्, वयम्। कति पुरुषाः?, कति स्त्रियः? कति पुस्तकानि ही बनते हैं।

त्रयः। तीन। त्रि-शब्द नित्य बहुवचन वाला है। जस् आया, अनुबन्धलोप होकर

त्रयादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१९२. त्रेस्त्रयः ७।१।५३॥

त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि प्रियत्रयाणाम्।

अत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१९३. त्यदादीनामः ७।२।१०२॥

एषामकारो विभक्तौ।

वार्तिकम्- **द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः।**

द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। पाति लोकमिति पपीः सूर्यः।

दीर्घाज्जसि च। पप्यौ २। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः २। **दीर्घत्वान्न नुट्,** पप्याम्। **ङौ तु सवर्णदीर्घः,** पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

....

त्रि+अस् बना। **जसि च** से इकार को गुण होकर एकार और इसके स्थान पर **अय्** आदेश होकर त्र्+अय्+अस् बना। वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग करके **त्रयः** सिद्ध हुआ।

त्रीन्। द्वितीया के बहुवचन में शस्, अनुबन्धलोप। **त्रि+अस्** में पूर्वसवर्णदीर्घ के बाद **त्रीस्** बनने के बाद **तस्माच्छसो नः पुंसि** से सकार के स्थान पर नत्व हुआ **त्रीन्।**

त्रिभिः। त्रिभ्यः त्रि-शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् आया, सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **त्रिभिः।** चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् आकर सकार का रुत्वविसर्ग होकर- **त्रिभ्यः** सिद्ध हुआ।

१९२- **त्रेस्त्रयः।** त्रेः षष्ठ्यन्तं, त्रयः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से **आमि** की अनुवृत्ति आती है।

आम् के परे रहने पर त्रिशब्द के स्थान पर त्रय आदेश होता है।

त्रय आदेश अदन्त है।

त्रयाणाम्। त्रिषु। त्रिशब्द से आम् परे रहने पर **त्रेस्त्रयः** से त्रय आदेश हुआ। **त्रय+आम्** में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् और **नामि** से दीर्घ करके णत्व हो गया- **त्रयाणाम्।** सप्तमी के एकवचन सुप् आने पर अनुबन्ध लोप हुआ। **त्रि+सु** में **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व हो गया- **त्रिषु** सिद्ध हुआ।

गौणत्वेऽपि प्रियत्रयाणाम्। समास आदि करके त्रि शब्द अप्रधान हो जाय तो भी त्रय आदेश होता है जिससे प्रियत्रयाणाम् बनता है। तात्पर्य यह है कि **प्रियास्त्रयः सन्ति यस्य स प्रियत्रिः,** तीन प्रिय हैं, जिसके व पुरुष **प्रियत्रि** है। यहाँ बहुव्रीहि समास होने के कारण तीन प्रिय वाला अन्य किसी पुरुष का अर्थ प्रधान है, न कि समास किये गये **प्रिय** और **त्रि** का। अतः प्रियत्रि में स्थित **त्रि** शब्द अप्रधान अर्थात् गौण है तो भी यह सूत्र **प्रियत्रि** से **आम्** विभक्ति होने पर **त्रि** के स्थान पर **त्रय** आदेश करता है।

१९३- **त्यदादीनामः।** त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयः, तेषां त्यदादीनाम्, बहुव्रीहिः। त्यदादीनां

षष्ठ्यन्तम्, अः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

विभक्ति के परे होने पर त्यदादिगण में पठित शब्दों के अन्त्य वर्ण के स्थान पर अकार आदेश होता है।

द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। इस सूत्र से अकार करने के लिए भाष्यकार ने त्यदादिगण में **त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि** ये आठ शब्द ही माना है युष्मत्, अस्मत्, भवतु और किम् को छोड़ दिया है।

द्वौ। द्विशब्द केवल द्विवचन वाला है। उससे प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में औ, औट् विभक्ति आई और **औट्** में अनुबन्ध लोप। **त्यदादीनामः** से द्वि के इकार के स्थान पर अत्व हुआ तो द्व बना। **द्व+औ** में वृद्धि को बाधकर होने वाले पूर्वसवर्णदीर्घ का **नादिचि** से निषेध होने से पुनः **वृद्धिरेचि** से वृद्धि हुई- **द्व+औ** बना। वर्णसम्मेलन हुआ-**द्वौ**।

द्वाभ्याम्। द्वि-शब्द से तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम् आया। **त्यदादीनामः** से अत्व हुआ। **द्व+भ्याम्** में **सुपि च** से दीर्घ हुआ- **द्वाभ्याम्**।

द्वयोः। द्विशब्द से षष्ठी और सप्तमी विभक्ति के द्विवचन में ओस्, अत्व, **द्व+ओस्** में **ओसि च** से एत्व, और अय् आदेश, **द्व+अय्+ओस्** में वर्णसम्मेलन, सकार का रुत्वविसर्ग करने पर **द्वयोः** की सिद्धि हुई। इस तरह **द्वि** के रूप बने- **द्वौ, द्वौ, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः**।

इस तरह ह्रस्व अकारान्त शब्दों की प्रक्रिया बताकर अब दीर्घ ईकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों की प्रक्रिया बताई जा रही है।

पपीः। पाति लोकमिति **पपीः**। लोक की रक्षा करने वाला, सूर्य। पा रक्षणे धातु से उणादि में **ई** प्रत्यय, द्वित्व, आकार का लोप करके **पपी** बना है। इससे सु, अनुबन्धलोप, **पपी+स्** बना। हलन्त, ङ्यन्त, आबन्त न होने के कारण **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतीस्यपृक्तं हल्** से सकार का लोप नहीं हुआ तो उसका रुत्वविसर्ग हुआ- **पपीः**।

पप्यौ। पप्यः। पपी+औ में **इको यणचि** से यण् प्राप्त, उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्ण प्राप्त, उसका **दीर्घाज्जसि च** निषेध हुआ तो पुनः **यण्** ही हुआ- पप्+य्+औ बना। वर्णसम्मेलन होकर **पप्यौ** सिद्ध हुआ। बहुवचन में भी यण् होकर **पप्यः** बनता है।

पपीम्। पप्यौ। पपीन्। द्वितीया के एकवचन में पपी+अम्, पूर्वरूप, **पपीम्**। द्विवचन में प्रथमा की तरह **पप्यौ**। बहुवनचन में पूर्वसवर्ण दीर्घ, सकार को **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नत्व करके **पपीन्**।

पप्या। पपीभ्याम्। पपीभिः। तृतीया के एकवचन में **पपी टा, पपी+आ**, यण् **पप्या**। यहाँ पर दीर्घ होने के कारण घिसंज्ञा नहीं हुई, अतः ना आदेश नहीं हुआ। द्विवचन में **पपी+भ्याम्=पपीभ्याम्**। बहुवचन में **पपी+भिस्**, सकार का रुत्वविसर्ग, **पपीभिः**।

पप्ये। पप्यः। चतुर्थी के एकवचन में **पपी ङे, पपी+ए**, यण् **पप्ये**। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में ङसि और ङस्, अनुबन्धलोप करके **पपी+अस्**, यण् और सकार को रुत्वविसर्ग करके **पप्यः**।

पप्योः। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में **पपी+ओस्**, यण्, सकार का रुत्वविसर्ग, **पप्योः**।

नदीसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१९४. यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः।

वार्तिकम्- **प्रथमलिङ्गग्रहणं च।**

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

....

पप्याम्। षष्ठी के बहुवचन में **पपी+आम्**, दीर्घ होने और नद्यन्त या आबन्त न होने के कारण **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् नहीं हुआ तो यण् करके **पप्+य्+आम्=पप्याम्।**

पपी। पपीषु। सप्तमी के एकवचन में **पपी ङि, पपी+इ, अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ होकर **पपी** बना। बहुवचन में **पपी+सु**, षत्व, **पपीषु।**

हे पपीः, हे पप्यौ, हे पप्यः। प्रथमा की तरह बनाकर हे का पूर्वप्रयोग।

पपी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पपीः	पप्यौ	पप्यः
द्वितीया	पपीम्	पप्यौ	पप्यः।
तृतीया	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभिः
चतुर्थी	पप्ये	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
पञ्चमी	पप्यः	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
षष्ठी	पप्यः	पप्योः	पप्याम्
सप्तमी	पपी	पप्योः	पपीषु
सम्बोधन	हे पपीः	हे पप्यौ	हे पप्यः।

इसी प्रकार **वातप्रमी, ययी** आदि शब्दों के रूप होते हैं।

बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। बहुत सी अतिप्रशंसनीय अथवा कल्याणकारिणी (स्त्रियाँ) हैं जिसकी, वह पुरुष **बहुश्रेयसी। श्रेयसी**-शब्द ङीप्-प्रत्ययान्त होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में है किन्तु समास होकर **श्रेयसी वाला जो पुरुष** ऐसा अर्थ बन जाने के बाद **बहुश्रेयसी** शब्द पुँल्लिङ्ग बन गया किन्तु शब्द ङ्यन्त ही रहता है। अतः ङ्यन्त को मानकर होने वाले सुलोप आदि सभी कार्य होते हैं।

बहुश्रेयसी। प्रथमा का एकवचन सु, अनुबन्धलोप, **बहुश्रेयसी+स्**, सकार की अपृक्तसंज्ञा, उसका **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतीस्यपृक्तं हल्** से लोप होकर **बहुश्रेयसी** बना।

बहुश्रेयस्यौ। बहुश्रेयस्यः। द्विवचन में **बहुश्रेयसी+औ** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त, उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त, उसका **दीर्घाज्जसि च** से निषेध होने पर पुनः यण् ही हुआ, **बहुश्रेयस्+य्+औ= बहुश्रेयस्यौ।** बहुवचन में **बहुश्रेयसी जस्, बहुश्रेयसी+अस्, बहुश्रेयस्+य्+अस्, बहुश्रेयस्यस्, बहुश्रेयस्यः।**

१९४- **यू स्त्र्याख्यौ नदी।** ईश्च ऊश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, यू, स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ। यू लुप्तप्रथमाकं, स्त्र्याख्यौ प्रथमान्तं, नदी प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

नित्य स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त शब्द नदीसंज्ञक होते हैं। जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है, ऐसे शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग

हृस्वविधायकं विधिसूत्रम्

१९५. अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७॥

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

आडागमविधायकं विधिसूत्रम्

१९६. आण्नद्याः ७।३।११२॥

नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः।

....

कहलाते हैं और वे ईदन्त और ऊदन्त भी हों तो उनकी नदीसंज्ञा हो जायेगी। नदीसंज्ञा का फल **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**, **आण्नद्याः**, **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** आदि की प्रवृत्ति है।

प्रथमलिङ्गग्रहणं च। यहाँ नदीसंज्ञा के विषय में प्रथम लिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् समास होने के पहले यदि स्त्रीलिङ्ग था समास आदि होने के बाद पुँल्लिङ्ग हो गया हो तो भी स्त्रीलिङ्ग मानकर उसकी नदीसंज्ञा हो जायेगी। जैसे- **बहुश्रेयसी** में केवल श्रेयसी शब्द स्त्रीलिङ्ग है किन्तु बहु के साथ समास होकर के पुँल्लिङ्ग को कहने के कारण यह पुँल्लिङ्ग हो गया है फिर भी इस वार्तिक के बल पर प्रथमलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग का ग्रहण होने के कारण इसकी नदीसंज्ञा हो जाती है।

१९५- **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**। अम्बा अर्थो यस्य स अम्बार्थः, बहुव्रीहिः। अम्बार्थश्च नदी च अम्बार्थनद्यौ, तयोः अम्बार्थनद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। अम्बार्थनद्योः षष्ठ्यन्तं, ह्रस्वः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सम्बुद्धौ च** से **सम्बुद्धौ** की अनुवृत्ति और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

अम्बार्थक शब्दों और नद्यन्त अङ्गों (शब्दों) को सम्बुद्धि के परे होने पर ह्रस्व होता है।

जिन शब्दों का अर्थ अम्बा(माता) है, ऐसे शब्द और जिनकी नदीसंज्ञा हो गई है, ऐसे शब्दों के अन्त में विद्यमान वर्ण को ह्रस्व हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण को ह्रस्व आदेश होगा।

हे बहुश्रेयसि। सम्बोधन का एकवचन सु, **प्रथमलिङ्गग्रहणं च** इस वार्तिक के सहयोग से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नदीसंज्ञा करके **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से सी के ईकार को ह्रस्व होकर **बहुश्रेयसि+स्** बना। ह्रस्व होने के बाद **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से स् का लोप हुआ और हे का पूर्वप्रयोग हुआ- **हे बहुश्रेयसि**।

बहुश्रेयसीम्। **बहुश्रेयसीन्**। द्वितीया के एकवचन में **बहुश्रेयसी+अम्**, **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **बहुश्रेयसीम्**। बहुवचन में **बहुश्रेयसी+शस्**, **बहुश्रेयसी+अस्**, पूर्वसवर्णदीर्घ, **बहुश्रेयसीस्**, नत्व, **बहुश्रेयसीन्**।

बहुश्रेयस्या। तृतीया के एकवचन में **बहुश्रेयसी+टा**, **बहुश्रेयसी+आ**, **इको यणचि** से यण् करके **बहुश्रेयस्या** बन जाता है।

बहुश्रेयसीभ्याम्। तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी के द्विवचन में **बहुश्रेयसीभ्याम्**।

बहुश्रेयसीभिः। तृतीया बहुवचन में भिस् के सकार को रुत्वविसर्ग, **बहुश्रेयसीभिः**।

१९६- **आण्नद्याः**। आट् प्रथमान्तं, नद्याः पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **घेर्ङिति** से विभक्ति और वचन विपरिणाम करके **ङिताम्** की अनुवृत्ति आती है और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

नद्यन्त अङ्ग से परे ङिद्विभक्ति को आट् का आगम होता है।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

१९७. आटश्च ६।१।९०॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयसीनाम्।

आमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१९८. ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६॥

नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्

अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः।

....

आट् में टकार की इत्संज्ञा होने से टित् है और **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से

आट् में टकार की इत्संज्ञा होने से टित् है और **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से ङित् के आदि में बैठेगा। सूत्र में **आट्+नद्याः** में टकार के स्थान पर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से अनुनासिक आदेश होकर णकार बना है। अतः आण् आगम ऐसा भ्रमित नहीं होना चाहिए। स्मरण रहे कि ङे, ङसि, ङस् और ङि ये **ङिद्विभक्ति** हैं।

१९७- आटश्च। आटः पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से अचि और **वृद्धिरेचि** से वृद्धिः की अनुवृत्ति आती है तथा **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

आट् से अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

यहाँ पर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि करके भी काम चल सकता था किन्तु अन्यत्र आट् आगम और अजादि धातु आ+इक्षत= ऐक्षत आदि में इसकी आवश्यकता होती है। अतः यह सूत्र बनाया गया है।

बहुश्रेयस्यै। चतुर्थी के एकवचन में **बहुश्रेयसी+ए, यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नदीसंज्ञा करके **आण्नद्याः** से ङित् ए को आट् का आगम, टकार की इत्संज्ञा करके लोप, टित् होने के कारण ए के आदि में बैठा- **बहुश्रेयसी+आ+ए** बना। आ+ए में **आटश्च** से वृद्धि होकर **ऐ** बना। बहुश्रेयसी+ऐ में **इको यणचि** से यण् होकर **बहुश्रेयस्+य्+ऐ,** वर्णसम्मेलन होकर **बहुश्रेयस्यै** सिद्ध हुआ।

बहुश्रेयसीभ्यः। चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस्, सकार को रुत्वविसर्ग करके **बहुश्रेसीभ्यः** सिद्ध होता है।

बहुश्रेयस्याः। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में **ङसि** और **ङस्,** अनुबन्धलोप, **बहुश्रेयसी+अस्** में आट् आगम, वृद्धि करके यण् और सकार को रुत्वविसर्ग करने पर **बहुश्रेयस्याः** सिद्ध होता है।

बहुश्रेयस्योः। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में **बहुश्रेयसी+ओस्** में यण् होकर सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- **बहुश्रेयस्योः** बना।

बहुश्रेयसीनाम्। षष्ठी के बहुवचन आम् के परे होने पर नदीसंज्ञक मानकर **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट होकर **बहुश्रेयसीनाम्** बनता है। यहाँ दीर्घ होते हुए भी **नामि** से पुनः दीर्घ करते हैं, क्योंकि सूत्रों की प्रवृत्ति बादलों की तरह होती है- **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः।** जैसे बादल जल पर भी बरसते है और स्थल पर भी। इसी तरह शास्त्र अर्थात् सूत्र जहाँ ह्रस्व है, वहाँ तो दीर्घ करता ही है और जहाँ पहले से दीर्घ है, वहाँ पर भी दीर्घ करता है। हाँ, यह अलग है कि दीर्घ करने या न से कोई भिन्नता नहीं आती है।

१९८- ङेराम्नद्याम्नीभ्यः। नदी च आप् च नीश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वो नद्याम्न्यः, तेभ्यो नद्याम्नीभ्यः। नद्याम्नीभ्यः पञ्चम्यन्तं, ङेः षष्ठ्यन्तम्, आम् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

नद्यन्त, आबन्त और नी-शब्द से परे ङि के स्थान पर आम् आदेश होता है।

बहुश्रेयस्याम्। सप्तमी के एकवचन मे **बहुश्रेयसी+इ**, नदीसंज्ञा, इ के स्थान पर **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से आम् आदेश, **बहुश्रेयसी+आम्** में **आम्** को स्थानिवद्भाव करने से ङित् मानकर **आण्नद्याः** से आट् आगम, **बहुश्रेयसी+आ+आम्** हुआ। **आ+आम्** में **आटश्च** से वृद्धि हुई। दोनों आकार के स्थान पर वृद्धि होनें पर एकादेश आ मात्र हुआ, **बहुश्रेयसी+आम्** बना। यण् होकर **बहुश्रेयस्+य्+आम्** हुआ। वर्णसम्मेलन करके **बहुश्रेयस्याम्** सिद्ध हुआ।

बहुश्रेयसीषु। सुप् में केवल **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व होता है।

बहुश्रेयसी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
द्वितीया	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्
तृतीया	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः
चतुर्थी	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
पञ्चमी	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
षष्ठी	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
सप्तमी	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
सम्बोधन	हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः

अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः, अतिलक्ष्मीः। चुरादिगणीय धातु **लक्ष दर्शने अङ्कने च** से उणादिसूत्र **लक्षेर्मुट् च** से ई प्रत्यय तथा मुट् आगम होकर **लक्ष्मी** बना। लक्ष्मीम् अतिक्रान्तः, लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला अर्थात् लक्ष्मी से भी श्रेष्ठ। यद्यपि लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिङ्ग में है तथापि समास करने पर लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला पुरुष पुँल्लिङ्ग हुआ। अतः **प्रथमलिङ्गग्रहणं च** की सहायता **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से यह नदीसंज्ञक हो जाता है, फलतः नदीसंज्ञाप्रयुक्त सभी कार्य हो जाते हैं किन्तु ङीप्, ङीष् आदि कोई प्रत्यय नहीं हुआ है, अतः ङ्यन्त न होने के कारण **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से सु का लोप नहीं हुआ। सकार को रुत्व और उसका विसर्ग करके **अतिलक्ष्मीः** बना। शेष सभी रूप बहुश्रेयसी की तरह ही होते हैं।

अतिलक्ष्मी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अतिलक्ष्मीः	अतिलक्ष्म्यौ	अतिलक्ष्म्यः
द्वितीया	अतिलक्ष्मीम्	अतिलक्ष्म्यौ	अतिलक्ष्मीन्
तृतीया	अतिलक्ष्म्या	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभिः
चतुर्थी	अतिलक्ष्म्यै	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभ्यः
पञ्चमी	अतिलक्ष्म्याः	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभ्यः

इयङुवङादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१९९. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७॥

श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते।

यण्विधायकं विधिसूत्रम्

२००. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यणजादौ प्रत्यये। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्या। शेषं पपीवत्। एवं ग्रामणीः। ङौ तु ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्? नीः, नियौ, नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्, नियम्। ङेराम्, नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्? सुश्रियौ। यवक्रियौ।

षष्ठी	अतिलक्ष्म्याः	अतिलक्ष्म्योः	अतिलक्ष्मीणाम्
सप्तमी	अतिलक्ष्म्याम्	अतिलक्ष्म्योः	अतिलक्ष्मीषु
सम्बोधन	हे अतिलक्ष्मि	हे अतिलक्ष्म्यौ	हे अतिलक्ष्म्यः

प्रधीः। प्रध्यायतीति प्रधीः। विशेष रूप से चिन्तन करने वाला, विद्वान्। प्र उपसर्ग और **ध्यै** चिन्तायाम् धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार, सम्प्रसारण आदि होकर **प्रधी** बना है। **क्विब्विड्विजन्ता धातुत्वं न जहति** अर्थात् **क्विप्, विट्** और **विच्** प्रत्ययों के लगने के बाद भी धातुत्व बना ही रहता है, इस नियम से **ध्यै** के **धी** में धातुत्व विद्यमान है, अतः उसे धातु मानकर के आगे **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् आदि कार्य किये जाते हैं। उक्त प्रत्यय और लोप के बाद **विश्वपा** तरह ही यह भी धातु ही रहा। यह **प्रधी** अङ्यन्त है, अतः सु का लोप न होकर रुत्वविसर्ग होता है- **प्रधीः**।

१९९- अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ। श्नुश्च, धातुश्च, भ्रुश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः श्नुधातुभ्रुवः, तेषां श्नुधातुभ्रुवाम्। इश्च उश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो यू, तयोः य्वोः। इयङ् च उवङ् तयोरितरेतरद्वन्द्वः, इयङुवङौ। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

अजादि प्रत्यय के परे होने पर श्नु-प्रत्ययान्त अङ्ग, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप अङ्ग एवं भ्रू रूप अङ्ग के अन्त्य वर्ण इकार और उकार के स्थान पर क्रमशः इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं।

इयङ् और उवङ् में ङकार और अकार की इत्संज्ञा होती है। इय् और उव् शेष रह जाता है। ङकार की इत्संज्ञा होने **ङिच्च** की उपस्थिति से अन्त वर्ण के स्थान पर ही ये आदेश होते हैं। ये आदेश इकार और उकार के स्थान पर प्राप्त हो रहे हैं। स्थानी भी इकार और उकार दो हैं और आदेश भी इयङ् और उवङ् दो हैं। समान संख्या होने के कारण **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से क्रमशः होगा अर्थात् इवर्ण के स्थान पर इयङ् और उवर्ण के स्थान पर उवङ् आदेश होगा।

२००- एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य। न एकम्, अनेकम्, अनेके एकाचः यस्मिन् सोऽनेकाच्

तस्य अनेकाचः नञ्तत्पुरुषगर्भो बहुव्रीहिः। नास्ति संयोगः पूर्वो यस्य स असंयोगपूर्वः, तस्य असंयोगपूर्वस्य, बहुव्रीहिः। एः षष्ठ्यन्तम्, अनेकाचः षष्ठ्यन्तम्, असंयोगपूर्वस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इणो यण्** से **यण्** और **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से **अचि** एवं एकदेश **धातु** को षष्ठ्यन्त में विपरिणाम करके उसकी अनुवृत्ति आती है।

धात्ववयव असंयोग पूर्व वाला जो इवर्णान्त धातु, वह अन्त में हो ऐसे अनेकाच् अङ्ग को यण् होता है अजादि प्रत्यय के परे होने पर।

धातु का अवयव जो संयोग, वह पूर्व में न हो ऐसा जो इवर्ण, वह इवर्ण अन्त में ऐसा जो धातु, वह धातु अन्त में ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग, उसके स्थान पर यण् होता है, अजादि प्रत्यय के परे होने पर। **अलोऽन्त्यस्य** के द्वारा अन्त्य ई को यण् होता है। पर जो इवर्ण हो वह धातु का ही हो और उससे पूर्व में कोई संयोगसंज्ञक वर्ण न हों। तात्पर्य यह हुआ कि अजादि प्रत्यय के परे होने पर अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है, जिसके अन्त में इवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के इवर्ण से पूर्व धातु की अवयव संयोग न हो तो। यह सूत्र जहाँ-जहाँ प्रवृत्त होगा, वहाँ-वहाँ सर्वत्र **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** की अवश्च प्राप्ति होती है। अतः अनवकाश होने के कारण यह सूत्र **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** का अपवाद हुआ।

प्रध्यौ। प्रधी+औ में यण् प्राप्त, उसे बाधकर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त और उसका भी **दीर्घाज्जसि च** निषेध होने पर सूत्र लगा- **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ**। अजादि प्रत्यय परे है औ, धातु का इवर्ण है प्रधी का ईकार, अतः ईकार के स्थान पर इयङ् आदेश प्राप्त हुआ, उसे बाधकर सूत्र लगा **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य**। अजादि प्रत्यय परे है ही। इवर्णान्त धातु है धी (यहाँ पर ध्यै से सम्प्रसारण होकर **धी** बना है, और **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस परिभाषा के बल पर धातु ही बना हुआ है।), उससे पूर्व में कोई संयोग भी नहीं है। वह धी अन्त में है ऐसा अनेकाच् अङ्ग है प्रधी, उसके इकार के स्थान पर यण् हो गया तो **प्रध्+य्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **प्रध्यौ** सिद्ध हुआ।

प्रधी से अजादिविभक्ति के परे होने पर पूर्वरूप पूर्वसवर्णदीर्घ आदि को भी बाध कर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् होता है क्योंकि **अमि पूर्वः** अम् के परे होने पर सभी शब्दों में तथा **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** भी अन्य शब्दों में प्रवृत्त होते हैं किन्तु यह सूत्र केवल धातु के अवयव असंयोग पूर्व वाले इकारान्त धातु से युक्त अनेकाच् अङ्ग होने पर ही प्रवृत्त होता है। अम् और शस् में भी यण् होकर **प्रध्यम्** और **प्रध्यः** बनते हैं। शेष रूप पपी-शब्द की तरह ही होते हैं।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग प्रधी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
द्वितीया	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः
तृतीया	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
चतुर्थी	प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
पञ्चमी	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
षष्ठी	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
सप्तमी	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु
सम्बोधन	हे प्रधीः	हे प्रध्यौ	हे प्रध्यः

इसी तरह **ग्रामणी**-शब्द के रूप भी होते हैं किन्तु ग्राम+नी=ग्रामणी में नीशब्द होने के कारण सप्तमी के एकवचन ङि में **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से आम् आदेश होता है, यण् होकर **ग्रामण्याम्** रूप सिद्ध होता है। ग्रामं नयतीति **ग्रामणीः**। गाँव का नेता। ग्रामपूर्वक नी-धातु है।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग ग्रामणी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ग्रामणीः	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः
द्वितीया	ग्रामण्यम्	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः
तृतीया	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः
चतुर्थी	ग्रामण्ये	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभ्यः
पञ्चमी	ग्रामण्यः	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभ्यः
षष्ठी	ग्रामण्यः	ग्रामण्योः	ग्रामण्याम्
सप्तमी	ग्रामण्याम्	ग्रामण्योः	ग्रामणीषु
सम्बोधन	हे ग्रामणीः	हे ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः

अनेकाचः किम्? नीः, नियौ, नियः। यदि **एरचेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** में **अनेकाचः** नहीं कहेंगे तो सूत्र एकाच् और अनेकाच् दोनों जगह लगता, जिससे एकाच् नी-शब्द में भी यण् होकर **न्यौ, न्यः** ऐसे अनिष्ट रूप बनते। अतः अनेकाच् पढ़ा गया। यण् नहीं हुआ तो **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् आदेश हुआ जिससे नियौ, नियः आदि रूप बने।

नियौ। नि+औ में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से नि के इकार के स्थान पर इयङ् आदेश हुआ। इयङ् में ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और यकारोत्तवर्ती अकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा होकर दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। इय् बचा। **न्+इय्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **नियौ** सिद्ध हुआ।

अम् और शस् में भी इस सूत्र के परे होने के कारण इयङ् ही होता है जिससे **नियम्, नियः** रूप बनते हैं। ङि के स्थान पर आम् होता है जिससे **नियाम्** रूप बनता है।

ईकारान्त एकाच् पुँल्लिङ्ग नी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	नीः	नियौ	नियः
द्वितीया	नियम्	नियौ	नियः
तृतीया	निया	नीभ्याम्	नीभिः
चतुर्थी	निये	नीभ्याम्	नीभ्यः
पञ्चमी	नियः	नीभ्याम्	नीभ्यः
षष्ठी	नियः	नियोः	नियाम्
सप्तमी	नियाम्	नियोः	नीषु
सम्बोधन	हे नीः	हे नियौ	हे नियः

असंयोगपूर्वस्य किम्? सुश्रियौ। यवक्रियौ। यदि **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** में **असंयोगपूर्वस्य** नहीं पढ़ते तो संयोगपूर्व होने पर भी सूत्र लगता जिससे सुपूर्वक **श्री** धातु के ईकार के पूर्व **श्+र्** यह संयोग है और यव पूर्वक **क्री** धातु में **क्+र** का संयोग है और ऐसे ईकार के स्थान पर भी यण् होकर **सुश्र्यौ, यवक्र्यौ** ऐसे अनिष्ट बनने लगते। उसे

गतिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२०१. **गतिश्च १।४।६०॥**

प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः।

वार्तिकम्- **गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते।** शुद्धधियौ।

....

रोकने के लिए सूत्र में असंयोगपूर्व कहा। यहाँ पर **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् होकर **सुश्रियौ, यवक्रियौ** आदि रूप बनते हैं।

सुष्ठु श्रयतीति सुश्रीः। अच्छी तरह से आश्रय लेने वाला। सुपूर्वक **श्रिञ् सेवायाम्** धातु है। क्विप् प्रत्यय और दीर्घ करके सुश्री बना है। स्त्रीत्व के अभाव में नदीसंज्ञा और सु का लोप आदि कार्य नहीं होते हैं।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग अनेकाच्, संयोगपूर्व सुश्री-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुश्रीः	सुश्रियौ	सुश्रियः
द्वितीया	सुश्रियम्	सुश्रियौ	सुश्रियः
तृतीया	सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः
चतुर्थी	सुश्रिये	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
पञ्चमी	सुश्रियः	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
षष्ठी	सुश्रियः	सुश्रियोः	सुश्रियाम्
सप्तमी	सुश्रियि	सुश्रियोः	सुश्रीषु
सम्बोधन	हे सुश्रीः!	हे सुश्रियौ!	हे सुश्रियः!

यवं क्रीणातीति यवक्रीः। यव पूर्वक **क्री** धातु है। **सुश्री** की तरह ही रूप होते हैं।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग अनेकाच्, संयोगपूर्व यवक्री-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	यवक्रीः	यवक्रियौ	यवक्रियः
द्वितीया	यवक्रियम्	यवक्रियौ	यवक्रियः
तृतीया	यवक्रिया	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभिः
चतुर्थी	यवक्रिये	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभ्यः
पञ्चमी	यवक्रियः	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभ्यः
षष्ठी	यवक्रियः	यवक्रियोः	यवक्रियाम्
सप्तमी	यवक्रियि	यवक्रियोः	यवक्रीषु
सम्बोधन	हे यवक्रीः	हे यवक्रियौ	हे यवक्रियः

२०१- **गतिश्च**। गतिः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **प्रादयः** से प्रादयः तथा **उपसर्गाः क्रियायोगे** से **क्रियायोगे** का अनुवर्तन होता है।

प्र, परा आदि क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं।

स्मरण होगा कि **उपसर्गाः क्रियायोगे** से प्र, परा आदि बाईस प्रादियों की **उपसर्गसंज्ञा** हुई थी, उनकी उसी स्थिति में **गतिसंज्ञा** भी होती है। अष्टाध्यायी में ये सूत्र साथ-साथ पढ़े गये हैं। गतिसंज्ञा के अनेक प्रयोजन हैं किन्तु इस प्रकरण में **गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते** इस वार्तिक में गति क्या है? यह जानने के लिए गतिसंज्ञा की आवश्यकता है।

यण्निषेधकं विधिसूत्रम्

२०२. न भूसुधियोः ६।४।८५॥

एतयोरचि सुपि यण्न। सुधियौ। सुधिय इत्यादि।

सुखमिच्छतीति सुखीः। सुतीः। सुख्यौ। सुत्यौ। सुख्युः। सुत्युः।

शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिवत्। एवं भान्वादयः।

....

गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते। यह वार्तिक है। **जिस शब्द का पूर्वपद गतिसंज्ञक या कारक से भिन्न हो, उसको एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य से यण् नहीं होता है।** कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक हैं। उन शब्दों में **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् होता है, जिसका पूर्वपद या तो गतिसंज्ञक हो या कारक हो। यदि गतिसंज्ञक भी न हो और कारक भी न हो, अन्य कोई भिन्न हो तो इस सूत्र से यण् नहीं होगा। जैसे कि **शुद्धा धीर्यस्य** इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करके **शुद्धधी** बना है। इसमें शुद्धा पूर्वपद और धी उत्तरपद है। पूर्वपद **शुद्धा** गतिसंज्ञक और कारक न होकर धी का विशेषण है। अतः कारक से भिन्न पूर्वपद वाला शब्द हुआ- **शुद्धधी।** अतः इस वार्तिक के बल पर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** नहीं लगेगा, यण् नहीं होगा, इयङ् होकर **शुद्धधियौ** आदि रूप बनेंगे।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग गतिकारकपूर्वपदभिन्न शुद्धधी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	शुद्धधीः	शुद्धधियौ	शुद्धधियः
द्वितीया	शुद्धधियम्	शुद्धधियौ	शुद्धधियः
तृतीया	शुद्धधिया	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभिः
चतुर्थी	शुद्धधिये	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभ्यः
पञ्चमी	शुद्धधियः	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभ्यः
षष्ठी	शुद्धधियः	शुद्धधियोः	शुद्धधियाम्
सप्तमी	शुद्धधियि	शुद्धधियोः	शुद्धधीषु
सम्बोधन	हे शुद्धधीः	हे शुद्धधियौ	हे शुद्धधियः

२०२- न भूसुधियोः। भूश्च सुधीश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो भूसुधियौ, तयोर्भूसुधियोः। न अव्ययपदं, भूसुधियोः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से **अचि**, **ओः सुपि** से **सुपि** और **इणो यण्** से **यण्** की अनुवृत्ति आती है।

अजादि सुप् प्रत्यय के परे होने पर भू और सुधी शब्द को यण् नहीं होता है।

यह सूत्र **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** और **ओः सुपि** का निषेधक है। भू और धी असंयोगपूर्व और इकारान्त तथा उकारान्त धातु हैं। यण् निषेध होने से **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् और उवङ् होंगे। यह सूत्र **सुधी+उपास्यः** में यण् निषेध नहीं करता क्योंकि वह सूत्र अजादि सुप् के परे नहीं केवल अच् के परे होने पर यण् करता है और यह सूत्र अजादि सुप् के परे होने पर यण् का निषेध करता है।

सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः। श्रेष्ठ चिन्तन, ध्यान करने वाला। सु प्रादि है और **ध्यै चिन्तायाम्** धातु है। क्विप् प्रत्यय और सम्प्रसारण होकर सुधी बनता है। उससे सु प्रत्यय, ङ्यन्त न होने के कारण सु का लोप नहीं होता। रुत्व और विसर्ग करके **सुधीः** सिद्ध हुआ।

सुधियौ। सुधी+औ में **इको यणचि** से यण् प्राप्त, उसे बाधकर **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् प्राप्त, उसे भी बाधकर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् प्राप्त, उसका **न भूसुधियोः** से निषेध होने पर **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् हुआ। अनुबन्धलोप होने पर **सुध्+इय्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सुधियौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह अजादिविभक्ति के परे सर्वत्र इयङ् होता है।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग सुधी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुधीः	सुधियौ	सुधियः
द्वितीया	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः
तृतीया	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः
चतुर्थी	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
पञ्चमी	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
षष्ठी	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
सप्तमी	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु
सम्बोधन	हे सुधीः	हे सुधियौ	हे सुधियः

सुखमिच्छतीति सुखीः। जो अपने लिए सुख चाहे, वह। **सुख-शब्द** से **नामधातुप्रकरण** में क्यच् प्रत्यय, धातुसंज्ञा, ईत्व होकर सुखीय बनता है। उससे क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार लोप, **अतो लोपः** से अकार और **लोपो व्योर्वलि** से यकार का लोप करके **सुखी** बनता है। इसी तरह बनता है- **सुतमिच्छतीति सुतीः।** जो अपने लिए पुत्र चाहे। इनसे प्रथमा के एकवचन में सु, रुत्वविसर्ग होकर **सुखीः** और **सुतीः** बनता है। धातु होने के कारण अजादि विभक्ति के परे **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् होकर **सुख्यौ, सुख्यः, सुत्यौ, सुत्यः** आदि रूप बनते हैं। **सुखी** और **सुती** में दीर्घ **खी** और **ती** शब्द होने के कारण पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में **ख्यत्यात्परस्य** से उकार आदेश होकर **सुख्युः** और **सुत्युः** बनते हैं।

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग सुखी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुखीः	सुख्यौ	सुख्यः
द्वितीया	सुख्यम्	सुख्यौ	सुख्यः
तृतीया	सुख्या	सुखीभ्याम्	सुखीभिः
चतुर्थी	सुख्ये	सुखीभ्याम्	सुखीभ्यः
पञ्चमी	सुख्युः	सुखीभ्याम्	सुखीभ्यः
षष्ठी	सुख्युः	सुख्योः	सुख्याम्
सप्तमी	सुख्यि	सुख्योः	सुखीषु
सम्बोधन	हे सुखीः	हे सुख्यौ	हे सुख्यः

इसी तरह **सुती** के भी रूप बनते हैं।

अब इस प्रकार से अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण में इकारान्त (इ और ई अन्त वाले शब्दों) शब्दों का कथन पूर्ण हुआ। इसके बाद उकारान्त शब्दों का प्रसंग है। ह्रस्व-उकारान्त गुरु, भानु आदिशब्द हरिशब्द के समान ही होते हैं। हरि-शब्द में इकार के गुण होने से

तृज्वद्विधायकमतिदेशसूत्रम्

२०३. तृज्वत् क्रोष्टुः ७।१।९५॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे।

क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

....

एकार बन जाता है तो शम्भु आदि उकारान्त शब्द में उकार के स्थान पर ओकार गुण होता है। शेष सम्पूर्ण हरिशब्द के समान ही है।

शम्भुर्हरिवत्। शम्भु शब्द हरि शब्द की तरह होता है। शम्भु=शिव।

शम्भुः। शम्भु से सु, रुत्वविसर्ग, **शम्भुः।**

शम्भू। शम्भु+औ, **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्ण होने पर **उकार** और **औकार** के स्थान पर पूर्ववर्ण **उकार** का सवर्णी ऊकार एकादेश हुआ- **शम्भ्+ऊ=शम्भू।**

शम्भवः। **शम्भुशब्द** के जस् विभक्ति में शम्भु+अस्, गुण- शम्भो+अस्, अव् आदेश- शम्भ्+अव्+अस्, वर्णसम्मेलन- शम्भवस्, सकार का रुत्वविसर्ग, **शम्भवः।** अब द्वितीया के एकवचन में शम्भु+अम् में पूर्वरूप होगा तो उकार और अकार के स्थान पर उकार एकादेश ही होगा- **शम्भुम्।** शम्भु+औट्, शम्भु+औ में पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर **शम्भू।** शम्भु+शस्, शम्भु+अस्, शम्भूस्, **शम्भून्।** शम्भु+ङे, शम्भु+ए, शम्भो+ए, शम्भ्+अव्+ए=**शम्भवे।** शम्भु+ङसि, शम्भु+अस्, शम्भो+अस्, शम्भोस्, **शम्भोः।** शम्भु+ओस्, शम्भ्+व्+ओस्=शम्भ्वोस्, **शम्भ्वोः।** शम्भु+आम्, शम्भु+न्+आम्, शम्भु+नाम्, **शम्भूनाम्।** शम्भु+ङि, शम्भु+इ, शम्भ+औ, **शम्भौ।** शेष प्रक्रिया सरल ही है। इसी प्रकार से भानु आदि समस्त उकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों की भी साधनी करें।

उकारान्त पुँल्लिङ्ग शम्भु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः
द्वितीया	शम्भुम्	शम्भू	शम्भून्
तृतीया	शम्भुना	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः
चतुर्थी	शम्भवे	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
पञ्चमी	शम्भोः	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
षष्ठी	शम्भोः	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
सप्तमी	शम्भौ	शम्भ्वोः	शम्भुषु
सम्बोधन	हे शम्भो!	शम्भू!	शम्भवः!

इसी प्रकार निम्नलिखित उकारान्त शब्दों के भी रूप बनाइये।

अणु= अत्यन्त छोटा	अंशु=किरण	इन्दु=चन्द्रमा
ऋजु=सरल	ऋतु= मौसम	कटु=तीखा
क्रतु= यज्ञ	गुरु=गुरु	जिज्ञासु= जानने को इच्छुक
तन्तु=धागा	दयालु= दया वाला	धातु= धातु
पटु=चतुर	पशु=जानवर	भानु=सूर्य
बाहु=भुजा	वायु=हवा	विष्णु=नारायण
शिशु=बालक	सूनु=पुत्र	हेतु=कारण।

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

२०४. ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११०॥

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते।

अनङादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२०५. ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च ७।१।९४॥

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

....

२०३- तृज्वत् क्रोष्टुः। तृचा तुल्यं तृज्वत्। तृज्वत् अव्ययपदं, क्रोष्टुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सख्युरसम्बुद्धौ** से **असम्बुद्धौ** और **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से **सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थान के परे होने पर क्रोष्टु-शब्द तृच्-प्रत्ययान्त की तरह होता है अर्थात् क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश होता है।

आचार्य इसे रूपातिदेश सूत्र मानते हैं। तृच् एक कृत्प्रकरण का प्रत्यय है। धातुओं से तृच् होता है। कृ से तृच् होकर कर्तृ, हृ से हर्तृ, पट् से पटितृ आदि बनते हैं। तृच् प्रत्यय के लगने से जैसा रूप बनता है वैसा रूप सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे होने पर भी हो जाय। क्रोष्टु-शब्द में यदि तृच् होता है तो षकार के योग में तृ के तकार को **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व होकर **क्रोष्टृ** बनता है। वह यहाँ हो जाय। इस पर **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** की व्याख्या में विशेष वर्णन करेंगे। **स्थानेऽन्तरतमः** से अर्थकृत तुल्यता से **क्रोष्टु** के स्थान पर **क्रोष्टृ** आदेश होता है। यहाँ पर तो केवल इतना ही जानें कि तृजन्त होने पर क्रोष्टृ बनता है।

२०४- **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः**। ऋतः षष्ठ्यन्तं, ङिसर्वनामस्थानयोः सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अङ्गस्य** का अधिकार है और **ह्रस्वस्य गुणः** से **गुणः** की अनुवृत्ति आती है।

ह्रस्व-ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है ङि और सर्वनामस्थान के परे रहने पर।

सर्वनामस्थानसंज्ञा के सम्बन्ध में पूर्वसूत्र का स्मरण करें। इस सूत्र से जब गुण होगा तो **उरण् रपरः** से रपर भी हो जाता है। यद्यपि सु के परे रहने पर इस सूत्र का उपयोग नहीं हो पाता, क्योंकि तब **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च से** अनङ् आदेश हो जाता है।

२०५- **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च**। ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् षष्ठ्यन्तं; च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सख्युरसम्बुद्धौ** से **असम्बुद्धौ** की और **अनङ् सौ** से **सौ** की अनुवृत्ति आती ही है तथा **अङ्गस्य** का अधिकार है।

ऋत् अर्थात् ह्रस्व-ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दरूप अङ्ग के स्थान पर अनङ् आदेश होता है सम्बुद्धि-भिन्न सु के परे रहने पर।

इस आदेश में ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और नकारोत्तरवर्ती अकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हो जायेगा। ङकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह आदेश ङित् कहलायेगा। अतः अनेक अल् वर्ण होने के कारण यह अनेकाल् होने पर भी **ङिच्च** के अनुसार अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

२०६. अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११॥

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे।

क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टॄन्।

....

२०६- **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्।** आपश्च, तृन् च, तृच् च, स्वसा च, नप्ता च, नेष्टा च, त्वष्टा च, क्षत्ता च, होता च, पोता च, प्रशास्ता च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः, **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तारः**, तेषाम्- **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्।** यह सम्पूर्णसूत्र षष्ठी के बहुवचन का है। अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशासास्तृणाम् षष्ठ्यन्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में उपधायाः से उपधायाः की, **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घः की तथा **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से **असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

अप्शब्द, तृन्प्रत्यान्तशब्द, तृच्प्रत्ययान्त शब्द तथा स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ और प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे होने पर।

उपधासंज्ञा के सम्बन्ध में **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** का स्मरण करें।

क्रोष्टा। क्रोष्टु-शब्द ऋकारान्त है। उससे प्रथमा का एकवचन सु आया। उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। स् ही बचा हुआ है। क्रोष्टृ+स् बना। सु-विभक्ति प्रथमा का एकवचन है। अतः **सुडनपुंसकस्य** से सु की सर्वनामस्थानसंज्ञा हुई। तब सूत्र लगा- **तृज्वत् क्रोष्टुः**। सर्वनामस्थान परे है, अतः क्रोष्टु के स्थान पर **क्रोष्टृ** आदेश हो गया। **क्रोष्टृ+स्** में **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से ऋदन्त होने के कारण सर्वनामस्थान के परे रहते ऋकार के स्थान पर गुण की प्राप्ति हो रही थी, उसे बाधकर सूत्र लगा **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च**। पूर्वसूत्र को यह सूत्र इसलिए बाधेगा कि पूर्व सूत्र समस्त ऋदन्त शब्दों से सर्वनामस्थानसंज्ञक पाँच वचनों के परे रहने पर लगता है और यह सूत्र केवल सु के परे रहने पर लगता है। अतः यह सूत्र निरवकाश या कम क्षेत्र वाला विशेष सूत्र हुआ और पूर्वसूत्र अधिक क्षेत्र वाला, अधिक जगह लगने की क्षमता वाला सामान्य सूत्र हुआ। हमेशा सामान्य सूत्र से विशेष सूत्र बलवान् होता है और बलवान् सूत्र निर्बल सूत्र को बाधता है।

अतः वर्तमान स्थिति में **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** को **ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च** यह सूत्र बाधता है। अब इस सूत्र से अनङ् आदेश का विधान हुआ। अनङ् में ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और नकार के बाद वाले अकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ तो बचा अन्। यह अनङ् का अन् किसके स्थान पर हो? सूत्र ने आदेश तो किया किन्तु यह निश्चित नहीं हुआ कि अनङ् आदेश किसके स्थान पर होना चाहिए? क्योंकि सूत्र ने ऋकारान्त शब्द के स्थान पर आदेश का विधान किया फिर भी क्या सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर कर देना चाहिए? इस सन्देह की स्थिति में परिभाषा-सूत्र नियमार्थ पहुँचा- **अनेकाल् शित्सर्वस्य।** यह आदेश अनेक अल् वाला है। इसलिए इस सूत्र के नियमानुसार अनेकाल् आदेश सभी वर्णों के स्थान पर होता

वैकल्पिकंतृज्वद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्

२०७. विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

....

है। धातृ इस सम्पूर्ण के स्थान पर अनङ् की प्राप्ति हो रही थी तो इसे रोकने के लिए इस सूत्र का बाधक सूत्र लगा- **ङिच्च**। इस सूत्र ने नियम रखा कि यद्यपि अनेकाल् आदेश सभी वर्णों के स्थान पर होता है फिर भी यदि वह ङित् हो तो सर्वादेश न होकर अन्त्यादेश होता है अर्थात् अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही आदेश होता है।

क्रोष्टृ में अन्त्य वर्ण है ऋकार, अतः अनङ् वाला अन् धातृ के ऋकार को हटाकर हुआ- **क्रोष्ट्+अन्+स्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ **क्रोष्टन् स्** बना। **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** से **क्रोष्टन्** में टकार के बाद वाले अकार की उपधासंज्ञा हो गई, क्योंकि अन्त्यवर्ण है नकार, उससे पूर्व का वर्ण है अकार, अतः अकार की ही उपधासंज्ञा हो सकती है। इसके बाद सूत्र लगा- **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्।** तृज्वद्भाव होने पर **क्रोष्टृ** बना था। अतः तृच्प्रत्ययान्त मानकर उपधा को दीर्घ हुआ। उपधा है नकार से पूर्ववर्ती अकार, उसको दीर्घ हुआ तो आकार बन गया- क्रोष्टान् स् बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ, क्योंकि हलन्त है क्रोष्टान् और उससे परे सुसम्बन्धि अपृक्त हल् है स्, इसलिये इस सूत्र से सकार का लोप किया गया- **क्रोष्टान्** बना। सुविभक्ति के लगने से **सुप्तिङन्तं पदम्** से पदसंज्ञा हुई किन्तु सु के लोप होने के बाद भी वह पदत्व बना ही हुआ है। अतः क्रोष्टान् एक पद है। पद के अन्त में विद्यमान नकार है क्रोष्टान् का नकार, उसका **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ तो बना- **क्रोष्टा।**

क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्। क्रोष्टारौ। औ-विभक्ति के आने पर क्रोष्टृ+औ में अनङ् आदेश नहीं होगा, क्योंकि वह केवल सु के परे रहने पर हो सकता है। अतः **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से ऋकार के स्थान पर **उरण् रपरः** के सहयोग से अर्-गुण हुआ- **क्रोष्ट्+अर्+औ** बना। **क्रोष्ट्+अर्** में वर्णसम्मेलन हुआ- **क्रोष्टर्** बना। **क्रोष्टर्+औ** में उपधाभूत टकारोत्तरवर्ती अकार का दीर्घ करने के लिए सूत्र लगा- **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्।**इससे दीर्घ होने के बाद **क्रोष्टार्+औ** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **क्रोष्टारौ**। इसी प्रकार **क्रोष्टृ+अस्**, **क्रोष्टृ+अम्** में भी गुण करके दीर्घ करने पर **क्रोष्टारस्**, **क्रोष्टारम्**, **क्रोष्टारौ** बन जाते हैं। जस् के सकार का रुत्वविसर्ग करके **क्रोष्टारः** बन जाता है।

क्रोष्टून्। द्वितीया के बहुवचन में शस् आया, शकार का **लशक्वतद्धिते** से लोप हो जाने पर **कोष्टु+अस्** बना। सर्वनामस्थान न होने के कारण **तृज्वत् क्रोष्टुः** से तृज्वद्भाव नहीं हुआ। **क्रोष्टु+अस्** है, **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर **क्रोष्टूस्** बना। सकार के स्थान पर **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नकार आदेश हुआ तो **क्रोष्टून्** बना।

२०७- **विभाषा तृतीयादिष्वचि।** तृतीया आदिर्येषां ते तृतीयादयः, तेषु तृतीयादिषु। विभाषा प्रथमान्तं, तृतीयादिषु सप्तम्यन्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **तृज्वत् क्रोष्टुः** से तृज्वत् आता है।

अजादि तृतीया आदि विभक्ति के परे होने पर विकल्प से तृज्वद्भाव अर्थात् क्रोष्टृ आदेश होता है।

उदेकादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२०८. ऋत उत् ६।१।१११॥

ऋतो ङसिङसोरति उदेकादेशः। रपरः।

सलोपविषये नियमसूत्रम्

२०९. रात्सस्य ८।२।२४॥

रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य।

रस्य विसर्गः। क्रोष्टुः २। क्रोष्ट्रोः २।

वार्तिकम्- **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन।**

क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

हूहूः। हूह्वौ। हूह्वः। हूहूम् इत्यादि। अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। खलपूः।

....

अजादि विभक्ति के परे वह भी तृतीया से प्रारम्भ करके, न कि प्रथमा और द्वितीया की अजादि विभक्ति, उसके परे होने पर क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश विकल्प से होता है। तृतीयादि अजादि विभक्ति हैं- **टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्।** इस आदेश के न होने के पक्ष में उकारान्त भानुशब्द की तरह रूप बनते हैं।

क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना। क्रोष्टु से तृतीया का एकवचन में टा, अनुबन्धलोप, क्रोष्टु+आ बना। **विभाषा तृतीयादिष्वचि** से वैकल्पिक **क्रोष्टृ** आदेश हुआ, **क्रोष्टृ+आ** बना। **इको यणचि** से ऋकार के स्थान पर यण् होकर र् हुआ- **क्रोष्ट्र्+आ** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **क्रोष्ट्रा।** क्रोष्टृ आदेश न होने के पक्ष में क्रोष्टु उकारान्त है, अतः **भानुना** की तरह घिसंज्ञा होकर **आङो नाऽस्त्रियाम्** से ना आदेश होकर **क्रोष्टुना** बनेगा।

क्रोष्टुभ्याम्। क्रोष्टुभिः। क्रोष्टुभ्यः। क्रोष्टुभ्याम् में केवल भ्याम् प्रत्यय को जोड़ना मात्र है किन्तु भिस् और भ्यस् के सकार को रुत्वविसर्ग भी किया जाता है। अतः **क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः, क्रोष्टुभ्यः** बन जाते हैं।

क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे। क्रोष्टु से चतुर्थी का एकवचन में ङे, अनुबन्धलोप, क्रोष्टु+ए बना। **विभाषा तृतीयादिष्वचि** से वैकल्पिक **क्रोष्टृ** आदेश हुआ, **क्रोष्टृ+ए** बना। **इको यणचि** से ऋकार के स्थान पर यण् होकर र् हुआ- **क्रोष्ट्र्+ए** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **क्रोष्ट्रे।** क्रोष्टृ आदेश न होने के पक्ष में क्रोष्टु उकारान्त है, अतः **भानवे** की तरह घिसंज्ञा होकर **घेर्ङिति** से गुण करके अव् आदेश होने पर क्रोष्ट्+अव्+ए, वर्णसम्मेलन होकर **क्रोष्टवे** बनेगा।

२०८-ऋत उत्। ऋतः पञ्चम्यन्तम्, उत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ङसिङसोश्च** से **ङसिङसोः** की, **एङः पदान्तादति** से **अति** की अनुवृत्ति आती है और **एकः पूर्वपरयोः** से सम्पूर्ण सूत्र का अधिकार है।

ह्रस्व ऋकार से ङसि और ङस् सम्बन्धी अकार के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है।

पूर्व में ह्रस्व-ऋकार हो और पर में ङसि और ङस् का अकार हो तो पूर्व और पर के स्थान में उकार एकादेश होता है। ऋकार के स्थान पर उकार आदेश प्राप्त होने के कारण **उरण् रपरः** से रपर होकर **उर्** ऐसा आदेश हो जायेगा।

२०९- **रात्सस्य**। रात् पञ्चम्यन्तं, सस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **संयोगान्तस्य लोपः** पूरे सूत्र का अनुवर्तन होता है।

रेफ से परे यदि संयोगान्तलोप हो तो केवल सकार का ही हो, अन्य का नहीं।

संयोगान्त वर्ण का लोप करने के लिए **संयोगान्तस्य लोपः** पर्याप्त है। वह संयोग के अन्त में विद्यमान किसी वर्ण का लोप करता है तो **क्रोष्टुरस्** में भी सकार का लोप उसीसे हो जायेगा। अतः यहाँ पर **रात्सस्य** की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि **सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति**। सिद्ध होने पर भी उसीके विषय में पुनः कथन होना नियम के लिए होता है। यहाँ सकार का लोप सिद्ध होते हुए भी पुनः सकार के लोप के लिए इस सूत्र का आरम्भ यह नियम बनाता है कि **यदि रेफ से परे किसी संयोगान्त वर्ण का लोप होता हो तो केवल सकार का ही लोप हो अन्य वर्ण का नहीं।** यह सूत्र तो ऐसा नियम मात्र बनाता है। **क्रोष्टुर्+स्** में सकार का लोप तो **संयोगान्तस्य लोपः** से ही होता है।

क्रोष्टुः। पञ्चमी के एकवचन में क्रोष्टु-शब्द से ङसि आया, अनुबन्धलोप हुआ- **क्रोष्टु+अस्** बना। **विभाषा तृतीयादिष्वचि** से वैकल्पिक **क्रोष्टृ** आदेश हुआ- **क्रोष्टृ+अस्** बना। **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे वाधकर **ऋत उत्** के **उरण् रपरः** की सहायता से के ऋकार और अस् के अकार के स्थान पर उर् एकादेश हुआ- **क्रोष्ट् उर् स्** बना। ट् उ से मिला- **क्रोष्टुर् स्** बना। सकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप हुआ और रकार का **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ- **क्रोष्टुः** सिद्ध हुआ। षष्ठी के एकवचन में भी **क्रोष्टुः** ही बनेगा। आदेश न होने के पक्ष में **भानोः** की तरह **क्रोष्टोः** बनेगा।

क्रोष्ट्रोः। क्रोष्टु से षष्ठी एवं सप्तमी का द्विवचन में ओस्, **क्रोष्टु+ओस्** बना। **विभाषा तृतीयादिष्वचि** से वैकल्पिक **क्रोष्टृ** आदेश हुआ, **क्रोष्टृ+ओस्** बना। **इको यणचि** से ऋकार के स्थान पर यण् होकर र् हुआ- **क्रोष्ट्र्+ओस्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **क्रोष्ट्रोस्** बना सकार का रुत्व और विसर्ग करके **क्रोष्ट्रोः** सिद्ध हुआ। क्रोष्टृ आदेश न होने के पक्ष में क्रोष्टु उकारान्त है, अतः **भान्वोः** की तरह गुण, अव् आदेश होने पर **क्रोष्ट्+अव्+ओस्**, वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग करने पर **क्रोष्ट्वोः** बनेगा।

नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन। यह वार्तिक है। **पूर्वविप्रतिषेध के कारण प्राप्त नुम्, अच् परे होने पर रेफादेश और तृज्वद्भाव से पहले नुट् होता है।**

विप्रतिषेधे परं कार्यम् यह वहाँ लगता है जहाँ पर समान स्थल पर दो सूत्र एक साथ लगने के लिए प्रवृत्त होते हों। वहाँ पर यह सूत्र कहता है कि यदि तुल्यबलविरोध हो तो पूर्व सूत्र का निषेध और परसूत्र की प्रवृत्ति होनी चाहिए। **क्रोष्टु** शब्द से आम् के परे होने पर **ह्रस्वनद्यापो नुट्** ७।१।५४।। की और **तृज्वत् क्रोष्टुः** ७।१।९५।। की एकसाथ प्रवृत्ति थी। इन दोनों में पूर्वसूत्र **ह्रस्वनद्यापो नुट्** है और परसूत्र **तृज्वत् क्रोष्टुः** है। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** के नियम से नुट् को रोककर के तृज्वद्भाव की प्राप्ति हो रही थी।

ऐसा यदि हो जाता तो **क्रोष्टृणाम्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। उसे रोकने के
जी ने वार्तिक बनाया- **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन**। अब पहले
नुट् होने से अजादि नहीं मिला, इसलिए तृज्वद्भाव भी नहीं हुआ।

नुम् का उदाहरण **इकोऽचि विभक्तौ** और अच् के परे होने पर रेफ
उदाहरण **अचि र ऋतः** में देखेंगे।

क्रोष्टूनाम्। षष्ठी के बहुवचन में आम्, नुट् और तृज्वद्भाव एक साथ
विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियम से तृज्वद्भाव प्राप्त **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो**
पूर्वविप्रतिषेधेन के नियम से पहले नुट् आगम हुआ। **क्रोष्टु+नाम्** में अजादि न
कारण तृज्वद्भाव नहीं हुआ। **नामि** से दीर्घ होकर **क्रोष्टूनाम्** सिद्ध हुआ।

क्रोष्टरि। सप्तमी के एकवचन में क्रोष्टु-शब्द से ङि आया, अनुबन्धलोप
क्रोष्टु+इ। **विभाषा तृतीयादिष्वचि** से वैकल्पिक **क्रोष्टृ** आदेश हुआ- **क्रोष्टृ+इ** बना।
ङिसर्वनामस्थानयोः से गुण हुआ, **क्रोष्टर्+इ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **क्रोष्टरि**
हुआ। क्रोष्टृ आदेश न होने के पक्ष में **भानौ** की तरह **क्रोष्टौ** बनेगा।

क्रोष्टृ आदेश न होने के पक्ष में और हलादि के परे होने पर उकारान्त भानु
की तरह रूप बनते हैं।

उकारान्त पुँल्लिङ्ग क्रोष्टु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
द्वितीया	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्
तृतीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
पञ्चमी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
षष्ठी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टो	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः!

अब दीर्घ ऊकारान्त शब्दों को बताने जा रहे हैं।

हूहू शब्द गन्धर्वविशेष का वाचक है। दीर्घ, ऊकारान्त है। घिसंज्ञा,
आदि कुछ भी नहीं हो रही है। अतः इसके अलग ही रूप बनते हैं। सु का रुत्वविसर्ग,
जस्, औ में **दीर्घाज्जसि च** से पूर्वसवर्ण दीर्घ के निषेध होने के कारण यण्, अम् में पूर्वरूप
और शस् में पूर्वसवर्ण दीर्घ, शेष अजादि विभक्ति के परे होने पर **इको यणचि**
करने पर निम्नलिखित रूप सिद्ध होंगे-

ऊकारान्त पुँल्लिङ्ग हूहू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हूहूः	हूह्वौ	हूह्वः
द्वितीया	हूहूम्	हूह्वौ	हूहून्
तृतीया	हूह्वा	हूहूभ्याम्	हूहूभिः
चतुर्थी	हूह्वे	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
पञ्चमी	हूह्वः	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः

यण्विधायकं विधिसूत्रम्

२१०. ओः सुपि ६।४।८३॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचो-ऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं सुल्वादयः। स्वभूः। स्वभुवौ। स्वभुवः। वर्षाभूः।

....

षष्ठी	हूह्वः	हूह्वोः	हूह्वाम्
सप्तमी	हूह्वि	हूह्वोः	हूहूषु
सम्बोधन	हे हूहूः	हे हूह्वौ:	हे हूह्वः

अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। चमू शब्द ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग है और सेना का वाचक है। **चमूम् अतिक्रान्तः** विग्रह में समास करके **अतिचमू** शब्द बना। सेना का अतिक्रमण करने वाला अर्थात् सेना पर विजय प्राप्त करने वाला कोई पुरुष, योद्धा, राजा आदि। इस तरह **अतिचमू**-शब्द पुँल्लिङ्ग बन गया। **प्रथमलिङ्गग्रहणं च** की सहायता से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नदीसंज्ञा होती है जिससे नदीसंज्ञा प्रयुक्त कार्य **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से ह्रस्व, **आण्नद्याः** से आट् आगम और **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से आम् आदेश आदि कार्य होंगे। इसके रूप **बहुश्रेयसी** की तरह चलेंगें। **बहुश्रेयसी** में ईकार के स्थान पर यण् होकर यकार आदेश होता था तो **अतिचमू** में ऊकार के स्थान पर वकार आदेश होगा। दोनों शब्दों में एक अन्तर यह भी है कि वह ङ्यन्त था इसलिए सुलोप होता था और यह ङ्यन्त नहीं है, अतः सु का लोप नहीं होगा।

ऊकारान्त पुँल्लिङ्ग अतिचमू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अतिचमूः	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
द्वितीया	अतिचमूम्	अतिचम्वौ	अतिचमून्
तृतीया	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
चतुर्थी	अतिचम्वै	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभ्यः
पञ्चमी	अतिचम्वाः	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभ्यः
षष्ठी	अतिचम्वाः	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम्
सप्तमी	अतिचम्वाम्	अतिचम्वोः	अतिचमूषु
सम्बोधन	हे अतिचमु	हे अतिचम्वौ	हे अतिचम्वः

खलपूः। खलं पुनातीति खलपूः। खलियान साफ करने वाला सेवक आदि। खल पूर्वक पू धातु है। नित्यस्त्रीलिङ्गी न होने के कारण नदीसंज्ञा नहीं होती है। अङ्यन्त होने से सु का लोप नहीं होता है। खलपू+स्, सकार को रुत्वविसर्ग होकर **खलपूः** सिद्ध हुआ। **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य**

२१०- **ओः सुपि।** ओः षष्ठ्यन्तं, सुपि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से **अनेकाचः** और **असंयोगपूर्वस्य** तथा **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से **धातोः** तथा **अचि** एवं **इयो यण्** से **यण्** की अनुवृत्ति आती है।

धात्ववयव असंयोग पूर्व वाला जो उवर्ण, वह अन्त्य में हो ऐसा जो धातु, वह अन्त्य में हो ऐसे अनेकाच् अङ्ग को यण् होता है अजादि प्रत्यय के परे होने पर।

धातु का अवयव जो संयोग, वह पूर्व में न हो ऐसा जो उवर्ण, वह उवर्ण अन्त में ऐसा जो धातु, वह धातु अन्त में ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग, उसके उवर्ण के स्थान पर यण् होता है, अजादि प्रत्यय के परे होने पर। जो उवर्ण हो वह धातु का ही हो और उससे पूर्व में कोई संयोगसंज्ञक वर्ण न हों। तात्पर्य यह हुआ कि अजादि प्रत्यय के परे होने पर अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है, जिसके अन्त में उवर्णान्त धातु है परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो तो। इसकी प्राप्ति में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** की अवश्च प्राप्ति है। अतः अनवकाश होने के कारण यह सूत्र **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** का अपवाद हुआ। **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** ईकार को यण् करता है और यह **ओः सुपि** ऊकार को। **खलपू**-शब्द के रूप साधने के लिए **प्रधी**-शब्द की सिद्धि का स्मरण करें। वहाँ पर ईकार के स्थान यण् होकर य् हो जाता था तो खलपू में यण् होकर व् आदेश होगा।

खलप्वौ। खलप्वः। अजादिविभक्ति के परे होने पर **ओः सुपि** से यण् होता है।

ऊकारान्त पुँल्लिङ्ग खलपू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः
द्वितीया	खलप्वम्	खलप्वौ	खलप्वः
तृतीया	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः
चतुर्थी	खलप्वे	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
पञ्चमी	खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
षष्ठी	खलप्वः	खलप्वोः	खलप्वाम्
सप्तमी	खलप्वि	खलप्वोः	खलपूषु
सम्बोधन	हे खलपूः	हे खलप्वौ	हे खलप्वः

एवं सुल्वादयः। सुष्ठु लुनातीति सुलूः। अच्छी तरह काटने वाला। इसी तरह सुलू आदि शब्दों के भी रूप बनाइये। जैसे- सुलूः, सुल्वौ, सुल्वः। सुल्वम्, सुल्वौ, सुल्वः आदि।

स्वभूः। स्वभुवौ। स्वभुवः। स्वयं भवति, स्वस्माद्भवतीति स्वभूः। ब्रह्मा। इसमें भी ङ्यन्त न होने कारण सु लोप नहीं होगा और नित्यस्त्रीलिङ्गी न होने के कारण नदीसंज्ञा भी नहीं होगी। सु का रुत्व और विसर्ग करके **स्वभूः** सिद्ध हो जाता है। अजादिविभक्ति के परे होने परे **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से उवङ् प्राप्त हुआ, उसे भी बाधकर **ओः सुपि** से यण् प्राप्त हुआ। उसका **न भूसुधियोः** से निषेध होने के कारण पुनः **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से उवङ् आदेश होकर **स्वभुवौ, स्वभुवः** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

ऊकारान्त पुँल्लिङ्ग स्वभू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	स्वभूः	स्वभुवौ	स्वभुवः
द्वितीया	स्वभुवम्	स्वभुवौ	स्वभुवः
तृतीया	स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूभिः
चतुर्थी	स्वभुवे	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्यः

वर्णविधायकं विधिसूत्रम्

२११. **वर्षाभ्वश्च ६।४।८४॥**

अस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वावित्यादि। दृन्भूः।

वार्तिकम्- **दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः**। दृन्भ्वौ। एवं करभूः।

धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः।

(वार्तिकम्) **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्**। धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः।

नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न- पिता। पितरौ। पितरः।

पितरम्। शेषं धातृवत्। एवं जामात्रादयः। ना। नरौ।

....

पञ्चमी	स्वभुवः	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्यः
षष्ठी	स्वभुवः	स्वभुवोः	स्वभुवाम्
सप्तमी	स्वभुवि	स्वभुवोः	स्वभूषु
सम्बोधन	हे स्वभूः	हे स्वभुवौ	हे स्वभुवः

वर्षाभूः। वर्षासु भवतीति वर्षाभूः। वर्षा काल में होने वाला, मेंढ़क। वर्षा-पूर्वक भू-धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार लोप होकर **वर्षाभू** बना है। उससे सु, रुत्व और विसर्ग करने पर- **वर्षाभूः**।

२११- **वर्षाभ्वश्च**। वर्षाभ्वः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से अचि, ओः सुपि से सुपि और इणो **यण्** से **यण्** की अनुवृत्ति आती है।

अजादि सुप् के परे होने पर वर्षाभू शब्द को यण् होता है।

वर्षाभू से अजादि विभक्ति के परे होने पर **इको यणचि** से **यण्** प्राप्त था, उसके बाद औ, जस्, औट् के परे होने पर उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से **पूर्वसवर्ण** की प्राप्ति थी, उसका दीर्घाज्जसि च से निषेध होने के कारण **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से उवङ् प्राप्त हो गया एवं अम् के परे होने पर **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप और शस् के परे होने पर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्ण और **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से उवङ् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **ओः सुपि** से यण् प्राप्त था, उसका **न भूसुधियोः** से निषेध प्राप्त था, उसे भी बाधकर **वर्षाभ्वश्च** से यण् का विधान होता है।

इस तरह **वर्षाभू** से अजादि विभक्ति के परे होने पर सर्वत्र **वर्षाभ्वश्च** से यण् होगा और हलादि विभक्ति में कुछ भी नहीं करना है। यह नित्यस्त्रीलिङ्गी न होने के कारण नदीसंज्ञक नहीं है।

ऊकारान्त पुँल्लिङ्ग वर्षाभू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
द्वितीया	वर्षाभ्वम्	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
तृतीया	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
चतुर्थी	वर्षाभ्वे	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
पञ्चमी	वर्षाभ्वः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः

षष्ठी	वर्षाभ्वः	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
सप्तमी	वर्षाभ्वि	वर्षाभ्वोः	वर्षाभूषु
सम्बोधन	हे वर्षाभूः	हे वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः

दृन्भूः। दृन्-अव्यय है और भू धातु। सु, रुत्वविसर्ग करके दृन्भूः।

दृन्करपुनःपुर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **अजादि सुप् के परे होने पर दृन्, कर, और पुनर् पूर्वक भू धातु को यण् का विधान करना चाहिए।**

दृन्-कर-पुनर्पूर्वक भू में न भूसुधियोः से निषेध प्राप्त था, इसलिए वार्तिक का आरम्भ हुआ है। यण् होने के बाद इसके रूप भी **वर्षाभू** की तरह ही बनते हैं- **दृन्भूः, दृन्भ्वौ, दृन्भ्वः** आदि। इसी तरह **करे भवति** हाथ में होने वाले नाखून आदि अर्थ में **करभूः, करभ्वौ, करभ्वः** तथा **पुनर्भवति** पुनः होता है अर्थ में **पुनर्भूः, पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः** आदि सिद्ध होते हैं।

ऊकारान्त शब्द भी पूर्ण हुए। अब ऋकारान्त शब्दों का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

धाता। धारण, पोषण करने वाला, विधाता, ब्रह्मा। **डुधाञ्** धातु से तृन् या तृच् प्रत्यय करके **धातृ** बनता है। **धातृ** से सु प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से गुण प्राप्त, उसे बाधकर **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** से अनङ् आदेश, **धात्+अन्+स्** वर्णसम्मेलन होकर **धातन्+स** बना। **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** से त के अकार की उपधासंज्ञा और **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम्** से उपधा को दीर्घ हुआ, **धातान्+स्** बना। **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से स् का लोप हुआ और **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से नकार का लोप हुआ तो **धाता** सिद्ध हुआ।

धातारौ। धातृ से औ प्रत्यय, **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से ऋकार को गुण, **धात्+अर्+औ** वर्णसम्मेलन होकर **धातर्+औ** बना। **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** से त के अकार की उपधासंज्ञा और **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम्** से उपधा को दीर्घ हुआ, **धातार्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **धातारौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह की प्रक्रिया करके सर्वनामस्थान अर्थात् जस्, अम्, औट् में **धातारः, धातारम्, धातारौ** बनाइये।

धातॄन्। शस् अनुबन्धलोप करके **धातृ+अस्**, पूर्वसवर्णदीर्घ करके **धातॄस्** बना। **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नत्व करके **धातॄन्** बन जाता है। अब अजादि विभक्ति के परे होने पर **इको यणचि** से यण् करके रूप बनते हैं।

धात्रा। टा के आने पर **धातृ+आ** में यण् होकर **धात्+र्+आ=धात्रा**।

धातृ+भ्याम्=धातृभ्याम्। **धातृ+भिस्=धातृभिः**। **धातृ+भ्यस्=धातृभ्यः**।

धात्रे। ङे, ए, **धातृ+ए**, यण्, **धात्+र्+ए** वर्णसम्मेलन होकर **धात्रे**।

धातुः। धातृ+ङसि, धातृ+अस्, **ऋत उत्** से **उर्** आदेश, **धातुर्+स्** सकार का लोप करने पर **धातुर्**, रेफ का विसर्ग करके **धातुः** बना। इसी तरह ङस् में भी बनता है।

धात्रोः। धातृ+ओस्, यण्, धात्+र्+ओस्, वर्णसम्मेलन, धात्रोस्, रुत्वविसर्ग **धात्रोः**।

ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्। यह वार्तिक है। **ऋवर्ण से परे नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है।** जिस तरह णत्व करने वाले सूत्र रेफ और षकार से परे नकार को णत्व करते हैं उसी तरह इस वार्तिक ऋकार से परे नकार को भी णत्व होता है। णत्व प्रकरण के सूत्रों से जिनका व्यवधान मान्य है, उनका व्यवधान इस वार्तिक के सम्बन्ध में भी मान्य ही होंगे।

धातृणाम्। आम् प्रत्यय, नुट्, दीर्घ, इस वार्तिक से णत्व करके धातृणाम् बना।

धातरि। ङि में ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः से गुण करके वर्णसम्मेलन करने पर धातरि सिद्ध होता है।

धातृषु। धातृ+सु, अनुबन्धलोप, षत्व, धातृषु।

हे धातः। सम्बुद्धि में अनङ् नहीं होता है। इसलिए ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः से गुण करके धातर्+स् बना। सकार का लोप और रेफ का विसर्ग करके हे का पूर्वप्रयोग।

ऋकारान्त पुँल्लिङ्ग धातृ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	धाता	धातारौ	धातारः
द्वितीया	धातारम्	धातारौ	धातॄन्
तृतीया	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पञ्चमी	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
षष्ठी	धातुः	धात्रोः	धातृणाम्
सप्तमी	धातरि	धात्रोः	धातृषु
सम्बोधन	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः।

अब इसी तरह नप्तृ(नाती), नेष्टृ(ऋत्विक्) , त्वष्टृ (विश्वकर्मा), क्षत्तृ(क्षत्रिय), होतृ(होता) पोतृ (ऋत्विक् आदि), प्रशास्तृ(प्रशासक) शब्दों के रूप बनते हैं। निम्नलिखित शब्दों के रूप भी लगभग इसी तरह बनते हैं।

कर्तृ=कर्ता	गन्तृ=जाने वाला	जेतृ=जीतने वाला
क्रेतृ=खरीदने वाला	ज्ञातृ=जानने वाला	दातृ=देने वाला
पठितृ=पढ़ाने वाला	भर्तृ=स्वामी या पति	भोक्तृ=भोग करने वाला
रक्षितृ=रक्षा करने वाला	रचयितृ=रचना करने वाला	वक्तृ=बोलने वाला
सवितृ=सूर्य या प्रेरक	स्मर्तृ=स्मरण करने वाला	हन्तृ=मारने वाला

शङ्का- **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्** में तृन् और तृच् प्रत्ययान्त शब्दों में दीर्घ का विधान किया गया है और **नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ** शब्द भी तो तृन् या तृच् प्रत्यय होकर सिद्ध हुए हैं तो तृन्, तृच् के ग्रहण से नप्तृ आदि का भी ग्रहण हो जाता। अतः **अप्तृन्तृचः** से काम चल जाता। इतना लम्बा सूत्र क्यों बनाया गया?

समाधान- **सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति।** सिद्ध होते हुए पुनः उसी कार्य के दूसरा सूत्र बनाना या अधिक कथन करना एक नियम बनाने के लिए होता है। उक्त स्थलों पर तृन्, तृच् प्रत्ययान्त मानकर दीर्घ स्वतः सिद्ध होते हुए भी पुनः नप्तृ आदि पढ़ना भी एक नियम बनाता है। वह यह कि **उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां दीर्घश्चेद् नप्त्रादीनामेव।** अर्थात् उणादि प्रकरण में कहे गये तृन् और तृच् प्रत्ययान्त शब्दों के उपधा को यदि दीर्घ हो तो केवल नप्त्रादि (नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ और प्रशास्तृ) शब्दों को ही हो अन्यों को न हो। नप्त्रादि शब्द उणादिगण में सिद्ध हुए हैं। इस नियम के अनुसार नप्त्रादि शब्दों को छोड़कर उणादिगण में सिद्ध अन्य शब्दों में उपधा को दीर्घ नहीं

वैकल्पिकदीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

२१२. नृ च ६।४।६॥

अस्य नामि वा दीर्घः। नृणाम्, नृणाम्।

....

होगा। यह नियम **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्** से प्राप्त दीर्घ के लिए है, **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** के लिए नहीं है।

तेनेह न। पिता। पितरौ। पितरः। उक्त नियम के कारण उणादिगण में निष्पन्न तृच्-प्रत्ययान्त पितृ-शब्द में दीर्घ नहीं हुआ तो पितरौ, पितरः, पितरम्, पितरौ बन गये। यदि दीर्घ होता तो पितारौ, पितारः, पितारम्, पितारौ ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। सु के परे होने पर तो **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** से अनङ् आदेश होने के कारण शब्द नान्त बन गया है और **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से दीर्घ होकर सकार और नकार का लोप होकर के पिता सिद्ध होता है। शेष रूप धातृ के समान होते हैं।

ऋकारान्त पुँल्लिङ्ग पितृ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पिता	पितरौ	पितरः
द्वितीया	पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृतीया	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
चतुर्थी	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पञ्चमी	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
षष्ठी	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
सप्तमी	पितरि	पित्रोः	पितृषु
सम्बोधन	हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः।

इसी तरह जामातृ(दामाद) भ्रातृ(भाई) शब्दों के रूप बनते हैं। जैसे जामाता, जामातरौ, जामातरः, जामातरम्, जामातरौ, जामातॄन्, जामात्रा, जामातृभ्याम् आदि। इसी तरह भ्राता, भ्रातरौ, भ्रातरः, भ्रातरम्, भ्रातरौ, भ्रातॄन्, भ्रात्रा, भ्रातृभ्याम् इत्यादि।

ना। मनुष्य। ऋकारान्त नृ से सु, गुण प्राप्त, उसे बाधकर अनङ् आदेश करके न्+अन्+स् बना। वर्णसम्मेलन होने पर **नन्+स्** बना। **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से उपधा दीर्घ होकर **नान्+स्** बना। सकार और नकार का लोप करने ना सिद्ध हो जाता है।

नरौ। नृ+औ में **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से ऋकार को गुण करके अर् आदेश होकर नर्+औ बना। वर्णसम्मेलन होकर **नरौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह जस्, अम्, औट् में क्रमशः **नरः, नरम्, नरौ** बनाइयें।

नॄन्। नृ+शस्, नृ+अस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ नॄस्, नत्व करके **नॄन्** सिद्ध हुआ।

न्रा। नृ+टा, नृ+आ, **इको यणचि** से यण्, न्+र्+आ, वर्णसम्मेलन, न्रा।

नृ+भ्याम्=नृभ्याम्। नृ+भिस्=नृभिः। नृ+भ्यस्=नृभ्यः। नृ+सुप्=नृषु।

न्रे। नृ+ङे, नृ+ए, यण्, न्+र्+ए= **न्रे**।

नुः। नृ से ङसि, ङस्, नृ+अस्, **ऋत उत्**, न्+उर्+स्, सलोप, रेफ का विसर्ग।

न्रोः। नृ+ओस्, यण्, न्+र्+ओस=न्रोस्, न्रोः।

णिद्वद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्

२१३. गोतो णित् ७।१।९०॥

ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः। गावौ। गावः।

....

२१२- नृ च। नृ लुप्तषष्ठीकं पदं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **छन्दस्युभयथा** से **उभयथा**, **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** और **नामि** से **नामि** की अनुवृत्ति आती है।

नाम् के परे होने पर नृ शब्द को विकल्प से दीर्घ होता है।

छन्दस्युभयथा से आए हुए **उभयथा** का अर्थ है- दोनों हो अर्थात् दीर्घ भी और न भी। इस तरह विकल्प सिद्ध होता है।

नृणाम्, नृणाम्। नृ से आम्, नुट् करके **नृ+नाम्** बना। **नामि** से नित्य से दीर्घ प्राप्त था, उसे बाधकर के **नृ च** से वैकल्पिक दीर्घ हुआ और **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** से णत्व करके **नॄणाम्** सिद्ध हुआ। दीर्घ न होने के पक्ष में **नृणाम्** ही रह गया।

नरि। नृ+ङि, नृ+इ, **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से गुण करके न्+अर्+इ=**नरि**।

सम्बोधन में भी गुण होकर न्+अर्+स्=नर्+स्, सकार का लोप, रेफ का विसर्ग करके हे का पूर्वप्रयोग करने पर **हे नः** सिद्ध हुआ। **हे नरौ। हे नरः**। ये रूप मनुष्यवाचक ऋकारान्त नृ-शब्द के थे। मनुष्यवाचक ही अकारान्त नर-शब्द भी है। उसके रूप अकारान्त होने के कारण रामशब्द की तरह होते हैं।

ऋकारान्त पुँल्लिङ्ग नृ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ना	नरौ	नरः
द्वितीया	नरम्	नरौ	नॄन्
तृतीया	न्रा	नृभ्याम्	नृभिः
चतुर्थी	न्रे	नृभ्याम्	नृभ्यः
पञ्चमी	नुः	नृभ्याम्	नृभ्यः
षष्ठी	नुः	न्रोः	नृणाम्, नॄणाम्
सप्तमी	नरि	न्रोः	नृषु
सम्बोधन	हे नः	हे नरौ	हे नरः।

ऋकारान्त शब्दों के कथन के बाद ऌकारान्त, एकारान्त शब्द ज्यादा प्रसिद्ध नहीं हैं। अतः उनका कथन न करके कौमुदीकार ओकारान्त शब्द शुरु कर रहे हैं।

२१३- **गोतो णित्**। गोतः पञ्चम्यन्तं, णित् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से विभक्तिपरिणाम करके **सर्वनामस्थानम्** की अनुवृत्ति आती है।

ओकारान्त शब्द से विधान किये गये सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय को णिद्वद्भाव होता है।

इस सूत्र के सम्बन्ध में भाष्य में दो वार्तिक पढ़े गये हैं- **ओतो णिदिति वक्तव्यम्** और **विहितविशेषणञ्च**। इसका मतलब यह है कि **गोतो णित्** की जगह **ओतो णित्** पढ़ना चाहिए और **विहितम्** इतना विशेषण पद और जोड़ना चाहिए। जिससे गो-शब्द

आकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२१४. औतोऽम्शसोः ६।१।९३॥

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः, गवा, गवे। गोः। इत्यादि।

....

के अतिरिक्त **सुद्यो** आदि शब्दों में भी णिद्वद्भाव हो सके। **विहितम्** पढ़ने से यह लाभ होगा कि ओकारान्त से विधान किये गये सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव हो या अन्य को नहीं। प्रत्यय के विधानकाल में प्रकृति ओकारान्त नहीं थी किन्तु बाद में गुण आदि होकर जैसे हे **भानो+स्** आदि में ओकारान्त बन गई है, उस अवस्था में **ओकारान्त से परे** ऐसा अर्थ होगा तो णिद्वद्भाव होकर वृद्धि हो जायेगी, जिससे हे **भानौः** ऐसा अनिष्ट होने लगेगा। यदि **ओकारान्त से विहित** ऐसा अर्थ होगा तो जो शब्द प्रकृति अवस्था में ओकारान्त होगा, उससे परे का णिद्वद्भाव हो जायेगा, बाद में ओकारान्त बने हुए शब्दों से नहीं। णिद्वद्भाव का फल है **अचो ञ्णिति** से णित् को मानकर होने वाली वृद्धि।

गौः। बैल। ओकारान्त गो शब्द से सु, गो+स्, **गोतो णित्** से स् को णिद्वद्भाव करके णित् माना गया तो **अचो ञ्णिति** से ओकार की वृद्धि करके औकार हुआ, **गौ+स्** बना। सकार को रुत्व और विसर्ग करके **गौः** सिद्ध हुआ।

गावौ। गावः। गो+औ, णिद्वद्भाव, वृद्धि करके **गौ+औ** बना। **एचोऽयवायावः** से गौ के औकार के स्थान **आव्** आदेश होकर **ग्+आव्+औ**, वर्णसम्मेलन करके **गावौ** बना। इसी तरह गावः भी बनता है।

२१४- **औतोऽम्शसोः।** आ लुप्तप्रथमाकम्, ओतः पञ्चम्यन्तम्, अम्शसोः सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

ओकार से अम् और शस् सम्बन्धी अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर आकार एकादेश होता है।

गाम्। गो+अम्, णिद्वद्भाव होकर वृद्धि प्राप्त थी, उसे बाधकर **औतोऽम्शसोः** से गो के ओकार और अम् के अकार के स्थान पर **आकार** आदेश हुआ, **ग्+आ+म्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **गाम्** सिद्ध हुआ।

गाः। गो+शस्, अनुबन्धलोप, गो+अस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **औतोऽम्शसोः** से गो के ओकार और अस् के अकार के स्थान पर **आकार** आदेश हुआ, **ग्+आ+स्** बना। वर्णसम्मेलन होकर सकार को रुत्व और विसर्ग **गाः** सिद्ध हुआ।

गवा। गो+टा, गो+आ, अवादेश, गवा। गो+भ्याम्=गोभ्याम्। गो+भिः=गोभिः।

गवे। गो+ङे, गो+ए, अवादेश, गवे। गो+भ्यस्=गोभ्यः।

गोः। गो+ङसि, गो+अस्, **ङसिङसोश्च** से पूर्वरूप, गो+स्, रुत्व और विसर्ग करके गोः बना। इसी तरह ङस् के परे होने पर भी होगा।

गवोः। गो+ओस्, ग्+अव्+ओस्=गवोस्, गवोः।

गवाम्। गो+आम्, ग्+अव्+आम्=गवाम्। **गवि।** गो+ङि, गो+इ, ग्+अव्+इ=गवि।

गोषु। गो+सुप्, गो+सु, गोषु।

आकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२१५. रायो हलि ७।२।८५॥

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ। राः। रायौ। रायः। राभ्यामित्यादि। ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लौभ्यामित्यादि।

इत्यजन्तपुँल्लिङ्गाः॥५॥

....

ओकारान्त पुँल्लिङ्ग गो-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गौः	गावौ	गावः
द्वितीया	गाम्	गावौ	गाः
तृतीया	गवा	गोभ्याम्	गोभिः
चतुर्थी	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः
पञ्चमी	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
षष्ठी	गोः	गवोः	गवाम्
सप्तमी	गवि	गोः	गोषु
सम्बोधन	हे गौः	हे गावौ	हे गावः

अब ऐकारान्त शब्दे रूप बता रहे हैं।

२१५- रायो हलि। रायः षष्ठ्यन्तं, हलि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अष्टन आ विभक्तौ** से आ और विभक्तौ की अनुवृत्ति आती है।

हलादि विभक्ति के परे होने पर रै शब्द के ऐकार के स्थान पर आकार आदेश होता है।

राः। धन। रै से सु आया और **रायो हलि** से ऐकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ, रा+स् बना। रुत्वविसर्ग करके **राः** सिद्ध हुआ।

रायौ। रायः। अजादि विभक्ति के परे होने पर **एचोऽयवायावः** से आय् आदेश होकर र्+आय् बनता है और आगे अच् में मिलता है, जिससे **रायौ, रायः** आदि बनते हैं। हलादि विभक्ति के परे **रायो हलि** से आकारान्तादेश होकर **राभ्याम्, राभिः** आदि रूप बनते हैं।

ऐकारान्त पुँल्लिङ्ग रै-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	राः	रायौ	रायः
द्वितीया	रायम्	रायौ	रायः
तृतीया	राया	राभ्याम्	राभिः
चतुर्थी	राये	राभ्याम्	राभ्यः
पञ्चमी	रायः	राभ्याम्	राभ्यः
षष्ठी	रायः	रायोः	रायाम्
सप्तमी	रायि	रायोः	रासु
सम्बोधन	हे राः	हे रायौ	हे रायः

अब औकारान्त शब्द बता रहे हैं।

औकारान्त ग्लौशब्द चन्दमा का वाचक है। ग्लौः। चन्द्रमा। ग्लौ+स्, ग्लौः। अजादिविभक्ति के परे रहने पर एचोऽयवायावः से आव् आदेश होकर ग्लावौ, ग्लावः आदि रूप सिद्ध होते हैं तो हलादिविभक्ति के परे कोई कार्य नहीं होते।

औकारान्त पुँल्लिङ्ग ग्लौ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
द्वितीया	ग्लावम्	ग्लावौ	ग्लावः
तृतीया	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः
चतुर्थी	ग्लावे	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
पञ्चमी	ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
षष्ठी	ग्लावः	ग्लावोः	ग्लावाम्
सप्तमी	ग्लावि	ग्लावोः	ग्लौषु
सम्बोधन	हे ग्लौः	हे ग्लावौ	हे ग्लावः

अब आप परीक्षा के लिए जुट जायें। आपको उत्तीर्ण होने के लिए १०० में ७० अङ्क तो प्राप्त करने ही होंगे। ७० से ८० तक तृतीय-श्रेणी, ८० से ९० तक द्वितीय श्रेणी और ९० से १०० अङ्क तक प्रथम श्रेणी है। हमें आशा है कि आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले प्रतिभावान् छात्र हैं।

जब आप मूल और टीका में बताये गये विषयों को अच्छी तरह समझ गये हैं तो स्वेच्छया परीक्षा देने के लिए तैयार हो जायें। सबसे पहले अपनी पूजनीय पुस्तक लघुसिद्धान्तकौमुदी को सुन्दर कपड़े से बाँधकर उसकी पूजा करें और दो दिन के लिए सुरक्षित रख दें। इसके बाद कम से कम पचास पृष्ठ की कापी लेकर आप बैठ जायें। प्रश्न लम्बे हैं, इस लिए पाँच घण्टे लगेंगे। अतः ढ़ाई-ढ़ाई घण्टे की दो पारियों में पूरा कर सकते हैं। जब अपना ही मूल्यांकन के लिए आप कटिबद्ध हैं तो न तो परीक्षा में नकल करनी है और न ही किसी से पूछना है। हाँ, तो आत्मानुशासन के साथ परीक्षा में उत्तीर्ण होना आपका लक्ष्य होना चाहिए।

निम्नलिखित प्रश्न पाँच-पाँच अङ्क के हैं। सभी प्रश्न अनिवार्य हैं।

परीक्षा

१. अजन्तपुँल्लिङ्ग शब्द से आप क्या समझते हैं?

२. प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का विधान करने वाले सूत्र किस प्रकरण में बताये गये हैं?

३. सुप्-प्रत्ययों के कौन-कौन से वर्ण इत्संज्ञक हैं?

४. सुप्-प्रत्ययों में अजादि और हलादि प्रत्ययों का विभाजन करें। याद रहे कि अनुबन्ध के लोप हो जाने के बाद अजादि और हलादि गिने जाते हैं।

५. इस प्रकरण के दीर्घविधायक, ऐस्त्वविधायक, एत्वविधायक, णत्व और षत्वविधायक सूत्रों को उनके अध्याय-पाद सहित क्रमशः लिखें।

६. सर्वनामसंज्ञा का क्या फल है? उन सूत्रों के साथ बतायें।

७. ङिद्-विभक्ति और उन्हें मानकर कार्य करने वाले सूत्र एवं चार प्रयोग भी लिखें।
८. घिसंज्ञा के द्वारा कौन-कौन से कार्य सिद्ध हो रहे हैं? पाँच उदाहरण भी दीजिए।
९. सर्वनामस्थानसंज्ञा का क्या फल है?
१०. आदेश किस अवस्था में सर्वादेश और किस अवस्था में अन्त्यादेश होते हैं?
११. उपधासंज्ञा का प्रयोजन कहाँ-कहाँ है?
१२. इकारान्त होते हुए भी पति-शब्द के कुछ रूप हरि-शब्द से भिन्न क्यों होते हैं?
१३. स्थानिवद्भाव किसे कहते हैं? लौकिक उदाहरण देकर समझाइये।
१४. राम, हरि, पति, भानु और धातृ शब्द के चतुर्थी-एकवचन के प्रयोगों को सिद्ध करें।
१५. राम, हरि, पति, भानु और धातृ शब्द के समान रूप चलने वाले अन्य शब्दों के तृतीया के एकवचन के रूप सिद्ध करिये।
१६. किन्हीं पाँच अकारान्त शब्दों की सातों विभक्तियों के रूप लिखिए।
१७. किन्हीं पाँच इकारान्त शब्दों की सातों विभक्तियों के रूप लिखिए।
१८. किन्हीं पाँच उकारान्त शब्दों की सातों विभक्तियों के रूप लिखिए।
१९. किन्हीं पाँच ऋकारान्त शब्दों की सातों विभक्तियों के रूप लिखिए।
२०. अजन्तपुँल्लिङ्ग के अध्ययन के बाद व्याकरण-शास्त्र के ज्ञान के विषय में आप कैसा अनुभव कर रहे हैं? एक पृष्ठ में लिखिए।

अब आपने इन प्रश्नों के उत्तर लिख दिए हों तो अपने गुरु जी को मूल्यांकन करने में कम से कम एक दिन का समय दीजिए और आप अपने सहपाठियों के साथ में इन्हीं प्रश्नों के विषय में संवाद करिये।

यहाँ आकर के एक बात और बताना चाहता हूँ कि पढ़ने से जितना ज्ञान होता है उससे भी ज्यादा ज्ञान पढ़ाने से होता है अर्थात् दस बार स्वयं पढ़ना और एक बार दूसरे को बताना बराबर होता हैं। अतः आप पढ़ते हुए भी आपसे छोटे या आपसे कम-ज्ञान वाले सहपाठियों को पढ़ाने में कदापि आलस्य न करें। आप कभी भी यह न सोचें कि दूसरे को बता देने से वह मुझसे ज्यादा जानकार निकल जायेगा। आप जितना दूसरों को जानकार बनायेंगे आप उससे कई गुणा ज्यादा जानकार बनेंगे। यह तो विद्या है, बाँटने से बढ़ती है और रखने से क्षीण होती है।

आप अपने गुरु जी का भी उतना ही सम्मान करते हैं न? जितना कि अपने माता-पिता का। यदि नहीं करते हैं तो आप पढ़कर भी कुछ नहीं हैं। केवल पुस्तक पढ़कर प्राप्त की गई विद्या अधूरी होती है। गुरु की कृपा के विना विद्या पूर्ण फलदायी नहीं होती है। इसका ध्यान अवश्य रखें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा।

शीविधायकं विधिसूत्रम्

२१६. औङ आपः ७।१।१८।।

आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात्। औङित्यौकारविभक्तेः संज्ञा।

रमे। रमाः

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण के बाद **अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण** प्रारम्भ होता है। यहाँ भी प्रत्याहार के क्रम से ही शब्दों का विवेचन करेंगे किन्तु स्त्रीलिङ्ग में अकारान्तशब्द नहीं हैं, अतः आकारान्तशब्द से ही प्रारम्भ है। स्त्रीलिङ्गशब्द दो प्रकार के होते हैं। पहले तो जो शब्द पुँल्लिङ्ग में भी हैं और स्त्रीलिङ्ग के लिए टाप्, डाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् आदि प्रत्यय किये जाते हैं और कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जिन्हें स्त्रीत्व के लिए कोई विशेष प्रत्यय नहीं होता अपितु स्वतः स्त्रीलिङ्ग में होते हैं। स्त्रीप्रत्ययों का विवेचन **स्त्रीप्रत्ययाः** नामक प्रकरण में देखेंगे।

रमा। रमा शब्द की उत्पत्ति **रमु क्रीडायाम्** इस धातु से अच् प्रत्यय करके रम होकर **अजाद्यतष्टाप्** से टाप् प्रत्यय करके हुई है। इसमें टाप् प्रत्यय करने के कारण यह शब्द आबन्त कहलाता है। टाप् में पकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और टकार की **चुटू** से इत्संज्ञा और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप होता है, केवल आ ही बचता है। रम+आ में **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ होकर **रमा** बन जाता है। रमा का अर्थ है- **रमते विष्णुना साकम्** अर्थात् जो भगवान् विष्णु के साथ रमण करती है वह **लक्ष्मी।**

रमा शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया, उकार की इत्संज्ञा और लोप होने के बाद उस सकार की **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** से **अपृक्तसंज्ञा** हुई तो **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** इस सूत्र से लोप होकर **रमा** प्रयोग सिद्ध हुआ। यहाँ सु-विभक्ति का लोप होने पर भी विभक्ति के रहते हुए जो कार्य होते हैं, वे कार्य होते रहेंगे। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।** प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्यय को मानकर जो जो भी कार्य होते हैं वे होते रहेंगे। जैसे प्रत्यय रूप विभक्ति, सुप् आदि को मानकर होने वाली **पदसंज्ञा** आदि। अतः यहाँ सु का सम्पूर्ण लोप हुआ तो भी **रमा** में पदसंज्ञा विद्यमान ही है।

२१६- औङ आपः। औङः षष्ठ्यन्तम्, आपः पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **जसः शी** से शी की अनुवृत्ति आती है और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

आबन्त अङ्ग से परे औविभक्ति के स्थान पर शी आदेश होता है।

एकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२१७. **सम्बुद्धौ च ७।३।१०६॥**

आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः।

हे रमे। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः।

एकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२१८. **आङि चापः ७।३।१०५॥**

आङि ओसि चाप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

प्राचीन आचार्यों ने **औ** और **औट्** इन दो विभक्तियों को **औङ्** संज्ञा की है। अतः यहाँ औङ् से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का औ लिया जाता है। यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में लगता है, क्योकि आबन्त अङ्ग स्त्रीलिङ्ग में ही मिलेगा। **औ** के स्थान पर जो शी आदेश किया गया, उसमें शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। यहाँ पर **औ** तो प्रत्यय है किन्तु उसके स्थान पर आदेश होने वाला **शी** आदेश प्रत्यय नहीं है। अतः शी में **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** से स्थानिवद्भाव होकर प्रत्ययत्व आ जाता है। अतः **लशक्वतद्धिते** यह सूत्र घटित हुआ।

रमे। रमा से प्रथमा का द्विवचन औ आया। रमा+औ में सवर्णदीर्घ और पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति थी, उन्हें बाधकर सूत्र लगा- **औङ आपः**। आबन्त अङ्ग है रमा और उससे परे औ के स्थान पर शी आदेश हुआ। शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हुई और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **रमा+इ** बना, **आद्गुणः** से गुण होकर **रमे** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार द्वितीया के द्विवचन में भी **रमे** ही बनेगा।

रमाः। प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः जस् और शस् प्रत्यय आये और अनुबन्धलोप होने के बाद केवल अस् ही बचा। रमा+अस् में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर रमास् बना। सकार का रुत्वविसर्ग होकर रमाः सिद्ध हुआ।

२१७- **सम्बुद्धौ च**। सम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आङि चापः** से आपः की तथा **बहुवचने झल्येत्** से एत् की अनुवृत्ति आती है।

आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है सम्बुद्धि के परे रहने पर।

सम्बुद्धि के परे रहने पर आकार के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है।

हे रमे। रमा से सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप हुआ। **एकवचनं सम्बुद्धिः** से सम्बुद्धिसंज्ञा हुई और **सम्बुद्धौ च** से आकार के स्थान पर एकार आदेश हुआ- **रमे स्** बना। सकार का **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से लोप हुआ और **हे** का पूर्वप्रयोग हुआ- **हे रमे**!

हे रमे! हे रमाः! में केवल हे का पूर्वप्रयोग मात्र करना है, बाकी प्रथमा विभक्ति के समान ही है।

रमाम्। द्वितीया के एकवचन में रमा से अम् विभक्ति आई। रमा+अम् में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **रमाम्** सिद्ध हुआ।

याडागमविधायकं विधिसूत्रम्

२१९. याडापः ७।३।११३॥

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै। रमाभ्याम्। रमाभ्यः। रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गाम्बिकादयः।

....

रमाः। द्वितीया के बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग होने के कारण **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नत्व नहीं हुआ। प्रथमा के बहुवचन की तरह **रमाः** बन गया।

२१८- आङि चापः। आङि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदम्, आपः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ओसि च** से **ओसि** की और **बहुवचने झल्येत्** से **एत्** की अनुवृत्ति आती है तथा **अङ्गस्य** इस सूत्र का अधिकार तो है ही।

आङ् और ओस् के परे रहने पर आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है।

यहाँ पर **अलोऽन्त्यस्य** की सहायता से आबन्त अङ्ग के अन्त्यवर्ण आकार के स्थान पर ही एकार-आदेश होगा। इस सूत्र में आङ् से तृतीया-विभक्ति के एकवचन का टा ही गृहीत है। टा में टकार की **चुटू** से इत्संज्ञा होने पर आ बचता है, वह आङ् कहलाता है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने टा की **आङ्संज्ञा** की है।

रमया। रमा-शब्द से तृतीया का एकवचन टा आया, अनुबन्धलोप हुआ। रमा+आ में सवर्णदीर्घ की प्राप्ति थी, उसे बाधकर सूत्र लगा- **आङि चापः**। आबन्त अङ्ग रमा है और आङ् परे है- आ, तो रमा के आकार के स्थान पर एकार आदेश हुआ- **रमे+आ** बना। एकार के स्थान पर **एचोऽयवायावः** से अय् आदेश हुआ- **रम्+अय्+आ** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **रमया** सिद्ध हुआ।

रमाभ्याम्। तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम् आया और रमा से जुड़ गया- **रमाभ्याम्**। यहाँ पर अदन्त अर्थात् ह्रस्व-अकारान्त न होने के कारण **सुपि च** से दीर्घ नहीं हुआ।

रमाभिः। तृतीया के बहुवचन में भिस् आया और सकार का रुत्वविसर्ग होकर **रमाभिः** बन गया। यहाँ पर अदन्त अर्थात् ह्रस्व अकारान्त न होने के कारण **अतो भिस ऐस्** से ऐस् आदेश और **बहुवचने झल्येत्** से एत्व भी नहीं हुआ।

२१९- याडापः। याट् प्रथमान्तम्, आपः पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **घेर्ङिति** से ङिति इस सप्तमी को षष्ठी विभक्ति में बदलकर **ङितः** बनाकर अनुवृत्ति लाई जाती है।

आबन्त अङ्ग से परे ङित् विभक्ति को याट् का आगम होता है।

यह आगम है, अतः किसी भी वर्ण को हटाकर के नहीं होता। आदेश हमेशा किसी के स्थान पर होगा और आगम किसी वर्ण के बगल में आकर बैठेगा। इस सूत्र से विभक्ति को याट् आगम का विधान हुआ है तो टित् होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से उसके आगे ही बैठेगा। याट् में टकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और लोप हो जाता है। एक बात और स्मरण रहे ही कि ङित्-विभक्ति ङे, ङसि, ङस् और ङि ये चार हैं। इन्हीं चार प्रत्ययों के परे रहने पर यह सूत्र लग सकता है।

रमायै। चतुर्थी के एकवचन में रमा-शब्द से ङे आया। ङकार का **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **रमा+ए** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त थी, उसे बाधकर सूत्र लगा- **याडापः**। आबन्त अङ्ग है रमा, उससे ङिद्विभक्ति परे ङे का ए, अतः याट् का आगम हुआ, टकार की इत्संज्ञा हुई और लोप हुआ। टित् होने के कारण ए के आदि में बैठ गया- **रमा+या+ए** बना। **रमाया+ए** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि हुई- **रमायै** सिद्ध हुआ।

रमाभ्यः। चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन मे भ्यस् आता है और सकार का रुत्व-विसर्ग होकर **रमाभ्यः** सिद्ध हो जाता है। अदन्त न होने के कारण **बहुवचने झल्येत्** से एत्व नहीं होता है।

रमायाः। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में क्रमशः ङसि और ङस् प्रत्यय हुए और अनुबन्धलोप होने के बाद केवल अस् ही बचा। रमा+अस् में **याडापः** से याट् का आगम होकर **रमा+या+अस्** बना। या+अस् में **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ होकर रमायास् बना। सकार का रुत्व-विसर्ग हुआ- **रमायाः**।

रमयोः। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में ओस् आया। **रमा+ओस्** में **आङि चापः** से आकार के स्थान पर एकार-आदेश होकर **रमे+ओस्** बना। एकार के स्थान पर **एचोऽयवायावः** से अय् आदेश होकर **रम्+अय्+ओस्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **रमयोस्** बना। सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- **रमयोः** सिद्ध हुआ।

रमाणाम्। षष्ठी के बहुवचन में आम् आया। **रमा+आम्** में आबन्त मानकर **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् का आगम हुआ- **रमा+न्+आम्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ, **रमानाम्** बना। दीर्घ होते हुए भी **नामि** से पुनः दीर्घ हुआ। क्योंकि जब सूत्र से प्राप्त है तो आवश्यकता न होते हुए भी कार्य तो होगा ही। नकार का **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व हुआ- **रमाणाम्** सिद्ध हुआ।

रमायाम्। सप्तमी के एकवचन में ङि आया, अनुबन्धलोप हुआ। रमा+इ में **याडापः** से याट् आगम होकर **रमा+या+इ** बना। **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से ङि के इकार के स्थान पर आम् आदेश हुआ- **रमा+या+आम्** बना। या+आम् में सवर्णदीर्घ हुआ- **रमायाम्**।

रमासु। सप्तमी के बहुवचन में सुप् आया और पकार का लोप हुआ। **रमासु**। यहाँ पर इण् न होने के कारण **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व नहीं हुआ।

इस प्रकार से आबन्त अर्थात् आकारान्त स्त्रीलिङ्ग रमाशब्द के सातों विभक्तियों में रूप सिद्ध हुए। अब इनकी रूपमाला भी देखिए।

आबन्तस्त्रीलिङ्ग रमा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रमा	रमे	रमाः
द्वितीया	रमाम्	रमे	रमाः
तृतीया	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
चतुर्थी	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
पञ्चमी	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
षष्ठी	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
सप्तमी	रमायाम्	रमयोः	रमासु
सम्बोधन	हे रमे!	हे रमे!	हे रमाः!

अब इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के भी रूप बनाइये।

अचला=पृथ्वी
अयोध्या=एक नगरी
अहिंसा=हिंसा न होना
आशा=आशा
उमा=पार्वती
कन्या=कुँवारी
कृपा=दया
गङ्गा=एक पवित्र नदी
ग्रीवा=गर्दन
चिकित्सा=रोगोपचार
जनता=जनसमूह
तनया=पुत्री
त्वरा=शीघ्रता
देवता=देवता
निशा=रात्री
पाठशाला=विद्यालय
प्रतिज्ञा=प्रण
प्रतिष्ठा=स्थापना, इज्जत
माया=छल
रचना=बनाना
वनिता=स्त्री
विद्या=विद्या
शाखा=टहनी
शिला=पत्थर
संज्ञा=नाम
सुधा=अमृत
सेवा=सेवा
स्वतन्त्रता=स्वाधीनता

अजा=बकरी
अर्चा=पूजा
आकाङ्क्षा=इच्छा
इच्छा=चाह
अम्बिका=लक्ष्मी
कला=कला
क्षमा=क्षमा
गवेषणा=खोज
घोषणा=ढिंढोरा
चिन्ता=चिन्ता
जाया=पत्नी
तन्द्रा=ऊँघना
दया=दया
धरा=पृथ्वी
नौका=किश्ती
पिपासा=पीने की इच्छा
प्रतिभा=विशेष बुद्धि
बाधा=रुकावट
माला=माला
राधा=राधा
वसुधा=पृथ्वी
व्यथा=दुःख
शारदा=सरस्वती
शोभा=चमक
सभा=सभा
सुरा=शराब
स्पर्धा=प्रतियोगिता
हरिद्रा=हल्दी

अमावस्या=एक तिथि
अवस्था=दशा
आज्ञा=आदेश
उपमा=सादृश्य
कथा=कहानी
कल्पना=रचना
क्षुधा=भूख
गोशाला=गाय का स्थान
चन्द्रिका=चाँद
चेतना=समझ, ज्ञान
जिज्ञासा=जानने की इच्छा
तुला=तराजू
दक्षिणा=दान विशेष
धारणा=विचार
परीक्षा=परीक्षा
पीड़ा=दुःख
प्रतिमा=मूर्ति
भाषा=बोली
यात्रा=यात्रा
रेखा=लकीर
वामा=सुन्दरी
शर्करा=शक्कर
शिक्षा=उपदेश
सङ्ख्या=सङ्ख्या
सुता=लड़की
सेना=सेना
स्पृहा=इच्छा
होरा=एक घण्टा

इन रूपों में यह जरूर ध्यान देना कि षष्ठी के बहुवचन में कहाँ कहाँ णत्व होता है और कहाँ कहाँ नहीं? रेफ और मूर्धन्य षकार से परे नकार को णत्व होता है यदि उनके बीच में कोई वर्ण व्यवधान के रूप में हो तो अट्, कवर्ग और पवर्ग वाले वर्ण हो तभी अन्य वर्णों के व्यवधान में नहीं। यहाँ पर आप **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** का स्मरण करें।

जिन शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है, ऐसे शब्दों में रमाशब्द की अपेक्षा क्या विशेषता है? रमाशब्द और स्त्रीलिङ्गी सर्वनामसंज्ञक शब्दों में एक ही भिन्नता यह है कि ङित् विभक्ति के परे रहने पर जहाँ रमा शब्द जैसे आकारान्त स्त्रीलिङ्गी शब्दों में **याडापः** से याट् का आगम होता है और सर्वनामसंज्ञक शब्दों में **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** से स्याट् का आगम और आप् अर्थात् आकार को ह्रस्व भी हो जाता है। बस, इतना ही अन्तर है।

स्याडागम-ह्रस्व-विधायकं सूत्रम्

२२०. सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४॥

अबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः। सर्वस्यै। सर्वस्याः। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादय आबन्ताः।

....

२२०- सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च। सर्वनाम्नः पञ्चम्यन्तं, स्याट् प्रथमान्तं, ह्रस्वः प्रथमान्तं, च अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में याडापः से आपः, घेर्ङिति से ङिति ये दो पद आते हैं।

सर्वनामसंज्ञक आबन्त शब्द से परे ङित् विभक्ति को स्याट् का आगम होता है।

स्याट्+ह्रस्वः में झयो होऽन्यतरस्याम् से पूर्वसवर्ण ढकार आदेश हुआ है।

सर्वस्यै। सर्वा+ङे, सर्वा+ए, सर्व+स्या+ए, स्या+ए में वृद्धि, सर्वस्यै।

सर्वस्याः। सर्वा+ङसि, सर्वा+अस् सर्व+स्या+अस्, स्या+अस् में सवर्णदीर्घ- सर्वस्यास्, सकार का रुत्व और विसर्ग- **सर्वस्याः**।

सर्वासाम्। सर्वा+आम्, सुट्, सर्वा+स्+आम्, वर्णसम्मेलन, **सर्वासाम्**।

सर्वस्याम्। सर्वा+ङि, सर्वा+इ, सर्व+स्या+इ, इकार के स्थान पर ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से आम्, सर्व+स्या+आम्, स्या+आम् में सवर्णदीर्घ- **सर्वस्याम्**।

सर्वशब्द के स्त्रीलिङ्ग में जो सर्वाशब्द है उसके रूप नीचे दिये जा रहे हैं।

आबन्तस्त्रीलिङ्ग सर्वा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
द्वितीया	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः
तृतीया	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
चतुर्थी	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
पञ्चमी	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
षष्ठी	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
सप्तमी	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
सम्बोधन	हे सर्वे	हे सर्वे	हे सर्वाः।

अब इसी प्रकार विश्व का स्त्रीलिङ्ग में विश्वा, कतर का कतरा, कतम का कतमा आदि शब्दों के रूप भी होंगे। विश्वा, विश्वे विश्वाः। कतरा, कतरे, कतराः, कतरस्यै, कतरस्याः, कतरस्याम्, एवं कतमा, कतमे, कतमाः, कतमस्यै, कतमस्याः, कतमस्याम् आदि। सर्वा के रूप एवं प्रयोगसिद्धि तैयार हो जाने पर इसके रूप बनाने में कोई कठिनाई नहीं है। सर्वादिगण के अन्य शब्द जैसे- अन्य से अन्या, अन्यतर से अन्यतरा, इतर से इतरा, नेम से नेमा, सम का समा, सिम का सिमा, पूर्वा, परा, अवरा, दक्षिणा, उत्तरा, अपरा, अधरा, स्वा, अन्तरा, एका के रूप भी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

वैकल्पिकसर्वनामसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२२१. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८॥

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै।

तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। एवं तृतीया।

अम्बार्थेति ह्रस्वः। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ला।

जरा। जरसौ इत्यादि। पक्षे रमावत्। गोपाः विश्वपावत्। मतीः। मत्या।

....

२२१- **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ**। दिशां समासः- दिक्समासः, तस्मिन् दिक्समासे, षष्ठीतत्पुरुषः। विभाषा प्रथमान्तं, दिक्समासे सप्तम्यन्तं, बहुव्रीहौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **सर्वादीनि सर्वनामानि** यह पूरा सूत्र अनुवृत्त होता है। दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामानि विभाष स्युः।

दिशावाचकशब्दों के बहुव्रीहि समास में सर्वादि की विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है।

दिङ्नामान्यन्तराले से दिशावाचक शब्दों का बहुव्रीहिसमास होता है। उनमें **सर्वादीनि सर्वनामानि** से नित्य से सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी तो इससे वैकल्पिक हो गई। दिशा वाचक दिक्-शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं। इसलिए उसके विशेषण पूर्वा आदि शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किये जाते हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं का अन्तराल अर्थात् बीच का भाग उपदिशा कहलाता है। जैसे- पूर्वा और दक्षिण दिशा का अन्तराल दक्षिणपूर्वा, दक्षिण और पश्चिम का अन्तराल दक्षिणपश्चिमा, पश्चिम और उत्तर का भाग पश्चिमोत्तरा और उत्तर और पूर्व का भाग उत्तरपूर्वा।

उत्तरपूर्वा। उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दिक् उत्तरपूर्वा। यहाँ पर बहुव्रीहि समास हुआ है। अब उत्तरपूर्वा शब्द की **सर्वादीनि सर्वनामानि** से नित्य से प्राप्त सर्वनामसंज्ञा **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ** से विकल्प से हो गई किन्तु सर्वनामसंज्ञा को आधार मानकर होने वाले कार्य **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** से स्याट् आगम और ह्रस्व ङिद्विभक्ति में ही होते हैं, अतः वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा का फल भी ङिद्विभक्ति में मिलेगा। जैसे सर्वनामसंज्ञा होने के पक्ष में स्याट् आगम और ह्रस्व होकर **उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वस्याः, उत्तरपूर्वस्याम्** और सर्वनामसंज्ञा न होने के पक्ष में **रमायै** की तरह **उत्तरपूर्वायै, उत्तरपूर्वायाः, उत्तरपूर्वायाम्** आदि। शेष सर्वा-शब्द की तरह **उत्तरपूर्वा, उत्तरपूर्वे, उत्तरपूर्वाः** आदि बन जायेंगे।

तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा। अजन्तपुँल्लिङ्ग में **तीयस्य ङित्सु वा** यह वार्तिक पहले पढ़ा जा चुका है। वह ङिद्विभक्ति के परे होने पर तीयप्रत्ययान्त शब्दों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से करता है। **द्वितीया** एवं **तृतीया** शब्द तीयप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग हैं। इनसे ङिद्विभक्ति के परे सर्वनामसंज्ञा होने के पक्ष में **द्वितीयस्यै, द्वितीयस्याः, द्वितीयस्याम्** एवं **तृतीयस्यै, तृतीयस्याः, तृतीयस्याम्** और सर्वनामसंज्ञा न होने के पक्ष में रमा-शब्द की तरह **द्वितीयायै, द्वितीयायाः, द्वितीयायाम्** एवं **तृतीयायै, तृतीयायाः, तृतीयायाम्** रूप बनेंगे। ङिद्विभक्ति न होने पर तो सर्वनामसंज्ञा प्राप्त ही नहीं है, अतः शेष रूप रमा की तरह ही बनेंगे।

द्वितीया के सारे रूप नीचे दिये जा रहे हैं, उसी तरह तृतीया के भी होते हैं।

आबन्तस्त्रीलिङ्ग तीयप्रत्ययान्त द्वितीया-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
द्वितीया	द्वितीयाम्	द्वितीये	द्वितीयाः
तृतीया	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
चतुर्थी	द्वितीयस्यै, द्वितीयायै	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभ्यः
पञ्चमी	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभ्यः
षष्ठी	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
सप्तमी	द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्	द्वितीययोः	द्वितीयासु
सम्बोधन	हे द्वितीये	हे द्वितीये	हे द्वितीयाः

अम्बा, अक्का और **अल्ला** इन तीन शब्दों का अर्थ **माता** है। आबन्त होने के कारण इसके रूप रमा की तरह होते हैं किन्तु अम्बार्थक होने के कारण केवल सम्बोधन में **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से ह्रस्व होकर **हे अम्ब!, हे अक्क!,** हे अल्ल! ये रूप भिन्न होते हैं।

जरा। जरसौ इत्यादि। पक्षे रमावत्। स्त्रीलिङ्ग में विशुद्ध जरा-शब्द मिलता है, अतः **जराया जरसन्यतरस्याम्** की प्रवृत्ति में कोई व्यवधान नहीं है। अतः अजादिविभक्ति के परे होने पर जरस् आदेश सीधे होता है। जरस् आदेश होने के पक्ष में वर्णसम्मेलन करके निर्जरस् की तरह तथा जरस् आदेश न होने के पक्ष में और हलादि विभक्ति के परे होने पर रमा की तरह रूप बनते हैं।

आबन्तस्त्रीलिङ्ग जरा-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	जरा	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
द्वितीया	जरसम्, जराम्	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
तृतीया	जरसा, जरया	जराभ्याम्	जराभिः
चतुर्थी	जरसे, जरायै	जराभ्याम्	जराभ्यः
पञ्चमी	जरसः, जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
षष्ठी	जरसः, जरायाः	जरसोः, जरयोः	जरसाम् जराणाम्
सप्तमी	जरसि, जरायाम्	जरसोः, जरयोः	जरासु
सम्बोधन	हे जरे!	हे जरसौ, हे जरे	हे जरसः, हे जराः

गोपा विश्वपावत्। गां पाति (रक्षतीति) गोपाः। गौओं की रक्षा करने वाली स्त्री को **गोपा** कहते हैं। गोपा शब्द के रूप पुँल्लिङ्ग विश्वपा शब्द की तरह होते हैं क्योंकि विश्वपा शब्द में विश्व-पूर्वक पा-धातु था तो गोपा में **गो-पूर्वक पा-धातु** है। यह आबन्त नहीं है, अतः स्त्रीलिङ्गप्रयुक्त कोई कार्य नहीं हो रहा है। रूप निम्नलिखित हैं।

स्त्रीलिङ्ग- गोपा-शब्द के रूप

प्रथमा- गोपाः, गोपौ, गोपाः। द्वितीया- गोपाम्, गोपौ, गोपः,
तृतीया- गोपा, गोपाभ्याम्, गोपाभिः चतुर्थी- गोपे, गोपाभ्याम्, गोपाभ्यः
पञ्चमी- गोपः, गोपाभ्याम्, गोपाभ्यः षष्ठी- गोपः, गोपोः, गोपाम्
सप्तमी- गोपि, गोपोः, गोपासु सम्बोधन- हे गोपाः, हे गोपौ, हे गोपाः।

वैकल्पिकनदीसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२२२. ङिति ह्रस्वश्च १।४।६॥

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः२। मतेः२।

....

यदि **गोपस्य स्त्री**, गोप की पत्नी, ऐसा विग्रह करके रूप सिद्ध करेंगे तो यहाँ पा धातु नहीं मिलेगा, अपितु अकारान्त **गोप-शब्द** से स्त्रीत्व प्रत्यय विधायक सूत्र **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** से ङीष् प्रत्यय होकर **गोपी** बनेगा जिसके रूप **नदी-शब्द** के समान होते हैं।

इस तरह **आबन्त स्त्रीलिङ्ग** एवं धातु वाले आकार युक्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का कथन किया गया। अब इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का विवेचन कर रहे हैं।

मतिः। बुद्धि। मन ज्ञाने धातु से क्तिन्-प्रत्यय होकर **मति** सिद्ध हुआ है। उससे सु, रुत्वविसर्ग करके **मतिः** सिद्ध हुआ। **मति** के रूप द्वितीया के बहुवचन और तृतीया के एकवचन एवं ङिद्विभक्ति को छोड़कर अन्यत्र पुँल्लिङ्ग **हरि-शब्द** की तरह ही चलते हैं।

मती। मति+औ, पूर्वसवर्णदीर्घ। **मतयः**। मति+जस्, मति+अस्, **जसि च** से गुण, मते+अस्, अयादेश, मत्+अय्+अस्, वर्णसम्मेलन, मतयस्, रुत्वविसर्ग, **मतयः**।

द्वितीया के एकवचन में **मति+अम्**, पूर्वरूप, **मतिम्**। बहुवचन में **मति+शस्**, मति+अस्, पूर्वसवर्णदीर्घ, मतीस्, स्त्रीलिङ्ग में नत्व नहीं होता है, अतः सकार को रुत्व और विसर्ग होकर **मतीः** सिद्ध हुआ।

तृतीया के एकवचन में **मति+आ**, यण्, **मत्या** बना। यहाँ पर घिसंज्ञा होते हुए भी **आङो नास्त्रियाम्** में **अस्त्रियाम्** से निषेध होने के कारण **ना** आदेश नहीं होता।

मति+भ्याम्=मतिभ्याम्। मति+भिस्=मतिभिः।

२२२- **ङिति ह्रस्वश्च**। ङिति सप्तम्यन्तं, ह्रस्वः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** सूत्र से **न** पद को छोड़कर और **यू स्त्र्याख्यौ नदी** ये दोनों सूत्र पूरे का पूरे अनुवर्तन होते हैं।

स्त्रीशब्द को छोड़कर नित्य स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान, इयङ् और उवङ् के स्थानी दीर्घ ईकार और दीर्घ ऊकार तथा स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान ह्रस्व इकार और उकार भी विकल्प से नदीसंज्ञक होते हैं, ङित् विभक्ति के परे होने पर।

इस सूत्र का अर्थ थोड़ा टेढ़ा है। अतः ध्यान देकर के समझें। स्त्रीलिङ्ग शब्द को दो भागों में विभाजित किया गया- एक नित्यस्त्रीलिङ्ग और दूसरा वर्तमान में स्त्रीलिङ्ग। पुनः दो भागों में विभाजित किया गया- **प्रथम** दीर्घ ईकार-उकार और दूसरा ह्रस्व इकार-उकार। एेसे दीर्घ ईकार-ऊकार अन्त में होने वाले शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हों, इनमें इयङ् और उवङ् आदेश होने की योग्यता हो किन्तु साक्षात् **स्त्री-शब्द** न हो। **द्वितीय** ह्रस्व इकार-उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हो। दोनों तरह के शब्दों से ङित् विभक्ति ङे, ङसि, ङस्, ङि के परे होने पर विकल्प से नदीसंज्ञा हो जाती है।

दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों से **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नित्य से नदीसंज्ञा प्राप्त थी तथा ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों से प्राप्त ही नहीं थी, ऐसे शब्दों से ङित्

ङेरामादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२३. इदुद्भ्याम् ७।३।११७॥

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

....

प्रत्ययों परे रहते विकल्प से नदीसंज्ञा करने के लिए इस सूत्र का आरम्भ है। यहाँ प्रसङ्ग मति शब्द का है। मति शब्द इकारान्त होने के कारण घिसंज्ञक है। नदीसंज्ञा घिसंज्ञा का बाधक है। अतः नदीसंज्ञा होने के पक्ष में नदीसंज्ञाश्रित कार्य और नदीसंज्ञा न होने के पक्ष घिसंज्ञक मानकर घिसंज्ञाश्रित कार्य होते हैं।

मत्यै, मतये। मति से चतुर्थी का एकवचन ङे, अनुबन्धलोप, मति+ए। घिसंज्ञा को बाधकर **ङिति ह्रस्वश्च** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हुई। नदीसंज्ञा होने से **आण्नद्याः** से आट् आगम हुआ, **मति+आ+ए** बना। **आ+ए** में **आटश्च** से वृद्धि हुई, **ऐ** हुआ, **मति+ऐ** बना। **इको यणचि** से यण् होकर **मत्+य्+ऐ** वर्णसम्मेलन होकर **मत्यै** सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा न होने के पक्ष नदीसंज्ञाश्रित कार्य नहीं होंगे। अतः घिसंज्ञक मानकर के **मति+ए** में इकार को **घेर्ङिति** से गुण होकर **मते+ए** बना। अय् आदेश होकर **मतये** सिद्ध हुआ।

मत्याः, मतेः। मति से पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में क्रमशः ङसि और ङस्, अनुबन्धलोप, मति+अस्। घिसंज्ञा को बाधकर **ङिति ह्रस्वश्च** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हुई। नदीसंज्ञा होने से **आण्नद्याः** से आट् आगम हुआ, **मति+आ+अस्** बना। **आ+अस्** में **आटश्च** से वृद्धि हुई, **आस्** हुआ, **मति+आस्** बना। **इको यणचि** से यण् होकर **मत्+य्+आस्** वर्णसम्मेलन होकर **मत्यास्**, सकार को रुत्वविसर्ग करके **मत्याः** सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा न होने के पक्ष नदीसंज्ञाश्रित कार्य नहीं होंगे। अतः घिसंज्ञक मानकर के **मति+अस्** में इकार को **घेर्ङिति** से गुण होकर **मते+अस्** बना। **ङसिङसोश्च** से पूर्वरूप होकर **मतेस्** बना। सकार को रुत्वविसर्ग करके **मतेः** सिद्ध हुआ।

मत्योः। मति+ओस्, यण्, रुत्वविसर्ग। **मतीनाम्,** मति+आम्, नुट्, दीर्घ।

२२३- **इदुद्भ्याम्।** इच्च उच्च इदुतौ, ताभ्याम् इदुद्भ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः। **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** नदी एकदेश का विभक्ति और वचन विपरिणाम करके **नदीभ्याम्** की तथा **ङे** और **आम्** की अनुवृत्ति आती है।

नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि के स्थान पर आम् आदेश होता है।

उक्त सूत्र से इस सूत्र में **आप्** और **नी** की अनुवृत्ति नहीं आती क्योंकि इस सूत्र में ह्रस्व इकार और उकार पढ़े गये हैं। आप् और नी में ह्रस्व इकार और उकार का होना सम्भव नहीं है। इस सूत्र की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मति-शब्द से सप्तमी के एकवचन में **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से ङि को आम् आदेश तथा **औत्** से औकार आदेश एकसाथ प्राप्त थे। **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** के नियम से परकार्य **औत्** से औकार आदेश है। यदि औकार आदेश हो जाय तो सख्यौ की तरह **मत्यौ** ऐसा अनिष्ट रूप होने लगेगा। अतः इस सूत्र का आरम्भ करके कहा गया कि नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार उकार से ङि के स्थान पर आम् ही हो।

मत्याम्, मतौ। मति से सप्तमी का एकवचन ङि, अनुबन्धलोप, मति+इ, घिसंज्ञा को बाधकर **ङिति ह्रस्वश्च** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हुई। नदीसंज्ञा होने से **इदुद्भ्याम्** से इ के स्थान पर आम् आदेश, **मति+आम्** बना। **आण्नद्याः** से आट् आगम हुआ, **मति+आ+आम्** बना। **आ+आम्** में **आटश्च** से वृद्धि हुई, **आम्** हुआ, **मति+आम्** बना। **इको यणचि** से यण् होकर **मत्+य्+आम्** वर्णसम्मेलन होकर **मत्याम्** सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा न होने के पक्ष में नदीसंज्ञाश्रित कार्य नहीं होंगे। अतः घिसंज्ञक मानकर के **मति+इ** में इकार को **अच्च घेः** से अकार आदेश तथा प्रत्यय इकार के स्थान पर औकार आदेश होकर **मत+औ** बना। वृद्धि होकर **मतौ** सिद्ध हुआ।

शेष रूप हरि शब्द की तरह ही होते हैं।

ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मतिः	मती	मतयः
द्वितीया	मतिम्	मती	मतीः
तृतीया	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
चतुर्थी	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पञ्चमी	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
षष्ठी	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
सप्तमी	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
सम्बोधन	हे मते!	हे मती!	हे मतयः

इसी तरह बुद्धि आदि शब्दों के रूप में जानने चाहिए। निम्नलिखित शब्दों के रूप भी मति की तरह ही होते हैं।

अङ्गुलि= अंगुली	अपकृति=अपकार	अवनि=पृथ्वी
आकृति=आकार	आवलि=पंक्ति	आवृत्ति=दुहराना
उक्ति=वचन	उन्नति=उन्नति	उपलब्धि=प्राप्ति
औषधि=दवा	कान्ति=सौन्दर्य	कीर्ति=यश
कृति=कार्य	कृषि=खेति	ख्याति=प्रसिद्धि
गति=चाल	ग्लानि=अवसाद	जाति=जाति
तिथि=तारीख	दृष्टि=नजर	द्युति=चमक
धृति=धैर्य	नियति=भाग्य	नीति=नीति
पङ्क्ति=कतार	प्रकृति=स्वभाव	प्रतिकृति=छाया, समान
प्रतिपत्ति=ज्ञान, प्राप्ति	प्रतीति=अनुभव	प्रत्यासत्ति=समीपता
प्रत्युक्ति=उत्तर	प्रशस्ति=प्रशंसा	प्रसुप्ति=निद्रा
प्रीति=प्रेम	बुद्धि=बुद्धि	भक्ति=श्रद्धा
भणिति=कथन	भीति=डर	भुक्ति=खाना
भूति=कल्याण	भूमि=पृथ्वी	भृति=मजदूरी
भ्रान्ति=भ्रम	मुक्ति=मोक्ष	मूर्ति=प्रतिमा
युक्ति=उपाय	युवति= जवान स्त्री	योनि=उत्पत्तिस्थान

प्रकरणम्)

तिसृ-चतस्रादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२४. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

रेफादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२५. अचि र ऋतः ७।२।१००॥

तिसृ-चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः। तिस्रः। तिसृभिः। तिसृभ्यः। तिसृभ्यः। आमि नुट्।

....

	रीति=तरीका	रुचि=रुचि
रजनि=रात्रि	लिपि=वर्णमाला	वसति=वास, घर
रूढि=प्रसिद्धि	विज्ञप्ति=प्रार्थना	विनति=नम्रता
विकृति=विकार	विवृति=व्याख्या	विशुद्धि विशेष शुद्धि
विपत्ति= आपत्ति	वीचि=तरंग	वृत्ति=जीविका
विस्मृति=भूलना	व्याकृति=व्याकरण	शक्ति=ताकत
वृष्टि=वर्षा	श्रुति=वेद	सन्तति=सन्तान
शान्ति=शान्ति	संस्तुति=सिफारिश	सिद्धि=सिद्ध होना
सम्पत्ति=धन	स्तुति=प्रार्थना	स्थिति=ठहरना
सूक्ति=सुन्दर वचन	स्मृति=स्मरण	हानि=हानि
स्फूर्ति=फुर्ती		

तीन संख्या वाचक त्रिशब्द और चार संख्या का वाचक चतुर्-शब्द है। ये केवल बहुवचनान्त हैं।

२२४- **त्रिचतुरोः तिसृचतसृ**। त्रिश्च, चतुश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, त्रिचतुरौ, तयोः त्रिचतुरोः। तिसृ च चतसृ च तयोः समाहारद्वन्द्वः, तिसृचतसृ। त्रिचतुरोः षष्ठ्यन्तं, स्त्रियां सप्तम्यन्तं, तिसृचतसृ प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

विभक्ति के परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान त्रि और चतुर् शब्द के स्थान पर क्रमशः तिसृ और चतसृ आदेश होता है।

चतुर्-शब्द हलन्त होने के कारण हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में सिद्ध होगा।

२२५- **अचि र ऋतः**। अचि सप्तम्यन्तं, रः प्रथमान्तम्, ऋतः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ से विभक्तिविपरिणाम करके **तिसृचतस्रोः** की अनुवृत्ति आती है।

अच् परे हो तो तिसृ और चतसृ के ऋकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है।

यह सूत्र ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः का बाधक है।

तिस्रः, तिसृभिः, तिसृभ्यः। त्रि से प्रथमा का बहुवचन जस्, अनुबन्धलोप करके त्रि+अस् बना। **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** से त्रि के स्थान पर तिसृ आदेश हुआ। तिसृ+अस् बना। पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अचि र ऋतः** से तिसृ के ऋकार के स्थान पर र् आदेश हुआ,

दीर्घनिषेधकं विधिसूत्रम्

२२६. न तिसृचतसृ ६।४।४॥

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु।

द्वे। द्वे। द्वाभ्याम् द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः।

गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि। गौर्यै इत्यादि। एवं नद्यादयः।

लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि।

....

तिस्+र्+अस् बना। वर्णसम्मेलन होकर **तिस्रः** बना। शस् में केवल पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त था, उसे बाधकर रेफादेश होकर **तिस्रः** ही बनता है। भिस्, भ्यस् में भी **तिसृ** आदेश करके सकार का रुत्व और विसर्ग करने पर **तिसृभिः** और **तिसृभ्यः** बन जाते हैं।

२२६- न तिसृचतसृ। तिसृश्च चतसृश्च तेषां समाहारद्वन्द्वः, तिसृचतसृ, तयोः तिसृचतस्रोः। न अव्ययपदं, तिसृचतसृ लुप्तषष्ठीकं पदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नामि** से नामि, **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घः की अनुवृत्ति आती है।

नाम परे होने पर तिसृ और चतसृ को दीर्घ नहीं होता है।

तिसृणाम्। त्रि से षष्ठी का बहुवचन आम् आया। **त्रि+आम्** में **त्रेस्त्रयः** से त्रय आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** से **तिसृ** आदेश हुआ, **तिसृ+आम्** बना। अब एक साथ **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् आगम और **अचि र ऋतः** से **रेफादेश** आदेश प्राप्त हुआ तो **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** के नियम से परकार्य रेफादेश ही प्राप्त हुआ तो वार्तिक लगा- **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन।** पूर्वविप्रतिषेध के नियम से प्राप्त नुम्, अच् के परे होने पर रेफादेश और तृज्वद्भाव के पहले नुट् होता है। यहाँ पर अच् के परे होने पर रेफादेश प्राप्त है, अतः उससे पहले नुट् ही हुआ- **तिसृ+न्+आम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तिसृ+नाम्** बना। **नामि** से ऋकार को दीर्घ प्राप्त था तो **न तिसृचतसृ** से निषेध हो गया। **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** से णत्व होकर **तिसृणाम्** सिद्ध हुआ।

तिसृषु। तिसृ+सुप्, तिसृ+सु, षत्व होकर **तिसृषु** सिद्ध हुआ।

इस तरह त्रि शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप बनते हैं- **तिस्रः, तिस्रः, तिसृभिः, तिसृभ्यः, तिसृभ्यः, तिसृणाम्, तिसृषु।** चतुर् के स्थान **चतसृ** आदेश होने के बाद वह भी अजन्त बन जाता है। उसके रूप **चतस्रः, चतस्रः, चतसृभिः, चतसृभ्यः, चतसृभ्यः, चतसृणाम्, चतसृषु** सिद्ध होते हैं।

द्वे। द्विशब्द नित्य द्विवचनान्त है। विभक्ति के परे **त्यदादीनामः** से अत्व हो जाता है। द्व+औ में स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** से टाप्, अनुबन्धलोप होकर **द्व+आ+औ** बना। **द्व+आ** में सवर्णदीर्घ होकर **द्वा** बना। **द्वा+औ** मे **औङ आपः** से औ के स्थान पर शी आदेश, अनुबन्धलोप करके **द्वा+ई** बना। गुण करने पर **द्वे** सिद्ध हुआ। द्वितीया के द्विवचन में भी **द्वे** ही बनता है। तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम्, अत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ करके **द्वाभ्याम्** सिद्ध होता है। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में **द्वा+ओस्** में **आङि चापः** से एकार आदेश, एकार के स्थान पर अय् आदेश करके **द्व+अय्+ओस्**, वर्णसम्मेलन, रुत्वविसर्ग करके **द्वयोः** सिद्ध होता है। **द्वे, द्वे, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः।**

ह्रस्व इकारान्त शब्दों के बाद अब दीर्घ ईकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं।

गौरी। गौर-शब्द से **षिद्गौरादिभ्यश्च** से ङीष् होकर **गौरी** बना है। उससे सु आया। ङ्यन्त होने के कारण **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से स् का लोप हुआ, **गौरी** सिद्ध हुआ।

गौर्य्यौ। गौरी+औ में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त, उसका **दीर्घाज्जसि च** से निषेध हो जाने पर **इको यणचि** से यण् होकर **गौर्+य्+औ** बना। यकार को **अचो रहाभ्यां द्वे** से द्वित्व होकर **गौर्+य्+य्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **गौर्य्यौ** सिद्ध हुआ। द्वित्व न होने के पक्ष में **गौर्यौ** ही रहा। **गौर्य्यौ** में दो यकार और **गौर्यौ** में एक एकार है। इसी तरह **गौर्य्यः**, **गौर्यः** भी समझना। अम् और शस् को छोड़कर शेष अच् के परे होने पर यण् होगा और यण् होने पर एक पक्ष यकार का द्वित्व और एक पक्ष द्वित्व का अभाव, इस तरह एक यकार और द्वियकार के रूप बनते हैं। हम यहाँ एक यकार के ही रूप दिखा रहे हैं किन्तु आप द्वियकार वाले रूप भी जानना।

गौरीम्। गौरी से द्वितीया का एकवचन अम् आया। **गौरी+अम्** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **गौरीम्** बना।

गौरीः। गौरी से द्वितीया के बहुवचन में शस्, अनुबन्धलोप, गौरी+अस् में **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूवसवर्णदीर्घ और सकार का रुत्वविसर्ग होकर **गौरीः** सिद्ध हुआ।

गौर्या। तृतीया का एकवचन टा, अनुबन्धलोप, **गौरी+आ** में यण् होकर **गौर्या**।

गौरीभ्याम्। **गौरीभिः**। **गौरीभ्यः**। इन तीन प्रयोगों में तृतीया, चतुर्थी का भ्याम्, चतुर्थी एवं पञ्चमी का द्विवचन भ्याम् आता है। तृतीया बहुवचन में भिस् तथा चतुर्थी, पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् आता है और लग जाता है। भिस् और भ्यस् के सकार का रुत्वविसर्ग करना होता है।

गौर्यै। गौरी शब्द से चतुर्थी का एकवचन ङे, अनुबन्धलोप, नदीसंज्ञा, गौरी+अस् में **आण्नद्याः** से ङिद्विभक्ति को आट् का आगम और टकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हो गया। टित् होने के कारण यह ङिद्विभक्ति ए के आगे अर्थात् पहले आकर टित् आगम **आ** बैठ गया। गौरी+आ+ए बना। इसमें **इको यणचि** से यण् हुआ- **गौर्+य्+आ+ए** हुआ। वर्णसम्मेलन हुआ- गौर्य्+आ+ए बना। **आटश्च** से वृद्धि हुई- **गौर्यै**।

गौर्याः। पञ्चमी के एकवचन ङसि और षष्ठी के एकवचन ङस् आया, अनुबन्धलोप हुआ, **गौरी+अस्** में **आण्नद्याः** से आट् आगम, टित् होने के कारण अस् के पहले बैठा, यण् हुआ, **आटश्च** से वृद्धिसंज्ञक एकादेश हुआ, वर्णसम्मेलन हुआ और सकार का रुत्वविसर्ग होने पर- **गौर्याः** सिद्ध हुआ।

गौर्योः। षष्ठी और सप्तमी के द्विचवचन में ओस् आता है और ङित् न होने कारण आट् नहीं हुआ और आट् न होने के कारण **आटश्च** से वृद्धि भी नहीं हुई किन्तु **गौरी+ओस्** में **इको यणचि** से यण् हुआ और सकार को रुत्वविसर्ग हुआ- **गौर्योः**।

गौरीणाम्। षष्ठी के बहुवचन में आम् विभक्ति आई, नदीसंज्ञक होने के कारण **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् आगम और नामि से दीर्घ, **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व होकर **गौरीणाम्** सिद्ध हुआ।

गौर्याम्। सप्तमी के एकवचन में ङि आया, अनुबन्धलोप हुआ, नदीसंज्ञा के बाद **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से ङे के स्थान पर आम् आदेश और **आण्नद्याः** से आट् आगम और **आटश्च** से वृद्धि होकर **गौर्याम्** बना।

गौरीषु। सप्तमी के बहुवचन में सुप् आया, अनुबन्धलोप हुआ, नदी का ईकार इण् है, अतः उससे परे सु के सकार को **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व हुआ- **गौरीषु।**

हे गौरि! सम्बोधन में सु आया, अनुबन्धलोप हुआ। नदीसंज्ञक होने के कारण **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से गौरी के ईकार हो ह्रस्व होकर **गौरि+स्** बना। **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से सकार का लोप हुआ और हे का पूर्वप्रयोग हुआ- **हे गौरि।** यहाँ पर एक यकार और द्वियकार वाले रूप दिये जा रहे है।

ङ्यन्तस्त्रीलिङ्ग गौरी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गौरी	गौर्य्यौ, गौर्यौ	गौर्य्यः, गौर्यः
द्वितीया	गौरीम्	गौर्य्यौ, गौर्यौ	गौरीः
तृतीया	गौर्य्या, गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
चतुर्थी	गौर्य्यै, गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
पञ्चमी	गौर्य्याः, गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
षष्ठी	गौर्य्याः, गौर्याः	गौर्य्योः, गौर्योः	गौरीणाम्
सप्तमी	गौर्य्याम्, गौर्याम्	गौर्य्योः, गौर्योः	गौरीषु
सम्बोधन	हे गौरि	हे गौर्य्यौ, हे गौर्यौ	हे गौर्य्यः, हे गौर्यः

इसी तरह नदी आदि ङ्यन्त स्त्रीलिङ्गी शब्दों के रूप भी समझें किन्तु जिसमें रेफ और हकार नहीं है, वहाँ पर **अचो रहाभ्यां द्वे** नहीं लगेगा। अतः द्वित्व नहीं होगा।

ङ्यन्तस्त्रीलिङ्ग नदी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	नदी	नद्यौ	नद्यः
द्वितीया	नदीम्	नद्यौ	नदीः
तृतीया	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः
चतुर्थी	नद्यै	नदीभ्याम्	नदीभ्यः
पञ्चमी	नद्याः	नदीभ्याम्	नदीभ्यः
षष्ठी	नद्याः	नद्योः	नदीनाम्
सप्तमी	नद्याम्	नद्योः	नदीषु
सम्बोधन	हे नदि!	हे नद्यौ!	हे नद्यः!

अब निम्नलिखित ईकारान्त स्त्रीलिङ्गी शब्दों की सिद्धि करें।

अमरावती= इन्द्रपुरी	इन्द्राणी=इन्द्र की पत्नी	एकादशी=एक तिथि
कदली=केला	कामिनी=स्त्री	कावेरी=एक नदी
किंवदन्ती=अफवाह	कुटी=कुटिया	काशी=एक नगरी
कुमारी=कुँवारी	कौमुदी=चाँदनी	क्षत्रियाणी= क्षत्रिया स्त्री
गर्भिणी=गर्भवती	गायत्री=गायत्री	गृहिणी=घरेलू स्त्री
गोष्ठी=सभा	जननी=माता	तरुणी=जवान स्त्री
तामसी=तमोगुण वाली	दासी=नौकरानी	देवकी=एक स्त्री
देवी=देवपत्नी	दैनन्दिनी=डायरी	द्रौपदी=एक स्त्री
धरित्री=पृथ्वी	नगरी=नगर	नटी=नट की स्त्री

नलिनी=कमलिनी	नारी=स्त्री	पत्नी=भार्या
पदवी=मार्ग, पद	परिपाटी=सिलसिला	पार्वती=एक देवपत्नी
पितामही=दादी	पुत्री=बेटी	पुरी=नगरी
पृथ्वी=भूमि	पौर्णमासी=पूर्णिमा	प्रणाली=तरीका
प्राची=पूर्वदिशा	बदरी=बेर	भवती=आप
भवानी=एक देवपत्नी	भागीरथी=गङ्गा	भारती=संस्कृत-भाषा
मञ्जरी=कोपल	मसी=स्याही	मही=पृथ्वी
मातामही=नानी	मातुलानी=मामी	मालती=चमेली
मुरली=बाँसुरी	मेदिनी=पृथिवी	यामिनी=रात्रि
युवती=जवान स्त्री	रजनी=रात	राक्षसी=राक्षस की स्त्री
राजधानी=राजधानी	राज्ञी=रानी	रोहिणी=एक नक्षत्र
लेखनी=कलम	वसुमती=पृथ्वी	वाणी=वाणी
वापी=बावड़ी	वाराणसी=काशी	वारुणी=मदिरा
विदुषी=विद्यावती स्त्री	वाहिनी=सेना	वीथी=रास्ता
वैजयन्ती=पताका	वैदेही=सीता	वैयासिकी=व्यास की रचना।
शर्वरी=रात्रि	शाटी=वस्त्र, साड़ी	शैली=रीति
श्रेणी=पंक्ति	सखी=सहेली	सपत्नी=सौतन
सरस्वती=वाग्देवी	सरोजिनी=कमल समूह	साध्वी=पतिव्रता
सुन्दरी=रूपवती	सूची=सुई	सौदामिनी=बिजली
हरिणी=मादा हिरन	हरीतकी=हरड़	हिमानी=बर्फ समूह

इतना ध्यान रखें कि षष्ठी-बहुवचन में कहाँ णत्व होता है और कहाँ नहीं?

लक्ष्मीः। नदीशब्द में ङीप् होने के कारण ङ्यन्त है किन्तु लक्ष्मी शब्द में ङीप् न होने कारण ङ्यन्त नहीं है। ङ्यन्त न होने के कारण **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से सु का लोप नहीं हुआ किन्तु उसका रुत्वविसर्ग हुआ- लक्ष्मीः। केवल सु में भिन्न रूप वनता है, बाकी सर्वत्र लक्ष्मी शब्द के रूप नदीशब्द के समान ही होते हैं।

लक्ष्मी आदि शब्दों के सु के लोप के सम्बन्ध में एक पद्य प्रचलित है-

अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु।

अपि स्त्रीलिङ्गवृत्तीनां सोर्लोपो न कदाचन॥ अर्थात् उणादि में सिद्ध होने वाले अवी, तन्त्री, तरी, लक्ष्मी, धी, ह्री, श्री ये शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्ग में है तथापि (ङ्यन्त न होने के कारण) इनसे परे सु का लोप कदापि नहीं होता है।

अङ्यन्त-स्त्रीलिङ्ग लक्ष्मी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः
द्वितीया	लक्ष्मीम्	लक्ष्म्यौ	लक्ष्मीः
तृतीया	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः
चतुर्थी	लक्ष्म्यै	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
पञ्चमी	लक्ष्म्याः	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
षष्ठी	लक्ष्म्याः	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्

इयङादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२७. स्त्रियाः ६।४।७९॥

अस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः।

वैकल्पिकेयङ्विधायकं विधिसूत्रम्

२२८. वाम्शसोः ६।४।८०॥

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्।

स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः। परत्वान्नुट्।

स्त्रीणाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

....

सप्तमी	लक्ष्म्याम्	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीषु
सम्बोधन	हे लक्ष्मि	हे लक्ष्म्यौ	हे लक्ष्म्यः

इसी तरह अवी, तरी, तन्त्री आदि शब्दों के रूप भी समझने चाहिए।

स्त्री-शब्द स्त्यै धातु से ङीप् होकर बना है, इसलिए ङ्यन्त है। नित्यस्त्रीलिङ्ग में विद्यमान है, अतः नदीसंज्ञक भी है।

स्त्री। स्त्री से सु, **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से उसका लोप।

हे स्त्रि। नदीसंज्ञक होने के कारण **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से स्त्री के ईकार को ह्रस्व करके **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से स् का लोप और **हे** का पूर्वप्रयोग होने पर **हे स्त्रि** बनता है।

२२७- **स्त्रियाः।** स्त्रियाः षष्ठ्यन्तमेकपदमिदं सूत्रम्। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से **अचि** और इयङ् की अनुवृत्ति आती है।

अजादि प्रत्यय के परे होने पर स्त्री शब्द के ईकार के स्थान पर इयङ् आदेश होता है।

स्त्री शब्द में धातु का ईकार न होने के कारण **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् प्राप्त नहीं था, अतः इस सूत्र का आरम्भ हुआ।

स्त्रियौ। स्त्री+औ में **इको यणचि** से यण् प्राप्त, उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त, उसके **दीर्घाज्जसि च** से निषेध होने पर पुनः यण् प्राप्त हो रहा था, तब **स्त्रियाः** से इयङ् आदेश का विधान हुआ। अनुबन्धलोप के बाद ईकार के स्थान पर इय् बैठा, **स्त्र्+इय्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **स्त्रियौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह इयङ् करके **स्त्रियः** सिद्ध होता है।

२२८- **वाम्शसोः।** अम् च शस् च, अम्शसौ, तयोः- अम्शसोः। वा अव्ययपदम्, अम्शसोः सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् और **स्त्रियाः** से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है।

अम् और शस् के परे होने पर स्त्रीशब्द को इयङ् विकल्प से होता है।

स्त्रियाः से नित्य से प्राप्त इयङ् को अम् और शस् के परे विकल्प से करता है।

स्त्रियः। स्त्री+अम् में **इको यणचि** से यण् प्राप्त, उसे बाधकर **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति, उसे बाधकर **अमि पूर्वः** से **पूर्वरूप** की प्राप्ति हो रही थी, तब **स्त्रियाः** से नित्य से इयङ् आदेश का विधान हुआ, उसे भी बाधकर **वाम्शसोः**

(इयङ्...प्रकरणम्)

नदीसंज्ञानिषेधकं सूत्रम्

२२९. **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४॥**

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री।

हे श्रीः। श्रियै, श्रिये। श्रियाः, श्रियः।

....

से विकल्प से **इयङ्** आदेश, अनुबन्धलोप के बाद ईकार के स्थान पर इय् बैठा, **स्त्+इय्+अम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **स्त्रियम्** सिद्ध हुआ। इयङ् न होने के पक्ष में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **स्त्रीम्** सिद्ध हुआ। इसी तरह शस् में इयङ् होने के पक्ष में **स्त्रियः** बनता है और न होने के पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर **स्त्रीः** हो जाता है।

अब अजादिविभक्ति के परे होने पर **स्त्रियाः** से इयङ् आदेश करके वर्णसम्मेलन करना और हलादिविभक्ति के परे तो कोई कार्य नहीं है किन्तु आम् के परे **स्त्रियाः** की अपेक्षा **ह्रस्वनद्यापो नुट्** के परे होने के कारण पहले नुट् होगा और नुट् होने के बाद अजादि नहीं रहेगा तो इयङ् भी नहीं होगा, अतः **स्त्रीणाम्** बनेगा।

ङ्यन्त-नित्यस्त्रीलिङ्ग स्त्री-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
द्वितीया	स्त्रियम्, स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रियः, स्त्रीः
तृतीया	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
चतुर्थी	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
पञ्चमी	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
षष्ठी	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
सप्तमी	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रिषु
सम्बोधन	हे स्त्रि	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः

श्रयति हरिम् इति श्रीः। हरि का आश्रय लेने वाली, लक्ष्मी, शोभा आदि। **श्रिञ् सेवायाम्** धातु से क्विप् और दीर्घ करके श्री बनता है। यहाँ पर ङीप् आदि का ईकार नहीं है। धातु का ईकार होने के कारण इयङ् होता है और ङ्यन्त न होने के कारण सु का लोप नहीं होता। **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** से निषेध होने के कारण नदीसंज्ञा नहीं होती किन्तु ङित् विभक्ति के परे होने पर **ङिति ह्रस्वश्च** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हो जाती है।

श्रीः। सु, अनुबन्धलोप, रुत्व, विसर्ग, **श्रीः।**

श्रियौ। श्री+औ, धातु से पूर्व अवयव ईकार से पूर्व धातु का ही अवयव संयोग श्र् है और अनेकाच् अङ्ग भी नहीं है। अतः **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् नहीं हुआ। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् होकर **श्र्+इय्+औ** बना। वर्ण सम्मेलन, **श्रियौ।**

जस् में **श्री+अस्, इयङ्, श्र्+इय्+अस्** वर्णसम्मेलन, रुत्वविसर्ग, **श्रियः।**

२२९- नेयङुवङ्स्थानावस्त्री। इयङ् च उवङ् च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, इयङुवङौ, इयङुवङौ स्थितिः स्थानं ययोस्तौ इयङुवङ्स्थानौ, बहुव्रीहिः। न स्त्री- अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः। न अव्ययपदम्, इयङुवङ्स्थानौ प्रथमान्तम्, अस्त्री प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से यू और नदी की अनुवृत्ति आती है।

वैकल्पिकनदीसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२३०. वामि १।४।५॥

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियि, श्रियाम्। धेनुर्मतिवत्।

....

इयङ् और उवङ् के स्थानीभूत दीर्घ ईकार और ऊकार ये नदीसंज्ञक नहीं होते हैं।

श्री आदि शब्दों में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् आदेश होता है, अतः श्री का ईकार इयङ् का स्थानी है।

हे श्रीः। सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन सु, अनुबन्धलोप, **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नदीसंज्ञा प्राप्त, उसे **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** से निषेध होने के कारण नदीत्वाभावात् **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** से ह्रस्व नहीं हुआ। अतः **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से स् का लोप भी नहीं हुआ। उसका रुत्व और विसर्ग हुआ तथा हे का पूर्वप्रयोग होकर **हे श्रीः** सिद्ध हुआ।

श्रियम्। **श्रियौ**। **श्रियः**। **श्रियः**। इयङ् आदेश।

श्रियै, श्रिये। श्री+ङे, श्री+ए, **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से प्राप्त नदीसंज्ञा का **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** से निषेध, पुनः ङे विभक्ति के ङित् होने के कारण **ङिति ह्रस्वश्च** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा होती है। नदीसंज्ञा के पक्ष में **आण्नद्याः** से आट् आगम हुआ, श्री+आ+ए बना। आ+ए में **आटश्च** से वृद्धि होकर ऐ बना। श्री+ए में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् होकर श्र्+इय्+ऐ बना। वर्ण सम्मेलन, **श्रियै** सिद्ध हुआ। इसी तरह की विधि करके पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में क्रमशः **श्रियाः-श्रियः**, **श्रियाः-श्रियः**, **श्रियाम्-श्रियि** रूप सिद्ध होते हैं।

ओस् के परे होने पर इयङ् और वर्णसम्मेलन होकर **श्रियोः** बनता है।

२३०- **वामि**। वा अव्ययपदम्, आमि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** से **नेयङुवङ्स्थानौ** और **यू स्त्र्याख्यौ नदी** पूरा सूत्र का अनुवृत्त होता है।

इयङ् और उवङ् के स्थानी नित्य स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान ईकार और ऊकार आम् के परे होने पर विकल्प से नदीसंज्ञक होते है किन्तु स्त्रीशब्द में यह नियम नहीं लगता।

यू स्त्र्याख्यौ नदी से नित्य से प्राप्त नदीसंज्ञा इस सूत्र से विकल्प से होती है जिससे नदीसंज्ञा के पक्ष में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् का आगम हो जाता है। नदीसंज्ञा के अभाव में इयङ् आदेश होगा।

श्रीणाम्, श्रियाम्। षष्ठी के बहुवचन में श्री+आम् है। **वामि** से नदीसंज्ञा के पक्ष में **नुट्**, **नामि** से दीर्घ ईकार को भी दीर्घ आदेश, णत्व करके **श्रीणाम्** सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा न होने के पक्ष में **इयङ्** होकर **श्र्+इय्+आम्**, वर्णसम्मेलन होकर **श्रियाम्** सिद्ध होता है।

अङ्यन्त-नित्यस्त्रीलिङ्ग श्री-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
द्वितीया	श्रियम्	श्रियौ	श्रियः

(प्रकरणम्)

(तृज्वद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्)

२३१. **स्त्रियां च ७।१।९६॥**

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते।

तृतीया	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
चतुर्थी	श्रियै, श्रिये	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
पञ्चमी	श्रियाः, श्रियः	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
षष्ठी	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्, श्रियाम्
सप्तमी	श्रियाम्, श्रियि	श्रियोः	श्रीषु
सम्बोधन	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः

स्मरणीयः- नदीसंज्ञा का उपयोग केवल ङे, ङसि, ङस्, ङि, आम् और सम्बोधन में ही होता है। जिन शब्दों में इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं, उसमें **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** से नदीसंज्ञा का निषेध हो जाता है किन्तु ङिद्विभक्ति के परे **ङिति ह्रस्वश्च** और **वामि** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हो जाती है। **अस्त्री** कहकर निषेध करने के कारण ये नियम स्त्रीशब्द में नहीं लगते अर्थात् स्त्रीशब्द की नित्य से नदीसंज्ञा होती है।

ईकारान्त शब्दों के विवेचन के बाद अब उकारान्त शब्दों का विवेचन करते हैं।

धेनुर्मतिवत्। धेनुशब्द के रूप मतिशब्द की तरह होते हैं। मतिशब्द इकारान्त होने के कारण इकार को गुण होकर एकार होता था तो धेनु उकारान्त है, अतः उकार को गुण होकर ओकार होगा।

उकारान्त स्त्रीलिङ्ग धेनु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	धेनुः	धेनू	धेनवः
द्वितीया	धेनुम्	धेनू	धेनूः
तृतीया	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
चतुर्थी	धेन्वै, धेनवे	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
पञ्चमी	धेन्वाः, धेनोः	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
षष्ठी	धेन्वाः, धेनोः	धेन्वोः	धेनूनाम्
सप्तमी	धेन्वाम्, धेनौ	धेन्वोः	धेनुषु
सम्बोधन	हे धेनो!	हे धेनू	हे धेनवः

इसी तरह निम्नलिखित के भी रूप जानें।

अलावु= लताविशेष	उडु=तारा	कण्डु=खुजली
करेणु=हथिनी	काकु=स्वर-विकृति	खर्जु=खुजली
गण्डु=गाँठ	चञ्चु=चोंच	जम्बु=जामुन
तनु=शरीर	रज्जु=रस्सी	रेणु=धूल
वार्ताकु=बैगन	शतद्रु=सतलुज	सरयु=एक ऐतिहासिक नदी
धेनु=गाय	स्नायु=नस	हनु=ठ्योड़ी

ङीप्-प्रत्ययविधायकं विधिसूत्रम्

२३२. ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५॥

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप्।

क्रोष्ट्री गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। स्वयम्भूः पुंवत्।

....

२३१- **स्त्रियां च**। स्त्रियाम् सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **तृज्वत् क्रोष्टुः** का पूरे सूत्र का अनुवर्तन होता है।

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द भी तृज्-प्रत्ययान्त की तरह होता है अर्थात् तृज्वद्भाव को प्राप्त होता है।

पुँल्लिङ्ग के क्रोष्टु शब्द का स्मरण करें। वहाँ कुछ विभक्तियों के परे उकारान्त शब्द तृज्वद्भाव होकर ऋकारान्त बन गया था। यहाँ अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में विभक्ति की अपेक्षा नहीं है। स्त्रीत्व की विवक्षा मात्र में तृज्वद्भाव को प्राप्त हो जाता है। **क्रोष्टुशब्द क्रोष्टृशब्द** के रूप में आता है और अग्रिम सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर **क्रोष्ट्री** बन जाता है।

२३२- **ऋन्नेभ्यो ङीप्**। ऋतश्च, नाश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, ऋन्नास्तेभ्यः-ऋन्नेभ्यः। ऋन्नेभ्यः पञ्चम्यन्तं, ङीप् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** से वचनविपरिणाम करके **प्रातिपदिकेभ्यः** के अनुवृत्ति आती है।

ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय होता है।

स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में स्त्रीत्व के लिए ङीप्, ङीष्, ङीन् आदि प्रत्ययों का विधान करने वाले अनेकों सूत्र हैं किन्तु यहाँ पर यह सामान्य सूत्र दिया गया है।

क्रोष्टृशब्द तृज्वद्भाव होने से ऋकारान्त है और स्वामिन् शब्द नकारान्त है। इन दोनों से ङीप् प्रत्यय हुआ। पकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और ङकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल ई ही बचता है। ऋकारान्त क्रोष्टृ+ई में **इको यणचि** से यण् होकर **क्रोष्ट्+र्+ई** में वर्णसम्मेलन होने पर **क्रोष्ट्री** बनता है। इसी प्रकार नकारान्त स्वामिन् शब्द से ङीप् होकर **स्वामिन्+ई=स्वामिनी** बन जाता है। ङ्यन्त स्त्रीलिङ्ग होने के कारण इनके रूप **गौरी** की तरह ही होते हैं।

उकारान्त स्त्रीलिङ्ग क्रोष्टु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्र्यः
द्वितीया	क्रोष्ट्रीम्	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्रीः
तृतीया	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्र्यै	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्यः
पञ्चमी	क्रोष्ट्र्याः	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्यः
षष्ठी	क्रोष्ट्र्याः	क्रोष्ट्र्योः	क्रोष्ट्रीणाम्
सप्तमी	क्रोष्ट्र्याम्	क्रोष्ट्र्योः	क्रोष्ट्रीषु
सम्बोधन	हे क्रोष्ट्रि!	क्रोष्ट्र्यौ!	क्रोष्ट्र्यः!

इसी प्रकार कर्तृ से कर्त्री, हर्तृ से हर्त्री, विद्यार्थिन् से विद्यार्थिनी, दण्डिन् से दण्डिनी,

योगिन् से योगिनी, स्वामिन् से स्वामिनी आदि बन जाते हैं। इन शब्दों की सातों विभक्तियों में नदी-शब्द के समान रूप चलते हैं। आप बनाने का प्रयत्न करें। इन शब्दों के रूप अपनी अभ्यासपुस्तिका में भी लिखें और उच्चारण करके अभ्यास भी करें।

स्वामिन्-शब्द हलन्त है, इसलिए हलन्तस्त्रीलिङ्ग का विषय है, फिर भी ङीप् होकर ईकारान्त बन जाने के कारण अजन्त जैसा बन गया है। अतः उसके रूप यहाँ पर दिये जा रहे हैं।

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग स्वामिनी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	स्वामिनी	स्वामिन्यौ	स्वामिन्यः
द्वितीया	स्वामिनीम्	स्वामिन्यौ	स्वामिनीः
तृतीया	स्वामिन्या	स्वामिनीभ्याम्	स्वामिनीभिः
चतुर्थी	स्वामिन्यै	स्वामिनीभ्याम्	स्वामिनीभ्यः
पञ्चमी	स्वामिन्याः	स्वामिनीभ्याम्	स्वामिनीभ्यः
षष्ठी	स्वामिन्याः	स्वामिन्योः	स्वामिनीनाम्
सप्तमी	स्वामिन्याम्	स्वामिन्योः	स्वामिनीषु
सम्बोधन	हे स्वामिनि!	हे स्वामिन्यौ!	स्वामिन्यः!

भ्रूः श्रीवत्। भ्रू-शब्द के रूप श्री-शब्द की तरह होते हैं। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** में भ्रू का ग्रहण है, अतः इसके ऊकार के स्थान पर उवङ् आदेश होता है। उवङ् की स्थिति होने के कारण **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** नदीसंज्ञा का निषेध होने पर भी ङिद्विभक्ति के परे **ङिति ह्रस्वश्च** तथा आम् के परे होने पर **वामि** से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हो जाने के कारण इसके रूप श्री की तरह ही बन जाते हैं। भ्रू+औ, भ्र्+उवङ्, भ्र्+उव्+औ=भ्रुवौ।

ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग भ्रू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	भ्रूः	भ्रुवौ	भ्रुवः
द्वितीया	भ्रुवम्	भ्रुवौ	भ्रुवः
तृतीया	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभिः
चतुर्थी	भ्रुवै, भ्रुवे	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
पञ्चमी	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
षष्ठी	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रुवोः	भ्रुवाम्, भ्रूणाम्
सप्तमी	भ्रुवाम्, भ्रुवि	भ्रुवोः	भ्रूषु
सम्बोधन	हे भ्रूः!	हे भ्रुवौ	हे भ्रुवः!

स्वयम्भूः पुंवत्। स्वयम्भू शब्द पुँल्लिङ्ग की तरह होता है अर्थात् जैसे पुँल्लिङ्ग में स्वभू और स्वयम्भू शब्द के रूप बनते हैं, इसी तरह स्त्रीलिङ्ग में बनते हैं। यह विशेषण शब्द है, अतः विशेष्य के अनुसार इसके रूप होते है। नित्यस्त्रीलिङ्गी न होने के कारण **यू स्त्र्याख्यौ नदी** से नदीसंज्ञा नहीं होती है। अतः **ओः सुपि** से प्राप्त यण् का **न भूसुधियोः** से निषेध होता है। तदनन्तर **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से उवङ् होकर स्वयम्भूः, स्वयम्भुवौ, स्वयम्भुवः बन जाते हैं।

विध्यन्तर्गतं-ङीप्टाप्प्रतिषेधसूत्रम्

२३३. न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०॥

ङीप्टापौ न स्तः।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥

स्वसा। स्वसारौ। माता पितृवत्। शसि मातॄः।
द्यौर्गोवत्। राः पुंवत्। नौग्लौवत्॥

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गाः॥६॥

ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग स्वयम्भू-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	स्वयम्भूः	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुवः
द्वितीया	स्वयम्भुवम्	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुवः
तृतीया	स्वयम्भुवा	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभिः
चतुर्थी	स्वयम्भुवे	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभ्यः
पञ्चमी	स्वयम्भुवः	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभ्यः
षष्ठी	स्वयम्भुवः	स्वयम्भुवोः	स्वयम्भुवाम्
सप्तमी	स्वयम्भुवि	स्वयम्भुवोः	स्वयम्भूषु
सम्बोधन	हे स्वयम्भूः!	हे स्वयम्भुवौ!	हे स्वयम्भुवः!

वधू(बहू), जम्बू(जामुन), श्वश्रू(सास), चमू(सेना), चञ्चू(चोंच), तनू(शरीर), चम्पू(गद्यपद्यमिश्रित काव्य), कमण्डलू(कमण्डल) आदि शब्दों के रूप गौरी की तरह ही बनते हैं। अन्तर यह है कि इन शब्दों में अङ्यन्त होने के कारण सु का लोप नहीं होता और उकार के स्थान पर यण् होकर व् आदेश होता है, जिससे वधूः, वध्वौ, वध्वः आदि रूप सिद्ध होते हैं। **जम्बू, चञ्चू,** तनू ये शब्द ह्रस्व उकारान्त भी हैं। ऐसी अवस्था में इनके रूप धेनु शब्द की तरह होंगे।

२३३- **न षट्स्वस्रादिभ्यः**। षट् च स्वस्रादयश्च षट्स्वस्रादयः, इतरेतरद्वन्द्वः, तेभ्यः षट्स्वस्रादिभ्यः। न अव्ययपदं, षट्स्वस्रादिभ्यः पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ऋन्नेभ्यो ङीप्** से ङीप् और अजाद्यतष्टाप् से टाप् की अनुवृत्ति आती है।

षट्संज्ञक शब्द और स्वस्रादि गणपठित शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् और टाप् न हों।

यह सूत्र पूर्व सूत्र **ऋन्नेभ्यो ङीप्** से पञ्चन्, षष्, स्वसृ, दुहितृ आदि शब्दों से प्राप्त **ङीप्** और **टाप्** आदि स्त्रीत्व-बोधक प्रत्ययों का निषेध करता है। षट्संज्ञक शब्द और स्वस्रादिगणपठित शब्दों से **ङीप्** और **टाप्** नहीं होते हैं अर्थात् इन शब्दों में स्त्रीप्रत्यय न करने पर भी स्वतः स्त्रीत्व का बोध हो जाता है। **स्वसृ**(बहन), **तिसृ**(तीन संख्या, स्त्रीलिङ्ग), **चतसृ**(चार की संक्ष्या, स्त्रीलिङ्ग में), **ननान्दृ** (ननद), **दुहितृ**(लड़की), **यातृ**(देवरानी) **और मातृ ये शब्द स्वस्रादि हैं।**

स्वसा। स्वसृ-शब्द बहन का वाचक है। उससे स्त्रीलिङ्ग का कोई प्रत्यय नहीं हुआ। उणादिनिष्पन्न होते हुए भी अप्तृन्तृच्स्वसृ० आदि सूत्र में पठित होने के कारण सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ होता है। अतः इसके रूप पुँलिङ्ग धातृ-शब्द के समान ही चलते हैं। केवल शस् में नत्व न होकर स्वसॄः बनेगा। स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः। स्वसारम्, स्वसारौ, स्वसॄः आदि। इसी तरह तिस्रः, तिस्रः आदि रूप बनाये जा चुके हैं। ननान्दृ, दुहितृ, यातृ आदि अप्तृन्तृच्० के अन्तर्गत न आने के कारण सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ नहीं होता किन्तु सु में सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से दीर्घ होता है। ननान्दा, ननान्दरौ, ननान्दरः, दुहित, दुहितरौ, दुहितरः, याता, यातरौ, यातरः आदि बनते हैं। इसी प्रकार मातृ-शब्द के शस् में मातॄः बनता है, बाकी रूप पितृशब्द के समान ही होंगे।

ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग मातृ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	माता	मातरौ	मातरः
द्वितीया	मातरम्	मातरौ	मातॄः
तृतीया	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः
चतुर्थी	मात्रे	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
पञ्चमी	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
षष्ठी	मातुः	मात्रोः	मातॄणाम्
सप्तमी	मातरि	मात्रोः	मातृषु
सम्बोधन	हे मातः!	हे मातरौ!	हे मातरः!

ओकारान्त द्यो-शब्द के रूप अजन्तपुँल्लिङ्ग के समान होते हैं, अर्थात् गोतो णित् से णिद्वद्भाव करके अचो ञ्णिति से वृद्धि होकर सु में द्यौः, अम् और शस् में आकार एकादेश आदि होकर इसके रूप बनते हैं- द्यौः, द्यावौ, द्यावः, द्याम्, द्यावौ, द्याः, द्यवा, द्योभ्याम्, द्योभिः आदि।

पुँल्लिङ्ग में गो-शब्द के रूप बनाये गये हैं। वह बैल का वाचक था। स्त्रीलिङ्ग में गो-शब्द गाय का वाचक है। इसके रूप भी पुँल्लिङ्ग की तरह ही होते हैं।

ऐकारान्त रै-शब्द के रूप पुँल्लिङ्ग की तरह ही बनते हैं। स्मरण रहे कि रायो हलि से हल् के परे होने पर आकार अन्तादेश होता है और अजादिविभक्ति के परे होने पर एचोऽयवायावः से आय् आदेश होता है।

औकारान्त नौ-शब्द के रूप भी पुँल्लिङ्ग में ग्लौ-शब्द की तरह होते हैं। स्मरण रहे कि हलादिविभक्ति के परे कोई प्रक्रिया नहीं होती और अजादिविभक्ति के परे एचोऽयवायावः से आव् आदेश होता है। नौ नावौ नावः, नावम्, नावौ, नावः, नावा, नौभ्याम्, नौभिः इत्यादि रूप बनते हैं।

इस प्रकार से अजन्तस्त्रीलिङ्ग के शब्दों का विवेचन संक्षिप्त रूप से किया गया। अब बारी है परीक्षा की। इससे पहले आपको स्मरण दिला दूँ कि पाणिनीयाष्टाध्यायी का पारायण तो नहीं छूटा है न! यदि अष्टाध्यायी के सारे सूत्र लघुसिद्धान्तकौमुदी पूर्ण करने के पहले ही कण्ठस्थ हो जायें तो बहुत बड़ी उपलब्धि होगी जिससे आपको

कौमुदी के अध्ययन के समय अष्टाध्यायी उलटनी नहीं पड़ेगी और श्रुत विषय स्पष्ट में भी आ जायेगा।

आप परीक्षा के लिए जुट गये होंगे। आपको उत्तीर्ण होने के लिए १०० में ७० अङ्क तो प्राप्त करने ही होंगे। ७० से ८० तक तृतीय श्रेणी, ८० से ९० तक द्वितीय श्रेणी और ९० से १०० अङ्क तक प्रथम श्रेणी है। हमें आशा है कि आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले प्रतिभावान् छात्र हैं।

जब आप मूल और टीका में बताये गये विषयों को अच्छी तरह समझ गये हैं तो स्वेच्छया परीक्षा देने के लिए तैयार हो जायें। सबसे पहले अपनी पूजनीय पुस्तक **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को सुन्दर कपड़े से बाँधकर उसकी पूजा करें और दो दिन के लिए सुरक्षित रख दें। इसके बाद कम से कम पचास पृष्ठ की कापी लेकर आप बैठ जायें। प्रश्न लम्बे हैं, इस लिए पाँच घण्टे लगेंगे। अतः ढ़ाई-ढ़ाई घण्टे की दो पारियों में पूरा कर सकते हैं। जब अपना ही मूल्यांकन के आप कटिबद्ध हैं तो न तो परीक्षा में नकल करनी है और न ही किसी से पूछना है। हाँ तो, आत्मानुशासन के साथ परीक्षा में उत्तीर्ण होना आपका लक्ष्य होना चाहिए।

परीक्षा

सूचना- निम्नलिखित प्रश्न दस-दस अङ्क के हैं।

१- रमा-शब्द के किन्हीं दस रूपों की सिद्धि करें।

२- नदी-शब्द के किन्हीं दस रूपों की सिद्धि करें।

३- सर्वा-शब्द के किन्हीं दस रूपों की सिद्धि करें।

४- नदीसंज्ञा और घिसंज्ञा में क्या अन्तर है?

५- कुमारी, लता, कौमुदी, भामा, शर्वरी और द्रौपदी शब्द के पूरे रूप लिखें।

६- ङिद्विभक्ति के विषय में आप क्या जानते हैं?

७- अजन्त और हलन्त विभक्तियों के सम्बन्ध में बताइये।

८- **याडापः** और **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** की तुलना कीजिए।

९- किन-किन शब्दों से ङीप् और टाप् नहीं होते और क्यों?

१०- औङ् और आङ् का व्यवहार किन किन सूत्रों में हुआ है और उससे आप क्या समझते हैं?

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथाजन्त-नपुंसकलिङ्गाः

अमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२३४. **अतोऽम् ७।१।२४॥**

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः। ज्ञानम्।

एङ्ह्रस्वादिति हल्लोपः। हे ज्ञान।

शी-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

२३५. **नपुंसकाच्च ७।१।१९॥**

क्लीबादौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब क्रमप्राप्त **अजन्तनपुंसकलिङ्गी** शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। ये शब्द भी अकारान्तादि के क्रम से हैं। नपुंसकलिङ्ग में पुँल्लिङ्ग से ज्यादा अन्तर नहीं होता। प्रथमा में जैसे रूप बनते हैं वैसे ही द्वितीया विभक्ति में भी बनेंगे। तृतीया से सप्तमी तक लगभग पुँल्लिङ्ग के जैसे रूप होते हैं। जो विशेषता है, उसे इस प्रकरण में बताया जा रहा है।

२३४- **अतोऽम्।** अतः पञ्चम्यन्तम्, अम् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अङ्गस्य** का अधिकार तो है ही साथ ही **स्वमोर्नपुंसकात्** इस सम्पूर्ण की अनुवृत्ति आती है।

नपुंसकलिङ्ग अदन्त अङ्ग से परे सु और अम् के स्थान पर अम् आदेश होता है।

यह सूत्र **स्वमोर्नपुंसकात्** का बाधक है। उससे सम्पूर्ण **सु** और **अम्** का लुक् अर्थात् लोप प्राप्त था, किन्तु इस सूत्र से सु और अम् के स्थान पर अम् आदेश का विधान किया गया है। अम् यह आदेश अनेकाल् है। अतः **अनेकाल् शित्सर्वस्य** के नियम से सर्वादेश होता है अर्थात् सम्पूर्ण सु और अम् के स्थान पर **अम्** यह आदेश हो जाता है।

स्थानिवद्भाव होने से सु में विद्यमान विभक्तित्व अम् में भी आ जाता है। अतः अम् के **मकार** की इत्संज्ञा **न विभक्तौ तुस्माः** से निषिद्ध हो जाती है।

ज्ञानम्। ज्ञान-शब्द अकारान्त है और ज्ञान ही इसका अर्थ है। इससे प्रथमा का एकवचन सु आया और अनुबन्धलोप हुआ। **ज्ञान स्** में सु-सम्बन्धी सकार का **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् प्राप्त था, उसे बाधकर **अतोऽम्** से अम् आदेश हुआ- **ज्ञान+अम्** बना। इस स्थिति में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **ज्ञानम्** यह रूप सिद्ध हुआ।

२३५- **नपुंसकाच्च।** नपुंसकात् पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **औङ आपः** से **औङः** की और **जशः शी** से **शी** की अनुवृत्ति आती है।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२३६. यस्येति च ६।४।१४८॥

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते-

वार्तिकम्- औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

शि-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

२३७. जश्शसोः शिः ७।१।२०॥

क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

सर्वनामस्थानसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२३८. शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२॥

'शि' इत्येतदुक्तसंज्ञं स्यात्।

नपुंसक अङ्ग से परे औ विभक्ति के स्थान में शी आदेश होता है। केवल नपुंसकलिङ्ग में ही यह सूत्र लगता है।

२३६- यस्येति च। इश्च यश्च यम्, समाहारद्वन्द्वः, तस्य यस्य। यस्य षष्ठ्यन्तम्, ईति सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **नस्तद्धिते** से **तद्धिते** और **अल्लोपो नः** से लोपः की अनुवृत्ति आती है। भस्य का अधिकार आ रहा है।

ईकार और तद्धित के परे होने पर भसंज्ञक इवर्ण और अवर्ण का लोप होता है।

नपुंसकाच्च से औ के स्थान पर किये गये शी के ईकार के परे रहते ज्ञान+ई में इससे अकार का लोप प्राप्त हो रहा था तो इसे रोकने के लिए अगला वार्तिक आता है। स्मरण रहे कि असर्वनामस्थान अजादि स्वादि के परे होने पर **यचि भम्** से भसंज्ञा होती है।

औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। औङ् के स्थान पर किये गये शी के परे होने पर **यस्येति च** का निषेध कहना चाहिए अर्थात् अन्यत्र **यस्येति च** लोप करता है किन्तु औ के स्थान पर आदेश किये गये शी वाले ईकार के परे रहने पर लोप नहीं करता है।

ज्ञाने। ज्ञान-शब्द से प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में औ और औट् प्रत्यय आये। औट् में टकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ। **ज्ञान+औ** में वृद्धि प्राप्त थी। उसे बाधकर सूत्र लगा- **नपुंसकाच्च।** इससे औ के स्थान पर शी आदेश हुआ। शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हो गई और लोप हो गया। **ज्ञान+ई** में **यचि भम्** से ज्ञान की भसंज्ञा हो गई और **यस्येति च** से नकारोत्तरवर्ती अकार का लोप प्राप्त हुआ तो **औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः** से उसका निषेध हुआ। **ज्ञान+ई** में **आद्गुणः** से गुण होकर बना- ज्ञाने।

२३७- जश्शसोः शिः। जश्च शश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, जश्शसौ, तयोः जश्शसोः। जश्शसोः षष्ठ्यन्तं, शिः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **स्वमोर्नपुंसकात्** से **नपुंसकात्** की अनुवृत्ति आती है।

नपुंसकलिङ्ग वाले शब्द से परे जस् और शस् विभक्ति के स्थान पर शि आदेश होता है।

नुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

२३९. **नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२॥**

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

परिभाषासूत्रम्

२४०. **मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७॥**

अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्।

उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धनवनफलादयः॥

....

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ से स्थानिवद्भाव होकर उस **शि** में भी प्रत्ययत्व आ जाता है अतः शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हो जाती है।

२३८- **शि सर्वनामस्थानम्**। शि लुप्तप्रथमाकं, सर्वनामस्थानम् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

शि यह आदेश सर्वनामस्थानसंज्ञक होता है।

जो जस् और शस् के स्थान पर **शि** आदेश हुआ, उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा का विधान यह सूत्र करता है। नपुंसकलिङ्ग में **सुडनपुंसकस्य** से सर्वनामस्थानसंज्ञा की प्राप्ति ही नहीं थी और वैसे भी शस् की अन्यत्र कहीं भी सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती है सो नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् को अप्राप्त सर्वनामस्थानसंज्ञा का विधान इस सूत्र से हुआ। इसका फल आगे स्पष्ट होगा। हाँ, इतना जरूर ध्यान रखें कि किसी भी संज्ञा का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य ही है।। **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**। प्रयोजन के विना तो मन्द अर्थात् बुद्धिहीन व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है तो यहाँ तो महामुनि पाणिनि जी का प्रश्न है। महाभाष्य में कहा गया है कि पाणिनि जी ने जो सूत्र आदि बनाये, उसमें एक अक्षर भी अनर्थक नहीं है अर्थात् व्यर्थ नहीं है। इतनी बड़ी संज्ञा का प्रयोजन क्या है, स्वयं आगे देखें।

२३९- **नपुंसकस्य झलचः**। झल् च अच् तयोः समाहारद्वन्द्वः, झलच्, तस्य झलचः। नपुंसकस्य षष्ठ्यन्तं, झलचः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इदितो नुम्धातोः** से नुम् की और **उगिदचां सर्वनामस्थाने चाऽधातोः** से **सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामस्थान के परे रहने पर नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान झलन्त और अजन्त शब्दों को नुम् का आगम होता है।

२४०- **मिदचोऽन्त्यात्परः**। म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिः। मित् प्रथमान्तम्, अचः षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यात् पञ्चम्यन्तं, परः प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् उससे परे उसका ही अन्तावयव होकर मित् आगम बैठता है।

जिस प्रकार से टित् और कित् होने पर **आद्यन्तौ टकितौ** यह सूत्र अन्त और आदि का अवयव होने का विधान करता था, उसी प्रकार यह सूत्र जो आगम मित् हो अर्थात् जिस आगम में मकार की इत्संज्ञा होती हो, ऐसा आगम, जिसको विधान किया गया है, उसमें जो अन्तिम अच् है, उसका अन्तिम अवयव होकर बैठे, ऐसा विधान करता है। यदि अन्त्य अच् के बाद यदि कोई हल् वर्ण हो तो अच् के बाद और हल् के पहले ही यह आगम बैठेगा। तात्पर्य हुआ कि जिस समुदाय को मित् आगम कहा जाये उस समुदाय में जितने अच्

हों, उनमें से अन्तिम अच् से परे मित् को रखना चाहिए तथा उस मित् को उस समुदाय का अन्तिम अवयव समझना चाहिए।

ज्ञानानि। ज्ञान-शब्द से प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः जस् और शस् प्राप्त हुए। जस् में जकार की **चुटू** से इत्संज्ञा और शस् में शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हुई और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। ज्ञान+अस् बना। अस् के स्थान पर **जश्शसोः शिः** से शि आदेश हुआ और शकार का **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **ज्ञान+इ** बना। शि-सम्बन्धी इकार की **शि सर्वनामस्थानम्** से सर्वनामस्थानसंज्ञा हुई और सूत्र लगा- **नपुंसकस्य झलचः**। सर्वनामस्थान परे है इ, अजन्त नपुंसक शब्द है ज्ञान, अतः इस सूत्र से ज्ञान को नुम् का आगम हुआ। नुम् में मकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। न् बचा है। अब यह न्, ज्ञान के आदि, मध्य या अन्त में कहाँ हो? यह सन्देह हुआ अर्थात् अनियम हुआ तो नियमार्थ परिभाषा सूत्र आया- **मिदचोऽन्त्यात् परः**। ज्ञान में अच् हैं ज्ञा में आकार और न में अकार, अन्त्य अच् है- न का अकार, अतः अन्त्य अच् न के अकार के बाद नुम् का **नकार** बैठ गया- **ज्ञान+न्+इ** बना। ज्ञानन् में अन्त्य वर्ण है **न्**, उससे पूर्व अल् है नकारोत्तरवर्ती अकार, उसकी **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** से उपधासंज्ञा हुई और **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से दीर्घ हुआ- **ज्ञानान्+इ** बना। वर्णसम्मेलन होकर सिद्ध हुआ- **ज्ञानानि**।

इस प्रकार से प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में सु और अम् के स्थान पर अम् आदेश होकर समान ही रूप बने। द्विवचन में भी दोनों के स्थान पर शी आदेश होकर समान रूप ही बने और बहुवचन में भी जस् और शस् के स्थान पर शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, नुम् आगम एवं उपधादीर्घ होकर समान ही रूप बने। इसीलिए प्रथमा के तीनों रूप सिद्ध करने के बाद मूल में कहा गया कि **पुनस्तद्वत्**, जैसे प्रथमा में बने फिर वैसे ही रूप द्वितीया में भी बनते हैं। जैसे प्रथमा में ज्ञानम्, ज्ञाने, ज्ञानानि रूप बने उसी तरह द्वितीया में भी ज्ञानम्, ज्ञाने, ज्ञानानि ही बनेंगे। समस्त नपुंसकप्रकरण में यही स्थिति रहेगी।

तृतीया से सप्तमी तक अकारान्त पुँल्लिङ्ग में जो रूप बनते हैं अकारान्त नपुंसक में भी वैसे रूप बनेंगे। यदि कथंचित् ज्ञान-शब्द पुँल्लिङ्ग में होता तो इसके तृतीया में रूप बनते- ज्ञानेन, ज्ञानाभ्याम्, ज्ञानैः। अब यह शब्द नपुंसक में है तो भी ज्ञानेन, ज्ञानाभ्याम्, ज्ञानैः ही बन रहे हैं। सम्बोधन में ज्ञानम् बनने के बाद मकार का **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से लोप होता है और हे का पूर्वप्रयोग होता है- हे ज्ञान!। सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा में जैसे रूप बनते हैं, वैसे ही यहाँ भी बनते हैं। यह नियम सर्वत्र है। इस प्रकार से ज्ञान-शब्द के रूप प्रथमा और द्वितीया में समान बने और तृतीया से सप्तमी तक पुँल्लिङ्ग की तरह ही बने।

अकारान्त नपुंसक ज्ञान-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वितीया	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृतीया	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
चतुर्थी	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
पञ्चमी	ज्ञानात्, ज्ञानाद्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः

षष्ठी	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
सप्तमी	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु
सम्बोधन	हे ज्ञान।	हे ज्ञाने।	हे ज्ञानानि।

अब इसी प्रकार निम्नलिखित अकारान्त नपुंसक शब्दों के रूप जानें।

अक्षर=अकारादि वर्ण	अगार=घर	अघ=पाप
अङ्ग=अवयव	अमृत=अमृत	अम्भोज=कमल
अरण्य=जंगल	अरविन्द=कमल	अवसान=विराम
आनन=मुख	आसन=आसन	आस्य=मुख
इन्द्रिय=अंग	इन्धन=लकड़ी	उदक=जल
उदर=पेट	उद्यान=बगींचा	कनक=सुवर्ण
कमल=कमल	कार्य=काम	क्षेत्र=खेत
गौरव=प्रतिष्ठा	चन्दन=चन्दन	चरण=पैर
चामीकर=सोना	जठर=पेट	जल=पानी
तत्व=यथार्थ	तथ्य=यथार्थ	तैल=तेल
तोय=जल	दुःख=दुःख	दैव=भाग्य
द्वार=दरवाजा	धन=धन	नयन=नेत्र
नवनीत=माखन	नेत्र=आँख	पङ्कज=कमल
पत्र=पत्ता	पानीय=जल	पुष्प=फूल
फल=फल	बीज=कारण	भय=डर
भुवन=संसार	भोजन=भोजन	मन्दिर=मन्दिर
मित्र=मित्र	मुख=मुख	मूल्य=कीमत
मौन=चुप्पी	यन्त्र=यन्त्र	यौवन=जवानी
रजत=चान्दी	रत्न=मणि	रहस्य=गोप्य
राज्य=राज्य	लक्षण=लक्षण	लवण=नमक
लाघव= हलकापन	लालन=लाड़ करना	वचन=वचन
वन=जंगल	वाक्य=वाक्य	वाङ्मय=शास्त्र
वाद्य=बाजा	वासर=दिन	वाहन=सवारी
विवर=छिद्र	वीर्य=बल, पराक्रम	वृत्त=चरित्र
वेतन=तनख्वाह	वैर=दुश्मनी	शस्त्र=हथियार
शास्त्र=धर्मग्रन्थ	शैशव=बचपन	श्रवण=कान
सत्य=सच	सदन=घर	सरसिज=कमल
सादृश्य=समान दीखना	साधन=उपकरण	साहस=साहस
सिंहासन=राजगद्दी	सुख=सुख	सुवर्ण=सोना
सोपान=सीढ़ी	सौभाग्य=अच्छा भाग्य	स्तेय=चोरी
स्तोत्र=स्तुतिगीत	स्थान=जगह	हर्म्य=महल
हवन=होम	हाटक=सोना	हास्य=हँसी
हित=भलाई	हिम=बर्फ	हिरण्य=सुवर्ण
हृदय=दिल	हैयङ्गवीन=ताजामाखन	ज्ञान=ज्ञान

अदड्डादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२४१. अद्ड्-डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५॥

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात्।

टेर्लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२४२. टेः ६।४।१४३॥

डिति भस्य टेर्लोपः। कतरद्, कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्। इतरत्। अन्यत्। अन्यतरत्। अन्यतमस्य तु अन्यतममित्येव।

वार्तिकम्- **एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः**। एकतरम्।

....

२४१- **अद्ड्-डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः**। डतर आदियेषां ते डतरादयः, बहुव्रीहिः। अद्ड् प्रथमान्तं, डतरादिभ्यः पञ्चम्यन्तं, पञ्चभ्यः पञ्चम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **स्वमोर्नपुंसकात्** से वचनविपरिणाम करके **नपुंसकेभ्यः** और **स्वमोः** की अनुवृत्ति आती है।

डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर इन पाँच नपुंसक शब्दों से परे सु और अम् के स्थान पर अद्ड् आदेश होता है।

यह पहले भी बताया जा चुका है कि डतर और डतम आदि प्रत्यय हैं। प्रत्ययों के ग्रहण में तदन्त अर्थात् प्रत्ययान्त ग्रहण होता है। अतः डतर-डतम प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होगा। **अद्ड्** में **डकार** की इत्संज्ञा होती है। डकार की इत्संज्ञा होने से डित् हो गया है। डित् होने से टेः से टि का लोप किया जा सकता है।

२४२- **टेः**। टेः षष्ठ्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **ति विंशतेर्डिति** से डिति और **अल्लोपोऽनः** से **लोपः** की अनुवृत्ति आती है। **भस्य** का अधिकार है।

डित् के परे होने पर भसंज्ञक अङ्ग के टि का लोप होता है।

कतरत्, कतरद्। किम्-शब्द से डतर प्रत्यय होकर **कतर** बना है। उससे सु प्रत्यय, उसके स्थान पर **अतोऽम्** से **अम्** आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर के **अद्ड्-डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः** से **अद्ड्** आदेश हुआ। अनुबन्धलोप होने के बाद **कतर+अद्** बना। कतर में रकारोत्तरवर्ती अकार की **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा हुई, उसका **टेः** से लोप हुआ, **कतर्+अद्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कतरद्** बना। अवसान के परे होने पर **वावसाने** से दकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्त्व हुआ- **कतरत्**। चर्त्व न होने के पक्ष में **कतरद्**। इसी तरह **अम्** में भी बनता है।

कतरे। कतर-शब्द से प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में औ और औट् प्रत्यय आये। औट् में टकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ। **कतर+औ** में वृद्धि प्राप्त थी। उसे बाध कर सूत्र लगा- **नपुंसकाच्च**। इससे औ के स्थान पर शी आदेश हुआ। शकार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा हो गई और लोप हो गया। **कतर+ई** में **यचि भम्** से पूर्व की भसंज्ञा हो गई और **यस्येति च** से रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप प्राप्त हुआ तो **औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः** से उसका निषेध हुआ। **करत+ई** में **आद्गुणः** से गुण होकर **कतरे** सिद्ध हुआ।

ह्रस्वविधायकं विधिसूत्रम्

२४३. **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७॥**

अजन्तस्येत्येव। श्रीपं ज्ञानवत्।

कतराणि। कतर-शब्द से प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः जस् और शस् प्राप्त हुए। ज्ञानानि की तरह अस् के स्थान पर **जश्शसोः शिः** से शि आदेश, अनुबन्धलोप करके **कतर+इ** बना। **शि सर्वनामस्थानम्** से सर्वनामस्थानसंज्ञा और **नपुंसकस्य झलचः**। नुम् का आगम, **मिदचोऽन्त्यात् परः** की सहायता से अन्त्य अच् र के अकार के बाद नुम् का नकार बैठ गया- **कतर+न्+इ** बना। कतर+न् में अन्त्य वर्ण है **न्**, उससे पूर्व अल् है रकारोत्तरवर्ती अकार, उसकी **अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा** से उपधासंज्ञा हुई और **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से दीर्घ हुआ- **कतरान्+इ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कतरानि** बना। रेफ से परे नकार को णत्व होकर **कतराणि** सिद्ध हुआ।

हे कतरत्। सम्बोधन के सु के स्थान पर अद्ड् आदेश करके हे का पूर्वप्रयोग करने पर **हे कतरत्, हे कतरद्** ये रूप बन जाते हैं।

शेष रूप पुँल्लिङ्ग की तरह अर्थात् सर्वशब्द की तरह समझना चाहिए। कतरेण, कतरस्मै, कतरस्मात् इत्यादि। इसी तरह कतमत्-कतमद्, कतमे, कतमानि। अन्यत्-अन्यद्, अन्ये, अन्यानि। अन्यतरत्-अन्यतरद्, अन्यतरे, अन्यतराणि। इतरत्-इतरद् इतरे, इतराणि आदि भी समझने चाहिए। अन्यतम शब्द डतरादि पाँच में नहीं आता है, अतः अद्ड् आदेश नहीं होता। इसलिए **ज्ञानम्** की तरह **अन्यतमम्** बनेगा।

एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **एकतर शब्द से परे सु और अम् के स्थान पर अद्ड् आदेश का निषेध कहना चाहिए।** डतर-प्रत्ययान्त होने के कारण एकतर से भी अद्ड् आदेश प्राप्त था, उसका यह वार्तिक निषेध करता है। अतः सु और अम् में ज्ञानम् की तरह एकतरम् बनता है। शेष रूप **कतर** की तरह बनते हैं।

२४३- **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**। ह्रस्वः प्रथमान्तं, नपुंसके सप्तम्यन्तं, प्रातिपदिकस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है।

जहाँ पर भी ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत का विधान किया जाता है, वहाँ पर **अचश्च** इस परिभाषा सूत्र से **अचः** यह पद आता है। इस सूत्र में भी वह पद आया और नियम किया कि अजन्त को ही ह्रस्व हो। **अलोऽन्त्यस्य** की सहायता से अन्त्य वर्ण को ह्रस्व होता है।

श्रीपं ज्ञानवत्। **श्रीप**= लक्ष्मी की रक्षा करने वाला कुल। विश्वपा की तरह **श्रियं पातीति, श्रीपा**। श्रीपूर्वक पा धातु है। उसके पुँल्लिङ्ग में विश्वपा की तरह ही रूप बनते हैं किन्तु नपुंसकलिङ्ग में **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से पा के आकार को ह्रस्व होकर **श्रीप** बना। इस तरह श्रीपा शब्द ज्ञान की तरह अदन्त बन गया। अतः श्रीप के रूप भी ज्ञान की तरह श्रीपम्, श्रीपे, श्रीपाणि, श्रीपम्, श्रीपे, श्रीपाणि, श्रीपेण, श्रीपाभ्याम्, श्रीपैः आदि होते हैं।

लुग्विधायकं विधिसूत्रम्

२४४. स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३॥

लुक् स्यात्। वारि।

नुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

२४५. इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि।

न लुमतेत्यस्यनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे, हे वारि।

आङो नाऽस्त्रियाम्- वारिणा। घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते-

वार्तिकम्- **वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन।**

वारिणा। वारिणे। वारिणः। वारिणोः। नुमचिरेति नुट्। वारीणाम्।

वारिणि। हलादौ हरिवत्।

२४४- स्वमोर्नपुंसकात्। सुश्च अम्, तयोरितरेतरद्वन्द्वः, स्वमौ, तयोः स्वमोः। स्वमोः षष्ठ्यन्तं, नपुंसकात् पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **षड्भ्यो लुक्** से लुक् की अनुवृत्ति आती है।

नपुंसक से परे सु और अम् का लुक् होता है।

लुक् भी लोप जैसा ही है किन्तु लुक् होने पर भी जिसका लुक् हुआ, उसे मानकर होने वाले कार्य नहीं होते हैं अर्थात् लुक् का अर्थ भी अदर्शन ही है किन्तु लोप और लुक् आदि में अन्तर यह है कि लोप होने के पहले जो कार्य होते थे वे कार्य लोप हो जाने के बाद भी **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** के बल पर हो जाते हैं किन्तु प्रत्यय आदि के लुक् होने से पहले जो अङ्गसम्बन्धी कार्य होते थे वे कार्य लुक् आदि होने के बाद नहीं होते हैं। प्रत्ययलक्षण के लिए सूत्र है- **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।** इसका अर्थ है प्रत्यय का लोप होने पर भी उसे मानकर होने वाले कार्य हों। इसके बाद इसका निषेध सूत्र है- **न लुमताऽङ्गस्य।** यह लुक् आदि होने पर पूर्व सूत्र का निषेध करता है।

वारि। जल। अब इकारान्त शब्दों का विवेचन शुरू हो जाता है। वारि इकारान्त है। इससे प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप हुआ। **वारि+स्** में सु वाले सकार का **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् हुआ। इसी प्रकार द्वितीया के एकवचन में प्राप्त अम् का भी इसी सूत्र से लुक् होकर वारि ही बना।

२४५- इकोऽचि विभक्तौ। इकः षष्ठ्यन्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, विभक्तौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **नपुंसकस्य झलचः** से **नपुंसकस्य** की और **इदितो नुम् धातोः** से **नुम्** की अनुवृत्ति आती है।

इगन्त नपुंसक अङ्ग को नुमागम होता है, अजादि विभक्ति के परे रहते।

इस सूत्र के द्वारा इगन्त शब्द को नुम् आगम होता है। नुम् में मकार और उकार इत्संज्ञक हैं। केवल न् बचता है। मकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह मित् हुआ। **मिदचोऽन्त्यात्परः** के सहयोग से यह अन्त्य अच् के बाद ही बैठेगा।

वारिणी। वारि शब्द से प्रथमा के द्विवचन में औ आया और उसके स्थान पर

नपुंसकाच्च से शी आदेश हुआ, अनुबन्धलोप हुआ- **वारि+ई** बना। इसके बाद सूत्र लगा- **इकोऽचि विभक्तौ**। नपुंसक है ही, इक् प्रत्याहार का वर्ण वारि में इकार तथा अजादि विभक्ति है औ। अतः नुम् आगम हुआ, अनुबन्धलोप होने के बाद मित् होने के कारण **मिदचोऽन्त्यात्परः** के नियम से अन्त्य अच् वारि में इकार के बाद न् बैठा- **वारि+न्+ई** हुआ, वर्णसम्मेलन हुआ- **वारिनी** बना, **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से णत्व हुआ- **वारिणी** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार द्वितीया के द्विवचन में भी बनेगा।

वारीणि। प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में क्रमशः जस् और शस् विभक्ति, अनुबन्धलोप, **वारि+अस्** में अस् के स्थान पर **जश्शसोः शिः** से शि आदेश, शकार की इत्संज्ञा, लोप, **शि सर्वनामस्थानम्** से सर्वनामस्थानसंज्ञा, **वारि+इ** में **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम्, **वारि+न्+इ=वारिन्** में रि के इकार की उपधासंज्ञा और **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से इसको उपधादीर्घ, **वारीन् इ**, वर्णसम्मेलन **वारीनि**, णत्व, **वारीणि**।

न लुमतेत्यस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे, हे वारि। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः**, **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** और **न लुमताङ्गस्य** का स्मरण करें। प्रत्यय का लोप होने पर भी प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले कार्य हो जाते हैं, यह कथन **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** का है किन्तु लुक्, श्लु, लुप् के द्वारा लोप होने पर प्रत्यय को निमित्त मानकर अङ्गसम्बन्धी कार्य नहीं हो सकता, यह निषेध है। सम्बोधन के सु के स्थान पर भी अम् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् होकर वारि रह गया। अब प्रत्ययलक्षण से सम्बुद्धि मानकर **ह्रस्वस्य गुणः** से गुण प्राप्त होता है किन्तु **न लुमताङ्गस्य** से निषेध हो जाने के कारण प्रत्ययलक्षणाश्रित अङ्गकार्य नहीं हुआ अर्थात् वारि के इकार को गुण नहीं हो सका। किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि विविध कारणों से **न लुमताङ्गस्य** को अनित्य मानते हैं। कहीं होता है और कहीं नहीं होता है, अर्थात् कहीं निषेध प्रवृत्त होता है और कहीं नहीं। अतः अनित्य हुआ। यहाँ पर भी अनित्य मानने के पक्ष में निषेध नहीं हुआ तो **ह्रस्वस्य गुणः** से वारि के इकार को गुण होकर **वारे+स्** बना। इस तरह **वारे+स्** और **वारि+स्** दोनों स्थिति में **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** से हल् का लोप होकर, हे का पूर्वप्रयोग करके **हे वारे, हे वारि** दो रूप बने।

वारिणा। तृतीया के एकवचन में टा, अनुबन्धलोप, **वारि+आ** में **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् प्राप्त हुआ किन्तु पर सूत्र होने के कारण **आङो नाऽस्त्रियाम्** से ना आदेश होकर **वारि+ना** बना और णत्व होकर **वारिणा**।

हलादिविभक्ति में नुम् प्राप्त नहीं है, अतः हरिशब्द की तरह ही रूप बनते हैं।

वारिभ्याम्। तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम् विभक्ति आकर वारि में जुड़ जाता है- **वारिभ्याम्**।

वारिभिः। तृतीया के बहुवचन में भिस् आया, जुड़ गया और सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **वारिभिः**।

वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन। यह वार्तिक है। **पूर्वविप्रतिषेध** से **वृद्धि, औत्त्व, तृज्वद्भाव और गुण से पहले नुम् का आगम होता है**। तात्पर्य यह है कि एकसाथ **अचो ञ्णिति** से वृद्धि और **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम्, **अच्च घेः** से औत्त्व और इससे नुम्, **तृज्वत्क्रोष्टुः** से तृज्वद्भाव और इससे नुम् तथा **घेर्ङिति** से गुण और **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् प्राप्त होने पर **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** के नियम से पूर्व नुम् कार्य

को बाधकर परकार्य वृद्धि आदि प्राप्त हो रहे थे तो वार्तिककान ने वार्तिक बनाकर यह निर्णय दिया कि वृद्धि आदि और नुम् एकसाथ प्राप्त होकर विप्रतिषेध होने पर पहले नुम् का आगम ही करना चाहिए। यहाँ **वारि**-शब्द से ङे के परे होने पर **घेर्ङिति** से गुण और **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् एकसाथ प्राप्त होने पर परकार्य गुण ही प्राप्त हो रहा था। इस वार्तिक के नियम से पहले नुम् होगा।

वारिणे। वारि से चतुर्थी का एकवचन ङे, अनुबन्धलोप, **वारि+ए**, नुम्, णत्व, वर्णसम्मेलन, **वारिणे**।

वारिभ्यः। चतुर्थी एवं पञ्चमी का बहुवचन भ्यस् आया, जुड़ गया, सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **वारिभ्यः**।

वारिणः। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में ङसि और ङस्, अनुबन्धलोप, **वारि+अस्** में नुम्, णत्व, वर्णसम्मेलन, वारिणः।

वारिणोः। षष्ठी और सप्तमी का द्विवचन ओस् आया, **वारि+ओस्** में नुम् करके **वारिन्+ओस्** बना। णत्व, वर्णसम्मेलन, सकार का रुत्वविसर्ग, **वारिणोः**।

नुमचिरेति नुट्। षष्ठी के बहुवचन आम् के आने पर **वारि+आम्** में **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् प्राप्त और **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् प्राप्त हुआ तो पर होने से इससे नुट् को बाधकर नुम् होना चाहिए था, किन्तु **नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन** के नियम से नुट् ही हुआ। **वारि+न्+आम्** में **नामि** से दीर्घ होकर णत्व भी होगा- **वारीणाम्**। यद्यपि **नुम्** और **नुट्** दोनों में अनुबन्धलोप होने के बाद न् ही शेष रहता है, फिरभी नुट् आम् को होता है और टित् होने के कारण उसके आदि में बैठता है और नुम् इगन्त को होता है और मित् होने के कारण अन्त्य अच् के बाद बैठता है। नुम् होने पर पूर्व में अजन्त अङ्ग और उससे परे नाम् भी नहीं मिलेगा और **नामि** से दीर्घ नहीं हो पायेगा। अतः **वारिणाम्** ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा। नुट् आम् को ही होता है, पूर्व में **वारि** अजन्त अङ्ग और नाम् परे मिलेगा। अतः **नाम्** के परे रहते दीर्घ होकर **वारीणाम्** यह रूप सिद्ध होता है।

वारिणि। वारि से सप्तमी के एकवचन में ङि, अनुबन्धलोप, नुम्, वर्णसम्मेलन, णत्व, **वारिणि**।

वारिषु। सप्तमी के बहुवचन में सुप्, पकार का लोप, **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व होकर **वारिषु** बन जाता है।

इकारान्त नपुंसक वारि-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वारि	वारिणी	वारीणि
द्वितीया	वारि	वारिणी	वारीणि
तृतीया	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
चतुर्थी	वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
पञ्चमी	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
षष्ठी	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्
सप्तमी	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
सम्बोधन	हे वारे, हे वारि	हे वारिणी	हे वारीणि

(अनङादेशविधायकं विधिसूत्रम्)

२४६. **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५॥**

एषामनङ् स्याट्टादावचि।

(अल्लोपविधायकं विधिसूत्रम्)

२४७. **अल्लोपोऽनः ६।४।१३४॥**

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः। दध्ना। दध्ने। दध्नः। दध्नः। दध्नोः। दध्नोः।

....

वारिशब्द की तरह रूप चलने वाले प्रचलित शब्द कम ही हैं। उकारान्त अनेक शब्द मिलते हैं। उकारान्त शब्दों से भी **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् होता है। यह आगे स्पष्ट हो जायेगा।

दधि। दधिनी। दधीनि। (दही) दधि शब्द से प्रथमा और द्वितीया में वारि-शब्द की तरह रूप बनते हैं और तृतीया आदि अजादि विभक्ति में भिन्न रूप बनाने के लिए निम्न सूत्र प्रवृत्त होता है।

२४६- **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः।** अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम् अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् षष्ठ्यन्तम्, अनङ् प्रथमान्तम्, उदात्तः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इकोऽचि विभक्तौ** से **विभक्तौ** और **अचि** इन दो पदों का वचनविपरिणाम करके **अक्षु** और **विभक्तिषु** की तथा **तृतीयादिषु** भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य से **तृतीयादिषु** की अनुवृत्ति आती है।

तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे होने पर अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्द को अनङ् आदेश होता है।

अनङ् में नकारोत्तरवर्ती अकार और ङकार की इत्संज्ञा होती है। अन् शेष रहता है। ङित् होने के कारण **ङिच्च** से अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर ही यह आदेश होता है। टा से सुप् तक तृतीयादि विभक्ति हैं, उसमें भी यह अजादिविभक्ति के परे होने पर ही प्रवृत्त होता है।

२४७- **अल्लोपोऽनः।** अत् लुप्तषष्ठीकं पदं, लोपः प्रथमान्तम्, अनः षष्ठ्यन्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्। **भस्य** और **अङ्गस्य** का अधिकार है। **भसंज्ञा** असर्वनामस्थान यजादि और स्वादि के परे होने पर पूर्व की होती है।

सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि और अजादि स्वादि प्रत्यय के परे होने पर अङ्ग का अवयव जो अन्, उसके अकार का लोप होता है।

भस्य से सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि, अजादि स्वादि प्रत्ययों का आक्षेप होता है। उनके परे रहने पर ही यह सूत्र लगेगा। इससे अनङ् आदेश वाले अकार का लोप हो जाता है।

दध्ना। दधि से टा, दधि+आ है। **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** से अनङ् आदेश होकर दध्+अन्+आ बना। वर्णसम्मेलन होकर दधन्+आ बना। **अल्लोपोऽनः** से नकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हुआ। दध्+न्+आ बना। पुनः वर्णसम्मेलन होकर **दध्ना** सिद्ध हुआ। इसी तरह दधि+ए, दध्+अन्+ए=दधन्+ए, दध्+न्+ए=दध्ने। दधि+अस्, दध्+अन्+अस्,

प्रकरणम्)

अनङ्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

२४६. **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५॥**

एषामनङ् स्याट्टादावचि।

अल्लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२४७. **अल्लोपोऽनः ६।४।१३४॥**

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः।

दध्ना। दध्ने। दध्नः। दध्नः। दध्नोः। दध्नोः।

....

वारिशब्द की तरह रूप चलने वाले प्रचलित शब्द कम ही हैं। उकारान्त अनेक शब्द मिलते हैं। उकारान्त शब्दों से भी **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् होता है। यह आगे स्पष्ट हो जायेगा।

दधि। दधिनी। दधीनि। (दही) दधि शब्द से प्रथमा और द्वितीया में वारि-शब्द की तरह रूप बनते हैं और तृतीया आदि अजादि विभक्ति में भिन्न रूप बनाने के लिए निम्न सूत्र प्रवृत्त होता है।

२४६- **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः**। अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम् अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् षष्ठ्यन्तम्, अनङ् प्रथमान्तम्, उदात्तः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इकोऽचि विभक्तौ** से **विभक्तौ** और **अचि** इन दो पदों का वचनविपरिणाम करके **अक्षु** और **विभक्तिषु** की तथा **तृतीयादिषु भाषितपुस्कं पुंवद् गालवस्य** से **तृतीयादिषु** की अनुवृत्ति आती है।

तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे होने पर अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्द को अनङ् आदेश होता है।

अनङ् में नकारोत्तरवर्ती अकार और ङकार की इत्संज्ञा होती है। अन् शेष रहता है। ङित् होने के कारण **ङिच्च** से अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर ही यह आदेश होता है। टा से सुप् तक तृतीयादि विभक्ति हैं, उसमें भी यह अजादिविभक्ति के परे होने पर ही प्रवृत्त होता है।

२४७- **अल्लोपोऽनः**। अत् लुप्तषष्ठीकं पदं, लोपः प्रथमान्तम्, अनः षष्ठ्यन्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्। **भस्य** और **अङ्गस्य** का अधिकार है। **भसंज्ञा** असर्वनामस्थान यजादि और स्वादि के परे होने पर पूर्व की होती है।

सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि और अजादि स्वादि प्रत्यय के परे होने पर अङ्ग का अवयव जो अन्, उसके अकार का लोप होता है।

भस्य से सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि, अजादि स्वादि प्रत्ययों का आक्षेप होता है। उनके परे रहने पर ही यह सूत्र लगेगा। इससे अनङ् आदेश वाले अकार का लोप हो जाता है।

दध्ना। दधि से टा, दधि+आ है। **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** से अनङ् आदेश होकर **दध्+अन्+आ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **दधन्+आ** बना। **अल्लोपोऽनः** से धकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हुआ। **दध्+न्+आ** बना। पुनः वर्णसम्मेलन होकर **दध्ना** सिद्ध हुआ। इसी तरह **दधि+ए, दध्+अन्+ए=दधन्+ए, दध्+न्+ए=दध्ने। दधि+अस्, दध्+अन्+अस्,**

वैकल्पिकाल्लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२४८. विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्यक्षि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे, हे सुधि।

पुंवद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्

२४९. तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ७।१।७४॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिना इत्यादि। मधु। मधुनी मधूनि। हे मधो, हे मधु। सुलु। सुलुनी। सुलूनि सुलुनेत्यादि। धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः, हे धातृ। धातॄणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

....

दधन्+अस्, दध्+न्+अस्, दध्नस्, दध्नः। दध्नोः। दध्नाम् बन जाते हैं। हलादि विभक्ति के कोई प्रक्रिया नहीं है। दधिभ्याम्, दधिभिः, दधिभ्यः, दधिषु आदि।

२४८- विभाषा ङिश्योः। ङिश्च शी च ङिश्यौ, तयोः ङिश्योः। विभाषा प्रथमान्तं, ङिश्योः सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। अल्लोपोऽनः पूरा सूत्र अनुवृत्त होता है। भस्य और अङ्गस्य का अधिकार है।

सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि और अजादि स्वादि प्रत्यय रूप ङि और शी के परे होने पर अङ्ग का अवयव जो अन्, उसके अकार का विकल्प से लोप होता है।

दधनि, दध्नि। सप्तमी के एक ङि के परे होने पर **विभाषा ङिश्योः** से अकार का लोप होन पर **दध्नि** और लोप न होने पर **दधनि** ये दो रूप बनते हैं। शेष रूप वारि शब्द की तरह ही होते हैं।

इकारान्त नपुंसक दधि-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वितीया	दधि	दधिनी	दधीनि
तृतीया	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
चतुर्थी	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
पञ्चमी	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
षष्ठी	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
सप्तमी	दधनि, दध्नि	दध्नोः	दधिषु
सम्बोधन	हे दधे, हे दधि	हे दधिनी	हे दधीनि

अब इसी तरह **अस्थि, सक्थि** और **अक्षि** शब्द के रूप भी समझने चाहिए। **अक्षि** शब्द में षकार होने के कारण उससे पर नकार को णत्व करना न भूलें। इस तरह इदन्त शब्द पूर्ण हुए।

विद्वान् अर्थ का वाचक सुधी-शब्द तो पुँल्लिङ्ग में है किन्तु कुलम् आदि का विशेषण बनने पर नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है। नपुंसकलिङ्ग में **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से सुधी के ईकार को ह्रस्व होकर के **सुधि** बन जाता है। इसके प्रथमा और द्वितीया में दधि-शब्द की तरह **सुधि, सुधिनी, सुधीनि** तथा सम्बोधन में **हे सुधे, हे सुधि!** ये रूप बनते हैं।

२४९- **तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य।** तृतीया आदी यासां तास्तृतीयादयस्तासु तृतीयादिषु। भाषितः पुमान् येन तत् भाषितपुंस्कं शब्दस्वरूपम्, बहुव्रीहिः। तृतीयादिषु सप्तम्यन्तं, भाषितपुंस्कं प्रथमान्तं, पुंवत् अव्ययपदं, गालवस्य षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **इकोऽचि विभक्तौ** यह पूरा सूत्र अनुवर्तन होता है।

प्रवृत्तिनिमित्त के एक होने पर भाषितपुंस्क इगन्त नपुंसक शब्द विकल्प से पुँल्लिङ्ग की तरह होता है तृतीया आदि अजादि विभक्ति के परे होने पर।

प्रवृत्तिनिमित्त। प्रत्येक शब्द का अपने अर्थ को बोधन कराने हेतु कोई एक निमित्त अवश्य होता है, उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। शुक्ल अर्थ का बोधन कराने के लिए शुक्ल-शब्द प्रवृत्त होता है तो उस प्रवृत्ति का निमित्त हुआ शुक्लत्व। ब्राह्मण अर्थ का बोधन कराने के लिए ब्राह्मण-शब्द प्रवृत्त होता है तो यहाँ प्रवृत्ति का निमित्त हुआ ब्राह्मणत्व। इसी तरह मनुष्य का अर्थबोधन कराने के लिए मनुष्य शब्द प्रवृत्त होता है। यहाँ प्रवृत्तिनिमित्त हुआ मनुष्यत्व। एक अर्थ विशेष को निमित्त मानकर कर प्रवृत्त होना प्रवृत्तिनिमित्त हुआ। वह प्रवृत्तिनिमित्त पुँल्लिङ्ग में भी वही हो और नपुंसकलिङ्ग में भी वही हो तो प्रवृत्तिनिमित्त एक हुआ। जैसे सुधी-शब्द का पुँल्लिङ्ग में शोभनध्यानकर्तृत्व प्रवृत्तिनिमित्त था तो यहाँ नपुंसकलिङ्ग में भी शोभनध्यानकर्तृत्व अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त है। अतः प्रवृत्तनिमित्त एक है।

तात्पर्य यह हुआ कि शब्द के प्रयोग के कारण को अर्थात् जिस निमित्त से शब्द का प्रयोग होता है, वह अर्थ ही प्रवृत्तिनिमित्त है।

भाषितपुंस्क। एक ही प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ शब्द यदि नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त हो रहा है तो उसे **भाषितपुंस्क** कहते हैं।

गालव ऋषि के मत में पुंवत् होगा अन्यों के मत में नपुंसक ही रहेगा। पुंवद्भाव होने से पुँल्लिङ्ग ही हो जायेगा ऐसा नहीं है अपितु पुँल्लिङ्ग में जो कार्य होते हैं, वे कार्य नपुंसक में भी हो जायेंगे। यहाँ सुधी-शब्द में पुंवत् भाव होने पर नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्वान्त बना हुआ भी **सुधि**-शब्द दीर्घान्त के रूप में ही प्रयुक्त होगा, जिससे **सुधी+आ** में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् की प्राप्ति, उसे बाधकर **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य** से यण् की प्राप्ति थी, उसका **न भूसुधियोः** से निषेध होकर पुनः **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** से इयङ् होकर **सुधिया** आदि रूप सिद्ध होते हैं। पुंवद्भाव न होने के पक्ष में ह्रस्व ही रहेगा और **इकोऽचि विभक्तौ** से नुम् होकर **सुधिना** बनता है।

सुधिया, सुधिना की तरह चतुर्थी के एकवचन में **सुधिये, सुधिने**, पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में **सुधियः, सुधिनः** बनते हैं। इसी तरह आगे भी बनाते जाइये। तृतीया, चतुर्थी आदि विभक्तियों में यह कार्य होगा, प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में नहीं।

ईकारान्त भाषितपुंस्क सुधी-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
द्वितीया	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
तृतीया	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
चतुर्थी	सुधिये, सुधिने	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
पञ्चमी	सुधियः, सुधिनः	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
षष्ठी	सुधियः, सुधिनः	सुधियोः, सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
सप्तमी	सुधियि, सुधिनि	सुधियोः, सुधिनोः	सुधिषु
सम्बोधन	हे सुधे, हे सुधि	हे सुधिनी	हे सुधीनि

अब उकारान्त नपुंसक मधु आदि शब्दों के रूपों को भी वारि-शब्द की तरह बनाने का प्रयत्न करें। वारि और मधु शब्द के रूपों में अन्तर केवल इतना ही है कि वारि-शब्द के बाद किये गये नुम् के नकार का रेफ से परे होने के कारण णत्व हो जाता है किन्तु मधु के बाद वाले नुम् के नकार का रेफ या मूर्धन्य षकार से परे न होने के कारण णत्व नहीं होता। मधु=शहद।

उकारान्त नपुंसकलिङ्ग मधु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वितीया	मधु	मधुनी	मधूनि
तृतीया	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
चतुर्थी	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पञ्चमी	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
षष्ठी	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
सप्तमी	मधुनि	मधुनोः	मधुषु
सम्बोधन	हे मधो, हे मधु	हे मधुनी	हे मधूनि

अब मधु शब्द की तरह चलने वाले निम्नलिखित शब्दों के भी रूप भी बनाने का प्रयत्न करें।

अम्बु=जल अश्रु=आँसू उडु=तारा
जतु=लाख जानु=घुटना तनु=पतला
तालु=दाँतों के पीछे मुख की खुरदरी छत त्रपु=पिघलने वाला सीसा,
दारु=लकड़ी वसु=धन लघु=छोटा
वस्तु=पदार्थ श्मश्रु=दाड़ी सानु=पर्वत की चोटी

सुष्ठु लुनातीति सुलु। सु+लू इसके अजन्त होने के कारण नपुंसक में ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य से ह्रस्व होकरह सुलु बनता है। जो अच्छी तरह से काटता है, उसे सुलु कहते हैं। शस्त्र। विशेष्यनिघ्न होने के कारण इसके रूप तीनों लिङ्ग में चलते हैं। एक अर्थ विशेष को लेकर तीनों लिङ्गों में होने के कारण प्रवृत्तिनिमित्त एक हुआ। इस लिए पुंवद्भाव होगा। पुँल्लिङ्ग में ओः सुपि से यण् होकर सुलूः, सुल्वौ, सुल्वः रूप बनते हैं।

...में भी तृतीयादि अजादिविभक्ति के परे होने पर पुंवद्भाव होकर यण् वाला एक और पुंवद्भाव न होने के पक्ष में नुम् वाला रूप होगा।

उकारान्त भाषितपुंस्क सुलु-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
द्वितीया	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
तृतीया	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
चतुर्थी	सुल्वे, सुलुने	सुलुभ्याम्	सुलुभ्यः
पञ्चमी	सुल्वः, सुलुनः	सुलुभ्याम्	सुलुभ्यः
षष्ठी	सुल्वः, सुलुनः	सुल्वोः, सुलुनोः	सुल्वाम्, सुलूनाम्
सप्तमी	सुल्वि, सुलुनि	सुल्वोः, सुलुनोः	सुलुषु
सम्बोधन	हे सुलो, हे सुलु	हे सुलुनी	हे सुलूनि

इसी तरह निम्नलिखित भाषितपुंस्क शब्दों के रूप बनाइये। अन्तर यह होता है कि उकारान्त धातु नहीं है तो पुँल्लिङ्ग में ओः सुपि से यण् नहीं होगा अपितु भानु-शब्द की तरह रूप बनेंगे। पुंवद्भाव न होने के पक्ष में मधु-शब्द की तरह रूप होंगे।

ऋजु=सरल कटु=तीता गुरु=भारी
पटु=चतुर मृदु=कोमल विभु=व्यापक
साधु=सरल, अच्छा स्वादु=स्वादिष्ट

उकारान्त शब्दों के विवेचन के बाद ऋकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन कर रहे हैं।

धातृ। धारण करने वाला कुल। यह शब्द धारण करना अर्थ में पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त हो चुका है और उसी अर्थ को लेकर नपुंसकलिङ्ग में भी प्रवृत्त है। अतः प्रवृत्तिनिमित्त एक ही हुआ और भाषितपुंस्क भी। इसलिए तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे होने पर विकल्प से पुंवद्भाव होकर दो-दो रूप बनेंगे। पुँल्लिङ्ग में तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे यण् होता है और यहाँ नुम्।

ऋकारान्त भाषितपुंस्क धातृ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	धातृ	धातृणी	धातृणि
द्वितीया	धातृ	धातृणी	धातृणि
तृतीया	धात्रा, धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पञ्चमी	धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
षष्ठी	धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातृणाम्
सप्तमी	धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु
सम्बोधन	हे धातः, हे धातृ	हे धातृणी	हे धातृणि

इसी तरह ज्ञातृ, कर्तृ, वक्तृ, श्रोतृ आदि शब्दों के रूप भी समझें।

ऋकारान्त शब्दों के बाद अब ओकारान्त शब्द का विवेचन करते हैं।

नियमसूत्रम्

२५०. एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात्।

प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि प्रद्युनेत्यादि। प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। प्ररिणा।

एकदेशविकृतमनन्यवत्। प्रराभ्याम्। प्ररीणाम्।

सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गाः॥७॥

....

२५०- एच इग्घ्रस्वादेशे। ह्रस्वस्य आदेशः=ह्रस्वादेशः, तस्मिन् ह्रस्वादेशे, षष्ठीतत्पुरुषः। एचः षष्ठ्यन्तम्, इक् प्रथमान्तं, ह्रस्वादेशे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

एचों के स्थान पर यदि ह्रस्व का विधान हो तो इक् रूप ही ह्रस्व होता है।

ऐसा इसलिए कहना पड़ा कि एच् का ह्रस्व वर्ण ही नहीं होता है। यदि एच् को ह्रस्व करना हो तो कौन सा वर्ण हो? इस पर यह सूत्र नियम कर देता है कि एच् के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान से मिलता जुलता **इक्** आदेश हो। एच् में ए, ओ, ऐ, औ ये चार हैं और ह्रस्व वर्ण **अ, इ, उ, ऋ, लृ** पाँच हैं। समसंख्या न होने कारण **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः स्थान से मिलाने पर ए-ऐ स्थान पर **इ** और **अ** एवं ओ-औ के स्थान पर **उ** और **अ** आदेश प्राप्त हो जाते हैं। उसमें यह सूत्र नियम करता है कि **इक्** ही आदेश हो न कि **अ**।

प्रकृष्टा द्यौर्यस्मिन् दिने, तद् (दिनम्) प्रद्यु। बादल आदि रहित स्वच्छ आकाश वाला दिन। केवल द्यो शब्द तो पुँल्लिङ्ग में ही होता हैं किन्तु प्र-पूर्वक द्यो शब्द नपुंसक है। अतः **प्रद्यो** को **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से ह्रस्व का विधान हुआ तो **एच इग्घ्रस्वादेशे** के नियम से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **प्रद्यो** के **ओकार** के स्थान पर उकार आदेश हुआ तो **प्रद्यु** बना। अब इसके रूप उकारान्त **मधु**-शब्द की तरह बन जाते हैं।

ओकारान्त नपुंसकलिङ्ग प्रद्यो-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि
द्वितीया	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि
तृतीया	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभिः
चतुर्थी	प्रद्युने	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
पञ्चमी	प्रद्युनः	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
षष्ठी	प्रद्युनः	प्रद्युनोः	प्रद्यूनाम्
सप्तमी	प्रद्युनि	प्रद्युनोः	प्रद्युषु
सम्बोधन	हे प्रद्यो!, हे प्रद्यु	हे प्रद्युनी	हे प्रद्यूनि!

प्ररि। प्रकृष्टो राः-धनं यस्य कुलस्य तत् कुलं **प्ररि**। जिसमें विपुल धन हो, ऐसा कुल। पुँल्लिङ्ग में रैं-शब्द है तो नपुंसकलिङ्ग में प्र-पूर्वक रै-शब्द। रै धन का वाचक है तो

विपुल धन वाले कुल का। नपुंसक में जब प्रै बना तो **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से **एच इग्घ्रस्वादेशे** के नियमानुसार ऐ के स्थान पर इ रूप ह्रस्व हुआ, **प्रि** बना। अब उसमें सु आदि प्रत्यय आते हैं। प्रि बनने के बाद यह वारि शब्द की तरह हुआ अर्थात् अजादिविभक्ति के परे रहते **वारि** की तरह इसके रूप बनते हैं किन्तु प्रै जब **प्रि** बन गया तो भी एकदेशविकृतन्यायेन भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सुप् इन हलादिविभक्तियों के परे होने पर रायो हलि से आकार आदेश होकर **प्रराभ्याम्, प्रराभिः** बनते हैं।

ऐकारान्त नपुंसकलिङ्ग प्रै-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रि	प्रिणी	प्रीणि
द्वितीया	प्रि	प्रिणी	प्रीणि
तृतीया	प्रिणा	प्रराभ्याम्	प्रराभिः
चतुर्थी	प्रिणे	प्रराभ्याम्	प्रराभ्यः
पञ्चमी	प्रिणः	प्रराभ्याम्	प्रराभ्यः
षष्ठी	प्रिणः	प्रिणोः	प्रीणाम्
सप्तमी	प्रिणि	प्रिणोः	प्रासु
सम्बोधन	हे प्रे!, हे प्रि	हे प्रिणी	हे प्रीणि!

सुनु। सुष्ठु नौर्यस्य तत् कुलम्, **सुनु**। सुन्दर नौका वाला कुल। **स्त्रीलिङ्ग** में औकारान्त **नौ**-शब्द रूप बनाये गये थे। जब सु का नौ के साथ समास हुआ और विशेष्य के अनुसार सुनौ शब्द शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में हुआ तो औकार को **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से ह्रस्व हुआ। **एच इग्घ्रस्वादेशे** के नियम से औकार को ह्रस्व इक् के रूप में उ हुआ तो उकारान्त **सुनु** शब्द बना। इस तरह इसके रूप मधु-शब्द की तरह बनेंगे।

औकारान्त नपुंसकलिङ्ग सुनौ-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुनु	सुनुनी	सुनूनि
द्वितीया	सुनु	सुनुनी	सुनूनि
तृतीया	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभिः
चतुर्थी	सुनुने	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
पञ्चमी	सुनुनः	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
षष्ठी	सुनुनः	सुनुनोः	सुनूनाम्
सप्तमी	सुनुनि	सुनुनोः	सुनुषु
सम्बोधन	हे सुनो!, हे सुनु!	हे सुनुनी	हे सुनूनि!

अब इसके बाद बारी है परीक्षा की। प्रत्येक प्रश्न के दस-दस अंक होंगे। आजतक परीक्षा की जो नियमावली आप को अपनाने के लिए बताई गई थी, उनका पालन यहाँ भी करना है। पुस्तक की पूजा करने के बाद आप परीक्षा में बैठेंगे। आज की परीक्षा दो घण्टे में पूरी होगी। ७० प्रतिशत अंक प्राप्त करने पर तृतीय श्रेणी, अस्सी प्रतिशत अंकों में द्वितीय श्रेणी और नब्बे प्रतिशत अंक मिलने पर प्रथम श्रेणी मानी जायेगी।

हम बार-बार छात्रों को यह निर्देश दे रहे हैं कि **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** के विना व्याकरण का ज्ञान अपूर्ण है और उक्त कौमुदी के पूर्णतः ज्ञान के लिए पहले **पाणिनीयाष्टाध्यायी** के सूत्रों के क्रम से रटना अच्छा रहता है। रटन में असुविधा होने पर प्रतिदिन पारायण भी कर सकते हैं। लघुसिद्धान्तकौमुदी के पूर्ण होते होते **अष्टाध्यायी** के सभी सूत्र कण्ठस्थं हो जायें, ऐसा प्रयत्न अवश्य करें।

परीक्षा

१- ज्ञान-शब्द के जैसे किन्हीं पाँच शब्दों के रूप लिखिये।

२- वारि-शब्द में **अतोऽम्** से **अम्** क्यों नहीं होता? और ज्ञानशब्द में **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् क्यों नहीं होता?

३- **उपधासंज्ञा** का उपयोग अभी तक आपने कहाँ कहाँ किया?

४- **सर्वनामसंज्ञा** और **सर्वनामस्थानसंज्ञा** में क्या अन्तर है?

५- उकारान्त नपुंसकलिङ्ग के किन्हीं पाँच शब्दों के रूप लिखिये।

६- **भाषितपुंस्क** का तात्पर्य समझाइये।

७- **प्रवृत्तिनिमित्त** क्या है? स्पष्ट करिये।

८- किन्हीं इकारान्त नपुंसक पाँच शब्दों के **आम्** प्रत्यय के साथ रूप सिद्ध कीजिए।

९- **पुँल्लिङ्ग** और **नपुंसकलिङ्ग** की भिन्नता के विषय में पाँच सूत्रों का उदाहरण देकर समझाइये।

१०- एच इग्घ्रस्वादेशे की व्याख्या करें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गाः

ढत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२५१. हो ढः ८।२।३१॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च।

लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

आपने अभी तक अजन्त शब्दों के तीनों लिङ्गों में जो रूप होते हैं, उन्हें जाना। आपने यह भी जाना होगा कि प्रत्येक प्रकरण में शब्दों का जो क्रम रखा गया है वह प्रत्याहार का ही क्रम है। जैसे प्रत्याहार में पहले अ, उसके बाद इ, उसके बाद उ आदि का क्रम है, उसी प्रकार पहले अकारान्त रामशब्द, उसके बाद इकारान्त हरिशब्द, उसके बाद उकारान्त भानुशब्द और उसके बाद ऋकारान्त **धातृ** शब्द आदि का क्रम आपने वहाँ देखा। अब हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण में भी प्रत्याहार के क्रम से शब्दों का विवेचन किये जायेंगे किन्तु इनमें भी कुछ हलन्त शब्दों का उदाहरण यहाँ पर नहीं दिया गया है। जैसे लकारान्त, ङकारान्त, णकारान्त आदि क्योंकि ऐसे शब्द बहुत कम मिलते हैं। अतः जो हलन्त शब्द अति प्रसिद्ध हैं और बहुत मिलते भी हैं, उन्हीं का इस प्रकरण में सिद्धि की गई है। हल् प्रत्याहार में सबसे पहले **ह्** है, अतः हकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्द लिह् से शुरू करते हैं।

लिह् चाटने अर्थ वाला एक धातु है। उससे कृदन्तप्रकरण के सूत्र **क्विप् च** से क्विप् प्रत्यय होता है और उसका सर्वापहार लोप हो जाता है। सर्वापहारलोप का तात्पर्य यह है कि प्रत्यय में जितने वर्ण होते हैं उन सबका लोप हो जाना। जैसे क्विप् प्रत्यय में पकार का **हलन्त्यम्** से, ककार का **लशक्वतद्धिते** से, इकार उच्चारणार्थक था, इसलिए वह चला जायेगा, बाकी वकार का **वेरपृक्तस्य** से इत्संज्ञा हो जाती है और **तस्य लोपः** इस सूत्र से इत्संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है। अतः क्विप् प्रत्यय में कुछ भी नहीं बचा। यही सर्वापहार लोप हुआ।

एक बात और भी ध्यान में रखना कि पाणिनीयव्याकरण में लोप का अर्थ नाश नहीं है अपितु अदर्शन है। इस लिए सर्वथा वर्णों का नाश नहीं होता। अब यहाँ एक प्रश्न आता है कि जब प्रत्यय कर के सर्वापहार लोप ही करना है तो प्रत्यय का विधान ही क्यों किया जाता है? जब मकान बनाकर तत्काल गिराना ही है तो फिर मकान क्यों बनाया जाय? आप यह समझें कि मकान बनाकर गिराने के बाद भी वहाँ पड़ा हुआ मलवा यह सूचित करता है कि यहाँ पर पहले मकान था। इसी तरह प्रत्यय करके लोप करने पर भी

स्थानिवद्भाव या **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** के बल पर वहाँ पर यह प्रत्ययान्त बन जाता है या प्रत्यय को मानकर होने वाले कार्य हो सकते हैं। यह लाभ मिलता है। जब लिह् धातु से क्विप् प्रत्यय किया गया और सर्वापहार लोप किया गया तो यह शब्द क्विप्-प्रत्ययान्त बन गया। क्विप्-प्रत्यय कृत्-प्रकरण का है, अतः **क्विप्-प्रत्ययान्त लिह्** धातु अब कृदन्त-शब्द बन गया है। कृदन्त मानकर उसके **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई और सु आदि विभक्तियाँ होने लगीं।

२५१- हो ढः। झल् परक या पदान्त में विद्यमान हकार के स्थान पर ढकार आदेश होता है।

हः षष्ठ्यन्तं, ढः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलो झलि** से **झलि** की और **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** सूत्र का अधिकार है।

या तो पदान्त में विद्यमान हकार हो या तो उस हकार से झल् परे हो, तभी ढकार आदेश होता है। ढः में जो अकार है, वह उच्चारणार्थ है, अतः केवल ढ् मात्र आदेश होगा।

लिट्, लिड्। चाटने वाला। लिह् धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा आदि के बाद प्रथमा का एकवचन सु प्रत्यय, अनुबन्धलोप करके लिह्+स् बना। हलन्त से परे सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हो गया। लिह् में सकार के लोप होने पर **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्यय को मानकर होने वाला अंगकार्य हो) से प्रत्ययान्त अर्थात् सुबन्त मानकर **सुप्तिङन्तं पदम्** से पदसंज्ञा हुई है। इसलिए लिह् एक पद है। पद के अन्त में विद्यमान हकार पदान्त हकार है। उस पदान्त हकार का **हो ढः** से ढकार आदेश हुआ- **लिढ्** बना। **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर डकार हुआ- **लिड्** बना। **लिड्** के बाद के खाली स्थान की **विरामोऽवसानम्** से अवसानसंज्ञा हुई और **वावसाने** से डकार के स्थान पर विकल्प से चर्त्व हुआ तो डकार के स्थान पर टकार हुआ। इस प्रकार से **लिट्** बना। चूँकि चर्त्व वैकल्पिक है, अतः एक पक्ष में चर्त्व नहीं हुआ तो डकार ही रह गया- **लिड्**। इस तरह से **लिट्, लिड्** ये दो रूप सिद्ध हुए।

हलन्तप्रकरण में अजादि-विभक्ति और हलादि-विभक्ति का अधिक ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकरण में अजादि-विभक्ति के परे होने पर लगभग कोई कार्य नहीं होता है, केवल वर्णसम्मेलन करने की आवश्यकता होती है किन्तु हलादि-विभक्ति के परे होने पर ढत्व, जश्त्व आदि अनेक कार्य होते हैं।

लिहौ। लिहः। लिहम्। लिहौ। लिहः। लिहा। लिह् को धातु से शब्द बनाने के बाद जब प्रथमा के द्विवचन में औ विभक्ति आई तो **लिह्+औ** बना। वर्णसम्मेलन अर्थात् हकार जाकर विभक्ति वाले औकार से मिल गया- **लिहौ** बन गया। इसी तरह **लिह्** से जब **जस्** विभक्ति आई और विभक्ति में अनुबन्धलोप हो गया, **लिह्+अस्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ और प्रत्यय के सकार के स्थान पर रुत्व और उसके स्थान पर विसर्ग आदेश हुआ तो बन गया- **लिहः**। इसी प्रकार से अम् के आने पर लिह्+अम् में वर्णसम्मेलन हुआ तो बना- **लिहम्**। इसी तरह औट् के आने पर अनुबन्धलोप होने के बाद **लिह्+औ** में वर्णसम्मेलन होकर बना- **लिहौ**। द्वितीया के बहुवचन में शस् के आने पर सबसे पहले तो अनुबन्धलोप अर्थात् शकार का **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हुआ तो **लिह्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन होने के बाद सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **लिहः**। इसी तरह तृतीया के

एकवचन में टा विभक्ति, टकार का चुटू से इत्संज्ञा होकर लोप, **लिह्+आ**, वर्णसम्मेलन करने पर लिहा बना।

अब आप **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** और **यचि भम्** इन दो सूत्रों के कार्य का स्मरण करें। **यचि भम्** से अजादिविभक्ति के परे रहने पर पूर्व की भसंज्ञा होती है और शेष अर्थात् हलादि विभक्ति के परे रहने पर पूर्व की **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा हो जाती है। दोनों सूत्र असर्वनामस्थान में ही लगते हैं। इस तरह यह व्यवस्था बन गई कि असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति के परे रहने पर पूर्व की भसंज्ञा और असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सुप् के परे रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है। स्मरण रहे कि नपुंसकलिङ्ग को छोड़कर पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पाँच वचनों की **सुडनपुंसकस्य** से सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है और नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् के स्थान पर हुए आदेशरूप शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। इस सूत्र से जिसकी पदसंज्ञा हो गई, उसे पद के द्वारा ग्रहण केवल व्याकरण में शास्त्रीय प्रक्रिया में ही होगा, लोक में या सामान्यतया भाषा आदि में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** के द्वारा की गई पदसंज्ञा को पद के रूप में नहीं माना जाता।

लिड्भ्याम्। लिड्भिः। धातु के बाद शब्द बने लिह् से तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी का द्विवचन भ्याम् आया। असर्वनामस्थान हलादि-विभक्ति भ्याम् के परे रहने पर लिह् की **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा हुई। लिह् पद मान लिया गया तो लिह् में जो अन्त्य वर्ण हकार है, वह पदान्त हुआ। इस तरह पदान्त हकार के स्थान पर **हो ढः** से ढत्व हुआ- **लिढ्+भ्याम्** बना। यद्यपि यहाँ पदान्त न मानकर के झल्परक मानकर भी ढत्व किया जा सकता है तथापि आगे शास्त्रप्रक्रिया लाघव एवं सरलता तथा सूत्र में घटित होने के कारण पदान्तत्व मानकर ही ढत्व का विधान हुआ है। लिढ् में ढकार का जश्त्व किया गया तो बना- **लिड्भ्याम्**। इसी तरह **भिस्** के आने के बाद भी पदसंज्ञा और ढत्व, जश्त्व करके सकार के स्थान पर रुत्वविसर्ग करके **लिड्भिः** बन जाता है।

लिहे। चतुर्थी का एकवचन ङे, अनुबन्धलोप करके लिह्+ए में वर्णसम्मेलन हुआ तो बन जाता है- **लिहे**।

लिड्भ्यः। चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् आता है। **लिह्+भ्यस्** में पदसंज्ञा, ढत्व, जश्त्व, सकार का रुत्वविसर्ग करके **लिड्भ्यः** सिद्ध हो जाता है।

लिहः। पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में क्रमशः ङसि और ङस् प्रत्यय, अनुबन्धलोप होने पर **लिह्+अस्** में वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग होकर लिहः बन जाता है।

लिहोः। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में ओस् विभक्ति है, **लिह्+ओस्** में वर्णसम्मेलन होने के बाद सकार का रुत्व और विसर्ग कर के बनता है- **लिहोः**।

लिहाम्। षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय, **लिह्+आम्** में वर्णसम्मेलन, लिहाम्।

लिहि। सप्तमी के एकवचन में ङि प्रत्यय, अनुबन्धलोप होने के बाद **लिह्+इ** में वर्णसम्मेलन होकर लिहि बना।

लिट्सु,। सप्तमी के बहुवचन में सुप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, पदसंज्ञा, ढत्व, जश्त्व करने के बाद **लिड्+सु** बना। **डः सि धुट्** से विकल्प से धुट् आगम, अनुबन्धलोप होकर

घादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२५२. दादेर्धातोर्घः ८।२।३२॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः।

....

लिड्+ध्+सु बना। डकार के योग में धकार को **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व प्राप्त था तो न **पदान्ताट्टोरनाम्** से निषेध हुआ। अब डकार और धकार दोनों को **खरि च** से चर्त्व होकर डकार के स्थान पर टकार और धकार के स्थान पर तकार हो जाने के बाद बना- **लिट्त्सु** सिद्ध हुआ। धुट् आगम न होने के पक्ष में **लिट्सु** ही रहेगा।

हे लिट्! हे लिड्! हे लिहौ! हे लिहः! सम्बोधन में भी वही रूप बनते हैं, केवल हे का पूर्वप्रयोग करना मात्र है।

अब आप अजादि विभक्ति के परे रहने पर वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग करना तो समझ ही गये होंगे। नहीं समझे हैं तो फिर समझने की चेष्टा करें। क्योंकि आगे अजादि विभक्ति के परे रहने पर ज्यादा विवेचन नहीं किया जायेगा। हलन्तप्रकरण है, अतः ज्यादा विवेचन हलादि विभक्तियों के परे रहने पर ही होगा।

लिह् धातु चाटने के अर्थ में है। जब शब्द बना तो इसका अर्थ हुआ-- चाटने वाला।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग लिह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	लिट्, लिड्	लिहौ	लिहः
द्वितीया	लिहम्	लिहौ	लिहः
तृतीया	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
चतुर्थी	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
पञ्चमी	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
षष्ठी	लिहः	लिहोः	लिहाम्
सप्तमी	लिहि	लिहोः	लिट्त्सु, लिट्सु
सम्बोधन	हे लिट्, हे लिड्	हे लिहौ	हे लिहः

हकारान्त पुँल्लिङ्ग के सारे शब्द प्रायः इसी प्रकार के रूप वाले होते हैं। कुछ ही शब्द हैं जैसे जो हकारान्त होते हुए दकारादि या मुह्, स्निह्, स्नुह् आदि शब्द हैं, जिनके वैकल्पिक कुछ और भी रूप बन जाते हैं।

२५२- दादेर्धातोर्घः। दः आदौ यस्य स दादिस्तस्य दादेः, बहुव्रीहिः। दादेः षष्ठ्यन्तं, धातोः षष्ठ्यन्तं, घः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। भाष्यकार ने यहाँ **उपदेशे** का ग्रहण किया है। हो ढः से हः तथा **झलो झलि** से **झलि** आता है। **पदस्य** का अधिकार है।

उपदेश अवस्था में जो दकारादि धातु, उसके हकार के स्थान पर घकार आदेश होता है, झल् के परे होने पर या पदान्त में।

यह सूत्र **हो ढः** का बाधक है। अन्यत्र **ढकार** आदेश होता है किन्तु धातु यदि उपदेश अवस्था से ही दकार आदि वाला हो तो उसके अन्त हकार के स्थान पर घकार आदेश होगा। घ में भी अकार उच्चारणार्थ है, अतः **घ्** मात्र होता है।

भष्भावविधायकं विधिसूत्रम्

२५३. **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७॥**

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् से ध्वे पदान्ते च।

धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु॥

....

२५३- **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः**। एकोऽच् यस्मिन्, स एकाच्, तस्य एकाचः। झष् अन्ते यस्य स झषन्तः, तस्य झषन्तस्य। स् च ध्व् च स्ध्वौ, तयोः स्ध्वोः। एकाचः षष्ठ्यन्तं, बशः षष्ठ्यन्तं, भष् प्रथमान्तं, झषन्तस्य षष्ठ्यन्तं, स्ध्वोः सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **दादेर्धातोर्घः** से **धातोः** तथा **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है और **पदस्य** का अधिकार है।

धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उसके बश् के स्थान पर भष् आदेश होता है, सकार या ध्व् के परे होने पर अथवा पदान्त में।

झष् प्रत्याहार में **झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्,** बश् प्रत्याहार में **ब्, ग्, ड्** और **द्** ये और भष् प्रत्याहार में **भ्, घ्, ढ्, ध्** ये वर्ण आते हैं। धातु का अवयव एकाच् जिसमें झष् अन्त में हो। इससे अनेकाच् धातु के एक अवयव का भी ग्रहण होता है। उस एकाच् में जो **बश्** अर्थात् **ब्, ग्, ड्** और **द्** के स्थान पर भष् अर्थात् **भ्, घ्, ढ्, ध्** आदेश के रूप में होते हैं किन्तु आगे या तो सकार मिले या तो **ध्व** मिले या पद के अन्त में हो। इस सूत्र का उदाहरण यहाँ पर धुक्, धुक् है किन्तु तिङन्त में अनेक **भोत्स्यते, धोक्ष्यते, अधुग्ध्वम्** तथा नामधातु में **गर्धभ्** आदि अनेक उदाहरण मिलते हैं।

धुक्, धुग्। दुहने वाला। **दुह प्रपूरणे** धातु से कृत्प्रकरण का **क्विप्** प्रत्यय और उसका सर्वापहार होकर **दुह्** बना है। यह धातु उपदेश अवस्था में दकारादि है। सु आने पर उसका **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हो गया। **हो ढः** से ढत्व प्राप्त था, उसे बाधकर के **दादेर्धातोर्घः** से हकार के स्थान पर **घ्** आदेश हो गया। **दुघ्** बना। अब सूत्र लगा- **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः**। झष् है घ्, धात्ववयव झषन्त एकाच् हुआ- दुघ्, बश् है- द्, उसके स्थान पर भष् अर्थात् भ्, घ्, ढ्, ध् ये चारों प्राप्त हुए। अनियम होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** ने स्थान से साम्य मिलाने का नियम किया तो दन्तस्थानी दकार के स्थान पर धकार ही मिला है। अतः दुघ् के दकार के स्थान पर धकार आदेश हो गया- **धुघ्** हुआ। **झलां जशोऽन्ते** से घकार को जश्त्व होकर गकार बन गया और **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होने पर क् आदेश हुआ। इस तरह **धुक्, धुग्** दो रूप सिद्ध हुए।

अजादि विभक्ति के परे होने पर केवल प्रत्यय के साथ प्रकृति को जोड़ना है जिससे दुहौ, दुहः, दुहम्, दुहौ, दुहः, दुहा आदि रूप बनते हैं। भ्याम् आदि हलादि विभक्ति के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पूर्व की पदसंज्ञा होने के कारण पदान्त मिल जाता है, अतः **एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** से भष् आदेश होकर **धुग्भ्याम्, धुग्भिः** आदि रूप बन जाते हैं। **सुप्** के परे होने पर घत्व, भष् आदेश, जश्त्व करने पर **धुग्+सु** बनता है। उसके बाद सकार रूप खर् के परे होने पर गकार के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर ककार बन जाता है। ककार से परे सु के सकार को **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व होता है। अब क्+ष् का संयोग हुआ। **क्** और **ष्** का संयोग होने पर **क्ष्** बनता है। अतः **धुक्षु** यह रूप सिद्ध हुआ।

वैकल्पिकघादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२५४. वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३॥

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं मुक्, मुग् इत्यादि।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग दुह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	धुक्, धुग्	दुहौ	दुहः
द्वितीया	दुहम्	दुहौ	दुहः
तृतीया	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः
चतुर्थी	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
पञ्चमी	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
षष्ठी	दुहः	दुहोः	दुहाम्
सप्तमी	दुहि	दुहोः	धुक्षु
सम्बोधन	हे धुक्, हे धुग्	हे दुहौ	हे दुहः

२५४- **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्।** द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिट् च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वो द्रुहमुहष्णुहष्णिहः, तेषां द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्। वा अव्ययपदं, द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **हो ढः** से हः, **दादेर्धातोर्घः** से घः, **झलो झलि** से झलि और **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से अन्ते की अनुवृत्ति आती है और **पदस्य** का अधिकार है।

द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् धातु के हकार के स्थान पर विकल्प से घकार आदेश होता है झल् परे रहने पर या पदान्त में।

द्रुह, मुह, ष्णुह में अकार उच्चारणार्थ है। केवल उपर्युक्त चार धातुओं के लिए यह सूत्र है। द्रुह् में **दादेर्धातोर्घः** से नित्य से घ प्राप्त होने पर उसे बाधकर यह विकल्प से करता है। शेष तीन शब्दों में **हो ढः** से नित्य से ढकारादेश प्राप्त होने पर विकल्प घकारादेश करने के लिए इसका आरम्भ है। घ न होने के पक्ष में हो ढः से ढकार आदेश हो जाता है। इस तरह **द्रुह्** से सु के आने पर **हकार के स्थान पर घकार आदेश**, दकार के स्थान पर भष् होकर **धकार** करके जश्त्व, विकल्प से चर्त्व होकर घकारादेश पक्ष में **ध्रुक्, ध्रुग्** ये दो रूप और **ढकार** आदेश होने के पक्ष में **ध्रुट्, ध्रुड्** ये दो रूप, कुल चार रूप बनते हैं। इसी तरह भ्याम्, भिस् आदि हलादि विभक्ति के परे होने पर भी घकार और ढकार आदेश होने पर **ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्** आदि दो-दो रूप बनते हैं। सुप् में घकार होने के पक्ष में **धुक्षु** की तरह **ध्रुक्षु** और ढकार आदेश होने के पक्ष में **लिट्त्सु, लिट्सु** की तरह **ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु** ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। शेष अजादि के परे केवल प्रकृति और प्रत्यय को मिलाना मात्र है।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग द्रुह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्	द्रुहौ	द्रुहः
द्वितीया	द्रुहम्	द्रुहौ	द्रुहः

(सकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्)

२५५. धात्वादेः षः सः ६।१।६४॥

स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्। एवं स्निक्, स्निग्, स्निट्, स्निड्।

विश्ववाट्, विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

....

तृतीया	द्रुहा	धुग्भ्याम्, धुड्भ्याम्	धुग्भिः, धुड्भिः
चतुर्थी	द्रुहे	धुग्भ्याम्, धुड्भ्याम्	धुग्भ्यः, धुड्भ्यः
पञ्चमी	द्रुहः	धुग्भ्याम्, धुड्भ्याम्	धुग्भ्यः, धुड्भ्यः
षष्ठी	द्रुहः	द्रुहोः	द्रुहाम्
सप्तमी	द्रुहि	द्रुहोः	धुक्षु, धुट्त्सु, धुट्सु
सम्बोधन	हे धुक्, हे धुग्, हे धुट्, हे धुड्	हे द्रुहौ	हे द्रुहः

इसी तरह मुह् के भी रूप बनाइये। इनमें अन्तर यह है कि इन तीन धातुओं के बश्-प्रत्याहार वाले न होने के कारण भष् आदेश नहीं होता।

२५५- **धात्वादेः षः सः**। धातोरादिः- धात्वादिः, तस्य धात्वादेः, षष्ठीतत्पुरुषः। धात्वादेः षष्ठ्यन्तं, षः षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **धात्वादेः षकारस्य स्थाने सकारादेशो भवति।**

धातु के आदि में विद्यमान षकार के स्थान पर सकार आदेश होता है।

यह सूत्र केवल धातु-मात्र में ही लगता है और आदि में विद्यमान षकार के स्थान पर ही सकार करता है। यदि षकार को निमित्त बना कर तवर्ग के स्थान पर टवर्ग हुआ है तो षकार के सकार बन जाने के बाद टवर्ग भी तवर्ग में बदल जाता है क्योंकि व्याकरण शास्त्र में एक नियम है- **निमित्तापाये नैमित्तिकस्यप्यपायः**। अर्थात् निमित्त का नाश होने पर नैमित्तिक(निमित्त के कारण उत्पन्न का भी नाश होना चाहिए। जैसे **ष्णिह्** धातु है। यहाँ षकार को निमित्त मानकर नकार के स्थान पर **रषाभ्यां नो णः समानपदे** से णकार आदेश हुआ था। जब **धात्वादेः षः सः** से षकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ तो निमित्त षकार का नाश हुआ। अतः नैमित्तिक णकार का भी अपाय अर्थात् नाश हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि णकार भी नकार में बदल जायेगा। इस तरह ष्णिह् धातु स्निह् में बदल जाता है। यहाँ पर अपाय अर्थात् नाश का तात्पर्य **अपने पूर्व रूप में आ जाना** है।

ष्णिह् और **ष्णुह्** धातुओं में धात्वादेः षः सः से सकार आदेश और **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के नियम से णकार का नकार के रूप में आ जाने के बाद **स्निह्** और स्नुह् बन गये। इनसे सु आकर लोप होने के बाद **हो ढः** से ढत्व प्राप्त, उसे बाधकर **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्** से वैकल्पिक घकार आदेश, जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करके स्निक्, स्निग् एवं **स्नुक्, स्नुग्** ये दो दो रूप बनते हैं। घकार आदेश न होने के पक्ष में हो ढः से ढकार आदेश होकर जश्त्व, वैकल्पिक चर्त्व होकर **स्निट्, स्निड्** और **स्नुट्,** स्नुड् ये दो रूप बनते हैं। इस तरह कुल मिलाकर सु में चार-चार रूप बने। शेष प्रक्रिया द्रुह् की तरह ही करें।

विश्ववाट्, विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्वं वहति, विश्व को धारण करने वाला, भगवान्। विश्व-पूर्वक वह् धातु से ण्वि प्रत्यय आदि कार्य कृदन्त में होते

सम्प्रसारणसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२५६. इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५॥

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्।

ऊठादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२५७. वाह ऊठ् ६।४।१३२॥

भस्य वाह सम्प्रसारणमूठ्।

पूर्वरूपविधायकं विधिसूत्रम्

२५८. सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८॥

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। एत्येधत्यूठ्स्विति वृद्धिः। विश्वौहः, इत्यादि।

....

हैं। **विश्ववाह्** यह प्रातिपदिक है। इससे सु आने पर सु का लोप और **हो ढः** से ढत्व, ढकार को जश्त्व होकर डकार और डकार को वैकल्पिक चर्त्व होकर **विश्ववाट्, विश्ववाड्** ये दो रूप बने। औ, जश्, अम्, औट् में प्रकृति और प्रत्यय से मिलाने पर **विश्ववाहौ, विश्ववाहः, विश्ववाहम्, विश्ववाहौ** बन गये।

२५६- **इग्यणः सम्प्रसारणम्।** इक् प्रथमान्तं, यणः षष्ठ्यन्तं, सम्प्रसारणं प्रथमान्तं, त्रिपदं सूत्रम्।

यण् के स्थान पर प्रयोग किया जाने वाला जो इक् वह सम्प्रसारण-संज्ञक होता है।

यण् के स्थान पर यदि इक् का प्रयोग किया जाता हो तो उसे सम्प्रसारण संज्ञा से जाना जाय। तात्पर्य यह है कि जहाँ जहाँ भी सम्प्रसारण का उच्चारण हो, वहाँ-वहाँ **यण्** के स्थान पर **इक्** होना समझा जाय।

२५७- **वाह ऊठ्।** वाहः षष्ठ्यन्तम्, ऊठ् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **वसोः सम्प्रसारणम्** से **सम्प्रसारणम्** की अनुवृत्ति आती है और **भस्य** का अधिकार है।

भसंज्ञक वाह् धातु के स्थान पर सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश होता है।

ठकार इत्संज्ञक है। ऊठ् आदेश सीधे न करके सम्प्रसारणसंज्ञा से जोड़ने का फल यह है कि सम्प्रसारण होने पर अग्रिम सूत्र **सम्प्रसारणाच्च** से पूर्वरूप किया जायेगा।

२५८- **सम्प्रसारणाच्च।** सम्प्रसारणात् पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** और **अमि पूर्वः** से **पूर्वः** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

सम्प्रसारण से अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एक आदेश होता है।

विश्वौहः। विश्ववाह् से द्वितीया का बहुवचन शस्, अनुबन्धलोप करके **विश्ववाह्+अस्** बना। अस् के परे होने पर विश्ववाह् की **यचि भम्** से **भसंज्ञा** हो गई और **वाह ऊठ्** से वाह् के व् के स्थान पर सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश हुआ। ठकार की इत्संज्ञा हुई। **विश्व+ऊ+आह्+अस्** बना। ऊ+आ में **सम्प्रसारणाच्च** से पूर्वरूप एकादेश ऊ हुआ,

आगमविधायकं विधिसूत्रम्

२५९. **चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८॥**

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

नुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

२६०. **सावनडुहः ७।१।८२॥**

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

....

विश्व+ऊह्+अस् बना। **विश्व+ऊह्** में अकार और ऊकार के स्थान पर **एत्येधत्यूठ्सु** से वृद्धि हुई, **विश्वौह्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग करके **विश्वौहः** सिद्ध हुआ। अब अजादि विभक्ति के परे होने पर इसी तरह **विश्वौह्** बनाकर आगे जोड़ते जाना है तथा हलादिविभक्ति के परे होने पर **हो ढः** से ढत्व और **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करके ड् बनता है। सुप् में धुट् करके लिह्-शब्द की तरह तीन रूप होते हैं।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग विश्ववाह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विश्ववाट्, विश्ववाड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वितीया	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः
तृतीया	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
चतुर्थी	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
पञ्चमी	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
षष्ठी	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
सप्तमी	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु, विश्ववाट्सु
सम्बोधन	हे विश्ववाट्, हे विश्ववाड्,	हे विश्ववाहौ,	हे विश्ववाहः!

२५९- **चतुरनडुहोरामुदात्तः**। चतुश्च अनडुह् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, चतुरनडुहौ, तयोः चतुरनडुहोः। चतुरनडुहोः षष्ठ्यन्तम्, आम् प्रथमान्तम्, उदात्तः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इतोऽत्सर्वनामस्थाने** से **सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामस्थान के परे रहने पर चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् का आगम होता है।

आम् में **मकार** की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा होती है। **मकार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह मित् आगम हुआ, अतः मिदचोऽन्त्यात्परः से अन्त्य अच् के बाद होने का विधान हुआ। इस सूत्र में **उदात्तः** यह पद उदात्तस्वर का विधान करता है किन्तु **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में स्वरप्रकरण को नहीं लिया गया है। अतः यहाँ उदात्त कथन नहीं कर रहे हैं।

२६०- **सावनडुहः**। सौ सप्तम्यन्तम्, अनडुहः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आच्छीनद्योर्नुम्** से नुम् की अनुवृत्ति आती है। यह सूत्र केवल अनडुह् शब्द के लिए है।

सु के परे रहने पर अनडुह् शब्द को नुम् का आगम होता है।

यह भी मित् है। अतः अन्त्य अच् के बाद ही बैठेगा।

अमागमविधायकं विधिसूत्रम्

२६१. अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९॥

हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुहः। अनडुहा।

दत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२६२. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्यामित्यादि। सान्तेति किम्? विद्वान्। पदान्ते किम्? स्रस्तम्। ध्वस्तम्।

....

अनड्वान्। (बैल)। अनडुह् शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्ध लोप हुआ। **अनडुह् स्** है। **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से आम् हुआ, मकार की इत्संज्ञा हुई और लोप हो गया। मित् होने के कारण **मिदचोऽन्त्यात्परः** के नियम से अन्त्य अच् डु के उकार के बाद और ह् के पहले बैठा- **अनडु+आ+ह्+स्** बना। अब **सावनडुहः** से नुम् होने के बाद उसमें अनुबन्धलोप के बाद न् बचा। मित् होने के कारण नुम् का नकार भी अन्त्य अच् आ के बाद ही बैठा- **अनडु+आ+न्+ह्+स्** बना। डु+आ में **इको यणचि** से यण् हुआ- **अनड्वा+न्+ह्+स्** बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ। हकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप हुआ तो बना- **अनड्वान्।**

अनड्वाहौ। अनडुह् शब्द से प्रथमा का द्विवचन औ आया, **अनडुह्+औ** बना। **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से आम्, अनुबन्धलोप, **अनडु+आ+ह्+औ** बना। डु+आ में यण् होकर **अनड्वाह् औ** बना, हकार औ से मिला- **अनड्वाहौ।** यहाँ सु परे न होने के कारण **सावनडुहः** से नुम् नहीं हुआ। इसी प्रकार **अनड्वाहः, अनड्वाहम्, अनड्वाहौ** भी बनाइये।

अनडुहः। द्वितीया के बहुवचन में शस् आता है, अनुबन्धलोप होकर अस् बचता है। **अनडुह्+अस्** में सर्वनामस्थानसंज्ञक न होने के कारण **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से आम् नहीं होगा। वर्णसम्मेलन करके सकार का रुत्वविसर्ग कर देने से बन जायेगा- **अनडुहः।**

२६१- अम् सम्बुद्धौ। अम् प्रथमान्तं, सम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से **चतुरनडुहोः** की अनुवृत्ति आती है। **अनडुह्शब्दस्य अमागमो भवति सम्बुद्धौ।**

सम्बुद्धि के परे रहते अनडुह् शब्द को अम् का आगम होता है।

हे अनड्वन्! सम्बुद्धि में **अनडुह्+स्** में **अम् सम्बुद्धौ** से अम् आगम होकर **अनडु+अ+ह्+स्** बना। डु+अ में यण् हुआ- **अनड्व्+अ+ह्+स्** में **सावनडुहः** से नुम् आगम होकर **अनड्वन्+ह्+स्** बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से, हकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप होने पर बना- **अनड्वन्** और हे का पूर्वप्रयोग हुआ- **हे अनड्वन्!**

अब आगे समस्त अजादि विभक्ति में वर्णसम्मेलन और आवश्यकतानुसार सकार का रुत्वविसर्ग हो जायेगा। जिससे **अनडुहा, अनडुहे** आदि बनते जायेंगे।

२६२- वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः। वसुश्च स्रंसुश्च ध्वंसुश्च अनडुह् च तेषामितरेतरयोगद्वन्द्वो वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहस्तेषाम्। वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां षष्ठ्यन्तं, दः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ससजुषो रुः** से एकदेश **सः** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

प्रकरणम्)

मूर्धन्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२६३. सहेः साडः सः ८।३।५६॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः।

तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्यामित्यादि।

....

सकारान्त वसु-प्रत्ययान्त शब्द, स्रंस्, ध्वंस् और अनडुह् शब्दों के स्थान पर दकार आदेश होता है पदान्त में।

वसु एक प्रत्यय है। अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के अनुसार **वसुप्रत्ययान्त** लिया जायेगा। **अलोऽन्त्यस्य** लगकर उक्त सभी शब्दों के अन्त्य के स्थान पर दकारादेश होगा।

अनडुद्भ्याम्। अनडुह् से तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम् आता है, पदसंज्ञा, उसके बाद **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** से हकार के स्थान पर दकार आदेश होकर **अनडुद्भ्याम्** बना। इसी प्रकार से **अनडुद्भिः, अनडुद्भ्यः, अनडुत्सु** आदि भी बनायें।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग अनडुह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पञ्चमी	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
षष्ठी	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

सान्तेति किम्? विद्वान्। प्रश्न यह है कि **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** इस सूत्र में सान्त की अनुवृत्ति क्यों की गई? उत्तर देते हैं कि यदि सान्त नहीं कहते तो सान्त शब्द के स्थान पर और असान्त शब्द के स्थान पर उभयत्र दकार आदेश होता। विद्वस्-शब्द यद्यपि वसु-प्रत्ययान्त होने से सान्त ही है किन्तु सु विभक्ति में विद्वान् बन जाने के बाद इससे नकार के स्थान भी दकार आदेश होकर **विद्वात्** ऐसा अनिष्ट रूप होने लगता। **सान्त** कहने के बाद तो वसुप्रत्ययान्त होते हुए भी दकार आदेश करते समय उसे सान्त ही बने रहना चाहिए।

पदान्ते किम्? स्रस्तम्। ध्वस्तम्। यदि सूत्र में **पदान्ते** की अनुवृत्ति नहीं आती तो पदान्त और अपदान्त दोनों जगह स्थित सकार के स्थान पर दकार आदेश होता। **स्रस्+तम्**, ध्वस्+तम् में सकार पदान्त में नहीं है, यहाँ पर दकार आदेश हो जाता और **स्रत्तम्, ध्वत्तम्** ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते।

२६३- **सहेः साडः सः।** सहेः षष्ठ्यन्तं, साडः षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** से **मूर्धन्यः** की अनुवृत्ति आती है।

औकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२६४. दिव औत् ७।१।८४॥

दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

....

साड् रूप प्राप्त सह् धातु के सकार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है।

साड्-रूप का तात्पर्य यह है कि सह्-धातु से क्विप्, दीर्घ, ढत्व, जश्त्व होने पर जब **साड्** बनता है, तब यह सूत्र लगेगा। स्मरण रहे कि **हो ढः** से ढत्व पदान्त हकार के स्थान पर या झल् परे होने पर ही होता है। इस तरह सकार के स्थान पर मूर्धन्य वर्ण **ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष** ये सभी प्राप्त होते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से ईषद्विवृत प्रयत्न वाले सकार के साथ वैसा ही प्रयत्न वाला षकार मिलता है। अतः सकार के स्थान पर षकार आदेश होता है। इस तरह जहाँ-जहाँ **हो ढः** से ढकार होता है, वहाँ वहाँ षकार आदेश होगा, अन्यत्र नहीं। अतः अजादिविभक्ति के परे होने पर **षकारादेश** नहीं होगा।

तुराषाट्, तुराषाड्। इन्द्र। तुरं साहयते। तुर-पूर्वक ण्यन्त **सह्**-धातु से क्विप्, सर्वापहार, णिलोप, दीर्घ करके **तुरासाह्** बना है। इससे सु, लोप, **हो ढः** से ढत्व करके **तुरासाड्** बना। **सहेः साडः सः** से साड् के सकार के स्थान पर षकार आदेश हुआ, **तुराषाड्** बना। डकार को **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **तुराषाट्, तुराषाड्** ये दो रूप सिद्ध हुए।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग तुरासाह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	तुराषाट्, तुराषाड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
द्वितीया	तुरासाहम्	तुरासाहौ	तुरासाहः
तृतीया	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
चतुर्थी	तुरासाहे	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
पञ्चमी	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
षष्ठी	तुरासाहः	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
सप्तमी	तुरासाहि	तुरासाहोः	तुराषाट्त्सु, तुराषाट्सु
सम्बोधन	हे तुराषाट्, तुराषाड्	हे तुरासाहौ	हे तुरासाहः

इस तरह प्रत्याहार के क्रम से हकारान्त शब्दों का विवेचन करके वकारान्त शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। यकारान्त शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम है, अतः यहाँ उन्हें स्थान नहीं दिया गया है।

२६४- दिव औत्। दिवः षष्ठ्यन्तम्, औत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सावनडुहः** से सौ की अनुवृत्ति आती है।

सु के परे होने पर दिव् इस प्रातिपदिक को औकार आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य परिभाषा की उपस्थिति से सुदिव् में अन्त्य वर्ण वकार के स्थान पर औकार आदेश हो जाता है।

सुद्यौः। सुदिव् से सु, **दिव औत्** से वकार के स्थान पर औकार अन्तादेश होने

(...णम्)

अनादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२६५. **दिव उत् ६।१।१३१॥**

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्यामित्यादि।

चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः।

....

... सुदि+औ+स् बना। दि+औ में यण् होकर द्यौ बना। सकार का रुत्व और विसर्ग हो ... सुद्यौः सिद्ध हुआ।

अब अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल प्रकृति को प्रत्यय से जोड़ना मात्र है। सुदिवौ, सुदिवः इत्यादि।

२६५- **दिव उत्।** दिवः षष्ठ्यन्तम्, उत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। एङः पदान्तादति से विभक्तिविपरिणाम करके पदान्ते की अनुवृत्ति आती है।

पद के अन्त में विद्यमान दिव् को उकार अनादेश होता है।

हलादि विभक्ति के परे पूर्व का सुदिव् **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञक है। वकार के स्थान पर उकार आदेश होता है।

सुद्युभ्याम्। सुदिव् से भ्याम् और सुदिव् की पदसंज्ञा करके **दिव उत्** से वकार के स्थान पर उकार आदेश होकर सुदि+उ+भ्याम् बना। सुदि+उ में **इको यणचि** से यण् होकर सुद्युभ्याम् सिद्ध होता है।

वकारान्त पुँल्लिङ्ग सुदिव्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः
द्वितीया	सुदिवम्	सुदिवौ	सुदिवः
तृतीया	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः
चतुर्थी	सुदिवे	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
पञ्चमी	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
षष्ठी	सुदिवः	सुदिवोः	सुदिवाम्
सप्तमी	सुदिवि	सुदिवोः	सुद्युषु
सम्बोधन	हे सुद्यौः	हे सुदिवौ	हे सुदिवः

प्रत्याहारक्रम से अब वकारान्त के बाद रेफान्त अर्थात् रकारान्त-शब्दों का प्रसंग है। यहाँ पर रेफान्त चतुर्-शब्द बहुत्व संख्या का वाचक है। इसके केवल बहुवचन ही होता है, एकवचन और द्विवचन नहीं।

चत्वारः। चतुर्-शब्द से प्रथमा के बहुवचन में जस्, अनुबन्धलोप, चतुर्+अस् में **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से आम् आगम, मित् होने के कारण अन्त्य अच् तु में उकार के बाद और रेफ के पहले हुआ, चतु+आ+र् बना। चतु+आ में **इको यणचि** से यण् हुआ, चत्वार्+अस् बना, वर्णसम्मेलन हुआ, चत्वारस् बना, सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- चत्वारः।

चतुरः। चतुर् से द्वितीया के बहुवचन में शस्, अनुबन्धलोप, चतुर्+अस् में यहाँ पर आम् आदि करने वाला कोई सूत्र नहीं है। अतः वर्णसम्मेलन हुआ- चतुरः।

नुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

२६६. षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५॥

एभ्य आमो नुडागमः।

णत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२६७. रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१॥

अचो रहाभ्यां द्वे। चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

....

चतुर्भिः। तृतीया के बहुवचन भिस् में वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग।

चतुर्भ्यः। चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भी वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग ही करना है।

२६६- षट्चतुर्भ्यश्च। षट् च, चत्वारश्च, षट्चत्वारस्तेषामितरेतरद्वन्द्वः, षट्चतुर्भ्यः। षट्चतुर्भ्यः पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से आमि, तथा **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् की अनुवृत्ति आती है।

षट्संज्ञक-शब्द और चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् होता है।

यह नुट् आगम टित् है और आम् को विहित है। अतः **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से आम् के आदि में ही बैठेगा।

२६७- रषाभ्यां नो णः समानपदे। रश्च षश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः- रषौ, ताभ्यां रषाभ्याम्। रषाभ्यां पञ्चम्यन्तं, नः षष्ठ्यन्तं, णः प्रथमान्तं, समानपदे सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में किसी सूत्र से किसी भी पद की अनुवृत्ति नहीं है।

रेफ और मूर्धन्य-षकार से परे नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है समानपद में।

अर्थात् रेफ से परे हो या षकार से परे हो, ऐसे नकार णकार बन जाता है किन्तु रेफ और नकार या षकार और नकार दोनों एक ही पद में हों तो। जैसे चतुर्+नाम् (चतुर्णाम्) में रेफ और नकार एक ही पद में हैं। भिन्न पद में होने पर णत्व नहीं होगा। जैसे- **हरिर्नयति** में **हरिर्** का रेफ पूर्वपद में और **नयति** का नकार उत्तरपद में है, दोनों वर्ण एकपद में नहीं हैं। इसलिए भिन्नपद हुए। अतः नयति के नकार को णत्व नहीं हुआ। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** में यह सम्पूर्ण सूत्र जाता है। दोनों के णत्व में अन्तर यह है कि यह सूत्र रेफ और षकार से नकार के बीच किसी भी वर्ण की दखलंदाजी नहीं चाहता अर्थात् अव्यवधान में करता है और **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** व्यवधान में भी करता है किन्तु यदि किसी वर्ण का व्यवधान हो तो केवल अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् का ही व्यवधान हो सकता है। यही तुलना है इन दोनों सूत्रों की।

चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्। चतुर्-शब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् आया, **षट्चतुर्भ्यश्च** से आम् को नुट् का आगम। अनुबन्धलोप होने के बाद टित् होने के कारण आद्यवयव अर्थात् आम् के आदि में हुआ- **चतुर्+न्+आम्** हुआ। **रषाभ्यां नो णः समानपदे** से रेफ से परे नकार को णत्व हुआ- **चतुर्+ण्+आम्** बना। **अचो रहाभ्यां द्वे** से णकार

नियमसूत्रम्

२६८. **रोः सुपि ८।३।१६॥**

रोरेव विसर्गः सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते।

द्वित्वनिषेधकं विधिसूत्रम्

२६९. **शरोऽचि ८।४।४९॥**

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

नकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२७०. **मो नो धातोः ८।२।६४॥**

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्।

....

को विकल्प से द्वित्व होकर वर्णसम्मेलन हुआ और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **चतुर्ण्णाम्।** द्वित्व न होने के पक्ष में एक णकार वाला **चतुर्णाम्** ही रह गया।

२६८- रोः **सुपि।** रोः षष्ठ्यन्तं, सुपि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्जनीयः** की अनुवृत्ति आती है।

सप्तमी के बहुवचन सुप् के परे होने पर रु के स्थान पर ही विसर्ग होता है, अन्य के स्थान पर नहीं।

यह नियम सूत्र है। **सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति।** सिद्ध होने पर भी पुनः उसी कार्य के लिए सूत्र का आरम्भ होना कुछ विशेष नियम के लिए होता है। रु के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग आदेश सिद्ध है ही तो इस सूत्र के आरम्भ से यह नियम बना कि यदि **सुप्** जो सप्तमी का बहुवचन प्रत्यय है, इसके परे होने पर यदि विसर्ग हो तो केवल रु के रेफ का ही विसर्ग हो, अन्य का नहीं। इस तरह चतुर्+सु में रेफ के स्थान पर विसर्ग नहीं हुआ, क्योंकि चतुर् का रेफ रु आदेश होकर के आया नहीं है, अपितु स्वतः पहले से ही विद्यमान है।

२६९- **शरोऽचि।** शरः षष्ठ्यन्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य** से न और **अचो रहाभ्यां द्वे** से द्वे की अनुवृत्ति आती है।

अच् परे हो तो शर् को द्वित्व नहीं होता है।

चतुर्+षु में **अचो रहाभ्यां द्वे** से वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है, उसका यह निषेध करता है। अच् से परे रेफ और उससे परे यर् ष् मिलता है। अतः द्वित्व की प्राप्ति थी। यदि शर् से अच् परे हो तो द्वित्व न हो। यहाँ पर ष् के बाद उ अच् ही है।

चतुर्षु। चतुर्-शब्द से सप्तमी के बहुवचन में सुप् आया, अनुबन्धलोप होने के बाद चतुर्+सु में रेफ के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग आदेश प्राप्त था तो **रोः सुपि** के नियम से रुक गया। रेफ को इण् मानकर **आदेशप्रत्ययोः** से षत्व होने पर बना- **चतुर्+षु** बना। रेफ से परे षकार को द्वित्व प्राप्त था, उसका **शरोऽचि** से निषेध हुआ- **चतुर्षु।**

रकारान्त शब्द के बाद बारी है मकारान्त शब्दों की, क्योंकि लकारान्त या वकारान्त शब्द बहुत कम मिलते हैं।

कादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२७१. किमः कः ७।२।१०३॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ। कः। कौ। के इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

....

२७०- मो नो धातोः। मः षष्ठ्यन्तं, नः प्रथमान्तं, धातोः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। पदस्य का अधिकार है और **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से अन्ते की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त में विद्यमान धातु के मकार के स्थान पर नकार आदेश होता है।

सु के लोप होने के बाद तथा भ्याम् आदि हलादिविभक्ति के परे होने के बाद पदान्त मिलता है, अतः वहाँ पर नकार आदेश होता है और अजादि के परे होने पर पदान्त नहीं होती है, अतः मकार ही रह जाता है।

प्रशान्। प्र-पूर्वक शम्-धातु से **प्रशाम्** बना है। उससे सु और उसका लोप, मकार के स्थान पर **मो नो धातोः** से नकार आदेश होने के बाद **प्रशान्** सिद्ध हुआ। अजादि विभक्ति के परे केवल प्रकृति-प्रत्यय का मेलन मात्र करना होता है।

मकारान्त पुँल्लिङ्ग प्रशाम्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
द्वितीया	प्रशामम्	प्रशामौ	प्रशामः
तृतीया	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
चतुर्थी	प्रशामे	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
पञ्चमी	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
षष्ठी	प्रशामः	प्रशामोः	प्रशामाम्
सप्तमी	प्रशामि	प्रशामोः	प्रशान्सु
सम्बोधन	हे प्रशान्!	हे प्रशामौ!	हे प्रशामः !

२७१- किमः कः। किमः षष्ठ्यन्तं, कः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में अष्टन आ विभक्तौ से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

किम् शब्द के स्थान पर क आदेश होता है, विभक्ति के परे होने पर।

यह सूत्र किसी भी विभक्ति के परे रहने पर मकारान्त किम् के स्थान पर अकारान्त क आदेश करता है। क के अनेकाल् होने के कारण **अनेकाल् शित् सर्वस्य** के नियम से सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होता है। फलतः हलन्त किम् शब्द अजन्त बन जाता है। किम् सर्वादिगण में भी आता है, इसलिए इसकी **सर्वादीनि सर्वनामानि** से सर्वनामसंज्ञा होती हैं। अतः इसके रूप सर्वशब्द के समान ही होते हैं।

कः। कौ। के। किम् शब्द से विभक्ति के आते ही **किमः कः** से क आदेश हो जाता है। इस तरह अकारान्त **क** से सु के परे होने पर अनुबन्धलोप और रुत्वविसर्ग होकर **कः।** इसी तरह क+औ में वृद्धि होकर **कौ** तथा जस् में सर्वे की तरह के बन जाते हैं। इस तरह किम्-शब्द सर्व-शब्द के समान रूप वाला हो जाता है। त्यद्, तद्,

मादेशविधायकं नियमसूत्रम्

२७२. इदमो मः ७।२।१०८॥

सौ। त्यदाद्यत्वापवादः।

अयादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२७३. इदोऽय् पुंसि ७।२।१११॥

इदम इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे।

....

यद्, एतत्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मत्, अस्मत्, भवतु और किम् इतने शब्दों में सम्बोधन नहीं होता।

मकारान्त पुँल्लिङ्ग किम्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	कः	कौ	के
द्वितीया	कम्	कौ	कान्
तृतीया	केन	काभ्याम्	कैः
चतुर्थी	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पञ्चमी	कस्मात्, कस्माद्	काभ्याम्	केभ्यः
षष्ठी	कस्य	कयोः	केषाम्
सप्तमी	कस्मिन्	कयोः	केषु

अब मकारान्त पुँल्लिङ्ग इदम्-शब्द का विवेचन करते हैं। यह शब्द भी सर्वादिगण में आता है, इसलिए इसकी **सर्वादीनि सर्वनामानि** से सर्वनामसंज्ञा होती है।

२७२- **इदमो मः**। इदमः षष्ठ्यन्तं, मः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **तदोः सः सावनन्त्ययोः** से **सौ** की अनुवृत्ति आती है।

सु के परे होने पर इदम् शब्द के मकार के स्थान पर मकार ही आदेश होता है।

मकार के स्थान पर पुनः मकार ही आदेश करने का क्या तात्पर्य है? इदम्-शब्द त्यदादिगण में आता है। अतः **त्यदादीनामः** से इदम् के मकार के स्थान पर अकार आदेश प्राप्त था, उससे प्राप्त अत्व न होकर मकार के स्थान पर मकार ही हो। अर्थात् सु के परे रहने पर इदम् के मकार के स्थान पर अकार आदेश न होकर मकार ही हो और अत्व न हो, अतः मकार के स्थान पर मकारादेश ही किया।

२७३- **इदोऽय् पुंसि**। इदः षष्ठ्यन्तम्, अय् प्रथमान्तं, पुंसि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इदमो मः** से **इदमः** तथा **यः सौ** से **सौ** की अनुवृत्ति आती है। **इदम्-शब्द के इद् भाग के स्थान पर अय् आदेश होता है सु के परे होने पर पुँल्लिङ्ग में।**

इदम् शब्द को दो भाग करके (इद् और अम्) इस सूत्र से इद् भाग के स्थान पर अय् आदेश होगा सु के परे रहने पर किन्तु केवल पुँल्लिङ्ग में ही।

अयम्। इदम्-शब्द मकारान्त है। इससे सु प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **त्यदादीनामः** से अत्व प्राप्त था, उसे बाधकर **इदमो मः** से मकार के स्थान पर मकार ही आदेश। इदम् स्

परूपविधायकं विधिसूत्रम्

२७४. अतो गुणे ६।१।९७॥

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः।

मकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२७५. दश्च ७।२।१०९॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे।

त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

....

में **इदोऽय् पुंसि** से **इद्** के स्थान पर **अय्** आदेश हुआ- **अय्+अम्+स्** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **अयम् स्** बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ- **अयम्** सिद्ध हुआ।

२७४- **अतो गुणे**। अतः पञ्चम्यन्तं, गुणे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **उस्यपदान्तात्** से **अपदान्तात्** और **एङः पदान्तादति** से **अति** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार तो है ही।

अपदान्त अकार से गुण (अ, ए, ओ) के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एक आदेश होता है।

गुण-शब्द से **अदेङ् गुणः** से विहित गुणसंज्ञक वर्ण **अ, ए, ओ** ही लिए जायेंगे। यह सूत्र **वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः** आदि का अपवादसूत्र है॥

२७५- **दश्च**। दः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की और **इदमो मः** से **मः** की अनुवृत्ति आती है।

इदम् शब्द के दकार के स्थान पर मकार आदेश हो विभक्ति के परे रहते।

इमौ। इदम् से प्रथमा का द्विवचन औ आया, विभक्ति के परे रहने पर **त्यदादीनामः** से मकार के स्थान पर अत्व अर्थात् अकार-आदेश हुआ- **इद+अ+औ** बना। **इद+अ** में **अतो गुणे** से पूर्व इद के **अकार** और पर अत्व वाले **अकार** दोनों के स्थान पर पररूप अकार ही आदेश हुआ तो बना- **इद**। अब **इद+औ** में **दश्च** से दकार के स्थान पर मकारादेश हुआ तो बना- **इम**। **इम+औ** में रामवत् **वृद्धिरेचि** से वृद्धि हुई- **इमौ**। इसी प्रकार द्वितीया के द्विवचन औट् में भी **इमौ** बन जायेगा।

इमे। प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, त्यदादीनामः से अत्व, **अतो गुणे** से पररूप, सर्वनामसंज्ञक होने के कारण **जसः शी** से जस् वाले अस् के स्थान पर शी-आदेश, अनुबन्धलोप, **दश्च** से मत्व होने पर **इम+ई** बना। **आद्गुणः** से गुण हुआ- **इमे**।

त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युसर्गः। त्यदादिगणीय शब्दों में सम्बोधन नहीं बनता। जैसे हे यह, अरे तुम, हे मैं, हे आप, हे कौन आदि बड़े अटपटे लगते हैं। इस लिए सम्बोधन का प्रयोग नहीं होता। अतः रूप बनाने की जरूरत ही नहीं।

इमम्। द्वितीया के एकवचन में अम्, त्यदादीनामः से अत्व, **अतो गुणे** से पररूप, **दश्च** से मत्व होने पर **इम+अम्** बना। **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप हुआ- **इमम्**।

इमान्। द्वितीया के बहुवचन में शस्, अनुबन्धलोप, त्यदादीनामः से अत्व, **अतो गुणे**

अनादेशविधायकं सूत्रम्

२७६. अनाप्यकः ७।२।११२॥

अककारस्येदम इदोऽनापि विभक्तौ। आबिति प्रत्याहारः। अनेन।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२७७. हलि लोपः ७।२।११३॥

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ।

नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।

....

से पररूप, दश्च से मत्व होने पर **इम+अस्** बना। **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ- **इमास्** बना। सकार का **तस्माच्छसो नः पुंसि** से नत्व होकर- **इमान्** सिद्ध हुआ।

२७६- **अनाप्यकः**। नास्ति क् यस्मिन् स अक्, तस्य अकः, बहुव्रीहिः। अन् प्रथमान्तम्, आपि सप्तम्यन्तम्, अकः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इदमो मः** से इदमः, **इदोऽय् पुंसि** से इदः और **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

आप्-प्रत्याहार की विभक्ति के परे रहने पर अकच् प्रत्यय के ककार से रहित इदम्-शब्द के इद्-भाग के स्थान पर अन्-आदेश होता है।

इदम् शब्द में **अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः** से यदि अकच् न हुआ हो तो तभी यह सूत्र प्रवृत्त होता है क्योंकि अकच् के बाद इदम्-शब्द **इदकम्** बन जाता है अर्थात् ककारयुक्त हो जाता है। सूत्र में **अकः** का अर्थ है **न कः=अकः** अर्थात् जहाँ ककार नहीं है, आपि यह शब्द आप् प्रत्याहार का वाचक है **औङ आपः** का जैसा टाप् आदि प्रत्यय का नहीं।

प्रत्याहार केवल चतुर्दश-सूत्रों से ही नहीं बनते हैं अपितु **सुप्** आदि भी प्रत्याहार है। सु औ जस् वाले सु से लेकर सुप् के पकार तक का **सुप्** भी प्रत्याहार है तो **तिप्तस्झि०** आदि में **ति** से लेकर **महिङ्** के ङकार को लेकर तिङ्-प्रत्याहार माना गया है। इसी तरह इस सूत्र में भी **आप्** प्रत्याहार ही है। तृतीया के एकवचन **टा** वाले **आ** से लेकर **सुप्** के **प्** तक को **आप्** प्रत्याहार माना गया। अर्थात् तृतीया विभक्ति से सप्तमी विभक्ति तक सारे प्रत्यय आप्-प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं।

अनेन। इदम् से तृतीया का एकवचन टा आया, अनुबन्धलोप हुआ। अत्व हुआ, पररूप हुआ तो बना- **इद आ**। **दश्च** से मत्व प्राप्त था, उसे बाधकर **अनाप्यकः** से इद में इद् के स्थान पर अन् आदेश हुआ तो **अन्+अ+आ** बना। **अन्+अ** में वर्णसम्मेलन होने पर रामवत् अदन्त अन से टा-सम्बन्धी आ के परे रहने पर टाङसिङसामिनात्स्याः से इन आदेश हुआ- **अन+इन**। **आद्गुणः** से गुण होकर अनेन सिद्ध हुआ।

२७७- **हलि लोपः**। हलि सप्तम्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अनाप्यकः** से **अकः** और **आपि**, **इदमो मः** से **इदमः**, **इदोऽय् पुंसि** से **इदः** और **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

अकच्-प्रत्यय के ककार से रहित इदम्-शब्द के इद्-भाग का लोप होता है हलादि आप् विभक्ति के परे रहने पर।

अतिदेश-सूत्रम्

२७८. आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविव अन्त इव च स्यात्।

सुपि चेति दीर्घः। आभ्याम्।

....

यह सूत्र हलादि विभक्ति में **अनाप्यकः** को बाधेगा और अजादि में लगेगा ही नहीं। अतः अजादि में अनाप्यकः से अन् आदेश होगा। तृतीया से सप्तमी के बीच जो हलादि-विभक्ति हैं, वहीं पर यह सूत्र लगेगा। **त्यदादीनामः** से अत्व होने के बाद इद में इद् का लोप हो जाने पर केवल **अ** ही बचेगा।

नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे। यह परिभाषा है। **अनर्थक में अलोऽन्त्यस्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु अभ्यास का विकार अनर्थक हो तो भी प्रवृत्ति होती है।**

निरर्थक और अर्थवान् का निर्णय करने के लिए परिभाषा है- **समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थकः**। अर्थात् समुदाय अर्थवान् होता है किन्तु समुदाय का एक भाग अनर्थक होता है। जैसे- **इदम्** यह वर्णों का समुदाय अर्थवान् है और केवल इद् या अम् निरर्थक।

इद+भ्याम् आदि तृतीयादि हलादि विभक्ति के परे होने पर **अनाप्यकः** को बाध कर **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप प्राप्त हुआ तो **अलोऽन्त्यस्य** की प्रवृत्ति होकर अन्त्य के स्थान पर लोप होना चाहिए था किन्तु **नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे** के नियम से यहाँ पर **अलोऽन्त्य**-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। अतः सम्पूर्ण इद् का लोप हो जाता है।

२७८- **आद्यन्तवदेकस्मिन्**। आदिश्च अन्तश्च इतरेतरद्वन्द्वः, आद्यन्तौ, तयोरिव आद्यन्तवत्। आद्यन्तवत् अव्ययपदम्, एकस्मिन् सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

आदि और अन्त को मानकर होने वाला कार्य केवल एक को ही मानकर भी हो अर्थात् एक ही वर्ण को आदि भी माना जाय और अन्त भी।

इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को व्यपदेशिवद्भाव[1] कहते हैं। यह सूत्र लोकप्रसिद्ध न्याय पर स्थित है। जैसे लोक में- **देवदत्तस्य एक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव मध्यमः, स एव कनिष्ठः**। अर्थात् देवदत्त का एक ही पुत्र है, चाहे उसे जेष्ठ मानो या मझला मानो अथवा कनिष्ठ मानो।

आदि और अन्त शब्द सापेक्ष हैं अर्थात् दूसरे की अपेक्षा करते हैं क्योंकि जब तक अन्य वर्ण न हों, आदि और अन्त की व्यवस्था नहीं बन सकती है। **यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिः, यस्मात् पूर्वमस्ति परं च नास्ति सोऽन्तः**। जिससे पूर्व नहीं है और पर है, उसे आदि तथा जिससे पूर्व है और पर नहीं है, वह अन्त है। इदम् में इद-भाग का लोप होने पर केवल अ बचा है। अब **सुपि च** से दीर्घ करना है। वह अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। केवल अ तो अत् मात्र है, अदन्त अङ्ग कैसे माना जाय? अर्थात् अन्त मानने के लिए उससे आदि में भी कुछ होना चाहिए। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए **आद्यन्तवदेकस्मिन्**

टिप्पणी(१) वि-विशिष्टः=मुख्यः, अपदेशः=व्यवहारः इति व्यपदेशः। स अस्यास्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं व्यपदेशिवत्। मुख्यव्यवहारवान् इव इत्यर्थः। तस्य भावो व्यपदेशिवद्भावः।

ऐसादेशनिषेधसूत्रम्

२७९. **नेदमदसोरकोः ७।१।११॥**

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। अनयोः। एषु।

....

का अवतरण है। यह कहता है एक में आदि भी है और अन्त भी। एक पुत्र को चाहे बड़ा समझो, या मझला या छोटा समझो। यह लोकन्याय है। यही व्यपदेशिवद्भाव है।

आभ्याम्। इदम् से तृतीया, चतुर्थी एवं पञ्चमी के द्विवचन में भ्याम् आया, अत्व और पररूप होने के बाद **इद+भ्याम्** बना है। **हलि लोपः** से इद्-भाग के लोप होने के बाद **अ+भ्याम्** बना। रामवत् व्यपदेशिवद्भाव से अदन्त बन जाने के बाद **सुपि च** से दीर्घ होकर **आभ्याम्** सिद्ध हुआ।

२७९- नेदमदसोरकोः। इदञ्च अदश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः-इदमदसौ, तयोः- इदमदसोः। नास्ति क् ययोस्तौ अकौ, तयोः- अकोः। न अव्ययपदम्, इदमदसोः षष्ठ्यन्तम्, अकोः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अतो भिस ऐस्** से **भिसः** और **ऐस्** की अनुवृत्ति आती है।

अकच् के ककार से रहित इदम् और अदस् शब्दों से परे भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश नहीं होता है।

यह सूत्र **अतो भिस ऐस्** से प्राप्त ऐस् आदेश का निषेधक है।

एभिः। इदम् से तृतीया का बहुवचन **भिस्** आया। अत्व एवं पररूप होने के बाद इद+भिस् में **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप हुआ, **अ+भिस्** बना। अब रामशब्द के समान अदन्त बन जाने के बाद **अतो भिस ऐस्** से भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश की प्राप्ति हो रही थी तो **नेदमदसोरकोः** ने निषेध कर दिया। अकार के स्थान पर **बहुवचने झल्येत्** से एत्व हुआ तो **एभिस्** बना, सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- **एभिः।**

अस्मै। इदम् से चतुर्थी के एकवचन में ङे विभक्ति है। अनुबन्धलोप, अत्व और पररूप होने के बाद **इद+ए** में सर्वनामसंज्ञक होने के कारण **सर्वनाम्नः स्मै** से ङे के स्थान पर **स्मै** आदेश होने पर **इद+स्मै** बना। पहले तो अजादि प्रत्यय परे होने के कारण **हलि लोपः** से लोप प्राप्त नहीं था किन्तु स्मै आदेश करने पर हलादि-प्रत्यय हुआ, अतः **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप हुआ तो बना **अस्मै।** स्मै का सकार यञ्-प्रत्याहार में नहीं आता, अतः **सुपि च** से दीर्घ नहीं हुआ। बहुवचन न होने के कारण **बहुवचने झल्येत्** से एत्व भी नहीं हुआ।

एभ्यः। इदम् से चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् आया, इदम् में **त्यदादीनामः** से अत्व और **अतो गुणे** से पररूप होकर इद+भ्यस् बना। इद में इद्-भाग का **हलि लोपः** से लोप हुआ तो अ+भ्यस् बना। **बहुवचने झल्येत्** से अकार के स्थान पर एत्व कर दिये जाने से **एभ्यस्** हुआ और सकार का रुत्व-विसर्ग हुआ- **एभ्यः।**

अस्मात्। इदम् से पञ्चमी का एकवचन ङसि, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप, इद+अस् में इद अदन्त हुआ है, अतः **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से स्मात् आदेश, इद+स्मात् में **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप होने पर **अस्मात्** सिद्ध हुआ।

अस्य। इदम् से षष्ठी का एकवचन ङस् आया, अनुबन्धलोप, पररूप, इद+अस्

एनादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२८०. द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे।
किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः।
यथा- अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति।
अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति।
एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः। एनयोः। राजा।

....

में **टाङसिङसामिनात्स्याः** से अस् के स्थान पर स्य आदेश और **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप हुआ-**अस्य** सिद्ध हुआ।

अनयोः। इदम् से षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में ओस्, अत्व और पररूप होने के बाद **इद+ओस्** बना है। **अनाप्यकः** से इद्-भाग के स्थान पर अन्-आदेश होने पर **अन+ओस्** बना। **ओसि च** से एत्व हुआ- **अने+ओस्** बना। **एचोऽयवायावः** से अय् आदेश होकर **अन्+अय्+ओस्** बना। वर्णसम्मेलन हुआ और सकार का रुत्वविसर्ग हुआ- **अनयोः**।

एषाम्। इदम् से षष्ठी के बहुवचन में आम्, अत्व, पररूप, **इद+आम्** में सर्वनामसंज्ञक एवं अदन्त बन जाने के कारण **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से सुट् आगम, **इद स् आम्**, स्+आ में वर्णसम्मेलन, **इद+साम्** में हलादि हो जाने कारण **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप होकर **अ+साम्** बना। **बहुवचने झल्येत्** एत्व, **ए+साम्** में **आदेशप्रत्ययोः** से षत्व होकर **एषाम्** बना।

अस्मिन्। इदम् से सप्तमी का एकवचन ङि, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप हो जाने के बाद इद+इ में **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से स्मिन् आदेश होकर **इद+स्मिन्** बना। अब हलादि हो जाने के कारण **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप हुआ- **अस्मिन्** सिद्ध हुआ।

एषु। इदम् से सप्तमी का बहुवचन सुप् आया, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप, इद+सु में **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप, अ+सु में **बहुवचने झल्येत्** से एत्व और **आदेशप्रत्ययोः** से षत्व होकर बना- एषु।

मकारान्त इदम्- शब्द के पुँल्लिङ्ग में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अयम्	इमौ	इमे
द्वितीया	इमम्	इमौ	इमान्
तृतीया	अनेन	आभ्याम्	एभिः
चतुर्थी	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पञ्चमी	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
षष्ठी	अस्य	अनयोः	एषाम्
सप्तमी	अस्मिन्	अनयोः	एषु

२८०- **द्वितीयाटौस्स्वेनः**। द्वितीया च टाश्च, ओस् च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः- द्वितीयाटौसः, तेषु द्वितीयाटौस्सु। द्वितीयाटौस्सु-सप्तम्यन्तम्, एनः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

नलोपनिषेधविधायकं विधिसूत्रम्

२८१. न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८॥

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्।

वार्तिकम्- ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मनिष्ठः।

राजानौ। राजानः। राज्ञः।

....

इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयायादौ से इदमः और अन्वादेशे तथा एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ से एतदः की अनुवृत्ति आती है।

द्वितीया विभक्ति, टा और ओस् के परे होने पर इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर एन आदेश होता है, अन्वादेश में।

किसी कार्य को बोधन कराने के लिए ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य को बोधन कराने के लिए ग्रहण करना अन्वादेश है। जैसे- अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोध्यापयेति। इसने व्याकरण पढ़ लिया है, अब इसे छन्दः अर्थात् वेद पढ़ाओ। एक कार्य के बाद तत्काल दूसरे कार्य के लिए कथन ही अन्वादेश है। इसी तरह- अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति। इन दोनों का कुल पवित्र है तथा इनका धन भी बहुत है। कुल की पवित्रता के बोधन के लिए एक बार ग्रहण और धन की विपुलता बताने दूसरी बार ग्रहण किया गया। अतः अन्वादेश है।

अन्वादेश में द्वितीय बार उच्चारित इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर अम्, औट्, शस्, टा, ओस् के परे एन आदेश होकर इमम्, इमम्, इमान्, अनेन, अनयोः तथा एतम्, एतौ, एतान्, एतेन, एतयोः के स्थान पर क्रमशः एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः ये रूप सिद्ध होते हैं।

अन्वादेश के विषय में विशेष ध्यान रखें। यदि अनेन व्याकरणमधीतमिमं छन्दोऽध्यापय और अनयोः पवित्रं कुलमनयोः प्रभूतं स्वम् ऐसा प्रयोग हुआ तो बहुत गड़बड़ हो जायेगा।

मकारान्त शब्दों के बाद अब नकारान्त पुँलिङ्ग राजन् शब्द का विवेचन करते हैं। राजन्= राजा। यह शब्द राजृ दीप्तौ धातु से कनिन् प्रत्यय करके सिद्ध हुआ है। यह प्रत्यय कृत्प्रकरण का है, अतः कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिकसंज्ञा हुई।

राजा। राजन् शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया। अनुबन्धलोप, राजन् स् में अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा से ज में अकार की उपधासंज्ञा होती है और सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधादीर्घ होकर राजान् स् बनता है। सकार की अपृक्त एकाल् प्रत्ययः से अपृक्तसंज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् से उसका लोप हो जाता है। नकार का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से लोप होकर राजा बन जाता है।

राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। राजन् से प्रथमा के द्विवचन में औ, राजन् औ में उपधासंज्ञा और उपधादीर्घ होकर राजान्+औ में वर्णसम्मेलन होकर राजानौ बना। इसी प्रकार आगे विभक्ति लाकर अनुबन्धलोप करके उपधासंज्ञा और उपधादीर्घ करें और वर्णसम्मेलन करते जाइये, राजानः, राजानम्, राजानौ बन जायेंगे।

नलोपासिद्धविधायकं नियमसूत्रम्

२८२. नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२॥
सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ तुग्विधौ कृति च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राज्ञि, राजनि। राजसु। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः।

....

२८१- न ङिसम्बुद्ध्योः। ङिश्च सम्बुद्धिश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, ङिसम्बुद्धी, तयोः- ङिसम्बुद्ध्योः। न अव्ययपदं, ङिसम्बुद्ध्योः सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

ङि और सम्बुद्धि के परे होने पर नकार का लोप नहीं होता है।

राजन् से परे सम्बुद्धि के सु का हल्ङ्याब्भ्यो०लोप होने पर नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप प्राप्त होने पर यह निषेध करता है। इस निषेध को भी निषेध करने वाला अग्रिम वार्तिक है।

ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **उत्तरपद-परक ङि के परे होने पर नकार के लोप के निषेध का निषेध कहना चाहिए** अर्थात् **न ङिसम्बुद्ध्योः** इस सूत्र का निषेध कहना चाहिए। इससे **ब्रह्मन्+ङि+निष्ठः** में नकार के लोप का निषेध नहीं हुआ अपितु नकार का लोप हुआ और **ब्रह्मनिष्ठः** बना। अन्यथा **ब्रह्मन्निष्ठः** ऐसा अनिष्ट रूप बनता।

हे राजन्। राजन् से सम्बोधन में सु, उसका **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप होकर राजन् बना। **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** में **असम्बुद्धौ** कहने के कारण दीर्घ नहीं हुआ। नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप प्राप्त था, **न ङिसम्बुद्ध्योः** से निषेध हुआ। हे का पूर्वप्रयोग करके **हे राजन्!** सिद्ध हुआ।

ज् और ञ् का वर्णसम्मेलन होता है तो ज्ञ् बन जाता है, जैसे कि त् और र् के संयोग से त्र् और क् और ष् के संयोग से क्ष् बनता है।

राज्ञः। राज्ञा। राजन् से द्वितीया के बहुवचन में शस् आया और अनुबन्धलोप हुआ, **राजन्+अस्** हुआ। **यचि भम्** से भसंज्ञा हुई। अब सूत्र लगा- **अल्लोपोऽनः। राज्+अन्+अस्** में अङ्गावयव असर्वनामस्थान परक अन् है राजन् में अन्तिम भाग, उसके अकार का लोप हुआ तो बचा- **राज्+न्+अस्। राज्+न्** में जकार के योग में **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व होकर नकार के स्थान पर ञकार बन गया। **राज्+ञ्** बना। जकार और ञकार के सम्मेलन में ज्ञकार बन जाता है। अतः इनका वर्णसम्मेलन हुआ- **राज्ञ्+अस्** बना। ज्ञ् और अ में भी वर्णसम्मेलन हुआ तो **राज्ञस्** बना। सकार का रुत्व और विसर्ग हुआ- **राज्ञः।** इसी प्रकार तृतीया के एकवचन में टा, अनुबन्धलोप करके **राजन्+आ** में अकारलोप, श्चुत्व और जकार-ञकार का सम्मेलन करके **राज्ञ्+आ** बन जाने के बाद वर्णसम्मेलन करें तो राज्ञा भी बन जायेगा। इसी तरह आगे भी अजादि विभक्ति में करते जायेंगे तो राज्ञे, **राज्ञः, राज्ञोः, राज्ञाम्** आदि बनते जायेंगे। **राज्ञाम्** में ह्रस्वान्त अङ्ग न होने के कारण **ह्रस्वनद्यापो नुट्** से नुट् आगम नहीं होगा। हलादिविभक्ति के पृथक् कथन कर रहे हैं।

२८२- नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति। नस्य लोपो नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। सुप् च, स्वरश्च, संज्ञा च, तुक् च तेषामितरेतरद्वन्द्वः- सुप्स्वरसंज्ञातुकः, तेषां विधयः

सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधय:,(षष्ठीतत्पुरुष:) तेषु सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु। नलोप: प्रथमान्तं, सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु सप्तम्यन्तं, कृति सप्तम्यन्तम्, त्रिपदमिदं सूत्रम्। पूर्वत्रासिद्धम् से लिङ्गविपरिणाम करके असिद्धः की अनुवृत्ति आती है।

सुप् की विधि, स्वर की विधि, संज्ञा की विधि और कृत् के परे रहने पर तुक् आगम की विधि करने पर नकार का लोप असिद्ध होता है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकरण के प्रसंग में सुप् को आश्रय मानकर होने वाली सुप्-विधि करनी है। नकार का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हो जाने के बाद भी यह सूत्र नकार का लोप असिद्ध अर्थात् लोप न होने का जैसा नियम करता है। नकार के लोप असिद्ध हो जाने के बाद **सुपि च** से आत्व अर्थात् दीर्घ, **बहुवचने झल्येत्** से एत्व और **अतो भिस् ऐस्** से ऐस् आदि नहीं होंगे। उदाहरण आगे स्पष्ट किए जा रहे हैं।

सुप् की विधि, स्वर की विधि, संज्ञा की विधि और कृत् के परे तुग्विधि में ही नकार का लोप असिद्ध होने के कारण **राज्ञ:अश्वः, राजन्+अश्वः** में नकार का लोप होकर **राज+अश्वः** बना। यहाँ पर दीर्घ करना है, उपर्युक्त विधियाँ नहीं। अतः नकार का लोप असिद्ध नहीं हुआ। अतः सवर्णदीर्घ हो गया **राजाश्वः** बन गया। यदि नकार का लोप असिद्ध हो जाता तो दीर्घ नहीं हो पाता।

राजभ्याम्। राजन् से तृतीया का द्विवचन भ्याम् आया। **राजन्+भ्याम्** में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से राजन् की पदसंज्ञा हुई और पदान्त नकार का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ- **राज+भ्याम्** बना। ऐसी स्थिति में **सुपि च** से दीर्घ की प्राप्ति हो रही थी, क्योंकि वह सूत्र अदन्त को दीर्घ करता है। नकार के लोप हो जाने के बाद **राज** अदन्त अर्थात् ह्रस्व अकारान्त बन गया था, सो दीर्घ को रोकने के लिए सूत्र लगा- **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति**। हमें आगे **सुपि च** से सुप् की विधि दीर्घ करनी है तो इससे नकार का लोप ही असिद्ध कर दिया गया। जब नकार का लोप ही असिद्ध हुआ तो **सुपि च** को अदन्त अर्थात् ह्रस्व अकारान्त दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए दीर्घ भी नहीं किया। **राजभ्याम्** ही रह गया। यदि यह सूत्र न होता तो **सुपि च** से दीर्घ होकर के **राजाभ्याम्** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

यद्यपि **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** के त्रिपादी होने के कारण **पूर्वत्रासिद्धम्** से ही असिद्ध हो रहा था, फिर भी इसका आरम्भ क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि **नलोप असिद्ध हो तो इतनी विधियों में ही हो, अन्यत्र न हो,** ऐसा नियम करने के लिए। अतः **राज+अश्वः** में उक्त विधियाँ नहीं हो रही हैं, अतः नलोप असिद्ध नहीं होगा। इसलिए दीर्घ होकर **राजाश्वः** यह रूप सिद्ध हो जाता है।

राजभिः। राजभ्यः। **राजसु**। राजन् शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् आया। पदसंज्ञा, नकार का लोप, भिस् के स्थान पर ऐस्-आदेश की प्राप्ति और नकारलोप को असिद्ध कर देने से ऐस् आदेश का न होना आदि प्रक्रिया करके सकार का रुत्वविसर्ग करने से **राजभिः** यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **राजभ्यः में भी** चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में भ्यस् विभक्ति, पदसंज्ञा, नकार का लोप, **बहुवचने झल्येत्** से एत्व की प्राप्ति और नकारलोप को असिद्ध कर देने पर एत्व का न होना आदि प्रक्रिया करके सकार का रुत्वविसर्ग करने से **राजभ्यः** यह सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार से सप्तमी के बहुवचन में भी एत्व के अभाव होने से षत्व भी नहीं होगा तो केवल **राजसु** ही रह जायेगा।

अकारलोपनिषेधविधायकं विधिसूत्रम्

२८३. न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७॥

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न।

यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

....

राज्ञि, राजनि। राजन् से सप्तमी के एकवचन में ङि, अनुबन्धलोप, राजन्+इ में **अल्लोपोऽनः** से नित्य अन् के अकार का लोप प्राप्त था, उसे बाधकर **विभाषा ङिश्योः** से विकल्प से अकार का लोप किया। लोप होने पर **राज्+न्+इ** रहा और जकार एवं जकार से मेल से ञकार बन गया। **राज्ञ्+इ** में वर्णसम्मेलन हुआ- राज्ञि। अकार के लोप न होने के पक्ष में **राजन्+इ** है, वर्णसम्मेलन हुआ- **राजनि** ही रह गया। इस प्रकार से राजन् के सप्तमी के एकवचन में दो रूप सिद्ध हुए। अब आप इतना अवश्य ध्यान रखें कि प्रथमा के एकवचन और आगे हलादि-विभवित के परे रहने पर पदसंज्ञा करके नकार का लोप करना, सर्वनामस्थानसंज्ञा की स्थिति में उपधादीर्घ और असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति के परे रहने पर अन् के अकार का लोप करके श्चुत्व और ज्ञत्व करके रूप बनाने हैं।

नकारान्त राजन्- शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	राजा	राजानौ	राजानः
द्वितीया	राजानम्	राजानौ	राज्ञः
तृतीया	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
चतुर्थी	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः
पञ्चमी	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
षष्ठी	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
सप्तमी	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु
सम्बोधन	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः

अब आप इसी प्रकार निम्नलिखित अन्-अन्त शब्दों के भी रूप बनायें।

अणिमन्=अत्यन्त अणु	कालिमन्=कालापन	गरिमन्=गौरवता
जडिमन्=जड़ता	प्रथिमन्=विस्तार	प्रेमन्= प्रेम
भूमन्=बहुत्व	मधुरिमन्=मधुरता	महिमन्=महत्त्व
रक्तिमन्=लाली	लघिमन्=हल्कापन	शुक्लिमन्=सफेदी

यज्वन् शब्द अन्नन्त अर्थात् अन्-अन्त होने के कारण राजन् शब्द के जैसे ही इसके रूप होने चाहिए और कुछ अंश में हैं भी किन्तु अन् के अकार के लोप के सम्बन्ध में भिन्न है। शसादि विभक्ति के परे रहने पर राजन् में अन् अकार का लोप होता है किन्तु यज्वन् आदि शब्दों में नहीं होता। अतः पृथक् कथन किया गया।

यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः। यज्वानम्। यज्वानौ। यज्वन् से सु, औ, जस्, अम् और औट् में **राजन्-शब्द** के समान उपधादीर्घ और सु में सकार का लोप और नकार का लोप आदि करके **यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः, यज्वानम्, यज्वानौ** बनाइये।

२८३- न संयोगाद्वमन्तात्। वश्च मश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो वमौ, तौ अन्तौ यस्य स वमन्तः,

द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, तस्मात् वमन्तात्। न अव्ययपदं, संयोगात् पञ्चम्यन्तं, वमन्तात् पञ्चम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अल्लोपोऽनः** से **अनः** की अनुवृत्ति आती है।

वकारान्त संयोग और मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं होता है।

यज्+व्+अन् में ज् और व् का संयोग है और संयोग के अन्त में वकार है। अतः **अल्लोपोऽनः** से प्राप्त अकार के लोप का निषेध हो जाता है।

यज्वनः। यज्वन् से द्वितीया के बहुवचन में शस्, अनुबन्धलोप, **अल्लोपोऽनः** से अकार का लोप प्राप्त और **न संयोगाद्वमन्तात्** से लोप का निषेध। वर्णसम्मेलन और सकार का रुत्वविसर्ग करने पर **यज्वनः** सिद्ध हुआ। अब इसी प्रकार आगे सम्पूर्ण अजादि विभक्ति के परे रहते यही विधि करनी है। हलादि विभक्ति में तो पदसंज्ञा होकर पदान्त नकार का लोप होगा और नकार का लोप असिद्ध होने के कारण **सुपि च** से दीर्घ, **अतो भिस ऐस्** से ऐस् आदेश और **बहुवचने झल्येत्** से एत्व नहीं होगा तथा अन्त में सकार है तो रुत्वविसर्ग होगा। बस इतना कार्य करना है।

वकारान्तसंयोग वाले नकारान्त यज्वन्- शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः
द्वितीया	यज्वानम्	यज्वानौ	यज्वनः
तृतीया	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः
चतुर्थी	यज्वने	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
पञ्चमी	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
षष्ठी	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम्
सप्तमी	यज्वनि	यज्वनोः	यज्वसु
सम्बोधन	हे यज्वन्!	यज्वानौ!	यज्वानः!

ये तो हुए वकारान्तसंयोग वाले शब्द के रूप। अब मकारान्त संयोग वाले नकारान्त ब्रह्मन् शब्द के रूप भी इसी प्रकार ही बनेंगे। (ब्रह्मन्=विधाता)

मकारान्तसंयोग वाले नकारान्त ब्रह्मन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः
द्वितीया	ब्रह्माणम्	ब्रह्माणौ	ब्रह्मणः
तृतीया	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः
चतुर्थी	ब्रह्मणे	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
पञ्चमी	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
षष्ठी	ब्रह्मणः	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
सप्तमी	ब्रह्मणि	ब्रह्मणोः	ब्रह्मसु
सम्बोधन	हे ब्रह्मन्!	हे ब्रह्माणौ!	हे ब्रह्माणः!

अब आप निम्नलिखित शब्दों के रूप भी इसी प्रकार ही जानें।

आत्मन्=आत्मा	शार्ङ्गधन्वन्=विष्णु	कृष्णवर्त्मन्=अग्नि
मातरिश्वन्=वायु	सुधर्मन्=देवसभा	अग्रजन्मन्=बड़ा भाई
शर्मन्=एक उपाधि	पाप्मन्=पापी	अध्वन्=मार्ग

नियमसूत्रम्

२८४. इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

२८५. सौ च ६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्।

....

२८४- **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।** इन् च हन् च पूषा च अर्यमा च, तेषामितरेतरद्वन्द्वः इन्हनपूषार्यमाणः, तेषाम् इनहन्पूषार्यम्णाम्। इनहन्पूषार्यम्णां षष्ठ्यन्तं, शौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नोपधायाः** से **उपधायाः** और **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

इन् अन्त में हो ऐसे शब्द, हन् अन्त में हो ऐसे शब्द एवं पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को शि के परे होने पर ही दीर्घ हो, अन्यत्र नहीं।

जब नपुंसकलिङ्ग के जस् और शस् के स्थान पर शि आदेश होता है, तब उसी के परे होने पर दीर्घविधान करता है। शि सर्वनामस्थान होने के कारण **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से ही वहाँ दीर्घ हो सकता है, फिर दीर्घ विधान करने के लिए इस सूत्र का आरम्भ नियम के लिए है। वह यह कि इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् शब्दों में यदि दीर्घ हो तो शि के परे रहने पर ही हो, अन्यत्र नहीं। **सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति।** इस तरह वृत्रहन् शब्द में सु के परे होने पर भी दीर्घ का निषेध प्राप्त हुआ तो अग्रिम सूत्र **सौ च** का आरम्भ करना पड़ा।

२८५- **सौ च।** सौ सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ** से **इन्हन्पूषार्यम्णाम्** की, **नोपधायाः** से **उपधायाः** की, **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** की तथा **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से **असम्बुद्धौ** की अनुवृत्ति है। **अङ्गस्य** का अधिकार तो है ही।

इन् अन्त में हो ऐसे शब्द, हन्-शब्दान्त, पूषन् और अर्यमन् के अङ्गों की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न सु के परे रहने पर ही दीर्घ हो, अन्य विभक्तियों के परे नहीं।

इससे पहले की प्रक्रिया यह थी कि **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से सर्वनामस्थान अर्थात् **सु, औ, जस्, अम्, औट्** के परे रहने पर उपधा को दीर्घ प्राप्त था तो उसे निषेध करने के लिए पाणिनि जी ने निषेध-सूत्र बनाया- **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।** इन्-अन्त शब्द और हन्-पूषन्-अर्यमन् शब्द को शि के परे रहने पर ही दीर्घ हो। फलतः इन शब्दों में सु आदि के परे दीर्घ रूक गया। ऐसा होने पर **औ, जस्, अम्, औट्** के परे रहने पर दीर्घ का निषेध होना तो पाणिनि जी को इष्ट था किन्तु सु के परे दीर्घ का निषेध होना पाणिनि जी को इष्ट नहीं था। अतः सु के परे दीर्घ का विधान करने के लिए उन्होंने यह सूत्र बनाया। इससे यह तात्पर्य निकला कि यद्यपि इन शब्दों में दीर्घनिषेध है फिर भी सु के परे रहने पर तो दीर्घ होगा ही।

णत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२८६. एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः। वृत्रहणौ।

कुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२८७. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४॥

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वम्। वृत्रघ्नः इत्यादि। एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्।।

....

यह उपधा को दीर्घ करता है। इन् वह है, जो तद्धित-प्रकरण में **अत इनिठनौ** इत्यादि-सूत्रों से **इनि** तथा कृदन्त में **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** से **णिनि** प्रत्यय होकर शेष बचा है। दोनों प्रत्ययों में इन् शेष बचता है। इस सूत्र में ऐसे प्रत्ययान्त शब्दों को ही इन्नन्त माना गया है।

वृत्रहा। वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा, इन्द्र। अन्नन्त **वृत्रहन्** शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप के बाद उपधासंज्ञा होकर नान्त वृत्रहन् के उपधा को दीर्घ प्राप्त था किन्तु **इनहन्पूषार्यम्णां शौ** के नियम से निषेध प्राप्त हुआ तो उसे भी बाधकर **सौ च** से दीर्घ हुआ **वृत्रहान्+स्** बना। स् का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप और नकार का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ तो बना- **वृत्रहा।**

२८६- **एकाजुत्तरपदे णः।** एकोऽज् यस्मिन् स एकाच्, एकाच् उत्तरपदं यस्य तद् एकाजुत्तरपदम्, तस्मिन् एकाजुत्तरपदे। एकाजुत्तरपदे सप्तम्यन्तं, णः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** के विभक्तिविपरिणाम करके **पूर्वपदाभ्याम्** तथा **रषाभ्यां नो णः समानपदे** और **प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च** इन दो पूरे सूत्रों की अनुवृत्ति आती है।

एक अच् वाला उत्तरपद है जिसके, ऐसे समास में पूर्वपद में स्थित निमित्त ऋ, रेफ और षकार से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो जाता है।

स्मरण रहे कि नकार के स्थान पर णत्व करने के लिए निमित्त पूर्व में स्थित ऋकार, रेफ और षकार ही होते हैं। उनसे परे नकार को णकार होता है किन्तु वह नकार या तो प्रातिपदिकान्त हो, या नुम् वाला हो या विभक्ति का हो। एक बात और भी है कि निमित्त वाले पद के साथ समास भी हुआ हो तो ही णत्व होगा, अन्यथा नहीं।

वृत्रहणौ। वृत्र+हन् में समास हुआ है, पूर्वपद में त्र का रेफ है और उत्तरपद में एकाच् हन् है। हन् का नकार प्रातिपदिकान्त है। अतः नकार को णत्व होकर **वृत्रहण्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **वृत्रहणौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह **वृत्रहणः, वृत्रहणम्, वृत्रहणौ** भी बन जाते हैं।

२८७- **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु।** ञ् च ण् च, तयोरितरेतरद्वन्द्वः, ञ्णौ, तौ इतौ ययोस्तौ ञ्णितौ, बहुव्रीहिः। ञ्णितौ च नश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वो ञ्णिन्नाः, तेषु ञ्णिन्नेषु। **चजोः कु घिण्ण्यतोः** से **कुः** की अनुवृत्ति आती है और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

ञित्, णित् प्रत्यय एवं नकार के परे होने पर हन् धातु के हकार के स्थान पर कवर्ग आदेश होता है।

वृत्रघ्नः। वृत्रहन् से शस्, अस्, वृत्रहन्+अस् में **एकाजुत्तरपदे णः** से नकार को णत्व प्राप्त होता है किनतु णत्वविधायक सूत्र त्रिपादी है। अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से **अल्लोपोऽनः** की दृष्टि में णत्वविधायक सूत्र असिद्ध हुआ। इस लिए पहले अकार के लोप होने के के बाद **वृत्रह्+न्+अस्** बना। अब भी णत्व नहीं होता, क्योंकि इस समय उत्तरपद में जो ह्न् अवशिष्ट है, वह एकाच् नहीं है। अब नकार को परे मानकर **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** से हकार के स्थान पर कवर्ग आदेश प्राप्त हुआ। **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से संवार, नाद, **घोष, महाप्राण** प्रयत्न वाले हकार के स्थान पर तादृश प्रयत्न वाला ही घ् आदेश हुआ। **वृत्रघ्+न्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **वृत्रघ्नः** सिद्ध हुआ। अजादिविभक्ति के परे इसी तरह की प्रक्रिया होगी और हलादिविभक्ति के परे नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप होगा।

हन्नन्त वृत्रहन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः
द्वितीया	वृत्रहणम्	वृत्रहणौ	वृत्रघ्नः
तृतीया	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः
चतुर्थी	वृत्रघ्ने	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
पञ्चमी	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
षष्ठी	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
सप्तमी	वृत्रहणि, वृत्रघ्नि	वृत्रघ्नोः	वृत्रहसु
सम्बोधन	हे वृत्रहन्!	हे वृत्रहणौ!	हे वृत्रहणः!

इसी तरह इन्नन्त शार्ङ्गिन्, यशस्विन् और अर्यमन् तथा पूषन् शब्द के रूप होते हैं। कवर्ग आदेश तो हकार वाले में ही होता है। शार्ङ्गी, शार्ङ्गिणौ, शार्ङ्गिणः, शार्ङ्गिणम्, शार्ङ्गिणौ, शार्ङ्गिणः। यहाँ अन् नहीं है, अतः **अल्लोपो नः** का विषय नहीं है। शार्ङ्गिणा, शार्ङ्गिभ्याम् इत्यादि। इसी तरह यशस्वी, यशस्विनौ, यशस्विनः, यशस्विनम्, यशस्विनौ, यशस्विनः, यशस्विना, यशस्विभ्याम् इत्यादि। अर्यमन् और पूषन् के अन् होने के कारण शसादि के परे अकार का लोप होता है। अर्यमा, अर्यमणौ, अर्यमणः, अर्यमणम्, अर्यमणौ, अर्यम्णः, अर्यम्णा, अर्यमभ्याम् इत्यादि। इसी तहर पूषा, पूषणौ, पूषणः, पूषणम्, पूषणौ, पूष्णः। पूष्णा, पूषभ्याम् इत्यादि। इन दो शब्दों में **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** से ही णत्व होता है।

अब आप निम्नलिखित इन्नन्त शब्दों के भी रूप बनाइये।

अज्ञानिन्=अज्ञानी	अतिशायिन्=अतिशय श्रेष्ठ	अधिकारिन्=अधिकारी
अधीतिन्=विद्वान्	अनुयायिन्=अनुयायी	अन्तेवासिन्=शिष्य
आगामिन्=आने वाला	आततायिन्=जघन्य पापी	उपजीविन्=सेवक
उपयोगिन्=उपयोगी	एकाकिन्=अकेला	कपालिन्=शंकर जी
कामिन्=कामी	किरणमालिन्=सूर्य	केसरिन्=शेर
क्रोधिन्=क्रोधी	गुणिन्=गुणयुक्त	गृहमेधिन्=गृहस्थी

तृ इत्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२८८. मघवा बहुलम् ६।४।१२८॥

मघवन्-शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

....

गृहिन्=गृहस्थी	चक्रिन्=चक्रधारी	जन्मिन्=प्राणी
ज्ञानिन्=ज्ञानी	तपस्विन्=तपस्वी	त्यागिन्=त्यागी
दण्डिन्=दण्डधारी	दन्तिन्=हाथी	दूरदर्शिन्=दूरदृष्टि वाला
देहिन्=जीवात्मा	द्वारिन्=द्वारपाल	धनिन्=धनवान्
निवासिन्=निवास करने वाला	पक्षिन्=पक्षी	परदेशिन्=विदेशी
प्रवासिन्=परदेश गया हुआ	प्राणिन्=प्राणी	बलशालिन्=बलवान्
बुद्धिशालिन्=बुद्धिमान्	ब्रह्मचारिन्=ब्रह्मचारी	ब्रह्मवादिन्=ब्रह्मवादी
भागिन्=हिस्सेदार	भोगिन्=भोगी, साँप, राजा	मनस्विन्=बुद्धिमान्
मनीषिन्=बुद्धिमान्	मन्त्रिन्=मन्त्री	मानिन्=मानी
मालिन्=मालाधारी	मेधाविन्=बुद्धिमान्	योगिन्=योगी
रोगिन्=रोगी	लिङ्गिन्=चिह्नवाला	लोभिन्=लोभी
वनमालिन्=वनमाला-धारी	वनवासिन्=वनवासी	वशवर्तिन्=आज्ञाकारी
वशिन्=वश में रहने वाला	वाग्मिन्=वाक्पटु	वैरिन्=शत्रु
व्यापिन्=व्यापक	व्रतिन्=व्रतधारी	शरीरिन्=जीवात्मा
शास्त्रिन्=शास्त्र जानने वाला	शिल्पिन्=कारीगर	शेषशायिन्=विष्णु
श्रमिन्=परिश्रम करने वाला	श्रेष्ठिन्=धनी	संयमिन्=संयमी
सङ्गिन्=साथी	सत्यवादिन्=सत्यवादी	सहकारिन्=सहयोगी
स्वामिन्=स्वामी	हस्तिन्=हाथी	हितैषिन्=हितचिन्तक

ये सभी शब्द इन्-प्रत्ययान्त शब्द हैं। लोगों से यह त्रुटि अधिकतर हो जाती है कि आम् के परे योगि-नाम् में दीर्घ कर देते हैं किन्तु **नामि** से यहाँ दीर्घ नहीं होगा क्योंकि वह **नाम्** परे रहते अजन्त अङ्ग को करता है और यहाँ **योगिन्** शब्द **नान्त** है, न कि अजन्त। अतः योगिनाम्, व्रतिनाम् ऐसा ही ह्रस्व इकार अभीष्ट है। इन्नन्त-शब्द का जिस किसी शब्द के साथ भी समास होगा तो नकार का लोप होगा किन्तु इकार ह्रस्व ही रहेगा। ध्यान रहे कि इन्-प्रत्ययान्त शब्दों का केवल मात्र सु-प्रत्यय के परे रहने पर ही दीर्घ होता है और सर्वत्र ह्रस्व इकार ही रहता है।

इन्-प्रत्ययान्त शब्दों का यदि स्त्रीलिङ्ग में रूप बनाना हो तो इनसे **ऋन्नेभ्यो ङीप्** से ङीप्-प्रत्यय करके अनुबन्धलोप के बाद शेष दीर्घ ईकार ही जुड़कर ज्ञानिन्+ई=ज्ञानिनी, योगिन्+ई=योगिनी आदि बनाया जाता है और इसके रूप नदीशब्द के समान ही चलते हैं। **ज्ञानिनी, ज्ञानिन्यौ, ज्ञानिन्यः, योगिनी, योगिन्यौ, योगिन्यः** इत्यादि।

२८८- **मघवा बहुलम्**। मघवा षष्ठ्यर्थे प्रथमान्तं, बहुलं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अर्वणस्त्रसावनञः** से तृ की अनुवृत्ति आती है।

मघवन् शब्द को विकल्प से तृ अन्तादेश होता है।

तृ में दो अल् है- त् और ऋ। अतः अनेकाल् मानकर **अनेकाल् शित्सर्वस्य** से

सम्प्रसारणनिषेधकं सूत्रम्

२९१. न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।३७॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्।

इति यकारस्य नेत्त्वम्। अतएव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादिः। अर्वा। हे अर्वन्।

नकारान्त मघवन्-शब्द के तृत्वाभाव पक्ष के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मघवा	मघवानौ	मघवानः
द्वितीया	मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
तृतीया	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
चतुर्थी	मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
पञ्चमी	मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
षष्ठी	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
सप्तमी	मघोनि	मघोनोः	मघवसु
सम्बोधन	हे मघवन्!	हे मघवानौ!	हे मघवानः!

इसी तरह श्वन् और युवन् शब्द के रूप भी समझना चाहिए। श्वा, श्वानौ, श्वानः, श्वानम्, श्वानौ बनाने के बाद शसादि अजादि विभक्ति के परे होने पर **श्वयुवमघोनामतद्धिते** से सम्प्रसारण होता है, जिसमें श्व के वकार के स्थान पर उकार आदेश हो जाने पर **श्+उ+अन्+अस्** बनता है। **उ+अ** में पूर्वरूप होकर **श्+उन्+अस्** बन जाता है। वर्णसम्मेलन करके- शुनः, शुना, श्वभ्याम्, श्वभिः, शुने, श्वभ्यः, शुनः, शुनोः, शुनाम्, शुनि, और श्वसु ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

युवन् के भी सर्वनामस्थान तक राजन् की तरह **युवा, युवानौ, युवानः, युवानम्, युवानौ** रूप बनते हैं। शसादि अजादि विभक्ति के परे होने पर **युवन्** में वकार को ही सम्प्रसार होकर **युउ+अन्**, पूर्वरूप होकर **यु+उन्**, सर्वणदीर्घ होकर **यून्** बन जाता है और वर्णसम्मेलन होने पर- यूनः, यूना, युवभ्याम्, युवभिः, यूने, युवभ्यः, यूनः, यूनोः, यूनाम्, यूनि, युवसु, हे युवन् ये रूप बनते हैं।

युवन् शब्द में दो यण् हैं- एक यकार और दूसरा वकार। अब सन्देह होता है कि दोनों यणों को सम्प्रसारण हो या एक को? यदि एक को हो तो प्रथम यण् को हो कि द्वितीय यण् को? इस पर अग्रिम सूत्र निर्णय देता है।

२९१- न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्। न अव्ययपदं, सम्प्रसारणे सप्तम्यन्तं, सम्प्रसारणम् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

सम्प्रसारण के परे रहते पूर्व को सम्प्रसारण नहीं होता है।

सम्प्रसारण के परे सम्प्रसारण नहीं होता अर्थात् पहले पर यण् को सम्प्रसारण होता है, तभी तो इस सूत्र की आवश्यकता पड़ी। पूर्व यण् का सम्प्रसारण पहले होता तो सम्प्रसारण परे मिलता ही नहीं। अत एव यह ज्ञापक हुआ कि पहले पर यण् अर्थात् युवन् में व् को सम्प्रसारण होता है। उस सम्प्रसारण के परे होने पर प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका यह सूत्र निषेध करता है अर्थात् युवन् में य् को सम्प्रसारण नहीं होता।

(प्रकरणम्)

तृ-अन्तादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२९२. अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७॥

नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्याङ्गस्य तृ इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्यामित्यादि।

आकारान्तादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२९३. पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे।

अकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२९४. इतोऽत् सर्वनामस्थाने ७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

अर्वा। घोड़ा। अर्वन् शब्द से सु, राजन् की तरह सुलोप, दीर्घ, नलोप करके **अर्वा** बन जाता है। सम्बोधन में हे अर्वन्!

२९२. **अर्वणस्त्रसावनञः।** न सुः-असु, तस्मिन् असौ। न विद्यते नञ् यस्य स अनञ्, तस्य अनञः। अर्वणः षष्ठ्यन्तं, तृ लुप्तप्रथमाकम्, असौ सप्तम्यन्तम्, अनञः षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। अङ्गस्य का अधिकार है।

नञ् से रहित अर्वन् अङ्ग को तृ अन्तादेश होता है, सु परे हो तो नहीं।

तृ में दो अल् है- त् और ऋ। अतः अनेकाल् मानकर **अनेकाल् शित्सर्वस्य** से सर्वादेश का विधान चाहिए था किन्तु तृ को अनेकाल् नहीं माना गया है, क्योंकि **नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्** के अनुसार अनुबन्ध को लेकर अनेकाल् की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। तृ में ऋकार अनुबन्ध। **त्** बचता है। अनुबन्ध सहित अनेकाल् है और अनुबन्धरहित होने पर एकाल् है। उक्त परिभाषा के बल पर इसे एकाल् ही मानना चाहिए। अतः सर्वादेश न होकर **अलोऽन्त्यस्य** के बल पर अन्त्य वर्ण **अर्वन्** के नकार के स्थान पर ही आदेश होता है। सु के परे नहीं होता, शेष सभी विभक्तियों के परे होने पर होता है।

जिस तरह से **मघवन्** शब्द से तृ अन्तादेश करके रूप बनाये थे, उसी तरह औ से आगे सुप् तक रूप बन जाते हैं। जैसे- अर्वन् औ, अर्वत् औ, नुम्, अर्वन्त् औ, वर्णसम्मेलन, **अर्वन्तौ। अर्वन्तः, अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः, अर्वता, अर्वद्भ्याम्** इत्यादि।

२९३- **पथिमथ्यृभुक्षामात्।** पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषां पथिमथ्यृभुक्षाम्। पथिमथ्यृभुक्षाम् षष्ठ्यन्तम्, आत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सावनडुहः** से सौ की अनुवृत्ति आती है।

पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों को सु के परे होने पर आकार अन्तादेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण नकार के स्थान पर यह आदेश होता है और केवल सु के परे होने पर ही लगता है।

२९४- **इतोऽत् सर्वनामस्थाने।** इतः षष्ठ्यन्तम्, अत् प्रथमान्तं, सर्वनामस्थाने सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **पथिमथ्यृभुक्षामात्** से **पथिमथ्यृभुक्षाम्** की अनुवृत्ति आती है।

न्थादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२९५. थो न्थः ७।१।८७॥

पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने। पन्था। पन्थानौ। पन्थानः।

टिलोपविधायकं विधिसूत्रम्

२९६. भस्य टेर्लोपः ७।१।८८॥

भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवं मथिन्, ऋभुक्षिन्।

....

पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों के इकार के स्थान पर अकार आदेश होता है सर्वनामस्थान के परे होने पर।

२९५- **थो न्थः**। थः षष्ठ्यन्तं, न्थः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **पथिमथ्यृभुक्षामात्** से **पथिमथ्यृभुक्षाम्** तथा **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से **सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों के थकार के स्थान पर न्थ आदेश होता है सर्वनामस्थान के होने पर।

पन्थाः। रास्ता, मार्ग। पथिन् शब्द से सु, **पथिमथ्यृभुक्षामात्** से पथिन् के नकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ- **पथि+आ+स्** बना। **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से थि के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ- **पथ+आ+स्** बना। **थो न्थः** से थ के स्थान पर **न्थ** आदेश हुआ- **पन्थ+आ+स्** बना। **पन्थ+आ** में सवर्णदीर्घ करके स् का रुत्वविसर्ग करके **पन्थाः** सिद्ध हुआ।

पन्थानौ। पथिन् से औ, **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से थि के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ- **पथन्+औ** बना। **थो न्थः** से थ के स्थान पर **न्थ** आदेश हुआ- **पन्थन्+औ** बना। **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से दीर्घ करके **पन्थान् औ** बना, वर्णसम्मेलन होकर **पन्थानौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह **पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ** बन जाते हैं।

२९६- **भस्य टेर्लोपः**। भस्य षष्ठ्यन्तं, टेः षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **पथिमथ्यृभुक्षामात्** से **पथिमथ्यृभुक्षाम्** की अनुवृत्ति आती है।

भसंज्ञक पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों की टि का लोप होता है।

स्मरण रहे कि भसंज्ञा शस् से सुप् तक की अजादि विभक्ति के परे होती है और यहाँ पथिन् आदि में **अचोऽन्त्यादि टि** से अन्त्य अच् और उसके अन्त में स्थित हल् अर्थात् इन् की टिसंज्ञा हो जाती है।

पथः। पथिन् से शस्, अनुबन्धलोप। सर्वनामस्थान न होने के कारण आकारादेश, अकारादेश, न्थादेश आदि कुछ भी नहीं होते। पथिन् में अन्त्य अच् थि में इकार, और उसके अन्त में स्थित नकार अर्थात् इन् समुदाय की **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा हो गई और **भस्य टेर्लोपः** से टि का लोप गया, **पथ+अस्** बना, वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग करके **पथः** सिद्ध हुआ। इसी तरह आगे अज्ादिविभक्ति के परे होने पर टि का लोप करके वर्णसम्मेलन करने पर **पथा, पथे, पथः, पथोः, पथाम्, पथि** ये रूप और हलादि विभक्ति के परे होने नकार का लोप करके **पथिभ्याम्, पथिभिः, पथिभ्यः पथिषु** ये रूप बन जाते हैं।

षट्संज्ञाविधायकं विधिसूत्रम्

२९७. **ष्णान्ता षट् १।१।२४॥**

षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। पञ्चन् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च। पञ्च। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः। पञ्चभ्यः। नुट्।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

२९८. **नोपधायाः ६।४।७॥**

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु।

नकारान्त पथिन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पन्था	पन्थानौ	पन्थानः
द्वितीया	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः
तृतीया	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
चतुर्थी	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पञ्चमी	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
षष्ठी	पथः	पथोः	पथाम्
सप्तमी	पथि	पथोः	पथिषु
सम्बोधन	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः!

इसी तरह **मथिन्**(मथानी) और **ऋभुक्षिन्**(इन्द्र) शब्दों के रूप बनाने चाहिए। **मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ, मथः, मथा, मथिभ्याम्, मथिभिः** इत्यादि। ऋभुक्षिन् शब्द में थ न होने के कारण न्थ आदेश नहीं होता और क्ष् में विद्यमान ष् के कारण उससे परे नकार को णत्व होता है। शेष पथिन् की तरह ही है। **ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षः, ऋभुक्षा, ऋभुक्षिभ्याम्, ऋभुक्षिभिः** इत्यादि।

२९७- **ष्णान्ता षट्**। ष् च ण् च ष्णौ, ष्णौ अन्तौ यस्याः सा ष्णान्ता। ष्णान्ता प्रथमान्तं, षट् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **बहुगणवतुडति सङ्ख्या** से **सङ्ख्या** की अनुवृत्ति आती है।

षकारान्त और नकारान्त सङ्ख्यावाचक शब्दों की षट्-संज्ञा होती है।

षट्-संज्ञा का फल **षड्भ्यो लुक्, षट्चतुर्भ्यश्च** आदि सूत्रों की प्रवृत्ति है। पञ्चन्-शब्द केवल बहुवचनान्त है।

पञ्च। पाँच। **पञ्चन्** से जस्, नकारान्त होने के कारण **ष्णान्ता षट्** से **षट्संज्ञा** करके **षड्भ्यो लुक्** से जस् का लुक् हुआ, **पञ्चन्** शेष रहा। नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ- **पञ्च**। इसी तरह शस् में भी बनता है। भिस् और भ्यस् के परे रहने पर नकार का लोप करके **पञ्चभिः, पञ्चभ्यः** ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

२९८- **नोपधायाः**। न अव्ययपदम्, उपधायाः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** एवं **नामि** से **नामि** की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

नकारान्त उपधा को दीर्घ होता है, नाम् के परे होने पर।

पञ्चानाम्। पञ्चन्+आम्, षट्संज्ञा के बाद **षट्चतुर्भ्यश्च** से नुट्, पञ्चन्+न्+आम्-

आत्वविधायकं विधिसूत्रम्

२९९. अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४॥

हलादौ वा स्यात्।

औशादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३००. अष्टाभ्य औश् ७।१।२१॥

कृताकारादष्टनो जश्शसोरौश्।

अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे अष्ट, पञ्चवत्।

....

पञ्चन्+नाम् बना। **नोपधायाः** से दीर्घ होकर **पञ्चान् नाम्** बना। नुट् से युक्त होने के कारण नाम् हलादि है, अतः **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा होकर नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप हुआ- **पञ्चा नाम्, पञ्चानाम्।**

पञ्चसु। पञ्चन्+सु बनने के बाद **न** का लोप करके **पञ्चसु** सिद्ध होता है।

२९९- अष्टन आ विभक्तौ। अष्टनः षष्ठ्यन्तम्, आः प्रथमान्तं, विभक्तौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। रायो हलि से हलि की अनुवृत्ति आती है।

हलादि विभक्ति के परे रहने पर अष्टन् शब्द को विकल्प से आकार अन्तादेश होता है।

३००- अष्टाभ्य औश्। अष्टाभ्यः पञ्चम्यन्तम्, औश् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **जश्शसोः शिः** से **जश्शसोः** की अनुवृत्ति आती है।

आकार आदेश किये गये अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् के स्थान पर औश् आदेश होता है।

औश् में शकार की इत्संज्ञा होती हैं। शित् होने के कारण **अनेकाल् शित्सर्वस्य** के नियम से सर्वादेश अर्थात् सम्पूर्ण जस् या शस् के स्थान पर औश् आदेश होता है। **षड्भ्यो लुक्** को बाधकर यह लगता है।

अष्टन् शब्द से भिस् में **अष्टाभिः-अष्टभिः** और भ्यस् में **अष्टाभ्यः** और **अष्टभ्यः** ये दो रूप बनते हैं तो **अष्टाभ्य औश्** की जगह **अष्टभ्य औश्** पढ़ने से काम चल जाता, एक मात्रा की लाघव हो जाता, फिर भी आकार पढ़ा गया। इससे यह निर्देश मिलता है कि यद्यपि **अष्टन आ विभक्तौ** हलादिविभक्ति के परे रहने पर ही आत्व करता है, तथापि जस् और शस् के परे होने पर भी आत्व होता है। अतः मूलकार ने वृत्ति में ही लिख दिया कि **कृताकारादष्टनः** अर्थात् आकार आदेश किये जाने के बाद उससे परे जस् और शस् को औश् हो जाय।

अष्टन्-शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

अष्टौ। अष्टन् से जस् और शस्। अनुबन्धलोप होने के बाद, **अष्टाभ्य औश्** में आत्वनिर्देश होने के कारण अजादिविभक्ति के परे रहने पर भी **अष्टन आ विभक्तौ** से आकार अन्तादेश हुआ अर्थात् न के स्थान पर आ आदेश हुआ- **अष्ट+आ**, सवर्णदीर्घ होने

क्विन्प्रत्ययविधायकं विधिसूत्रम्

३०१. ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९॥

एभ्यः क्विन्, अञ्चेः सुप्युपपदे, युजिक्रुञ्चोः केवलयोः, क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

....

पर अष्टा+अस् बना। **अष्टाभ्य औश्** से जस् के अस् के स्थान पर औश् आदेश हुआ। अष्टा+औ में वृद्धि होकर **अष्टौ** हुआ। आकार आदेश न होने के पक्ष में पञ्चन्-शब्द की तरह अष्टन्+अस् है। **षड्भ्यो लुक्** से अस् का लुक् हुआ और नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से नकार का लोप हुआ- **अष्ट** बना। इस तरह दो-दो रूप बन गये। भिस्, भ्यस्, सुप् में **अष्टन आ विभक्तौ** से वैकल्पिक आत्व होकर **अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टासु** बनते हैं और आत्वाभाव पक्ष में नलोप करके **अष्टभिः, अष्टभ्यः, अष्टासु** बनते हैं।

नित्य बहुवचनान्त नकारान्त अष्टन्-शब्द के रूप

विभक्ति	आत्व पक्ष	आत्वाभाव पक्ष
प्रथमा	अष्टौ	अष्ट
द्वितीया	अष्टौ	अष्ट
तृतीया	अष्टाभिः	अष्टभिः
चतुर्थी	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
पञ्चमी	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
षष्ठी	अष्टानाम्	अष्टानाम्
सप्तमी	अष्टासु	अष्टसु

३०१- **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च।** ऋत्विक् च, दधृक् च, स्रक् च, दिक् च, उष्णिक् च अञ्चुश्च युजिश्च क्रुङ् च तेषामितरेतरद्वन्द्वः- ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चस्तेषाम् ऋत्विग्दधृक्स्रगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् पञ्चम्यर्थे षष्ठी, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **स्पृशोऽनुदके क्विन्** से क्विन् की अनुवृत्ति आती है।

सुप् उपपद में हो ऐसे ऋतु-पूर्वक यज् धातु, द्वित्व किये गये धृष् धातु के दधृष्, स्रज्, दिश्, उत्पूर्वक स्निह् धातु, उपपद रहित युज् और क्रुञ्च् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है और क्रुन्च के नकार का लोपाभाव का निपातन भी होता है।

सूत्र के द्वारा आदेश आदि किये विना जैसा प्रचलित रूप है, वैसा ही रूप सूत्र में पढ़कर भी आचार्य पाणिनि जी ने शब्दों का अनुशासन किया है। जैसे **कुञ्च के नकार का लोप न हो**, इस प्रकार के अर्थ को वाला सूत्र न पढ़कर सीधे **क्रुञ्च्** पढ़ दिया है। इससे यह निर्देश दिया है कि क्रुञ्च् के नकार का लोप नहीं होता। इसी तरह के कार्य को निपातन कहते हैं। शिष्ट के द्वारा रचित ग्रन्थों में पढ़े गये शिष्ट शब्दों का पाणिनि हूबहू उसी रूप में सूत्र में पढ़ते हैं किन्तु प्रकृति-प्रत्यय का विधान नहीं करते हैं तो वहाँ पर जिस प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जा सकती है, उस प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करके उस तरह का रूप बना लेना चाहिए। कहने तात्पर्य यह है कि यहाँ पर विना नकार का लोप किये ही **क्रुञ्च्** यह रूप साधु है, यह निर्देश है।

कृत्संज्ञाविधायकं सञ्ज्ञासूत्रम्

३०२. कृदतिङ् ३।१।९३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

अपृक्तवकारस्य लोपविधायं विधिसूत्रम्

३०३. वेरपृक्तस्य ६।१।६७॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः।

कुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३०४. क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते।

अस्यासिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वम्।

ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

यह कृत्प्रकरण का सूत्र है। क्विन् में नकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और ककार की **लशक्वतद्धिते** से इत्संज्ञा होती है। इकार उच्चारण के लिए है। शेष रहता है- व। उसका भी अग्रिम सूत्र **वेरपृक्तस्य** से लोप होता है। इस तरह इस प्रत्यय के सारे वर्ण लुप्त हो जाते हैं। जब प्रत्ययों के सभी वर्णों का लोप होता है तो उसे **सर्वापहार** या **सर्वापहार लोप** कहते हैं।

३०२- कृदतिङ्। कृत् प्रथमान्तम्, अतिङ् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में आचार्य गण **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** से तत्र की अनुवृत्ति मानते हैं और **धातोः** का अधिकार आ रहा है।

इस धातोः के अधिकार में होने वाले तिङ् से भिन्न प्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है।

तिप्, तस्, झि आदि धातुओं से होने वाले अठारह प्रत्यय तिङ् हैं। उनसे भिन्न जितने भी प्रत्यय जो धातु से विधान किये जाते हैं, उन सबकी इस सूत्र से कृत्संज्ञा हो जाती हैं। कृत्संज्ञा के बाद वह शब्द कृदन्त बन जाता है और उसकी **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। तिङ् को रोकने के लिए सूत्र में **अतिङ्** पढ़ा गया है। अन्यथा तिङन्त भवति, पठति की भी कृत्संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय होने लगते। इस तरह से क्विन् प्रत्यय भी कृदन्तप्रकरणं के अन्तर्गत आता है।

३०३- वेरपृक्तस्य। वेः षष्ठ्यन्तम्, अपृक्तस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **लोपो व्योर्वलि** से **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है।

स्मरण रहे कि एक अल् प्रत्यय अपृक्तसंज्ञक होता है। यदि व् एक अल् के रूप में रह जाय तो उसका लोप हो जाता है अर्थात् प्रत्ययों में केवल एक वकार रह नहीं पाता है।

३०४- क्विन्प्रत्ययस्य कुः। क्विन् प्रत्ययो यस्मात् स क्विन्प्रत्ययः, तस्य क्विन्प्रत्ययस्य। **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है और **पदस्य** का अधिकार है।

क्विन् प्रत्यय जिससे किया गया है, ऐसे शब्द के पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होता है।

नुम्-विधायकं विधिसूत्रम्

३०५. युजेरसमासे ७।१।७१॥

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्।

....

परत्रिपादी होने के कारण **चोः कुः** के समक्ष यह सूत्र असिद्ध हो जाता है। दोनों सूत्र कुत्व करते हैं। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** परत्रिपादी है और **चोः कुः** पूर्वत्रिपादी है। अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से **चोः कुः** इस पूर्वत्रिपादी के समक्ष **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** यह परत्रिपादी असिद्ध है।

ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋतु-पूर्वक यज् धातु से **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** से क्विन् प्रत्यय होने के बाद सभी वर्णों का लोप हुआ अर्थात् **सर्वापहार** लोप हुआ। **वचिस्वपियजादीनां किति** से यज् में यकार को सम्प्रसारण होकर इकार और **सम्प्रसारणाच्च** से पूर्वरूप होकर **ऋतु+इज्**, वर्णसम्मेलन होकर **ऋत्विज्** बना। क्विन् प्रत्यय कृत् है, अतः उसकी **कृत्तद्धितसमासाश्च** से प्रातिपदिकसंज्ञा हो गई। सु आया, ऋत्विज्+स्, सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप होने के बाद **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** भी प्राप्त हुआ और **चोः कुः** भी प्राप्त हुआ। परत्रिपादी इस सूत्र के असिद्ध होने के कारण **चोः कुः** से ही कुत्व हुआ। जकार के स्थान पर कवर्ग अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ये पाँचों प्राप्त हुए। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से स्थानी में तृतीय जकार के स्थान पर आदेश में तृतीय ग् आदेश हुआ। गकार के स्थान पर **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व करके **ऋत्विक्, ऋत्विग्** ये दो रूप सिद्ध हुए।

ऋत्विज् शब्द से अजादि विभक्ति के परे होने पर वर्णसम्मेलन करके **ऋत्विजौ, ऋत्विजः, ऋत्विजम्, ऋत्विजः** आदि रूप बनते हैं और हलादि विभक्ति के परे होने पर पदसंज्ञा होकर जकार के स्थान पर कुत्व होकर ग् आदेश करके **ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भिः** आदि रूप सिद्ध होते हैं। सुप् में कुत्व करके **खरि च** से चर्त्व होकर क्, और उससे पर सु के सकार को **आदेशप्रत्यययोः** से **षत्व** होकर क् और ष् के संयोग से क्ष् बन जाता है। इस तरह **ऋत्विक्षु** यह रूप सिद्ध हो जाता है।

जकारान्त ऋत्विज्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	ऋत्विक्, ऋत्विग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
द्वितीया	ऋत्विजम्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
तृतीया	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भिः
चतुर्थी	ऋत्विजे	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
पञ्चमी	ऋत्विजः	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
षष्ठी	ऋत्विजः	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
सप्तमी	ऋत्विजि	ऋत्विजोः	ऋत्विक्षु
सम्बोधन	हे ऋत्विक्, हे ऋत्विग्,	हे ऋत्विजौ	ऋत्विजः

३०५- युजेरसमासे। न समासः, असमासः, तस्मिन् असमासे। युजेः षष्ठ्यन्तम्, असमासे

कुत्वादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३०६. चोः कुः ८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च।

सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खन्भ्याम्।

....

सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से **सर्वनामस्थाने** और **इदितो नुम् धातोः** से **नुम्** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामस्थान के परे होने पर युज् को नुम् का आगम होता है, यदि समास न हुआ हो तो।

अनुबन्धलोप होकर न् मात्र शेष रहता है। मित् होने के कारण **मिदचोऽन्त्यात्परः** के नियम से अन्त्य अच् यु के उकार के बाद स्थित होता है अर्थात् उकार और जकार के बीच में अवस्थित रहता है। कुत्व न होने की स्थिति में जकार के योग में नकार को श्चुत्व होकर ञकार बन जाता है।

युङ्। युज् धातु से **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** से क्विन् प्रत्यय होने के बाद सभी वर्णों का लोप हुआ अर्थात् **सर्वापहार लोप** हुआ। प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, अनुबन्धलोप, **युजेरसमासे** से नुम् का आगम, उकार के बाद स्थिति, **युन्ज् स्** बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप, जकार का संयोगान्त लोप, नकार के स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से अनुनासिक स्थान वाले नकार के स्थान कुत्व होकर अनुनासिक ङकार आदेश हुआ, युङ् सिद्ध हुआ।

युञ्जौ। युज् से उपर्युक्त तरीके से क्विन्, सर्वापहार, प्रातिपदिकसंज्ञा करके औ आया। **युजेरसमासे** से नुम् होकर **युन्+ज्+औ** बना। झल् परे या पदान्त न मिलने के कारण कुत्व नहीं हुआ। नकार को **स्तोः श्चुना श्चुः** से चवर्ग आदेश होकर ञकार बन गया और वर्णसम्मेलन होकर **युञ्जौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह **युञ्जः, युञ्जम्, युञ्जौ**, आदि बन जाते हैं। शसादि से आगे असर्वनामस्थान के परे नुम् नहीं होता। अतः **युजः, युजा, युजे, युजः, युजोः, युजाम्, युजि** आदि बनते हैं। हलादि विभक्ति के परे होने पर **चोः कुः** से कुत्व होकर **गकार** आदेश हो जाता है जिससे **युग्भ्याम्, युग्भिः, युग्भ्यः, युक्षु** ये रूप सिद्ध होते हैं।

३०६- चोः कुः। चोः षष्ठ्यन्तं, कुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलो झलि** से **झलि** तथा **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

चवर्ग के स्थान पर कवर्ग आदेश होता है झल् के परे रहने पर या पदान्त में।

कवर्ग में क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ये पाँच होते हैं और **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की सहायता से क्रमशः आदेश होते हैं।

सुयुक्, सुयुग्। श्रेष्ठ योगी। सु-पूर्वक युज् धातु से क्विप्, सर्वापहार आदि होकर सु प्रत्यय आया और उसका लोप तथा पदान्त जकार के स्थान पर **चोः कुः** से कुत्व होकर गकार हुआ, **सुयुग्** बना। **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **सुयुक्, सुयुग्** सिद्ध हुए। अब अजादि विभक्ति के परे केवल आगे प्रत्यय से मिलाना और हलादि विभक्ति के परे **चोः कुः** से कुत्व करके **गकार** आदेश होने पर **सुयुजौ, सुयुजः, सुयुजम्, सुयुजा, सुयुग्भ्याम्,**

षत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३०७. व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६॥

झलि पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे।

राट्, राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवं विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्।

उणादिसूत्रम्- **परौ व्रजेः षः पदान्ते।**

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्। परिव्राजौ।

....

सुयुग्भिः, सुयुजे, सुयुग्भ्यः, सुयुजः, सुयुजोः, सुयुजाम्, सुयुजि, सुयुक्षु, हे सुयुक्, हे सुयुजः ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

खन्। लंगड़ा। **खजि** धातु से क्विप्, सर्वापहार, नुम्, परसवर्ण आदि करके खञ्ज् बना है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु आया और उसका हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् से लोप, जकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप, जकार का लोप होने के कारण **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के नियमानुसार ञकार भी नकार के रूप में आया, **खन्** बना। संयोगान्तलोप **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण नकार का लोप नहीं हुआ। अतः **खन्** यह रूप सिद्ध हुआ। अब आगे अजादिविभक्ति के परे होने पर **खञ्ज्** को प्रत्ययों में जोड़ने पर और हलादि विभक्ति के परे होने पर जकार का **संयोगान्तलोप** करने पर **खञ्जौ, खञ्जः, खञ्जम्, खञ्जा, खन्भ्याम्, खन्भिः, खञ्जे, खन्भ्यः, खञ्जः, खञ्जोः, खञ्जाम्, खञ्जि, खन्सु, हे खन्** ये रूप बन जाते हैं। सुप् में **नश्च** इस सूत्र से वैकल्पिक धुट् आगम होकर उसको चर्त्व करके **खन्त्सु** भी बनता है।

३०७- **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः।** व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च श् च, तेषामितरेतरद्वन्द्वो व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशः, तेषां व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशाम्। व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षष्ठ्यन्तं, षः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलो झलि** से झलि और **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से अन्ते की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है और **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा उपस्थित है।

झल् परे रहने पर या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज् और छकारान्त एवं शकारान्त धातुओं के स्थान पर षकार अन्तादेश होता है।

इस सूत्र से उपर्युक्त धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर षकार आदेश होने के बाद **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर स्थान की साम्यता से डकार होता है। यह सूत्र बहुत उपयोगी है, तिङन्त और कृदन्त में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है।

राट्, राड्। प्रकाशवान् या राजा। **राजृ** धातु से क्विप्, सर्वापहारलोप होने के बाद प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु आया और उसका हल्ङ्याब्भ्यो **दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप होने के बाद **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से जकार के स्थान पर षकार आदेश हुआ, **राष्** बना। षकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर स्थान की साम्यता से डकार आदेश हुआ, **राड्** बना। डकार को **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **राट्** और **राड्** ये दो रूप सिद्ध हो गये। अब आगे अजादिविभक्ति के पर झल् परे या पदान्त न मिलने के कारण षकारादेश नहीं होता। अतः प्रकृति को प्रत्यय से जोड़ने का मात्र कार्य

दीर्घान्तादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३०८. विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८॥

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

....

रहता है। जैसे- **राजौ, राजः, राजम्, राजा, राजे, राजः, राजोः, राजाम्, राजि,** हलादिविभक्ति के परे होने पर झल् परे भी मिलता है और **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा होने के कारण पदान्त भी मिलता है। अतः षकार आदेश होकर जश्त्व होने पर **राड्भ्याम्, राड्भिः, राड्भ्यः** ये रूप बन जाते हैं। सुप् के परे होने पर **डः सि धुट्** से धुट् का आगम और धकार डकार को चर्त्व करके **धुट्त्सु** और **धुट्सु** ये दो रूप बनते हैं।

जकारान्त राज्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	राट्, राड्	राजौ	राजः
द्वितीया	राजम्	राजौ	राजः
तृतीया	राजा	राड्भ्याम्	राड्भिः
चतुर्थी	राजे	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
पञ्चमी	राजः	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
षष्ठी	राजः	राजोः	राजाम्
सप्तमी	राजि	राजोः	राट्त्सु, राट्सु
सम्बोधन	हे राट्, हे राड्	हे राजौ	हे राजः!

इसी तरह विभ्राज्, देवेज् और विश्वसृज् के भी रूप बनते हैं। जैसे- विपूर्वक भ्राज् धातु से **विभ्राट्, विभ्राड्, विभ्राजौ, विभ्राजः, विभ्राजम्, विभ्राजौ, विभ्राजः, विभ्राजा, विभ्राड्भ्याम्** इत्यादि। इसी प्रकार से देवपूर्वक **यज्** धातु से क्विप्, सम्प्रसारण आदि होकर **देवेज्** बन जाता है। उससे सु आदि आने के बाद **देवेट्, देवेड्,** देवेजौ, **देवेजः, देवेजम्, देवेजौ, देवेजः, देवेजा, देवेड्भ्याम्** आदि रूप बन जाते हैं। इसी तरह **विश्व** पूर्वक **सृज्** से भी क्विप् आदि करके **विश्वसृज्** बना है। उससे सु आदि लाने पर **विश्वसृट्, विश्वसृड्, विश्वसृजौ, विश्वसृजः, विश्वसृड्भ्याम्** इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

परौ व्रजेः षः पदान्ते। यह उणादि का सूत्र है। इसकी वृत्ति है- **परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि।** अर्थात् **परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप्** प्रत्यय, धातु को दीर्घ और पदान्त में षकार अन्तादेश भी होता है।

परिव्राट्, परिव्राड्। संन्यासी। परिपूर्वक व्रज् धातु से **परौ व्रजेः षः पदान्ते** क्विप्, सर्वापहारलोप और व्रज् में अकार को दीर्घ करके परिव्राज् बना। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु आया और उसका लोप हुआ। जकार के स्थान पर **परौ व्रजेः षः पदान्ते** से षकार आदेश हुआ। षकार को जश्त्व करके **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व करके परिव्राट्, **परिव्राड्** सिद्ध हुए। आगे **परिव्राजौ, परिव्राजः, परिव्राजा, परिव्राड्भ्याम्** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

३०८- विश्वस्य वसुराटोः। वसुश्च राट् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, वसुराटौ, तयोः वसुराटोः।

स्कोर्लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३०९. स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९॥

पदान्ते झलि च यः संयोगस्तदाद्योः स्कोर्लोपः। भृट्।
सस्य श्चुत्वेन शः। **झलां जश् झशि** इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्।
त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च।

विश्वस्य षष्ठ्यन्तं, वसुराटोः सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घः की अनुवृत्ति आती है।

वसु और राट् शब्द के परे होने पर विश्वशब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है।

राज् के स्थान पर राट् पढ़ने से पदान्त का संकेत होता है। अतः राट् या राड् बनने के बाद ही यह सूत्र लगता है, अन्यत्र नहीं। अतः अजादिविभक्ति के परे होने पर दीर्घ नहीं होगा।

विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्व के स्वामी, भगवान्। विश्व-पूर्वक राज् धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारलोप होकर प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु और उसका लोप करने पर विश्वराज् बना हुआ है। **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से जकार के स्थान पर षकार आदेश हुआ तो विश्वराड् बना। **विश्वस्य वसुराटोः** से राड् के परे होने पर विश्व को दीर्घ अन्तादेश हुआ, विश्वाराड् बना। वैकल्पिक चर्त्व करके **विश्वाराट्, विश्वाराड्** ये दो रूप सिद्ध हुए। इसी तरह हलादिविभक्ति के परे होने पर षकारादेश और दीर्घ दोनों होंगे और अजादिविभक्ति के परे होने पर यह कार्य नहीं होगा। इस प्रकार से **विश्वराजौ, विश्वराजः, विश्वराजा, विश्वाराड्भ्याम्, विश्वाराड्भिः, विश्वाराड्भ्यः** इत्यादि रूप बन जाते हैं।

३०९- **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च।** स् च क् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः स्कौ, तयोः स्कोः। संयोगस्य आदी संयोगादी, तयोः संयोगाद्योः, षष्ठीतत्पुरुषः। **संयोगान्तस्य लोपः** से लोपः तथा **झलो झलि** से झलि की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त में या झल् के परे होने पर संयोग में जो प्रथम सकार या ककार, उनका लोप होता है।

यद्यपि यह सूत्र **संयोगान्तस्य लोपः** की दृष्टि में परत्रिपादी होने के कारण असिद्ध है तथापि इस सूत्र के आरम्भ के कारण असिद्ध होते हुए भी उसका अपवाद है। **संयोगान्तस्य लोपः** संयोग के अन्त्य वर्ण का लोप करता है तो यह सूत्र संयोग में आदिवर्ण सकार या ककार का लोप करता है।

भृट्। जो भुजने, भुनने के काम करता है, भुजुआ। भ्रस्ज धातु से क्विप्, सम्प्रसारण और पूर्वरूप करके कृदन्त में ही **भृस्ज्** बनता है। उससे सु, उसके लोप होने पर संयोगादि सकार का **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से लोप होकर भृज् बना। जकार के स्थान पर **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से षकार आदेश होकर **भृड्** बना। जश्त्व होकर डकार आदेश हुआ। डकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्त्व होकर **भृट्, भृड्** ये दो रूप सिद्ध हो गये। आगे भी हलादिविभक्ति के परे सकार का लोप और षकार आदेश, उसके स्थान पर जश्त्व होकर **भृड्भ्याम्, भृड्भिः, भृड्भ्यः** और सुप् में वैकल्पिक धुट् का आगम

सत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३१०. तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ।

स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। तम्। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते।

....

होकर **भृद्त्सु, भृद्सु** ये रूप सिद्ध हो जाते हैं और अजादि विभक्ति की कुछ विशेष प्रक्रिया आगे बताई जा रही है।

भृज्जौ। भृस्ज् से औ आया। पदान्त या झल् न मिलने के कारण सकार का लोप नहीं हुआ। सकार को **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व होकर शकार बन गया। शकार के स्थान पर **झलां जश् झशि** से जश् आदेश होकर जकार हुआ, **भृज्ज् औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **भृज्जौ** सिद्ध हुआ। इस तरह **भृज्जः, भृज्जम्, भृज्जौ, भृज्जः, भृज्जा, भृज्भ्याम्, भृज्जः, भृज्जोः, भृज्जाम्, भृज्जि** ये रूप बनते हैं। सम्बोधन में हे **भृट्, हे भृड्, हे भृज्जौ, हे भृज्जः।**

इस तरह जकारान्त शब्दों का विवेचन हुआ। अब दकारान्त सर्वनामसंज्ञक शब्दों का प्रसंग आता है। उसमें त्यदादिगणीय त्यद्, तद् आदि में विभक्ति के परे होने पर **त्यदादीनामः** से अत्व और **अतो गुणे** से पररूप होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।

३१०- तदोः सः सावनन्त्ययोः। तश्च द् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः- तदौ, तयोस्तदोः। न अन्त्यौ- अनन्त्यौ, तयोरनन्त्ययोः। तदोः षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, सौ सप्तम्यन्तम्, अनन्त्ययोः षष्ठ्यन्तम् अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **त्यदादीनामः** से **त्यदादीनाम्** की अनुवृत्ति आती है।

त्यद् आदियों के अनन्त्य तकार और दकार के स्थान पर सकार आदेश होता है सु के परे होने पर।

त्यदादि गण पठित जितने भी शब्द हैं उनमें जो तकार और दकार हैं, यदि वे तकार और दकार अन्त्य-वर्ण के रूप में नहीं हैं तो उनके स्थान पर सकार आदेश होता है, केवल सु के परे रहने पर।

त्यदादिगण में पठित हलन्त शब्दों में **त्यदादीनामः** से अन्त्य हल् वर्ण के स्थान पर अकार आदेश होता है और उसके बाद **अतो गुणे** से पररूप होकर वे अदन्त अर्थात् ह्रस्व अकारान्त बन जाते हैं। उनमें से कुछ शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग के सर्व-शब्द के समान ही हो जाते हैं किन्तु त्यद्, तद्, एतद् शब्दों के तकार के स्थान पर सकार आदेश भी होता है। अदस् शब्द के दकार के स्थान पर सकार आदेश हो जाता है।

स्यः। त्यद् से प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप, **त्यदादीनामः** से अत्व हुआ- **त्य+अ+स्** बना। **त्य+अ** में **अतो गुणे** से पररूप होकर **त्य+स्** बना। त्य के तकार के स्थान पर **तदोः सः सावनन्त्ययोः** से सत्व होकर **स्य+स्** बना। सकार का रुत्वविसर्ग होकर बना- **स्यः।**

त्यौ। त्ये। त्यद् शब्द से विभक्ति के आने के बाद **त्यदादीनामः** से अत्व करके **अतो गुणे** से पररूप करना और पुँल्लिङ्ग में सर्वशब्द के जैसे रूप बने थे उसी प्रकार से सिद्ध करते जाना।

सः। तौ। ते। जैसे आपने **स्यः** बनाया वैसे ही **सः** भी बन जायेगा।

प्रकरणम्)

अमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३११. ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः।

त्वाहादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१२. त्वाहौ सौ ७।२।९४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः।

दकारान्त तद्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सः	तौ	ते
द्वितीया	तम्	तौ	तान्
तृतीया	तेन	ताभ्याम्	तैः
चतुर्थी	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पञ्चमी	तस्मात्, तस्माद्	ताभ्याम्	तेभ्यः
षष्ठी	तस्य	तयोः	तेषाम्
सप्तमी	तस्मिन्	तयोः	तेषु

एषः। एतद् शब्द के रूप भी त्यद् के समान ही होंगे किन्तु सु के परे होने पर त्यद् और तद् शब्द में आदि में विद्यमान तकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ है तो एतद् शब्द में मध्य में स्थित तकार के स्थान पर सकारादेश होगा। सकार को षत्व भी होगा। आगे भी अत्व और पररूप करके **एतौ, एते, एतम्, एतौ, एतान्, एताभ्याम्, एतैः** आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। **द्वितीयाटौस्स्वेनः** से अन्वादेश में एतद् शब्द के स्थान पर द्वितीया, टा और ओस् के परे होने पर एन आदेश होकर **एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः,** एनयोः ये रूप भी बनते हैं।

३११. **ङे प्रथमयोरम्**। प्रथमा च प्रथमा च द्वन्द्वापवाद एकशेषः प्रथमे, तयोः प्रथमयोः। ङे लुप्तषष्ठीकं पदं, प्रथमयोः षष्ठ्यन्तम्, अम् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **युष्मदस्मद्भ्याम्** की अनुवृत्ति आती है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङे तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के स्थान पर अम् आदेश होता है।

ङे आदि विभक्ति के स्थान पर आदेश होने के कारण **स्थानिवद्भावेन** अम् में भी प्रत्ययत्व आता है। **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा की प्राप्ति और उसका **न विभक्तौ तुस्माः** से निषेध होता है। इस लिए पूरा अम् ही आदेश के रूप में बैठता है।

३१२- **त्वाहौ सौ**। त्वश्च अहश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः त्वाहौ। त्वाहौ प्रथमान्तं, सौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृति आती है और **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

सु के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के म-पर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३१३. शेषे लोपः ७।२।९०॥

एतयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

युवावादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१४. युवावौ द्विवचने ७।२।९२॥

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ।

आत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३१५. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८॥

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

....

म-पर्यन्त भाग युष्मद् शब्द में **युष्म्** और अस्मद् शब्द में **अस्म्** है। इस तरह युष्म् के स्थान पर **त्व** और अस्म् के स्थान पर **अह** आदेश हो जाते हैं।

३१३- **शेषे लोपः**। शेषे सप्तम्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृत्ति आती है और **मपर्यन्तस्य** का अधिकार अपकर्षण करके पूर्व सूत्र में लाया जाता है।

युष्मद् और अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग से शेष टि का लोप होता है।

इस सूत्र में **शेष** का तात्पर्य इसके पहले के प्रसंगानुसार आत्व, यत्व के लिए निमित्त जो विभक्तियाँ, उनसे से भिन्न विभक्ति से है। शायद इसीलिए कुछ पुस्तकों में इस सूत्र के अर्थ में यह लिखा है- **आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात्।**

युष्मद् और **अस्मद्** शब्द में मपर्यन्त भाग के बाद जो शेष रहता है, वह टिसंज्ञक ही होता है। युष्मद् और अस्मद् इन दोनों शब्दों की सिद्धि एक साथ कर रहे हैं।

त्वम्। युष्मद्-शब्द से सु विभक्ति आई। **ङे प्रथमयोरम्** से उसके स्थान पर अम् आदेश हुआ, **युष्मद् अम्** बना। **त्वाहौ सौ** से मपर्यन्त भाग **युष्म्** के स्थान पर **त्व** आदेश हुआ। **त्व+अद्+अम्** बना। **शेषे लोपः** से अद् का लोप हुआ, **त्व अम्** बना। **त्व+अम्** में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **त्वम्** सिद्ध हुआ।

अहम्। अस्मद्-शब्द से सु विभक्ति आई। **ङे प्रथमयोरम्** से उसके स्थान पर अम् आदेश हुआ, **अस्मद् अम्** बना। **त्वाहौ सौ** से मपर्यन्त भाग **अस्म्** के स्थान पर **अह** आदेश हुआ। **अह+अद्+अम्** बना। **शेषे लोपः** से अद् का लोप हुआ, **अह अम्** बना। **अह+अम्** में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **अहम्** सिद्ध हुआ।

३१४- **युवावौ द्विवचने**। युवश्च आवश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो युवावौ। युवावौ प्रथमान्तं, द्विवचने सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** तथा **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है। **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

द्वित्व की उक्ति में विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रम से युव और आव आदेश होते हैं।

३१५- **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्**। प्रथमायाः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विवचने

यूयवयादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१६. यूयवयौ जसि ७।२।९३॥

अनक्षोर्मपर्यन्तस्य। यूयम्। वयम्।

....

सप्तम्यन्तं, भाषायां सप्तम्यन्तं, चतुष्पदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से युष्मदस्मदोरनादेशे और **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

लोक में प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार आदेश होता है।

यह आदेश **अलोऽन्त्यस्य** की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण दकार के स्थान पर होता है। प्रथमा की तरह द्वितीया विभक्ति में द्विवचन में भी आत्व करना आचार्य को इष्ट है। उसके लिए **द्वितीयायाञ्च** सूत्र बनाया है। यहाँ पर सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित आदि आचार्यों का मानना है यह है कि **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** इतना लम्बा सूत्र बनाकर केवल प्रथमा के द्विवचन में ही आत्व करने की अपेक्षा **औङि भाषायाम्** ऐसा लघु सूत्र बनाते तो **औ** और **औट्** दोनों में ही आत्व हो जाता और अल्पाक्षर वाला सूत्र भी बन जाता।

युवाम्। युष्मद् से औ विभक्ति, उसके स्थान पर **ङे प्रथमयोरम्** से अम् आदेश होकर **युष्मद्+अम्** बना। **युवावौ द्विवचने** से मपर्यन्त भाग के स्थान पर युव आदेश हुआ, **युव+अद्+अम्** बना। अब **अतो गुणे** से पररूप होकर **युवद्+अम्** बना। दकार के स्थान पर **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** से आकार आदेश होकर **युव+आ+अम्** बना। **युव+आ** में सवर्णदीर्घ तथा **युवा+अम्** में पूर्वरूप होकर **युवाम्** सिद्ध हुआ।

आवाम्। अस्मद् से औ विभक्ति, उसके स्थान पर **ङे प्रथमयोरम्** से अम् आदेश होकर **अस्मद्+अम्** बना। **युवावौ द्विवचने** से मपर्यन्त भाग के स्थान पर आव आदेश हुआ, **आव+अद्+अम्** बना। अब **अतो गुणे** से पररूप होकर **आवद्+अम्** बना। दकार के स्थान पर **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** से आकार आदेश होकर **आव+आ+अम्** बना। **आव+आ** में सवर्णदीर्घ तथा **आवा+अम्** में पूर्वरूप होकर **आवाम्** सिद्ध हुआ।

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् में **भाषायाम्** के पढ़ने से लौकिक प्रयोग में आत्व होता है और वैदिक प्रयोग में आत्व नहीं होता है, जिससे वहाँ **युवम्, आवम्** बनते हैं।

३१६- **यूयवयौ जसि।** यूयश्च वयश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो यूयवयौ। यूयवयौ प्रथमान्तं, जसि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृत्ति आती है। **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

जस् के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः यूय और वय आदेश होते हैं।

यूयम्। युष्मद् से जस् और उसके स्थान पर अम् आदेश होने पर **यूयवयौ जसि** से मपर्यन्त भाग के स्थान पर **यूय** आदेश हुआ। अम् को स्थानिवद्भावेन जस् माना जाता है। **यूय+अद्+अम्** बना। अद् का **शेषे लोपः** से लोप हुआ, **यूय+अम्** बना। पूर्वरूप होकर **यूयम्** सिद्ध हुआ।

वयम्। अस्मद् से जस् और उसके स्थान पर अम् आदेश होने पर **यूयवयौ**

त्वमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१७. त्वमावेकवचने। ७।२।९७॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ।

आमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१८. द्वितीयायाञ्च ७।२।८७॥

अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्।

नकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३१९. शसो न ७।१।२९॥

आभ्यां शसो नः स्यात्। अमोऽपवादः। **आदेः परस्य।** संयोगान्तलोपः। युष्मान्। अस्मान्।

....

जसि से मपर्यन्त भाग के स्थान पर **वय** आदेश हुआ। **वय+अद्+अम्** बना। **अद्** का **शेषे लोपः** से लोप हुआ, **वय+अम्** बना। पूर्वरूप होकर **वयम्** सिद्ध हुआ।

३१७- **त्वमावेकवचने।** त्वश्च मश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः:-त्वमौ। एकस्य वचनं कथनम्, एकवचनम्, तस्मिन् एकवचने। त्वमौ प्रथमान्तन्तम्, एकवचने सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** और **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृत्ति आती है। **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः त्व और म आदेश होते हैं, एकत्व अर्थ का कथन हो तो।

३१८- **द्वितीयायाञ्च।** द्वितीयायां सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अष्टन आ विभक्तौ** से **विभक्तौ** और **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृत्ति आती है।

द्वितीया विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार आदेश होता है।

अलोऽन्त्य-परिभाषा के द्वारा अन्त्य वर्ण दकार के स्थान पर यह आदेश हो जाता है।

त्वाम्। युष्मद् शब्द से द्वितीया का एकवचन **अम्** आया और उसके स्थान पर **ङे प्रथमयोरम्** से अम् ही आदेश हुआ। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग युष्म् के स्थान पर त्व आदेश होकर **त्व+अद्+अम्** बना। **त्व+अद्** में **अतो गुणे** से पररूप हुआ, **त्वद्+अम्** बना। दकार के स्थान पर **द्वितीयायाञ्च** से आकार आदेश हुआ, **त्व+आ+अम्** बना। **त्व+आ** में सवर्णदीर्घ होकर त्वा बना। **त्वा+अम्** में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **त्वाम्** सिद्ध हुआ।

माम्। अस्मद् शब्द से द्वितीया का एकवचन अम्, **ङे प्रथमयोरम्** से अम् के स्थान पर अम् आदेश, **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग अस्म् के स्थान पर **म** आदेश हुआ, **म+अद्+अम्** बना। **म+अद्** में **अतो गुणे** से पररूप हुआ, **मद्+अम्** बना। दकार के स्थान पर द्वितीयायाञ्च से आकार आदेश हुआ, **म+आ+अम्** बना। **म+आ** में सवर्णदीर्घ होकर मा बना। **मा+अम्** में **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **माम्** सिद्ध हुआ।

यकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२०. योऽचि ७।२।८९॥

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

....

द्वितीया के द्विवचन में भी प्रथमा की तरह युवाम् और आवाम् ही बनते हैं किन्तु यहाँ पर युव+अद्+अम्, आव+अद्+अम् होने पर द्वितीयायाञ्च से आत्व होता है और वहाँ पर प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् से आत्व होता है, इतना अन्तर समझना चाहिए।

३१९- शसो न। शसः षष्ठ्यन्तं, न लुप्तप्रथमाकं पदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से युष्मदस्मद्भ्याम् की अनुवृत्ति आती है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे शस् के स्थान पर नकार आदेश होता है।

यह सूत्र ङेप्रथमयोरम् का अपवाद है। युष्मद्, अस्मद् से पर में स्थित शस् को यह कार्य विहित है। अतः आदेः परस्य की सहायता से शस् सम्बन्धी अस् के आदि वर्ण अकार के स्थान पर न् आदेश हो जाता है और अस् के सकार का संयोगान्तस्य लोपः से लोप होता है।

युष्मान्। युष्मद् शब्द से द्वितीया के बहुवचन में शस् आया, अनुबन्धलोप होकर युष्मद्+अस् बना। अस् के स्थान पर ङेप्रथमयोरम् से अम् आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर शसो न से अकार के स्थान पर न् आदेश हुआ, युष्मद्+न्+स् बना। द्वितीयायाञ्च से दकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ, युष्म+आ+न्+स् बना। युष्म+आ में सवर्णदीर्घ, सकार का संयोगान्तलोप करने पर युष्मान् सिद्ध हुआ।

अस्मान्। अस्मद् शब्द से द्वितीया के बहुवचन में शस् आया, अनुबन्धलोप होकर अस्मद्+अस् बना। अस् के स्थान पर ङेप्रथमयोरम् से अम् आदेश प्राप्त था उसे बाधकर शसो न से अकार के स्थान पर न् आदेश हुआ, अस्मद्+न्+स् बना। द्वितीयायाञ्च से दकार के स्थान पर आकार आदेश हुआ, अस्म+आ+न्+स् बना। अस्म+आ में सवर्णदीर्घ, सकार का संयोगान्तलोप करने पर अस्मान् सिद्ध हुआ।

३२०- योऽचि। यः प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। युष्मदस्मदोरनादेशे से युष्मदस्मदोः और अनादेशे एवं अष्टन आ विभक्तौ से विभक्तौ की अनुवृत्ति आती है।

अनादेश अजादि विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश होता है।

जिस विभक्ति के स्थान पर कोई आदेश न हुआ हो, वह अनादेश विभक्ति कहलाती है। अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति से अन्त्य वर्ण दकार के स्थान पर यकार हो जाता है।

त्वया। युष्मद् शब्द से तृतीया के एकवचन में टा, अनुबन्धलोप होकर युष्मद्+आ बना। त्वमावेकवचने से मपर्यन्त युष्म् के स्थान पर त्व आदेश हुआ, त्व+अद्+आ बना। त्व+अद् में पररूप होकर त्वद्+आ बना। दकार के स्थान पर योऽचि से यकार आदेश होकर त्वय्+आ बना, वर्णसम्मेलन होकर त्वया सिद्ध हुआ।

मया। अस्मद् शब्द से तृतीया के एकवचन में टा, अनुबन्धलोप होकर अस्मद्+आ

आकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२१. युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६॥

अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ।

युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः।

तुभ्यमह्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२२. तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

....

बना। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त **अस्म्** के स्थान पर म आदेश हुआ, म+अद्+आ बना। म+अद् में पररूप होकर **मद्+आ** बना। **दकार** के स्थान पर **योऽचि** से यकार आदेश होकर मय्+आ बना, वर्णसम्मेलन होकर **मया** सिद्ध हुआ।

३२१- **युष्मदस्मदोरनादेशे**। युस्मच्च अस्मच्च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वो युष्मदस्मदौ, तयोः युष्मदस्मदोः। नास्ति आदेशो यस्य हलादिप्रत्ययस्य स अनादेशस्तस्मिन् अनादेशे। रायो हलि से हलि और अष्टन आ विभक्तौ से **विभक्तौ** की अनुवृत्ति आती है।

अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य की सहायता से अन्त्यवर्ण दकार के स्थान पर आकार हो जायेगा।

युवाभ्याम्। युष्मद् शब्द से तृतीया का द्विवचन भ्याम् आया। युवावौ द्विवचने से मपर्यन्त भाग **युष्म्** के स्थान पर **युव** आदेश हुआ, **युव+अद्+भ्याम्** बना। **युव+अद्** में पररूप और दकार के स्थान पर **युष्मदस्मदोरनादेशे** से आकार आदेश होने पर **युवाभ्याम्** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार की प्रक्रिया से चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में भी **युवाभ्याम्** ही बनता है।

आवाभ्याम्। अस्मद् शब्द से तृतीया का द्विवचन भ्याम् आया। युवावौ द्विवचने से मपर्यन्त भाग **अस्म्** के स्थान पर **आव** आदेश हुआ, **आव+अद्+भ्याम्** बना। **आव+अद्** में पररूप और दकार के स्थान पर **युष्मदस्मदोरनादेशे** से आकार आदेश होने पर **आवाभ्याम्** सिद्ध हुआ। इसी तरह चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में भी **आवाभ्याम्** ही बनता है।

युष्माभिः। युष्मद् शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् आया, **युष्मद्+भिस्** बना। दकार के स्थान पर **युष्मदस्मदोरनादेशे** से आकार आदेश होने पर **युष्मा+भिस्** हुआ। सकार को रुत्व और विसर्ग करके **युष्माभिः** सिद्ध हुआ।

अस्माभिः। अस्मद् शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् आया, **अस्मद्+भिस्** बना। दकार के स्थान पर **युष्मदस्मदोरनादेशे** से आकार आदेश होने पर **अस्मा+भिस्** हुआ। सकार को रुत्व और विसर्ग करके **अस्माभिः** सिद्ध हुआ।

३२२- **तुभ्यमह्यौ ङयि**। तुभ्यश्च मह्यश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, तुभ्यमह्यौ। तुभ्यमह्यौ प्रथमान्तं, ङयि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से युष्मदस्मदोः की अनुवृत्ति आती है और **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

ङे के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर तुभ्य और मह्य आदेश होते हैं।

अभ्यमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२३. **भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०॥**

आभ्यां परस्य। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

अदादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२४. **एकवचनस्य च ७।१।३२॥**

आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्।

....

तुभ्यम्। युष्मद् शब्द से चतुर्थी के एकवचन में ङे आया और उसके स्थान पर **ङेप्रथमयोरम्** से अम् आदेश हुआ, **युष्मद्+अम्** बना। **तुभ्यमह्यौ ङयि** से मपर्यन्त भाग **युष्** के स्थान पर **तुभ्य** आदेश हुआ, **तुभ्य+अद्+अम्** बना। पररूप हुआ, **तुभ्यद्+अम्** बना। **शेषे लोपः** से टिलोप हुआ, **तुभ्य्+अम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तुभ्यम्** सिद्ध हुआ।

मह्यम्। अस्मद् शब्द से चतुर्थी के एकवचन में ङे आया और उसके स्थान पर **ङेप्रथमयोरम्** से अम् आदेश हुआ, **अस्मद्+अम्** बना। **तुभ्यमह्यौ ङयि** से मपर्यन्त भाग **अस्म्** के स्थान पर **मह्य** आदेश हुआ, **मह्य+अद्+अम्** बना। पररूप हुआ, **मह्यद्+अम्** बना। **शेषे लोपः** से टिलोप हुआ, **मह्य्+अम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **मह्यम्** सिद्ध हुआ।

३२३- **भ्यसोऽभ्यम्।** भ्यसः षष्ठ्यन्तम्, अभ्यम् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **युष्मदस्मद्भ्याम्** की अनुवृत्ति आती है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् के स्थान पर अभ्यम् आदेश होता है।

अभ्यम् आदेश अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश होता है अर्थात् सम्पूर्ण भ्यस् के स्थान पर अभ्यम् आदेश हो जाता है।

युष्मभ्यम्। युष्मद् शब्द से चतुर्थी के बहुवचन भ्यस् आया। **भ्यसोऽभ्यम्** से **भ्यस्** के स्थान पर **अभ्यम्** आदेश हुआ, **युष्मद्+अभ्यम्** बना। **शेषे लोपः** से अद् टि का लोप हुआ, **युष्म्+अभ्यम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **युष्मभ्यम्** सिद्ध हुआ।

अस्मभ्यम्। अस्मद् शब्द से चतुर्थी के बहुवचन भ्यस् आया। **भ्यसोऽभ्यम्** से **भ्यस्** के स्थान पर **अभ्यम्** आदेश हुआ, **अस्मद्+अभ्यम्** बना। **शेषे लोपः** से अद् टि का लोप हुआ, **अस्म्+अभ्यम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **अस्मभ्यम्** सिद्ध हुआ।

३२४- **एकवचनस्य च।** एकवचनस्य षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **युष्मदस्मद्भ्याम्** तथा **पञ्चम्या अत्** पूरे सूत्र की अनुवृत्ति आती है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङसि को अत् आदेश होता है।

त्वत्। युष्मद् शब्द से पञ्चमी का एकवचन ङसि, अनुबन्धलोप होकर **युष्मद्+अस्** बना। ङसि वाले **अस्** के स्थान पर **एकवचनस्य च** से **अत्** आदेश हुआ, **युष्मद्+अत्** बना। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग **युष्म्** के स्थान पर **त्व** आदेश हुआ, **त्व+अद्+अत्** बना। पररूप होकर टि का लोप हुआ, **त्व्+अत्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **त्वत्** सिद्ध हुआ।

मत्। अस्मद् शब्द से पञ्चमी का एकवचन ङसि, अनुबन्धलोप होकर **अस्मद्+अस्** बना। **ङसि** वाले **अस्** के स्थान पर **एकवचनस्य च** से **अत्** आदेश हुआ, **अस्मद्+अत्** बना। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग **अस्म्** के स्थान पर **म** आदेश हुआ, **म+अद्+अत्** बना। पररूप होकर टि का लोप हुआ, **म्+अत्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **मत्** सिद्ध हुआ।

अदादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२५. पञ्चम्या अत् ७।१।३१॥

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

तवममादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२६. तवममौ ङसि ७।२।९६॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

अशादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२७. युस्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७॥

तव। मम। युवयोः। आवयोः।

....

३२५- **पञ्चम्या अत्।** पञ्चम्याः षष्ठ्यन्तम्, अत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **युष्मदस्मद्भ्याम्** तथा **भ्यसोऽभ्यम्** से **भ्यसः** की अनुवृत्ति आती है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होता है।

युष्मत्। युष्मद् शब्द से पञ्चमी का बहुवचन भ्यस् आया। **पञ्चम्या अत्** से भ्यस् के स्थान पर **अत्** आदेश हुआ और युष्मत् में अत् का **शेषे लोपः** से लोप हुआ, **युष्म्+अत्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **युष्मत्** सिद्ध हुआ।

अस्मत्। अस्मद् शब्द से पञ्चमी का बहुवचन भ्यस् आया। **पञ्चम्या अत्** से भ्यस् के स्थान पर अत् आदेश हुआ और अस्मत् में अत् का **शेषे लोपः** से लोप हुआ, **अस्म्+अत्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **अस्मत्** सिद्ध हुआ।

३२६- **तवममौ ङसि।** तवश्च ममश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः तवममौ। तवममौ प्रथमान्तं, ङसि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से **युष्मदस्मदोः** की अनुवृत्ति आती है और **मपर्यन्तस्य** का अधिकार है।

ङस् के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः तव और मम आदेश होते हैं।

३२७- **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्।** युष्मच्च अस्मच्च तयोरितरेतरद्वन्द्वो युष्मदस्मदौ, ताभ्यां-युष्मदस्मद्भ्याम्। युष्मदस्मद्भ्याम् पञ्चम्यन्तं, ङसः षष्ठ्यन्तम्, अश् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङस् के स्थान पर अश् आदेश होता है।

अश् में शकार की इत्संज्ञा होती है। शित् होने के कारण **आदेः परस्य** को बाधकर **अनेकाल् शित्सर्वस्य** से सर्वादेश होता है।

तव। युष्मद् शब्द से षष्ठी का एकवचन ङस् आया, अनुबन्धलोप होने पर **युष्मद्+अस्** बना। **तवममौ ङसि** से युष्मद् के मपर्यन्त भाग युष्म् के स्थान पर **तव** आदेश हुआ, **तव+अद्+अस्** बना। अस् के स्थान पर **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **अश्** आदेश हुआ, **तव+अद्+अ** बना। पररूप और टि का लोप होकर **तव्+अ**, वर्णसम्मेलन होकर **तव** सिद्ध हुआ।

आकमादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२८. **साम आकम् ७।१।३३॥**

आभ्यां परस्य साम आकं स्यात्।

युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

....

मम। अस्मद् शब्द से षष्ठी का एकवचन ङस् आया, अनुबन्धलोप होने पर अस्मद्+अस् बना। **तवममौ ङसि** से अस्मद् के मपर्यन्त भाग अस्म् के स्थान पर **मम** आदेश हुआ, **मम+अद्+अस्** बना। अस् के स्थान पर **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से अश् आदेश हुआ, **मम+अद्+अ** बना। पररूप और टि का लोप होकर **मम्+अ**, वर्णसम्मेलन होकर **मम** सिद्ध हुआ।

युवयोः। युष्मद् शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी का द्विवचन ओस् आया, **युष्मद्+ओस्** बना। मपर्यन्त भाग युष्म् के स्थान पर **युवावौ द्विवचने** से **युव** आदेश हुआ, **युव+अद्+ओस्** बना। युव+अद् में पररूप होकर **युवद्+ओस्** बना। **शेषे लोपः** से टि का लोप प्राप्त था, उसे बाधकर **योऽचि** से दकार के स्थान पर यकार आदेश हुआ, **युवय्+ओस्** बना। वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग होकर **युवयोः** सिद्ध हुआ।

आवयोः। अस्मद् शब्द से षष्ठी एवं सप्तमी का द्विवचन ओस् आया, **अस्मद्+ओस्** बना। मपर्यन्त भाग अस्म् के स्थान पर **युवावौ द्विवचने** से **आव** आदेश हुआ, **आव+अद्+ओस्** बना। आव+अद् में पररूप होकर **आवद्+ओस्** बना। **शेषे लोपः** से टि का लोप प्राप्त था, उसे बाधकर **योऽचि** से दकार के स्थान पर यकार आदेश हुआ, **आवय्+ओस्** बना। वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग होकर **आवयोः** सिद्ध हुआ।

३२८- **साम आकम्**। सामः षष्ठ्यन्तम्, आकं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** से **युष्मदस्मद्भ्याम्** की अनुवृत्ति आती है। **युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् को आकम् आदेश होता है।**

यद्यपि युष्मद् और अस्मद् शब्द हलन्त होने के कारण **आमि सर्वनाम्नः सुट्** की प्राप्ति नहीं थी तथापि किसी स्थिति में दकार के लोप होने पर अकारान्त बन जाने के कारण सुट् हो सकता है। अतः सुट् सहित आम् अर्थात् साम् के स्थान पर आकम् आदेश का विधान है।

युष्माकम्। युष्मद् शब्द से षष्ठी का बहुवचन आम् आया, **युष्मद्+आम्** बना। **साम आकम्** से आम् के स्थान पर **आकम्** आदेश हुआ, **युष्मद्+आकम्** बना। **शेषे लोपः** से टिलोप होकर **युष्म्+आकम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **युष्माकम्** सिद्ध हुआ।

अस्माकम्। अस्मद् शब्द से षष्ठी का बहुवचन आम् आया, **अस्मद्+आम्** बना। **साम आकम्** से आम् के स्थान पर **आकम्** आदेश हुआ, **अस्मद्+आकम्** बना। **शेषे लोपः** से टिलोप होकर **अस्म्+आकम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **अस्माकम्** सिद्ध हुआ।

त्वयि। युष्मद् शब्द से सप्तमी का एकवचन ङि, अनुबन्धलोप होकर **युष्मद्+इ** बना। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग युष्म् के स्थान पर **त्व** आदेश होकर **त्व+अद्+इ** बना। पररूप हुआ और दकार के स्थाने पर **योऽचि** से यकार आदेश होकर **त्वय्+इ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **त्वयि** सिद्ध हुआ।

वांनावादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३२९. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ ८।१।२०॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वां नौ इत्यादेशौ स्तः।

....

मयि। अस्मद् शब्द से सप्तमी का एकवचन ङि, अनुबन्धलोप होकर अस्मद्+इ बना। **त्वमावेकवचने** से मपर्यन्त भाग अस्म् के स्थान पर म आदेश होकर म+अद्+इ बना। परररूप हुआ और दकार के स्थान पर **योऽचि** से यकार आदेश होकर मय्+इ बना। वर्णसम्मेलन होकर **मयि** सिद्ध हुआ।

युष्मासु। युष्मद् शब्द से सप्तमी का बहुवचन सुप् आया। अनुबन्धलोप होकर युष्मद्+सु बना। **युष्मदस्मदोरनादेशे** से दकार के स्थान पर आकार आदेश होकर युष्म+आ+सु बना। सर्वणदीर्घ होकर **युष्मासु** सिद्ध हुआ।

अस्मासु। अस्मद् शब्द से सप्तमी का बहुवचन सुप् आया। अनुबन्धलोप होकर अस्मद्+सु बना। युष्मदस्मदोरनादेशे से दकार के स्थान पर आकार आदेश होकर अस्म+आ+सु बना। सर्वणदीर्घ होकर **अस्मासु** सिद्ध हुआ।

त्यदादि का सम्बोधन नहीं होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। अगर सम्बोधन होता तो कैसा होता? हे तुम! हे मैं! न, ऐसा नहीं हो सकता है।

दकारान्त युष्मद्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वितीया	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्
तृतीया	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
चतुर्थी	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
पञ्चमी	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
षष्ठी	तव	युवयोः	युष्माकम्
सप्तमी	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

दकारान्त अस्मद्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वितीया	माम्	आवाम्	अस्मान्
तृतीया	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
चतुर्थी	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
पञ्चमी	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
षष्ठी	मम	आवयोः	अस्माकम्
सप्तमी	मयि	आवयोः	अस्मासु

३२९- युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ। युष्मच्च अस्मच्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः- युष्मदस्मदौ, तयोः- युष्मदस्मदोः। षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया च तयोरितरेतरद्वन्द्वः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु तिष्ठतः इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ, तयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः।

वस्-नस्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३०. बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयो: षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्त:।

ते-मे-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३१. तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२॥

उक्तविधयोरनयो: षष्ठीचतुर्थ्येकवनचनान्तयोस्ते मे एतौ स्त:।

त्वामादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३२. त्वामौ द्वितीयाया: ८।१।२३॥

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्त:।

....

वाम् च नौ च तयोरितरेतरद्वन्द्व:- वांनावौ। युष्मदस्मदो: षष्ठ्यन्तं, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो: षष्ठ्यन्तं, वांनावौ प्रथमान्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्। पदात् तथा अनुदात्तं सर्वमपदादौ इन सूत्रों का अधिकार है।

पद से परे और अपदादि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश: वाम् और नौ आदेश होते हैं।

पदात् का अर्थ पद से परे और अपदादौ का अर्थ पद के आदि में स्थित न हो अर्थात् यह सूत्र वाक्य के प्रथम पद में प्रवृत्त नहीं होता है। यद्यपि यह सूत्र षष्ठी आदि विभक्ति में वचन की अपेक्षा नहीं करता फिर भी एकवचन और बहुवचन में आगे के सूत्रों से बाधित हो जाने के कारण द्विवचन मात्र में लगता है।

३३०- **बहुवचनस्य वस्नसौ**। वस् च नस् च तयोरितरेतरद्वन्द्व:- वस्नसौ। बहुवचनस्य षष्ठ्यन्तं, वस्नसौ प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ** से **युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो:** की अनुवृत्ति आती है। **पदात्** तथा **अनुदात्तं सर्वमपदादौ** इन सूत्रों का अधिकार है।

पद से परे और अपदादि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश: वस् और नस् आदेश होते हैं।

केवल बहुवचन में ही लगने के कारण यह सूत्र **युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ** का अपवाद हो जाता है।

३३१- **तेमयावेकवचनस्य**। तेश्च मेश्च तयोरितरेतरद्वन्द्व:, तेमयौ। तेमयौ प्रथमान्तम्, एकवचनस्य षष्ठ्यन्तं द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ** से **युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो:** की अनुवृत्ति आती है। **पदात्** तथा **अनुदात्तं सर्वमपदादौ** इन सूत्रों का अधिकार है।

पद से परे और अपदादि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी विभक्ति के एकवचन से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश: ते और मे आदेश होते हैं।

यह सूत्र द्वितीया विभक्ति में **त्वामौ द्वितीयाया:** से बाधित होने के कारण षष्ठी और चतुर्थी में प्रवृत्त होता है।

सूत्रचतुष्टयस्योदाहरणानि श्लोकद्वयेन

श्रीशस्त्वाऽवतु मापीह, दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः॥

वार्तिकम्- **एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः।** एकतिङ् वाक्यम्। ओदनं पच, तव भविष्यति।

वार्तिकम्- **एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः।** अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। तस्मै ते नम इत्येव। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ॥

....

३३२- **त्वामौ द्वितीयायाः।** त्वाश्च माश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः, त्वामौ। त्वामौ प्रथमान्तं, द्वितीयायाः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ** से **युष्मदस्मदोः** तथा **तेमयावेकवचनस्य** से **एकवचनस्य** की अनुवृत्ति आती है। **पदात्** तथा **अनुदात्तं सर्वमपदादौ** इन सूत्रों का अधिकार है।

पद से परे और अपदादि में स्थित द्वितीया विभक्ति के एकवचन से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः त्वा और मा आदेश होते हैं।

अब उपर्युक्त चारों सूत्रों का उदाहरण **श्रीशस्त्वा** आदि दो श्लोकों से देते हैं-

श्रीशस्त्वावतु मापीह। श्रीशः त्वा अवतु मा अपि इह। **इह**=इस लोक में, **श्रीशः**=लक्ष्मीपति भगवान् नारायण, **त्वा-त्वां**= तुझे, **अपि**=तथा, **मा-माम्**=मुझे, **अवतु**=बचावें अर्थात् तुम्हारी और मेरी रक्षा करें। यह श्लोक एक चरण **त्वामौ द्वितीयायाः** का उदाहरण है। युष्मद् और अस्मद् शब्द के द्वितीया के एकवचन **त्वाम्** और **माम्** के स्थान पर क्रमशः **त्वा** और **मा** आदेश हुए हैं। अर्थ तो वही है जो त्वाम् और माम् का है।

दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः। स्वामी ते मेऽपि स हरिः। दत्तात् ते मे अपि शर्म सः। स्वामी ते मे अपि स हरिः। **सः**=वें (हरि) **ते-तुभ्यम्**=तुझे(तुम्हारे लिए), **अपि**=तथा, **मे-मह्यम्**=मुझे(मेरे लिए), **शर्म**=कल्याण, **दत्तात्**=प्रदान करें। **स हरिः**=वे हरि, **ते-तव**=तुम्हारे, **अपि**=तथा, **मे-मम**=मेरे, **स्वामी(अस्ति)**=स्वामी हैं। ये दो चरण **तेमयावेकवचनस्य** के उदाहरण हैं। युष्मद् और अस्मद् शब्द के चतुर्थी के एकवचन **तुभ्यम्** और **मह्यम्** तथा षष्ठी के एकवचन **तव** और **मम** के स्थान पर क्रमशः **ते** और **मे** आदेश हुए हैं।

पातु वामपि नौ विभुः॥ सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः। पातु वाम् अपि नौ विभुः। सुखं वाम् नौ ददातु ईशः, पतिः वाम् अपि नौ हरिः॥ **विभुः**=सर्वव्यापक(वे हरि) **वाम्-युवाम्**=तुम दोनों को, **अपि**=तथा, **नौ-आवाम्**=हम दोनों को **पातु**=बचावें अर्थात् रक्षा करें। **ईशः**=भगवान्, **वाम्-युवाभ्याम्**=तुम दोनों को, (और) **नौ**=हम दोनों को **सुखम्**=सुख, **ददातु**=प्रदान करें। (वे) **हरिः**=हरि (भगवान्) **वाम्-युवयोः**=तुम दोनों के, **अपि**=तथा, **नौ-आवयोः**=हम दोनों के, **पतिः**=पति(स्वामी) हैं। ये तीन चरण **युष्मदस्मदोः**

षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ के उदाहरण हैं। युष्मद् और अस्मद् शब्द के द्वितीया के द्विवचन **युवाम्** और **आवाम्**, चतुर्थी के द्विवचन **युवाभ्याम्** और **आवाभ्याम्** तथा **षष्ठी** के द्विवचन **युवयोः** और **आवयोः** के स्थान पर क्रमशः **वाम्** और **नौ** आदेश हुए हैं।

सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः॥ सः अव्यात्, वः, नः। शिवम्, वः नः दद्यात्। सेव्यः, अत्र, वः सः नः। सः=लक्ष्मीपति भगवान, वः-युष्मान्=तुम सब की (और), नः-**अस्मान्**=हम सब की, अव्यात्=रक्षा करें। (वे भगवान) वः-युष्मभ्यम्=तुम सबों को (और) नः-**अस्मभ्यम्**=हम सबों को, **शिवम्**=कल्याण, दद्यात्=देवें। **अत्र**=इस संसार में, सः= वे भगवान, वः-**युष्माकम्**=तुम सबके, नः-**अस्माकम्**=हम सब के भी, **सेव्यः**=सेवनीय अर्थात् आराधनीय हैं। यह श्लोकार्ध **बहुवचनस्य वस्नसौ** का उदाहरण है। युष्मद् और अस्मद् शब्द की द्वितीया के बहुवचन **युष्मान्** और **अस्मान्**, चतुर्थी के बहुवचन **युष्मभ्यम्** और **अस्मभ्यम्** तथा षष्ठी के बहुवचन **युष्माकम्** और **अस्माकम्** के स्थान पर क्रमशः **वस्** और **नस्** आदेश हुए हैं।

एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। यह वार्तिक है। उपर्युक्त चार सूत्रों से **युष्मद्** और **अस्मद्** के स्थान पर जो आदेश विधान किए गए हैं, **वे एक ही वाक्य में** होंगे। अतः युष्मदस्मदादेश के निमित्तों को भी उसी एक वाक्य में होना चाहिए। जैसे- **पदात्परयोः अपदादौ स्थितयोः** अर्थात् पद से परे और पद के आदि में स्थित न हों। ऐसी स्थिति एक ही वाक्य में होनी चाहिए, दूसरे वाक्य में नहीं। एक ही वाक्य में पद से परे और पद के आदि स्थित न हो, ऐसे द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठ्यन्त युष्मद् और अस्मद् शब्द के स्थान पर क्रमशः वाम्, नौ तथा वस्, नस् एवं त्वा, मा आदेश हों।

वाक्य किसे कहते हैं? **एकतिङ् वाक्यम्।** एक तिङ् विभक्ति के कर्ता, कर्म आदि से युक्त समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे- **देवदत्तो गृहं गच्छति।** यहाँ पर **देवदत्तः** कर्ता है, **गृहम्** कर्म है और तिङन्त क्रिया है- **गच्छति।** इस तरह **देवदत्तो गृहं गच्छति** यह समुदाय एक वाक्य है। **(त्वम्) ओदनं पच, तव भविष्यति** इस वाक्य में **त्वम् ओदनं पच**, इतना एक वाक्य है और **तव भविष्यति** यह दूसरा वाक्य है। क्योंकि **पच** एक तिङन्त क्रिया है और **भविष्यति** एक तिङन्त क्रिया है। दो तिङन्त क्रिया होने के कारण दो वाक्य हो गये। वार्तिक के अनुसार एक ही वाक्य में ही उपर्युक्त आदेश होते हैं। **तव भविष्यति** का **तव** पद के आदि में स्थित है और पद से परे नहीं है। **ओदनं पच** को पद मानकर **पद से परे** अर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि वह एक ही वाक्य में नहीं है, दूसरे वाक्य में है। अतः तव के स्थान पर **ते** आदेश नहीं हुआ।

एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः। यह वार्तिक है। **ये वाम्, नौ आदि अनन्वादेश में विकल्प से होते हैं और अन्वादेश में नित्य से होते हैं।** अन्वादेश और अनन्वादेश के सम्बन्ध में इदम् शब्द में बताया जा चुका है। एक कथन के बाद उसी के लिए दूसरा कथन किया जाता है तो उसे अन्वादेश कहते हैं। अन्वादेश में ये आदेश नित्य से होते हैं। **धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति।** ब्रह्मा आपका भक्त है, इस वाक्य में अन्वादेश नहीं है अर्थात् अनन्वादेश है। अतः **तव** के स्थान पर विकल्प से **ते** आदेश हुआ। इसी तरह **यो विद्वान्! ते नमः** और **यो विद्वान्! तस्मै नमः** में भी अनन्वादेश होने के कारण विकल्प से होता है।

पदादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३३. पादः पत् ६।४।१३०॥

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्। अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः॥

....

सुपात्, सुपाद्। सुन्दर पैरों वाला। सु=शोभनौ पादौ यस्य, स सुपात्। सुपाद्+सु में **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से स् का लोप होकर दकार के स्थान पर **वाऽवसाने** से विकल्प से चर्त्व होकर **सुपात्, सुपाद्** दो रूप बनते हैं। औ आदि अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन करके **सुपादौ, सुपादः, सुपादम्, सुपादौ** ये रूप बनते हैं। शस् और उससे आगे हलादिविभक्ति के परे भसंज्ञा होने के कारण अग्रिम सूत्र से पत् आदेश होता है।

३३३- **पादः पत्।** पादः षष्ठ्यन्तं, पत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **भस्य** और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

पाद-शब्द अन्त में हो ऐसे भसंज्ञक पाद् के स्थान पर पद् आदेश होता है।

भसंज्ञा असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति के परे पूर्व की होती है। अतः शसादि अजादि विभक्ति में इससे पाद् के स्थान पर पद् आदेश होता है, असर्वनामस्थान और हलादि विभक्ति के परे नहीं। **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च** इस परिभाषा के बल पर सुपाद् पूरे के स्थान पर **पद्** आदेश प्राप्त था, **निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति** के नियम से केवल **पाद्** के स्थान पर ही **पद्** आदेश होता है।

सुपदः। सुपाद् से शस्, अनुबन्धलोप, भसंज्ञा, **पादः पत्** से पद् आदेश करके **सुपद्+अस्**, वर्णसम्मेलन होकर **सुपदः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार से **सुपदा, सुपदे, सुपदः, सुपदोः, सुपदाम्, सुपदि** बनते हैं। हलादिविभक्ति के परे भसंज्ञा न होने से पद् आदेश नहीं होगा। अतः **सुपाद्भ्याम्, सुपाद्भिः, सुपाद्भ्यः, सुपात्सु** ये रूप बनते हैं।

तकारान्त शब्दों के कथन के बाद अब थकारान्त शब्द का कथन करते हैं।

अग्निमत्, अग्निमद्। अग्नि का मन्थन करने वाला। **अग्निं मथ्नातीति अग्निमत्।** अग्नि पूर्वक **मन्थ्** धातु से **क्विप्** प्रत्यय, उसका सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण से कित् मानकर **मन्थ्** के नकार का **अनिदितां हल उपधाया क्ङिति** से लोप होकर **अग्निमथ्** बना है। उससे सु प्रत्यय आकर **अग्निमथ्+स्** बना है। स् का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप, थकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **दकार** हो जाता है। दकार के स्थान पर **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **अग्निमत्, अग्निमद्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। आगे अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन करके और हलादिविभक्ति के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा करके **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करके **अग्निमथौ, अग्निमथः, अग्निमथम्, अग्निमथा, अग्निमद्भ्याम्, अग्निमद्भिः, अग्निमद्भ्यः, अग्निमथे, अग्निमथः, अग्निमथोः, अग्निमथाम्, अग्निमथि, अग्निमत्सु** ये रूप बनते हैं।

थकारान्त शब्द के विवेचन के बाद अब चकारान्त शब्दों का विवेचन करते हैं। प्रपूर्वक अञ्च् धातु का अर्थ है- **श्रेष्ठ गति वाला, पहले चलने वाला, पूर्व का देश, पूर्व काल आदि।**

नकारलोपविधायकं विधिसूत्रम्

३३४. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४॥

हलन्तामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति। नुम्। संयोगान्तलोपः। नस्य कुत्वेन ङः। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः।

अकारलोपविधायकं विधिसूत्रम्

३३५. अचः ६।४।१३८॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

३३६. चौ ६।३।१३८॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्। उदङ्। उदञ्चौ।

....

३३४- **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति**। इत् इत् अस्ति येषां ते इदितः, न इदितः- अनिदितः, तेषाम् अनिदिताम्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः। क् च ङ् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः क्ङौ। क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, तस्मिन् क्ङिति। **अङ्गस्य** का अधिकार है। **श्नान्नलोपः** से न इस लुप्तषष्ठीक पद और **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

जिनके इकार की इत्संज्ञा नहीं हुई है ऐसे हलन्त अङ्गों की उपधा के नकार का लोप होता है कित् और ङित् के परे होने पर।

प्राङ्। प्र-पूर्वक अञ्चु धातु है। अञ्चु धातु का अर्थ गति और पूजा है। यहाँ पर केवल गत्यर्थक अञ्च् धातु का ही ग्रहण है। उकार की इत्संज्ञा हुई है। प्र+अञ्च् में **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** से क्विन् प्रत्यय, सर्वापहार लोप, करके प्रत्ययलक्षणेन क्विन्-प्रत्ययान्त और कित् परे मानकर **अनिदितां हल उपधाया क्ङिति** से अञ्च् में ञकार-स्थानीय नकार का लोप हुआ। प्र+अच् बना। सवर्णदीर्घ होकर **प्राच्** बना। प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु आया, उसका लोप हुआ। प्राच् में **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम्, अनुबन्धलोप, मित् होने के कारण अन्त्य अच् प्रा के आकार के बाद न् बैठा, प्रान्+च् बना। चकार का **संयोगान्तलोप** और नकार के स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होकर ङकार बना, प्राङ् सिद्ध हुआ।

प्राञ्चौ। प्राच् से औ विभक्ति, सर्वनामस्थान परे होने के कारण नुम् का आगम करके **प्रान्+च्+औ** बना। नकार के स्थान पर **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार और उसके स्थान पर **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण होकर ञकार हुआ, **प्राञ्च्+औ** बना। वर्णसम्मेलन होकर **प्राञ्चौ** सिद्ध हुआ। इसी तरह **प्राञ्चः**, **प्राञ्चम्**, **प्राञ्चौ** भी बन जाते हैं।

३३५- **अचः**। अचः षष्ठ्यन्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। **अल्लोपोऽनः** से **अल्लोपः** की अनुवृत्ति आती है। **भस्य** का अधिकार है।

लोप हुआ है नकार का, ऐसे अञ्च् धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है।

३३६- चौ। चौ सप्तम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **पूर्वस्य, दीर्घः** और **अणः** की अनुवृत्ति आती है। **चु** से नकार रहित अच् धातु का ग्रहण है।

अकार और नकार का लोप हो गया हो, ऐसे अञ्च् धातु के परे होने पर पूर्व के अण् को दीर्घ होता है।

प्राचः। प्राच् से शस्, अनुबन्धलोप, सर्वनामस्थान परे न होने के कारण **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् नहीं हुआ किन्तु **अचः** से **प्र+अच्=प्राच्** का जो अकार है, उसका लोप हो गया, **प्र+च्+अस्** बना। अब **चौ** से **प्र** में अकार का दीर्घ हुआ, **प्रा+च्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग होकर **प्राचः** सिद्ध हुआ। इसी तरह आगे अजादिविभक्ति के परे कार्य होता है और हलादि विभक्ति के परे भसंज्ञा न होने के कारण **प्राच्** में चकार को जश्त्व होकर गकार बन जाता है। सुप् में गकार को **खरि च** से चर्त्व होकर ककार, उससे परे सकार को षत्व और क्-ष् के संयोग को क्षत्व होकर **प्राक्षु** यह रूप सिद्ध हो जाता है।

चकारान्त प्र-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
द्वितीया	प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राचः
तृतीया	प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः
चतुर्थी	प्राचे	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
पञ्चमी	प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
षष्ठी	प्राचः	प्राचोः	प्राचाम्
सप्तमी	प्राचि	प्राचोः	प्राक्षु
सम्बोधन	हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्चः!

प्रति-पूर्वक अञ्च् धातु का अर्थ होता है- पीछे या विपरीत जाने वाला, पश्चिम का देश, काल आदि। इसकी प्रक्रिया भी लगभग प्र-अञ्च् की तरह होती है। अन्तर यह है है कि उसमें प्र+अच् में सवर्णदीर्घ होकर प्राच् बनता है तो यहाँ प्रति+अच् में यण् होकर **प्रत्यच्** बनता है। उसके बाद नुम्, संयोगान्तलोप, कुत्व होकर **प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ** आदि रूप बनते हैं। शसादि अजादि विभक्ति के परे **प्रति+अच्** में अकार का लोप और प्रति के इकार को दीर्घ होकर ईकार हो जाता है, जिससे **प्रतीचः, प्रतीचा** आदि रूप बनते हैं। हलादि विभक्ति के परे होने पर **प्रत्यग्भ्याम्** आदि रूप बन जाते हैं।

चकारान्त प्रति-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः
द्वितीया	प्रत्यञ्चम्	प्रत्यञ्चौ	प्रतीचः
तृतीया	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः
चतुर्थी	प्रतीचे	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
पञ्चमी	प्रतीचः	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
षष्ठी	प्रतीचः	प्रतीचोः	प्रतीचाम्
सप्तमी	प्रतीचि	प्रतीचोः	प्रत्यक्षु
सम्बोधन	हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्चः!

ईकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३७. **उद ईत् ६।४।१३९॥**

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्।

उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्।

सम्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३८. **समः समि ६।३।९३॥**

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्।

....

(उत्) उद् -पूर्वक अञ्च् का अर्थ है- ऊपर जाने वाला, उत्तर के देश, काल आदि। इसकी प्रक्रिया औट् तक पूर्ववत् ही होती है। नकार का लोप तो सर्वत्र ही होता है किन्तु नुम् सर्वनामस्थान के परे ही होता है। उद्+अञ्च्, नकार का लोप करने पर उद्+अच्, वर्णसम्मेलन होकर **उदच्** बना। प्रातिपदिकसंज्ञा करके नुम् का आगम, सुलोप, संयोगान्तलोप, कुत्व करके प्राङ् की तरह **उदङ्**, प्राञ्चौ आदि की तरह **उदञ्चौ, उदञ्चः** आदि बनते हैं। शस् आदि की प्रक्रिया आगे देखिये।

३३७- **उद ईत्।** उदः पञ्चम्यन्तम्, ईत् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अचः** से **अचः**, अल्लोपोऽनः से विभक्तिविपरिणाम करके **अतः** की अनुवृत्ति आती है। **भस्य** का अधिकार है।

उद् से परे लोप हो गया है नकार, ऐसे अञ्च् धातु के भसंज्ञक अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है।

उदीचः। उदच् से शस्, अनुबन्धलोप, भसंज्ञा करके अच् के अकार के स्थान पर उद ईत् से ईकार आदेश होकर **उदीच्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उदीचः** सिद्ध हुआ। हलादि में **प्राग्भ्याम्** आदि की तरह **उदग्भ्याम्, उदग्भिः** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

चकारान्त उद्-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः
द्वितीया	उदञ्चम्	उदञ्चौ	उदीचः
तृतीया	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः
चतुर्थी	उदीचे	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
पञ्चमी	उदीचः	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
षष्ठी	उदीचः	उदीचोः	उदीचाम्
सप्तमी	उदीचि	उदीचोः	उदक्षु
सम्बोधन	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः!

३३८- **समः समि।** समः षष्ठ्यन्तं, समि लुप्तप्रथमाकं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये** से **अञ्चतौ** और **वप्रत्यये** की अनुवृत्ति आती है।

व-प्रत्ययान्त अञ्च् के परे होने पर सम् के स्थान पर समि आदेश होता है।

सम् पूर्वक अञ्च् धातु से क्विन्, सर्वापहार लोप करने पर प्रत्ययलक्षणेन क्विप्

सध्र्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३३९. सहस्य सध्रिः ६।३।९५॥

तथा। सध्र्यङ्।

....

वाले वकार को वप्रत्यय मानकर समः समि से समि आदेश, नकार का लोप आदि होकर समि+अच्=सम्यच् बन जाता है। उसकी प्रातिपदिक संज्ञा करके आगे की प्रक्रिया की जाती है।

सम्यङ्। ठीक से चलने वाला। सम्यच् से सु, नुम्, सुलोप, संयोगान्तलोप, कुत्व करके प्राङ् की तरह सम्यङ् सिद्ध होता है। प्राञ्चौ आदि की तरह सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः आदि बनते हैं। शसादि से आगे समि+अच् इस स्थिति में अकार का अचः से लोप और चौ से पूर्व इकार को दीर्घ करके समीचः, समीचा आदि रूप सिद्ध होते हैं। हलादिविभक्ति में प्राग्भ्याम् आदि की तरह सम्यग्भ्याम्, सम्यग्भिः आदि बन जाते हैं।

चकारान्त सम्-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः
द्वितीया	सम्यञ्चम्	सम्यञ्चौ	समीचः
तृतीया	समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः
चतुर्थी	समीचे	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
पञ्चमी	समीचः	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
षष्ठी	समीचः	समीचोः	समीचाम्
सप्तमी	समीचि	समीचोः	सम्यक्षु
सम्बोधन	हे सम्यङ्!	हे सम्यञ्चौ!	हे सम्यञ्चः!

३३९- सहस्य सध्रिः। सहस्य षष्ठ्यन्तं, सध्रिः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये से अञ्चतौ और वप्रत्यये की अनुवृत्ति आती है।

वप्रत्ययान्त अञ्च् के परे हो तो सह के स्थान पर सध्रि आदेश होता है।

सह+अञ्च् में क्विन्, सर्वापहार लोप, नकार का लोप करके सहस्य सध्रिः से सह के स्थान पर सध्रि आदेश करके सध्रि+अच्, यण् होकर सध्र्यच् बना। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होने के वाद आगे की प्रक्रिया निम्नवत् होती है।

सध्र्यङ्। साथ चलने वाला। सध्र्यच् से सु, उसका लोप, नुम्, संयोगान्तलोप, कुत्व करके प्राङ् की तरह सध्र्यङ् सिद्ध हो जाता है। आगे प्राञ्चौ आदि की तरह सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः तथा शसादि विभक्ति के परे अकार का लोप और पूर्व को दीर्घ होकर सध्रीचः, सध्रीचा एवं हलादि विभक्ति के परे प्राग्भ्याम् आदि की तरह सध्र्यग्भ्याम्, सध्र्यग्भ्यः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

चकारान्त सह-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः
द्वितीया	सध्र्यञ्चम्	सध्र्यञ्चौ	सध्रीचः

तिर्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३४०. तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः।
तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिर्यग्भ्याम्।

....

तृतीया	सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः
चतुर्थी	सध्रीचे	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
पञ्चमी	सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
षष्ठी	सध्रीचः	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
सप्तमी	सध्रीचि	सध्रीचोः	सध्र्यक्षु
सम्बोधन	हे सध्र्यङ्!	हे सध्र्यञ्चौ!	हे सध्र्यञ्चः!

३४०- **तिरसस्तिर्यलोपे**। नास्ति लोपो यस्य स अलोपः, तस्मिन् अलोपे, बहुव्रीहिः। तिरसः षष्ठ्यन्तं, तिरि लुप्तप्रथमान्तम्, अलोपे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये** से **अञ्चतौ** और **वप्रत्यये** की अनुवृत्ति आती है।

अलुप्त अकार वाले वप्रत्ययान्त अञ्च् के परे हो तो तिरस् के स्थान पर तिरि आदेश होता है।

शसादि में **तिरसस्तिर्यलोपे** नहीं लगता है। क्योंकि वहाँ **अचः** से अकार का लोप हो जाता है।

तिरस् पूर्वक अञ्च् धातु का अर्थ टेढ़ा चलने वाला, पशु, पक्षी है। क्विन् प्रत्यय, सर्वापहार लोप, नकार का लोप करके **तिरसस्तिर्यलोपे** से तिरि आदेश होकर **तिरि+अच्=तिर्यच्** सिद्ध होता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके आगे की प्रक्रिया की जाती है।

तिर्यङ्। तिर्यच् से सु, उसका लोप, नुम्, संयोगान्तलोप, कुत्व करके **प्राङ्** की तरह **तिर्यङ्** सिद्ध हो जाता है। आगे **प्राञ्चौ** आदि की तरह **तिर्यञ्चौ**, **तिर्यञ्चः** आदि रूप बनते हैं। शसादि में अकार के लोप होने के कारण **तिरसस्तिर्यलोपे** नहीं लगता। पूर्व में अण् न होने के कारण दीर्घ की सम्भावना भी नहीं है। अतः **तिरश्चः**, **तिरश्चा** आदि बनते हैं। हलादि के परे भसंज्ञा न होने के कारण अकार का लोप नहीं होता और लोप न होने के कारण **तिरसस्तिर्यलोपे** लगता है। अतः **तिर्यग्भ्याम्**, **तिर्यग्भिः** आदि रूप बनते हैं।

चकारान्त तिरस्-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः
द्वितीया	तिर्यञ्चम्	तिर्यञ्चौ	तिरश्चः
तृतीया	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः
चतुर्थी	तिरश्चे	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
पञ्चमी	तिरश्चः	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
षष्ठी	तिरश्चः	तिरश्चोः	तिरश्चाम्
सप्तमी	तिरश्चि	तिरश्चोः	तिर्यक्षु
सम्बोधन	हे तिर्यङ्!	हे तिर्यञ्चौ!	हे तिर्यञ्चः!

नकारलोपनिषेधकं विधिसूत्रम्

३४१. नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाभावादलोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्। उगित्त्वान्नुमि-

....

३४१- **नाञ्चेः पूजायाम्।** न अव्ययपदम्, अञ्चेः षष्ठ्यन्तं, पूजायां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से **उपधायाः** तथा **श्नान्नलोपः** से **न** और **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

पूजार्थक अञ्च् के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है।

अञ्च् धातु के **पूजा** और **गति** दो अर्थ हैं। दोनों अर्थ में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से नकार का लोप प्राप्त होता है किन्तु पूजार्थक में इस सूत्र से निषेध होने के कारण गति अर्थ में ही नकार का लोप हो पाता है। नकार का लोप न होने पर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् भी नहीं होता। शेष प्रक्रिया गत्यर्थक होने पर **प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, प्राञ्चम्, प्राञ्चौ**, की तरह ही है। जब शब्द में ही नकार का लोप नहीं हुआ है तो शसादि में भी **प्राञ्चः, प्राञ्चा** आदि रूप बनते हैं। हलादि विभक्ति के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पूर्व की पदसंज्ञा होने के कारण चकार का संयोगान्तलोप और ञकार की स्थानी नकार को कुत्व होकर **प्राङ्भ्याम्, प्राङ्भिः** आदि रूप बनते हैं।

चकारान्त पूजार्थक प्र-पूर्वक अञ्च्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
द्वितीया	प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
तृतीया	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः
चतुर्थी	प्राञ्चे	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
पञ्चमी	प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
षष्ठी	प्राञ्चः	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
सप्तमी	प्राञ्चि	प्राञ्चोः	प्राङ्क्षु
सम्बोधन	हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्चः!

इसी तरह पूजार्थक प्रपूर्वक अञ्च् से **प्रत्यञ्च्**, प्रातिपदिकसंज्ञा आदि करके **प्राङ्** की तरह **प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः, प्रत्यङ्भ्याम्**, एवं **उदञ्च्** से **उदङ्, उदञ्चौ, उदञ्चः, उदङ्भ्याम्** आदि बनते हैं। इसी तरह सम्+अञ्च् के **सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः, सम्यङ्भ्याम्**, सह+अञ्च् के **सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः, सध्र्यङ्भ्याम्** आदि बनाते जाइये। उक्त रीति से ही **तिरस्+अञ्च्** के रूप **तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः, तिर्यङ्भ्याम्** आदि बनते हैं।

क्रुङ्। क्रौंच पक्षी। क्रुञ्च् धातु से **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** से क्विन् प्रत्यय, सर्वापहार लोप करके **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से प्राप्त नकार का लोप का उक्त सूत्र से ही निपातन होने पर **क्रुञ्च्** ही रह जाता है। उसकी

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

३४२. सान्त महतः संयोगस्य ६।४।१०॥

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्। महान्तौ। महान्तः। हे महन्! महद्भ्याम्।

....

प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु, उसका लोप करके चकार का संयोगान्त लोप होता है। चकार के संनियोग से चुत्व होकर **क्रुन्+च्=क्रुञ्च्** बना था। निमित्तीभूत चकार के लोप होने के बाद नैमित्तिक ञकार भी अपने रूप में अर्थात् नकार के रूप में आ गया। **क्रुन्** बना। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होकर **क्रुङ्** सिद्ध हुआ। अब आगे **क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः, क्रुञ्चम्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः, क्रुञ्चा, क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्भिः** आदि भी बन जायेंगे।

पयोमुक्, पयोमुग्। बादल। पयो मुञ्चतीति **पयोमुक्**। पयस् पूर्वक मुच् धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार लोप होकर **पयोमुच्** बना है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु प्रत्यय, उसका लोप, चकार को **चोः कुः** से कुत्व होकर गकार तथा **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर गकार करके **पयोमुग्** बना है। **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **पयोमुक्, पयोमुग्** ये दो रूप बनते हैं। आगे अजादिविभक्ति में केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा होकर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर निम्नलिखित रूप सिद्ध हो जाते हैं-

चकारान्त पयोमुच्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पयोमुक्, पयोमुग्	पयोमुचौ	पयोमुचः
द्वितीया	पयोमुचम्	पयोमुचौ	पयोमुचः
तृतीया	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भिः
चतुर्थी	पयोमुचे	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
पञ्चमी	पयोमुचः	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
षष्ठी	पयोमुचः	पयोमुचोः	पयोमुचाम्
सप्तमी	पयोमुचि	पयोमुचोः	पयोमुक्षु
सम्बोधन	हे पयोमुक्, पयोमुग्!	हे पयोमुचौ!	हे पयोमुचः!

इस तरह से चकारान्त शब्दों का वर्णन करके अब तकारान्त शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

मह पूजायाम् इस धातु से उणादिसूत्र से शतृप्रत्ययान्त निपातन करके **महत्** शब्द बना है। शतृ में ऋकार की इत्संज्ञा हुई और ऋकार उक् प्रत्याहार में आता है। अतः यह शब्द उगित् कहलाता है। उगित् होने के कारण सर्वनामस्थान के परे होने पर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् का आगम होता है।

३४२ - सान्त महतः संयोगस्य। स् अन्ते यस्य सः सान्तः, तस्य सान्तस्य। सान्त इति लुप्तषष्ठीकं पदं, महतः षष्ठ्यन्तं, संयोगस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **नोपधायाः** से **न** और **उपधायाः** तथा **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** एवं **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** यह पूरे सूत्र की अनुवृत्ति आती है।

सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे होने पर सकारान्त संयोग एवं महत् शब्द में जो नकार, उसकी उपधा को दीर्घ होता है।

जिसको दीर्घ होना है वह उपधा ऐसी होगी- सकारान्त संयोग वाले शब्द की उपधा या महत् शब्द में नुम् होने के बाद शेष नकार की उपधा। सकारान्त संयोग का उदाहरण विद्वस् आदि शब्दों में मिलेगा, यहाँ पर महत् शब्द के दीर्घ का उदाहरण दिखाया गया है।

महान्। मह् धातु से ऋकारान्त **शतृ** प्रत्यय होकर ऋ की इत्संज्ञा होने पर महत् बना है। अतः यह शब्द उगित् है। अब तकारान्त महत् शब्द से प्रथमा का एकवचन सु आया, अनुबन्धलोप हुआ। **महत्+स्** में **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् आगम, अनुबन्धलोप और मित् होने के कारण **मिदचोऽन्त्यात्परः** के नियम से अन्त्य अच् हकारोत्तरवर्ती अकार के बाद बैठा तो बना- **महन्त्+स्।** यहाँ पर तकार की उपधा है नकार, किन्तु सूत्र में नकार को दीर्घ करना इष्ट नहीं है तो नकार को अन्त्य वर्ण मान कर उससे पूर्व के वर्ण अकार की उपधासंज्ञा, उसको **सान्त महतः संयोगस्य** से दीर्घ करके महान् त् स् बना। सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ और तकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप हुआ तो बना- **महान्।** यहाँ पर परत्रिपादी **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा किया गया तकार का लोप पूर्व त्रिपादी **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण नकार का लोप नहीं हुआ, क्योंकि नकार का लोप करने के लिए नकार का अन्त में होना आवश्यक है। जब तकार का लोप ही असिद्ध हुआ तो नकार अन्त में मिलेगा ही नहीं।

महान्तौ। महत् शब्द से औ, नुम् का आगम और **सान्त महतः संयोगस्य** से दीर्घ करके वर्णसम्मेलन होने पर **महान्तौ** सिद्ध हुआ।

महान्तः। महत् शब्द से जस्, अनुबन्धलोप, नुम् का आगम और **सान्त महतः संयोगस्य** से दीर्घ करके वर्णसम्मेलन होने पर सकार का रुत्वविसर्ग करने पर **महान्तः** सिद्ध हुआ।

महान्तम्। महत् शब्द से अम्, नुम् का आगम और **सान्त महतः संयोगस्य** से दीर्घ करके वर्णसम्मेलन होने पर **महान्तम्** सिद्ध हुआ।

अब आगे अजादि विभक्ति में सर्वनामस्थानसंज्ञा के अभाव में नुम् भी नहीं होता और दीर्घ भी नहीं होता है। केवल आपको वर्णसम्मेलन ही करना है और यदि प्रत्यय के अन्त में सकार आता हो तो उसके स्थान पर रुत्वविसर्ग ही करना है, जिससे महतः, महता आदि रूप बनेंगे। हलादि विभक्ति के परे होने पर महत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करके दकार बनाना है, जिससे **महद्भ्याम्, महद्भिः** आदि रूप बनेंगे। सम्बोधन में दीर्घ नहीं होगा, अतः **हे महन्!** बनेगा।

तकारान्त महत्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	महान्	महान्तौ	महान्तः
द्वितीया	महान्तम्	महान्तौ	महतः
तृतीया	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः
चतुर्थी	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
पञ्चमी	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
षष्ठी	महतः	महतोः	महताम्

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

३४३. अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४॥

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। उगित्त्वान्नुम्। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्! शसादौ महद्वत्। भातेर्डवतुः। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य भवन्।

सप्तमी	महति	महतोः	महत्सु
सम्बोधन	हे महन्!	हे महान्तौ!	हे महान्तः!

अब अन्य तकारान्त शब्दों में दीर्घ करने का प्रसंग आगे बता रहे हैं।

३४३- **अत्वसन्तस्य चाधातोः**। अतुश्च अश्च तयोरितरेतरद्वन्द्वः- अत्वसौ, तावन्ते यस्य स अत्वसन्तः, तस्य अत्वसन्तस्य द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। **अत्वसन्तस्य** षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदम्, अधातोः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **नोपधायाः** से न और **उपधायाः** तथा **ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **दीर्घः** एवं **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** यह पूरे सूत्र की तथा **सौ च** से **सौ** की अनुवृत्ति आती है।

सम्बुद्धि-भिन्न सु के परे होने पर अतु जिसके अन्त में हो उसकी उपधा को दीर्घ होता है एवं धातु को छोड़कर अस् जिसके अन्त में हो उसकी उपधा को भी दीर्घ हो जाता है।

इस प्रकार से यह सूत्र भी लगभग वही कार्य करता है जो **सान्त महतः संयोगस्य** करता है। अन्तर इतना ही है कि वह सूत्र केवल सान्तसंयोग और महत् शब्द के उपधा को ही दीर्घ करता है किन्तु यह मतुप्, वतुप् प्रत्यय वाले अनेक शब्दों में तथा अस्-अन्त वाले समस्त धातुओं की उपधा को दीर्घ करता है और यह सूत्र केवल सु के परे रहते करता है तो वह सर्वनामस्थानसंज्ञक सु, औ, जस्, अम्, औट् पाँचों प्रत्यय के परे रहते करता है।

धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। धी से मतुप् प्रत्यय होकर धीमत् बनता है। अतः यह मतु के अतु-अन्त वाला शब्द है। इस लिए **अत्वसन्तस्य चाधातोः** से सु के परे रहने पर दीर्घ होता है। बाकी विधि जैसे महत् शब्द में हुई, उसी प्रकार यहाँ पर करके **धीमान्**।

सु के अतिरिक्त अन्य सर्वनामस्थान के परे रहने पर केवल नुम् का आगम और वर्णसम्मेलन करना है, **धीमन्तौ, धीमन्तः** आदि शब्द सिद्ध होते जायेंगे। असर्वनामस्थान शस् से आगे अजादि विभक्ति के परे केवल वर्णसम्मेलन और हलादि विभक्ति के परे धीमत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करना है। अतः शसादि में यह शब्द महत्-शब्द के समान ही है।

तकारान्त धीमत्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः
द्वितीया	धीमन्तम्	धीमन्तौ	धीमतः
तृतीया	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भिः

अभ्यस्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३४४. उभे अभ्यस्तम् ६।१।५॥

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः।

नुम्-निषेधकं विधिसूत्रम्

३४५. नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८॥

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

चतुर्थी	धीमते	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्यः
पञ्चमी	धीमतः	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्यः
षष्ठी	धीमतः	धीमतोः	धीमताम्
सप्तमी	धीमति	धीमतोः	धीमत्सु
सम्बोधन	हे धीमन्!	हे धीमन्तौ	हे धीमन्तः!

भवान्। भवन्तौ। आप। **भा**-धातु से औणादिक डवतु प्रत्यय करके कृदन्त में **भवत्** सिद्ध होता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर सु विभक्ति आई, अत्वन्त होने के कारण **अत्वसन्तस्य चाधातोः** से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानोऽधातोः** से नुम् करके सुलोप, संयोगान्त तकार का लोप करके **भवान्** बनता है। सु के अतिरिक्त अन्यत्र दीर्घ होता नहीं है। अतः **भवन्तौ, भवन्तः, भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः, भवता, भवद्भ्याम्** आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

भू-धातु से शतृ प्रत्यय होकर भी भवत् बनता है। अतु न होने के कारण दीर्घ नहीं होता। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् ही होती है। रूप- **भवन्, भवन्तौ, भवन्तः, भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः, भवता, भवद्भ्याम्** इत्यादि। इसका अर्थ है- **होने वाला।**

३४४- उभे अभ्यस्तम्। उभे प्रथमान्तम्, अभ्यस्तं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। एकाचो द्वे प्रथमस्य से द्वे की अनुवृत्ति आती है।

छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में जो द्वित्व किया गया है, उन दोनों का समुदाय अभ्यस्तसंज्ञक होता है।

द्वित्व का प्रकरण अष्टाध्यायी में दो जगह आता है- षष्ठाध्याय और अष्टमाध्याय में। यहाँ षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरण को ही लिया गया है, अष्टम अध्याय के द्वित्व को नहीं। अतः अष्टमाध्याय के सूत्रों से द्वित्व होने पर उनकी अभ्यस्तसंज्ञा नहीं होगी।

३४५- नाभ्यस्ताच्छतुः। न अव्ययपदम्, अभ्यस्तात् पञ्चम्यन्तं, शतुः षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इदितो नुम् धातोः** से **नुम्** की अनुवृत्ति आती है।

अभ्यस्त से परे शतृ-प्रत्यय को नुम् का आगम न हो।

यह सूत्र **उगिदचां सर्वनामस्थानोऽधातोः** से प्राप्त नुम् का निषेध करता है।

ददत्, ददद्। देता हुआ। **दा** धातु से शतृ-प्रत्यय, श्लु, द्वित्व, अभ्याससंज्ञा, ह्रस्व और आकार का लोप आदि करके **ददत्** सिद्ध होता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा और **उभे अभ्यस्तम्** से समुदाय की अभ्यस्तसंज्ञा करके सु, नुम् की प्राप्ति, **नाभ्यस्ताच्छतुः** से नुम् का निषेध होने पर ददत् ही रहा। सु का लोप करके तकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करके **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **ददत्, ददद्** ये दो रूप सिद्ध हो जाते

अभ्यस्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३४६. जक्षित्यादयः षट् ६।१।६॥

षड्धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एते अभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षद्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्। गुप्, गुब्। गुपौ। गुपः। गुब्भ्याम्।

....

हैं। अजादिविभक्ति के परे केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे जश्त्व करने पर ददत् के रूप बनते हैं- ददतौ, ददतः, ददतम्, ददतौ, ददतः, ददता, ददद्भ्याम्, ददद्भिः, ददते, ददद्भ्यः, ददतः, ददतोः, ददताम्, ददति, ददत्सु, हे ददत्, हे ददद्, हे ददतौ, हे ददतः!

३४६- जक्षित्यादयः षट्। इति आदिर्येषां ते इत्यादयः। इतिशब्देन जक्ष्-परामर्शः। जक्ष् प्रथमान्तम्, इत्यादयः प्रथमान्तं, षट् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। उभे अभ्यस्तम् से अभ्यस्तम् की अनुवृत्ति आती है।

जागृ आदि छः धातु और सातवीं धातु जक्ष् भी अभ्यस्तसंज्ञक होती हैं।

द्वित्व के विना ही इन सात धातुओं की अभ्यस्तसंज्ञा इस सूत्र से की जाती है। इन सात धातुओं के विषय में एक प्राचीन श्लोक प्रचलित है-

जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥

उपर्युक्त सात धातुओं की अभ्यस्तसंज्ञा होने पर शतृ-प्रत्ययान्त की स्थिति में **नाभ्यस्ताच्छतुः** से नुम् का निषेध किया जाता है।

जक्षत्। खाता हुआ या हँसता हुआ। **जक्ष भक्षहसनयोः।** जक्ष् धातु से शतृ करके जक्षत् बना है। प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु विभक्ति, अभ्यस्तसंज्ञा होने के कारण **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से प्राप्त नुम् का **नाभ्यस्ताच्छतुः** से निषेध होता है। सु का लोप करके तकार के स्थान पर जश्त्व करके दकार होता है और **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व करके **जक्षत्, जक्षद्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अजादिविभक्ति में वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे जश्त्व करके- जक्षतौ, जक्षतः, जक्षतम्, जक्षता, जक्षद्भ्याम्, जक्षद्भिः, जक्षते, जक्षद्भ्याम्, जक्षद्भ्यः, जक्षतः, जक्षतोः, जक्षताम्, जक्षति, जक्षत्सु ये रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह से **जाग्रत्**(जागता हुआ) शब्द के- जाग्रत्, जाग्रद्, जाग्रतौ, जाग्रतः, जाग्रतम्, जाग्रता, जाग्रद्भ्याम्, जाग्रद्भिः, जाग्रते, जाग्रतः, जाग्रतोः, जाग्रताम्, जाग्रति, जाग्रत्सु। इसी तरह **दरिद्रत्**(दरिद्रता को प्राप्त होता हुआ) के- दरिद्रत्, दरिद्रद्, दरिद्रतौ, दरिद्रतः, दरिद्रतम्, दरिद्रता, दरिद्रद्भ्याम्, दरिद्रद्भिः, दरिद्रते, दरिद्रद्भ्यः, दरिद्रतः, दरिद्रतोः, दरिद्रताम्, दरिद्रति, दरिद्रत्सु। इसी तरह **शासत्, चकासत्** के भी रूप बन जाते हैं। उक्त सभी शब्दों के सम्बोधन में प्रथमा की तरह ही रूप होते हैं, केवल **हे** का पूर्वप्रयोग विशेष होता है।

तकारान्त शब्दों का विवेचन पूर्ण करके अब पकारान्त शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

गुप्, गुब्। रक्षा करने वाला। गोपायतीति गुप्। गुप्(गुपू) धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारलोप करके गुप् बना है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु प्रत्यय, उसका लोप,

कञ्-क्विन्-प्रत्ययविधायकं विधिसूत्रम्

३४७. त्यदादिषु दृशोऽनालोकने कञ्च ३।२।६०॥

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्यात्, चात् क्विन्।

आकारान्तादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३४८. आ सर्वनाम्नः ६।३।९१॥

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु।

तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्। **व्रश्चेति** षः। जश्त्वचर्त्वे। विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्।

....

पकार को जश्त्व करके वैकल्पिक चर्त्व करने पर **गुप्, गुब्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अब अजादिविभक्ति में वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति में जश्त्व करके इसके रूप- गुपौ, गुपः, गुपम्, गुपा, गुब्भ्याम्, गुब्भिः, गुपे, गुब्भ्यः, गुपः, गुपोः, गुपाम्, गुपि, गुप्सु, हे गुप्! हे गुपौ! हे गुपः! ये रूप सिद्ध होते हैं।

अब शकारान्त शब्दों का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

३४७- त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च। त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयः, तेषु त्यदादिषु, बहुव्रीहिः। आलोचनं ज्ञानम्, न आलोचनम् अनालोचनं, तस्मिन् अनालोचने। त्यदादिषु सप्तम्यन्तं दृशः पञ्चम्यन्तम्, अनालोचने सप्तम्यन्तं कन् प्रथमान्तं, च अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **स्पृशोऽनुदके क्विन्** से **क्विन्** की अनुवृत्ति आती है।

त्यद् आदि शब्दों के उपपद होने पर ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक दृश् धातु से कन् एवं क्विन् प्रत्यय हों।

सूत्र में चकार पढ़े जाने के कारण बारी-बारी से दोनों प्रत्यय हो जाते हैं। कन् होने के पक्ष अकार शेष रहता है और धातु से युक्त होने पर अकारान्त शब्द बन जाता है, जिसके पुँल्लिङ्ग में **रामशब्द** की तरह ही **तादृशः, तादृशौ, तादृशाः** आदि रूप बनते हैं। स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** आदि सूत्रों से **ङीप्** होकर **नदी** की तरह **तादृशी**, नपुंसकलिङ्ग में **ज्ञानम्** की तरह **तादृशम्** आदि रूप बनते हैं। क्विन् प्रत्यय होने के पक्ष में सर्वापहार लोप हो जाता है, जिससे धातु हलन्त ही रहता है। उसके रूप हलन्त शब्दों की तरह बनते हैं। चाहे क्विन् हो या कन्, त्यदादि में आकारान्तादेश दोनों में होता है।

३४८- आ सर्वनाम्नः। आ लुप्तप्रथमाकं पदं, सर्वनाम्नः पञ्चम्यन्तं, द्विपदं सूत्रम्। **दृग्दृशवतुषु** यह सूत्र आता है।

दृग्, दृश् शब्द तथा वतु प्रत्यय के परे होने पर सर्वनामसंज्ञक शब्द को आकार अन्तादेश होता है।

तादृक्, तादृग्। वैसा दीखने वाला। तद् इस त्यदादि से परे **दृश्** धातु है। उससे **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** से क्विन् प्रत्यय हुआ, सर्वापहारलोप होकर **आ सर्वनाम्नः** से दृश् के परे होने पर तद् दकार के स्थान पर आकार आदेश होकर तादृश् बना। इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु-प्रत्यय, उसका लोप करके **तादृश्** ही रहा। शकार के स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व और **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से षत्व की

कवर्गादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३४१. **नशेर्वा ८।२।६३॥**

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते।

नक्, नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्।

....

प्राप्ति एक साथ हुई किन्तु परत्रिपादी होने के कारण **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** असिद्ध हुआ तो **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से षकार आदेश हुआ। **तादृष्** बना। षकार को जश्त्व होकर डकार बना। अब डकार के स्थान पर कुत्व होकर गकार बना। **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **तादृक्, तादृग्** ये दो रूप सिद्ध हो गये। अजादि विभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर षत्व, जश्त्व, कुत्व, करके तादृशौ, तादृशः, तादृशम्, तादृशा, तादृग्भ्याम्, तादृग्भिः, तादृशे, तादृग्भ्यः, तादृशः, तादृशोः, तादृशाम्, तादृशि, तादृक्षु, हे तादृक्-ग्, हे तादृशौ! हे तादृशः! ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

त्यदादिगण में त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, (अदस्, एक, द्वि) युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् ये शब्द आते हैं। इनसे भी कञ् और क्विन् दोनों प्रत्यय होते हैं तथा दृग्, दृश, वतु के परे होने पर आकार अन्तादेश होता है। जैसे- **त्यद्** से **त्यादृशः** और **त्यादृक्**(उसके जैसा दीखने वाला), **यद्** से **यादृशः** और **यादृक्** (जैसा दीखने वाला), **एतद्** से **एतादृशः**- और **एतादृक्** (ऐसा), **इदम्** से **ईदृशः** और **ईदृक्** (ऐसा) **अदस्**, **एक**, **द्वि** के रूप अप्रचलित हैं, **युष्मद्** के **युष्मादृशः** और **युष्मादृक्** (तुम्हारे जैसा) **अस्मद्** के **अस्मादृशः** और **अस्मादृक्** (हमारे जैसा) **भवत्** के **भवादृशः** और **भवादृक्** (आपके जैसा) **किम्** के **कीदृशः** और **कीदृक्** ये सम्पन्न हो जाते हैं। **इदम्** और **किम्** को आकार आदेश न होकर **ईश्** और **की** आदेश होते हैं।

विट्, विड्। वैश्य। **विश प्रवेशने** धातु से क्विन्, सर्वापहारलोप करके **विश्** रह जाता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु प्रत्यय, उसका लोप, **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से शकार के स्थान पर षत्व करके **विष्** बनता है। जश्त्व करके वैकल्पिक चर्त्व करने पर **विट्, विड्** ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन करना और हलादिविभक्ति के परे षत्व और जश्त्व करने पर **विशौ, विशः, विशम्, विशा, विड्भ्याम्, विड्भिः, विशे, विड्भ्यः, विशः, विशोः, विशाम्, विशि, विट्त्सु-विट्सु** ये रूप बनते हैं।

३४१- **नशेर्वा**। नशेः षष्ठ्यन्तं, वा अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** का अधिकार है। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से **कुः** तथा **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है। **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** की उपस्थिति होती है।

पदान्त में नश् शब्द को विकल्प से कवर्ग अन्तादेश होता है।

नक्, नग्, नट्, नड्। नाशवान्, नश्वर। **नश**(णश् अदर्शने) धातु से क्विप्, सर्वापहारलोप करके **नश्** बना है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु प्रत्यय, उसका लोप। शकार के स्थान **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से षत्व कर, षकार के स्थान पर जश्त्व करके डकार होने पर **नशेर्वा** से शकार के स्थान पर विकल्प से कुत्व होकर गकार हुआ, **नग्** बना। **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व करके **नक्, नग्** ये दो रूप सिद्ध हुए।

क्विन्-प्रत्ययविधायकं विधिसूत्रम्

३५०. स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८॥

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृग्भ्याम्। दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृग्भ्याम्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्। षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः। षण्णाम्। षट्सु। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषो रुरिति रुत्वम्।

....

नशेर्वा से कुत्व न होने के पक्ष में डकारान्त ही है। डकार के स्थान पर वावसाने से वैकल्पिक चर्त्व करने पर नट्, नड् ये दो रूप बनते हैं। इस तरह प्रथमा के एकवचन में चार रूप सिद्ध हो गये। अन्य हलादिविभक्ति के परे वाऽवसाने के न लगने के कारण डकार और गकार वाले दो ही रूप होते हैं तथा अजादि विभक्ति के परे केवल वर्णसम्मेलन होता है। इस तरह नश् शब्द के रूप बनते हैं- नशौ, नशः, नशम्, नशा, नग्भ्याम्-नड्भ्याम्, नग्भिः-नड्भिः, नशे, नग्भ्यः-नड्भ्यः, नशः, नशोः, नशाम्, नशि, नट्त्सु-नट्सु-नक्षु। सम्बोधन में प्रथमा के रूपों के साथ हे का पूर्वप्रयोग होता है।

३५०- स्पृशोऽनुदके क्विन्। न उदकम् अनुदकं, तस्मिन् अनुदके। स्पृशः पञ्चम्यन्तम्, अनुदके सप्तम्यन्तं, क्विन् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **सुपि स्थः** से सुपि की अनुवृत्ति आती है।

उदक-शब्द से भिन्न अन्य सुबन्त के उपपद होने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है।

स्मरण रहे कि क्विन् प्रत्यय एक प्रयोजन **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व करना है।

घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घी को छूने वाला। **घृत पूर्वक स्पृश्** धातु से **स्पृशोऽनुदके क्विन्** से क्विन् प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप करके प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय, उसका लोप, **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से शकार के स्थान षकार आदेश और षकार के स्थान पर जश्त्व होने पर डकार आदेश हुआ। डकार के स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होकर गकार हुआ और **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर ककार हुआ, चर्त्व न होने के पक्ष में गकार ही रह गया। इस तरह **घृतस्पृक्, घृतस्पृग्** ये दो रूप सिद्ध हुए। आगे अजादि विभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर षत्व, जश्त्व, कुत्व करके इसके रूप बनते हैं- घृतस्पृशौ, घृतस्पृशः, घृतस्पृशम्, घृतस्पृशा, घृतस्पृग्भ्याम्, घृतस्पृग्भिः, घृतस्पृशे, घृतस्पृग्भ्यः, घृतस्पृशः, घृतस्पृशोः, घृतस्पृशाम्, घृतस्पृशि, घृतस्पृक्षु, हे घृतस्पृक्-ग्! हे घृतस्पृशौ! हे घृतस्पृशः!

इस तरह शकारान्त शब्दों का विवेचन करके अब षकारान्त शब्दों का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

दधृक्, दधृग्। धर्षण करने वाला, तिरस्कार करने वाला। धृष् धातु से **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** से क्विन्-प्रत्ययान्त निपातन करके दधृष् निष्पन्न हुआ है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, उसका लोप, षकार को जश्त्व करके डकार और उसके स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होकर दधृग् बना। वैकल्पिक चर्त्व होने

प्रकरणम्)

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

३५१. **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६॥**

रेफवान्तयोर्धात्वोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते।

पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठीर्भ्याम्।

....

पर दधृक्, दधृग् ये दो रूप सिद्ध हुए। अजादि विभक्ति के परे षकार आगे मिल जाता है और हलादिविभक्ति के परे होने पर जशत्व करके डकार, कुत्व करके गकार हो जाता है। दधृषौ, दधृषः, दधृषम्, दधृषा, दधृग्भ्याम्, दधृग्भिः, दधृषे, दधृग्भ्यः, दधृषः, दधृषोः, दधृषाम्, दधृषि, दधृक्षु, हे दधृक्-ग्! हे दधृषौ! हे दधृषः! ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्न को चुराने वाला। रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। **मुष** स्तेये धातु है। उसके क्विप् प्रत्यय, सर्वापहार लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, उसका भी लोप, षकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जशत्व करके **रत्नमुड्**, वैकल्पिक चर्त्व करके **रत्नमुट्** ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। अजादि विभक्ति के परे वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर जशत्व करके रत्नमुषौ, रत्नमुषः, रत्नमुषम्, रत्नमुषा, रत्नमुड्भ्याम्, रत्नमुड्भिः, रत्नमुषे, रत्नमुड्भ्यः, रत्नमुषः, रत्नमुषोः, रत्नमुषाम्, रत्नमुषि, रत्नमुट्त्सु-रत्नमुट्सु, हे रत्नमुट्! हे रत्नमुषौ! हे रत्नमुषः! बनते हैं।

षट् शब्द छः संख्या का वाचक है, अतः केवल बहुवचनान्त है। इसकी **ष्णान्ता षट्** से षट्संज्ञा होती है और जस् और शस् का **षड्भ्यो लुक्** से लुक् हो जाता है। डकार को वैकल्पिक चर्त्व करके प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में **षट्, षड्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। भिस्, भ्यस्, आम् और सुप् में क्रमशः **षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, षट्सु** ये रूप बनते हैं। **षण्णाम्** में ष्टुत्व और अनुनासिक की प्रक्रिया **हल्सन्धि** में बताई जा चुकी है।

३५१- **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः**। र् च व् च र्वौ-र्वौ, तयोः- र्वोः। र्वोः षष्ठ्यन्तम्, उपधायाः षष्ठ्यन्तं, दीर्घः प्रथमान्तम्, इकः षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **सिपि धातो रुर्वा** से **धातोः** की और **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

पदान्त में रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा इक् को दीर्घ होता है।

पिपठीः। पढ़ने की इच्छा रखने वाला। पठ् धातु से सन्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अभ्यास को इत्व, इट् का आगम और सन् के सकार को षत्व करके **पिपठिष्** बना है। इसकी पहले **सनाद्यन्ता धातवः** से धातुसंज्ञा होती है और धातुत्वात् क्विप् प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप, **पिपठिष्** की प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु आदि प्रत्यय आते हैं। यहाँ पर सु आया पिपठिष्+स् बना। स् का लोप करके **पिपठिष्** है। परत्रिपादी **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा किया गया षत्व पूर्वत्रिपादी **ससजुषो रुः** की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण इस सूत्र से ष् को स् मानकर के रु आदेश हुआ। **पिपठिर्** बना। **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से ठकारोत्तरवर्ती उपधाभूत इकार को दीर्घ हुआ- **पिपठीर्** बना। रेफ का विसर्ग हुआ- **पिपठीः** सिद्ध हुआ। आगे अजादिविभक्ति के परे रुत्व और दीर्घ नहीं होते हैं। अतः **पिपठिष्** के षकार को अच् में मिलाने तथा हलादिविभक्ति के परे **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से दीर्घ करके रूप सिद्ध होते हैं।

मूर्धन्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३५२. नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८॥

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु, पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकीर्षु। विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्।

....

३५२- **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि।** नुम् च विसर्जनीयश्च, शर् च तेषामितरेतरद्वन्द्वो नुम्विसर्जनीयशरः, तेषां व्यवायो नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायः, तस्मिन् नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये। नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये सप्तम्यन्तम्, अपि अव्ययं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इण्कोः** का अधिकार है। **सहेः साडः सः** से **सः** तथा **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** से **मूर्धन्यः** की अनुवृत्ति आती है।

नुम्, विसर्जनीय और शर् इन में किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण् और कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।

षत्व के लिए निमित्त इण् और कवर्ग है। **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व करने के लिए सकार और इण् या कवर्ग के बीच में किसी अन्य का व्यवधान नहीं होना चाहिए। यह सूत्र यहाँ पर विधान करता है कि यदि व्यवधान हो तो नुम्, विसर्जनीय विसर्ग और शर् प्रत्याहार के वर्ण श्, ष्, स् का ही व्यवधान हो सकता है अर्थात् इनके व्यवधान होने पर मूर्धन्य आदेश के लिए कोई बाधा नहीं मानी जाती है।

पिपठीष्षु, पिपठीःषु। पिपठिष् से सप्तमी का बहुवचन सुप्, अनुबन्धलोप होकर पिपठिष्+सु बना है। पहले **ससजुषो रुः** से रुत्व करके **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से दीर्घ होकर पिपठीर्+सु बना। रेफ को **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ। विसर्ग के स्थान पर **विसर्जनीयस्य सः** से सकारादेश प्राप्त था, उसे बाधकर **वा शरि** से वैकल्पिक विसर्ग आदेश हुआ। इस तरह **पिपठीः+सु** और **पिपठीस्+सु** बन गये। अब हमें **आदेशप्रत्यययोः** से सुप् के सकार को षकारादेश करना है किन्तु ईकार और सकार के बीच में एक जगह विसर्ग का और एक जगह सकार का व्यवधान है। फलतः सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः सूत्र लगा- **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि।** इससे विसर्ग और सकार के व्यवधान में भी दोनों जगह सु के सकार को मूर्धन्यादेश अर्थात् षत्व हुआ। अतः **पिपठीस्+षु** और **पिपठीःषु** बन गये। **पिपठीस्+षु** में **ष्टुना ष्टुः** से सकार को ष्टुत्व होकर षकार बन गया। **पिपठीष्षु** बन गया। इस तरह **पिपठीःसु** और **पिपठीष्षु** दो रूप सिद्ध हो गये।

षकारान्त पिपठिष्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
द्वितीया	पिपठिषम्	पिपठिषौ	पिपठिषः
तृतीया	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
चतुर्थी	पिपठिषे	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः
पञ्चमी	पिपठिषः	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः
षष्ठी	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्

प्रकरणम्)

सम्प्रसारणविधायकं विधिसूत्रम्

३५३. **वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१॥**

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। विदुषः। **वसुस्रंस्विति** दः। विद्वद्भ्याम्।

सप्तमी	पिपठिषि	पिपठिषोः	पिपठीष्षु, पिपिठीःषु
सम्बोधन	हे पिपठीः	हे पिपिठिषौ	हे पिपठिषः!

चिकीः। करने की इच्छा वाला। कर्तुमिच्छतीति चिकीर्षति। कृ धातु से सन्, द्वित्व आदि सन्नन्त की प्रक्रिया करके **चिकीर्ष्** बना। उसकी धातुसंज्ञा और क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारलोप आदि करके **चिकीर्ष्** की प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। सु प्रत्यय, उसका लोप करके षकार के असिद्ध होने के कारण सकार दिखाई देता है। अतः उसका **रात्सस्य** के नियमानुसार **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप हुआ, **चिकीर्** बना। रेफ का विसर्ग हुआ, **चिकीः** सिद्ध हुआ। यहाँ पर सनाद्यन्त-धातुसंज्ञा होने के पहले ही दीर्घ हो चुका है, अतः स्वादि प्रत्यय के आने के बाद में दीर्घ का प्रश्न नहीं है। अब आगे अजादि विभक्ति के परे वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे षकार का **संयोगान्तलोप** करके निम्नलिखित रूप सिद्ध होते हैं।

षकारान्त चिकीर्ष्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	चिकीः	चिकीर्षौ	चिकीर्षः
द्वितीया	चिकीर्षम्	चिकीर्षौ	चिकीर्षः
तृतीया	चिकीर्षा	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भिः
चतुर्थी	चिकीर्षे	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
पञ्चमी	चिकीर्षः	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
षष्ठी	चिकीर्षः	चिकीर्षोः	चिकीर्षाम्
सप्तमी	चिकीर्षि	चिकीर्षोः	चिकीर्षु
सम्बोधन	हे चिकीः	हे चिकीर्षौ	हे चिकीर्षः!

षकारान्त शब्दों के निरूपण के बाद अब सकारान्त शब्दों का निरूपण करते हैं।

विद्वान्। ज्ञाता। विद् ज्ञाने धातु से वसु प्रत्यय होकर **विद्वस्** शब्द सिद्ध होता है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होने के बाद सु प्रत्यय, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् होकर विद्वन्स्+स् बना। **सान्त महतः संयोगस्य** से नकार के उपधाभूत अकार को दीर्घ हुआ, विद्वान्+स्+स् बना। स् का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप, सकार का संयोगान्तलोप करके विद्वान् सिद्ध हुआ। आगे सर्वनामस्थान के परे रहने पर नुम् और दीर्घ करके नकार को **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार करके **विद्वांसौ, विद्वांसः** आदि रूप बनते हैं। असर्वनामस्थान के परे होने पर आगे का सूत्र प्रवृत्त होता है।

३५३- **वसोः सम्प्रसारणम्**। वसोः षष्ठ्यन्तं, सम्प्रसारणं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **भस्य** और **अङ्गस्य** का अधिकार है।

वसु-प्रत्ययान्तभसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है।

स्मरण रहे कि भसंज्ञा शसादि अजादि तथा यकारादि प्रत्यय के परे पूर्व को होती

है और सम्प्रसारण में यण् के स्थान पर इक् होता है। यहाँ **वस्** में वकार के स्थान पर सम्प्रसारण होकर उकार होता है।

विदुषः। विद्वस्-शब्द से शस्, अनुबन्धलोप, भसंज्ञा करके **विद्+वस्** में वकार के स्थान पर **वसोः सम्प्रसारणम्** से सम्प्रसारण होकर उकार हुआ, **विद्+उ+अस्+अस्** बना। **उ+अस्** में **सम्प्रसारणाच्च** से पूर्वरूप होकर **उस्** हो गया, **विद्+उस्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **विदुस्+अस्** बना। उकार से परे सकार को **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व होकर **विदुष्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन और सकार को रुत्व और विसर्ग करके **विदुषः** बना। आगे अजादिविभक्ति के परे होने पर यही प्रक्रिया होती है जिससे **विदुषा**, **विदुषे**, **विदुषः**, **विदुषाम्** आदि रूप बनते हैं और हलादिविभक्ति के परे होने पर भसंज्ञा के अभाव में सम्प्रसारण नहीं होता किन्तु **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा होकर **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** से सकार के स्थान दकार आदेश होकर **विद्वद्भ्याम्**, **विद्वद्भिः** आदि रूप बनते हैं। सुप् के परे होने पर दकार के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर तकार आदेश होता है और सम्बोधन में दीर्घ नहीं होता है।

सकारान्त विद्वस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
द्वितीया	विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः
तृतीया	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
चतुर्थी	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
पञ्चमी	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
षष्ठी	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
सप्तमी	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
सम्बोधन	हे विद्वन्!	हे विद्वांसौ	हे विद्वांसः

इसयुन् प्रत्ययान्त शब्दों के रूप भी लगभग **विद्वस्** शब्द की तरह ही होते हैं। अन्तर इतना है कि सम्प्रसारण और पदान्त में दत्व नहीं होता है। श्रेयस् शब्द इयसुन् प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ है। श्रेयान्(दोनों में अधिक कल्याणकारी, अच्छा) इसके रूप भी देखिये-

सकारान्त इयसुन्-प्रत्ययान्त श्रेयस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांसः
द्वितीया	श्रेयांसम्	श्रेयांसौ	श्रेयसः
तृतीया	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभिः
चतुर्थी	श्रेयसे	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्यः
पञ्चमी	श्रेयसः	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्यः
षष्ठी	श्रेयसः	श्रेयसोः	श्रेयसाम्
सप्तमी	श्रेयसि	श्रेयसोः	श्रेयस्सु, श्रेयःसु
सम्बोधन	हे श्रेयन्!	हे श्रेयांसौ!	हे श्रेयांसः!

इसी तरह अन्य इयसुन् प्रत्ययान्त शब्दों को भी जानना चाहिए।

प्रकरणम्)

असुङादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३५४. **पुंसोऽसुङ् ७।१।८९॥**

सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात्।

पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः। पुम्भ्याम्। पुंसु।

ऋदुशनेत्यनङ्। उशना। उशनसौ।

वार्तिकम्- **अस्य सम्बुद्धौ वानङ्, नलोपश्च वाच्यः।** हे उशन, हे उशनन्! हे उशनसौ। उशनोभ्याम्। उशनस्सु।

अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः। वेधाः। वेधसौ। हे वेधः। वेधोभ्याम्।

....

अणीयस् दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म- **अणीयान्, अणीयांसौ, अणीयसः, अणीयोभ्याम्।**
अल्पीयस् दोनों में अधिक थोड़ा- **अल्पीयान्, अल्पीयांसौ, अल्पीयसः, अल्पीयोभ्याम्।**
कनीयस् दोनों में अधिक थोड़ा- **कनीयान्, कनीयांसौ, कनीयसः, कनीयोभ्याम्।**
गरीयस् दोनों में अधिक भारी- **गरीयान्, गरीयांसौ, गरीयसः, गरीयोभ्याम्।**
ज्यायस् दोनों में अधिक बड़ा, वृद्ध- **ज्यायान्, ज्यायांसौ, ज्यायसः, ज्यायोभ्याम्।**
पटीयस् दोनों में अधिक चतुर- **पटीयान्, पटीयांसौ, पटीयसः, पटीयोभ्याम्।**
पापीयस् दोनों में अधिक पापी- **पापीयान्, पापीयांसौ, पापीयसः, पापीयोभ्याम्।**
प्रेयस् दोनों में अधिक प्रिय- **प्रेयान्, प्रेयांसौ, प्रेयसः, प्रेयोभ्याम्।**
बलीयस् दोनों में अधिक बली- **बलीयान्, बलीयांसौ, बलीयसः, बलीयोभ्याम्।**
भूयस् दोनों में अधिक ज्यादा- **भूयान्, भूयांसौ, भूयसः, भूयोभ्याम्।**
महीयस् दोनों में अधिक बड़ा- **महीयान्, महीयांसौ, महीयसः, महीयोभ्याम्।**
लघीयस् दोनों में अधिक छोटा- **लघीयान्, लघीयांसौ, लघीयसः, लघीयोभ्याम्।**
वरीयस् दोनों में अधिक विशाल- **वरीयान्, वरीयांसौ, वरीयसः, वरीयोभ्याम्।**
साधीयस् दोनों में अधिक अच्छा- **साधीयान्, साधीयांसौ, साधीयसः, साधीयोभ्याम्।**

३५४- पुंसोऽसुङ्। पुंसः षष्ठ्यन्तम्, असुङ् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से **सर्वनामस्थाने** की अनुवृत्ति आती है।

सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय की विवक्षा हो तो पुंस् को असुङ् आदेश होता है।

असुङ् में उकार और ङकार की इत्संज्ञा होती है। ङित् होने के कारण ङिच्च के नियम से अन्त्य वर्ण **पुम्स्** के सकार के स्थान पर यह आदेश हो जाता है।

पुमान्। पुरुष। **पूञ् पवने** धातु से डुम्सुन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, टिलोप आदि होकर **पुम्स्** सिद्ध हुआ है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु प्रत्यय आने पर सर्वनामस्थानसंज्ञा होकर पुम्स् के सकार के स्थान **पुंसोऽसुङ्** से असुङ् आदेश, अनुबन्धलोप होकर **पुम्+अस्+स्** वर्णसम्मेलन होकर **पुमस्+स्** बना। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम् होकर **पुमन्स्+स्** बना। **सान्त महतः संयोगस्य** से दीर्घ होकर **पुमान्स्+स्** बना। सु वाले सकार का हल्ङ्यादि लोप, शब्द के सकार का संयोगान्तलोप होकर **पुमान्** सिद्ध हुआ। अब सर्वनामस्थान अजादिविभक्ति के परे होने पर असुङ् आदेश और दीर्घ और नकार को **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार होकर **पुमांसौ, पुमांसः** आदि रूप बनते हैं। असर्वनामस्थान

अजादिविभक्ति के परे होने पर असुङ् आदेश और दीर्घ नहीं होते। अतः केवल नकार को अनुस्वार करके वर्णसम्मेलन होकर **पुंसः, पुंसा, पुंसे** आदि रूप सिद्ध होते हैं। हलादिविभक्ति भ्याम् आदि के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा करके सकार का संयोगान्तलोप होता है। मकार को **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार और उसको **वा पदान्तस्य** से वैकल्पिक परसवर्ण के रूप में मकार हो जाता है, जिससे **पुम्भ्याम्, पुम्भिः** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सकारान्त पुम्स्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः
द्वितीया	पुमांसौ	पुमांसौ	पुंसः
तृतीया	पुंसा	पुम्भ्याम्	पुम्भिः
चतुर्थी	पुंसे	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः
पञ्चमी	पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः
षष्ठी	पुंसः	पुंसोः	पुंसाम्
सप्तमी	पुंसि	पुंसोः	पुंसु
सम्बोधन	हे पुमन्!	हे पुमांसौ!	हे पुमांसः

परसवर्ण न होने के पक्ष में पुंभ्याम्, पुंभिः आदि रूप भी बनते हैं।

उशना। शुक्राचार्य। **उशनस्** इस सकारान्त शब्द से सु, **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** से सकार के स्थान पर अनङ् आदेश होकर **उशनन्+स्** बना। **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** से दीर्घ होकर **उशनान्+स्** बना। सु का लोप और नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप होकर **उशना** सिद्ध हुआ। औ आदि अजादि विभक्ति के परे अनङ् आदेश नहीं होता है। अतः दीर्घ भी नहीं होगा। केवल वर्णसम्मेलन करके **उशनसौ, उशनसः** आदि रूप वन जाते हैं। हलादिविभक्ति के परे होने पर पदसंज्ञा होकर स् को रुत्व और **हशि च** से उत्व होकर **आद्गुणः** से गुण होने पर **उशनोभ्याम्, उशनोभिः** आदि रूप बनते हैं। सुप् में **वा शरि** से वैकल्पिक विसर्ग आदेश होने से विसर्ग वाला और सकार वाला दो रूप बनते हैं। सम्बोधन में-

अस्य सम्बुद्धौ वानङ्, नलोपश्च वा वाच्यः। यह वार्तिक है। **उशनस् शब्द के सम्बुद्धि के परे होने पर विकल्प से अनङ् आदेश और विकल्प से नकार का** लोप **होता है।** अतः अनङ् आदेश होकर नकार के लोप होने के पक्ष में **हे उशन!** और लोप न होने के पक्ष में हे **उशनन्** तथा अनङ् आदेश भी न होने के पक्ष में सकार को रुत्वविसर्ग होकर **हे उशनः!** ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

सकारान्त उशनस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उशना	उशनसौ	उशनसः
द्वितीया	उशनसम्	उशनसौ	उशनसः
तृतीया	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
चतुर्थी	उशनसे	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
पञ्चमी	उशनसः	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
षष्ठी	उशनसः	उशनसोः	उशनसाम्

औकारादेशसुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

३५५. अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७॥

अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे सुलोपश्च।

तदोरिति सः। असौ। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। वृद्धिः।

....

सप्तमी	उशनसि	उशनसोः	उशनःसु, उशनस्सु
सम्बोधन	हे उशन, उशनन्, उशनः,	हे उशनसौ!	हे उशनसः!

अनेहा। समय। अनेहस् शब्द के रूप भी उशनस् शब्द की तरह होते हैं। **अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः, अनेहसम्, अनेहसौ, अनेहसः अनेहसा, अनेहोभ्याम्, अनेहोभिः, अनेहसे, अनेहोभ्यः, अनेहसः, अनेहसोः, अनेहसाम्, अनेहसि, अनेहस्सु, हे अनेहः।**

वेधा। ब्रह्मा। विपूर्वक धा धातु से असि प्रत्यय होकर **वेधस्** शब्द सिद्ध हुआ है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु प्रत्यय, **अत्वसन्तस्य चाधातोः** से दीर्घ होकर **वेधास्+स्** बना। सु के सकार का लोप और वेधास् के सकार का रुत्व और विसर्ग होकर **वेधाः** सिद्ध होता है। आगे अजादि विभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन करना तथा हलादि विभक्ति के परे स् को रुत्व और उसको उत्व करके गुण करने पर **वेधोभ्याम्, वेधोभिः** आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सकारान्त वेधस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वेधाः	वेधसौ	वेधसः
द्वितीया	वेधसम्	वेधसौ	वेधसः
तृतीया	वेधसा	वेधोभ्याम्	वेधोभिः
चतुर्थी	वेधसे	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
पञ्चमी	वेधसः	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
षष्ठी	वेधसः	वेधसोः	वेधसाम्
सप्तमी	वेधसि	वेधसोः	वेधस्सु, वेधःसु
सम्बोधन	हे वेधः	हे वेधसौ!	हे वेधसः

इसी तरह निम्नलिखित शब्दों के भी रूप बनते हैं-

चन्द्रमस् चन्द्रमा- **चन्द्रमाः, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसा, चन्द्रमोभ्याम्** आदि।
सुमेधस् अच्छी बुद्धि वाला- **सुमेधाः, सुमेधसौ, सुमेधसा, सुमेधोभ्याम्।**
सुमनस् देवता, **सुमनाः, सुमनसौ, सुमनसः, सुमनसा, सुमनोभ्याम्।**
वनौकस् वनवासी, **वनौकाः, वनौकसौ, वनौकसः, वनौकसा, वनौकोभ्याम्।**
दिवौकस् देवता, **दिवौकाः, दिवौकसौ, दिवौकसः, दिवौकसा, दिवौकोभ्याम्।**
जातवेदस् अग्नि, **जातवेदाः, जातवेदसौ, जातवेदसः, जातवेदसा, जातवेदोभ्याम्।**
पुरोधस् पुरोहित, **पुरोधाः, पुरोधसौ, पुरोधसः, पुरोधसा, पुरोधोभ्याम्।**
अङ्गिरस् एक ऋषि, **अङ्गिराः, अङ्गिरसौ, अङ्गिरसः, अङ्गिरसा। अङ्गिरोभ्याम्।**

३५५- **अदस औ सुलोपश्च।** सोर्लोपः सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अदसः षष्ठ्यन्तम्, औ लुप्तप्रथमाकं पदं, सुलोपः प्रथमान्तं, च अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **तदोः सः सावनन्त्ययोः** से सौ की अनुवृत्ति आती है।

उदूत्मत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३५६. अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०॥

अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च।

आन्तरतम्याद्ध्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी। गुणः।

ईदादेशमत्वविधायकं विधिसूत्रम्

३५७. एत ईद् बहुवचने ८।२।८१॥

अदसो दात्परस्यैत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी।

पूर्वत्रासिद्धमिति विभक्तिकार्यं प्राक् पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू।

अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः।

सु के परे होने पर अदस् शब्द को औकार अन्तादेश और सु का लोप होता है।

यह सूत्र दो कार्य एक साथ करता है- प्रथम औकार आदेश और दूसरा सु का लोप। सकार के स्थान पर औकार आदेश होने के बाद हलन्त न मिलने के कारण सुलोप का भी विधान करना पड़ा।

असौ। वह(दूर का) **अदस्** शब्द से सुप्रत्यय। यह सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण में है, इस कारण से सर्वनामसंज्ञक है। **त्यदादीनामः** से अत्व प्राप्त था, उसे बाधकर के **अदस औ सुलोपश्च** से सकार के स्थान पर **औ** आदेश और सु का लोप ये दोनों कार्य हुए- **अद+औ** बना। **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **अदौ** बना। प्रत्ययलक्षण के द्वारा सु विभक्ति मानकर **तदोः सः सावनन्तययोः** से दकार के स्थान पर सकार आदेश होकर **असौ** सिद्ध हुआ।

३५६- अदसोऽसेर्दादु दो मः। नास्ति सिः यस्य सः- असिः, तस्य असेः। अदसः षष्ठ्यन्तम्, असेः षष्ठ्यन्तं, दात् पञ्चम्यन्तम्, उ लुप्तप्रथमाकं, दः षष्ठ्यन्तं, मः प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

जिसके अन्त में सकार न हो ऐसे अदस् शब्द के दकार से परे वर्ण को उकार और ऊकार आदेश और दकार को मकार आदेश होता है।

त्यदादीनामः से सकार के स्थान पर अकार आदेश होने पर सकारान्त नहीं रहेगा। **अदस्** में दकार के बाद अकार है किन्तु दीर्घ या वृद्धि के विधान होने के बाद दीर्घ आकार आदि भी हो सकता है। उस ह्रस्व या दीर्घ वर्ण के स्थान पर इस सूत्र के द्वारा उकारादेश का विधान हो जाता हैं **स्थानेऽन्तरतमः** के द्वारा प्रमाण से सादृश्य लेने पर ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश और दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश हो जाता है। यह सूत्र दकार के स्थान पर मकार आदेश भी करता है। इस तरह से इस सूत्र के द्वारा उत्व और मत्व दो कार्य होते हैं।

अमू। अदस् से द्विवचन औ। **त्यदादीनामः** से सकार के स्थान पर अकार आदेश करके **अतो गुणे** से पररूप करने पर **अद+औ**, वृद्धि होकर **अदौ** बना। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **प्रमाण** के सादृश्य को लेकर औकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश और दकार के स्थान पर मकार आदेश हुआ तो **अमू** सिद्ध हुआ।

निषेधात्मकाविधिसूत्रम्

३५८. **न मु ने ८।२।३॥**

नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः।

अमुना। अमूभ्याम् ३। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः २। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः२। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु।

इति हलन्तपुँल्लिङ्गाः॥८॥

....

३५७- **एत ईद् बहुवचने।** एतः षष्ठ्यन्तम्, इद् प्रथमान्तं, बहुवचने सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से अदसः, दात्, दः, मः की अनुवृत्ति आती है।

अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार तथा दकार को मकार आदेश होता है बहुवचन में।

अमी। अदस् से बहुवचन में जस् आया, अनुबन्धलोप। **त्यदादीनामः** से अत्व और **अतो गुणे** से पररूप होकर **अद+अस्** बना। **जसः शी** से जस् के स्थान **शी** आदेश, अनुबन्धलोप करके **अद+इ** में गुण करके **अदे** बना। **एत ईद् बहुवचने** से एकार के स्थान पर ईकार आदेश और दकार के स्थान पर मकार आदेश होने पर **अमी** सिद्ध हुआ।

पूर्वत्रासिद्धमिति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। **अदस्** से अम् विभक्ति, अत्व और पररूप होने के बाद **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप और **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से उत्वमत्व एक साथ प्राप्त हो रहे थे तो **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से उत्वमत्वविधायक सूत्र के त्रिपादी होने से असिद्ध हुआ। अतः पहले **अमि पूर्वः** से विभक्तिकार्य होकर बाद में उत्वमत्व होते हैं।

अमुम्। अदस् से द्वितीया का एकवचन अम्, **त्यदादीनामः** से अत्व और पररूप होकर **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **अदम्** बन जाता है। इसके बाद **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से दकारोत्तरवर्ती अकार को उत्व और दकार को मत्व आदेश होकर **अमुम्** सिद्ध हुआ।

अमून्। अदस् से द्वितीया का बहुवचन शस्, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करने के बाद **अद+अस्** बना है। यहाँ पर भी **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से उत्वमत्व के असिद्ध होने के कारण पहले विभक्तिकार्य **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** से पूर्वसवर्णदीर्घ होकर **अदास्** बना। **तस्माच्छसो नः पुंसि** से सकार के स्थान पर नकार आदेश होकर **अदान्** बना। अब **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से दीर्घ आकार के स्थान दीर्घ ऊकार और दकार के स्थान पर मकार आदेश होकर **अमून्** सिद्ध हुआ।

३५८- **न मु ने।** म् च उश्च तयोः समाहारद्वन्द्वो मु। न अव्ययपदं, मु लुप्तप्रथमान्तं, ने सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **पूर्वत्रासिद्धम्** से **असिद्धम्** की अनुवृत्ति आती है।

ना आदेश करना हो या कर लिया गया हो इन दोनों अवस्थाओं में मु-भाव असिद्ध नहीं होता।

अमुना। अदस् से टा, अनुबन्धलोप, अत्व और पररूप करके **अद+आ** बना। अब यहाँ पर **अदसोऽसेर्दादु दो मः** और **टाङसिङसामिनात्स्याः** की एकसाथ प्राप्ति थी किन्तु पर होने के कारण **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से उत्व-मत्व ही हुआ। यहाँ **पूर्वत्रासिद्धम्** के द्वारा उत्वमत्वविधायक सूत्र असिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि यदि ऐसा होता तो **न मु ने** यह सूत्र व्यर्थ

होता। कारण यह है कि **न मु ने** यह सूत्र **ना** की कर्तव्यता में **उत्वमत्व** को **असिद्ध नहीं होने** देता। यदि शास्त्रासिद्धपक्ष को स्वीकार करके पहले ही उत्वमत्व नहीं होता तो पुनः ना की कर्तव्यता में असिद्ध न हो, ऐसा कहना व्यर्थ होता। इस तरह **न मु ने** इस सूत्रारम्भसामर्थ्य से त्रिपादी होते हुए भी पहले उत्वमत्व हो जाता है। उसके बाद **आङो नास्त्रियाम्** से **ना** होकर **अमुना** सिद्ध हो जाता है।

अमुभ्याम्। अदस् से तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन भ्याम् के आने पर अत्व और पररूप करके **अद+भ्याम्** बना। **सुपि च** से दीर्घ करके **अदा+भ्याम्** बना। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से दीर्घ वर्ण आकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार तथा दकार के स्थान पर मकार आदेश करके **अमूभ्याम्** सिद्ध हुआ।

अमीभिः। अदस् से तृतीया के बहुवचन भ्यस् के आने पर अत्व, पररूप करके **अद+भिस्** बना। **अतो भिस् ऐस्** से ऐस् आदेश प्राप्त था, उसका **नेदमदसोरकोः** से निषेध हुआ। **एत ईद् बहुवचने** से ईत्व और मत्व होकर **अमीभिः** सिद्ध हुआ। इसी तरह **अमीभ्यः** भी बनता है।

अमुष्मै। अदस् से चतुर्थी का एकवचन ङे, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करके **अद+ए** बना। **सर्वनाम्नः स्मै** से **स्मै** आदेश होकर उत्वमत्व और सकार को षत्व करने पर **अमुष्मै** सिद्ध होता है।

अमुष्मात्। अदस् से पञ्चमी का एकवचन ङसि, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करके **अद+अस्** बना। **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** से **स्मात्** आदेश होकर उत्वमत्व और सकार को षत्व करने पर **अमुष्मात्** सिद्ध होता है।

अमुष्य। अदस् से षष्ठी का एकवचन ङस्, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करके **अद+अस्** बना। **टाङसिङसामिनात्स्याः** से **स्य** आदेश होकर उत्वमत्व और सकार को षत्व करने पर **अमुष्य** सिद्ध होता है।

अमुयोः। अदस् से षष्ठी और सप्तमी का द्विवचन ओस्, अत्व, पररूप करके **अद+ओस्** बना। **ओसि च** से एकार आदेश **अदे+ओस्**, अय् आदेश और वर्णसम्मेलन होकर **अदयोस्** बना। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से ह्रस्व अकार के स्थान पर उकार आदेश और दकार के स्थान पर मकार आदेश होकर **अमुयोस्**, सकार को रुत्व और विसर्ग करके **अमुयोः** सिद्ध हुआ।

अमीषाम्। अदस् शब्द से षष्ठी का बहुवचन आम् आया। अत्व और पररूप करके **अद+आम्** बना। **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से सुट् का आगम करके **अद+साम्** बना। **बहुवचने झल्येत्** से एत्व होकर **अदे+षाम्** बना। **एत ईद् बहुवचने** से ईत्व और मत्व होने पर **अमी+साम्** और षत्व होकर **अमीषाम्** सिद्ध हुआ।

अमुष्मिन्। अदस् से सप्तमी का एकवचन ङि, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करके **अद+इ** बना। ङसिङ्योः **स्मात्स्मिनौ** से **स्मिन्** आदेश होकर उत्वमत्व और सकार को षत्व करने पर **अमुष्मिन्** सिद्ध होता है।

अमीषु। अदस् से सुप्, अनुबन्धलोप, अत्व, पररूप करके **अद+सु** बना। **एत ईद् बहुवचने** से ईत्व और मत्व करके **अमीसु**, षत्व करके **अमीषु** सिद्ध हुआ।

त्यदादि में सम्बोधन होता नहीं है।

सकारान्त अदस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	असौ	अमू	अमी
द्वितीया	अमुम्	अमू	अमून्
तृतीया	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
चतुर्थी	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
पञ्चमी	अमुष्मात्, अमुष्माद्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
षष्ठी	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
सप्तमी	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु

इस प्रकार से संक्षेप में **हलन्त-पुँल्लिङ्गप्रकरण** यहाँ पूर्ण होता है। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** एक प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इसके बाद **वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी** का अध्ययन करना है। कौमुदी की जो प्रक्रिया है उसे **नव्यव्याकरण** और अष्टाध्यायी के क्रम से काशिका आदि ग्रन्थ की जो प्रक्रिया है, उसे **प्राचीनव्याकरण** कहते हैं। नव्य और प्राचीन का बड़ा मतभेद देखने को मिलता है। जो **प्राचीनव्याकरण** के अध्येता हैं वे **नव्यव्याकरण** पढ़ने वालों की सूत्र भाष्य आदि के क्रम को त्याग करने के कारण निन्दा करते हैं और नव्यवैयाकरण लोग प्राचीन ग्रन्थों में वास्तविक सिद्धान्त प्रतिपादित न होने से और सरलता से व्याकरण के सिद्धान्तों को जानने के लिए भी नवीन ग्रन्थों की आवश्यकता है, ऐसा कहते हैं।

मेरे मत में तो आज के परिप्रेक्ष्य में नव्य और प्राचीन दोनों पद्धति एक दूसरे के पूरक हो सकती हैं। हमने अपने अध्यापन-काल में इसका अच्छा अनुभव किया है। अष्टाध्यायी के क्रम को जाने विना कौमुदी का अध्ययन अपूर्ण है और कौमुदी में जिस प्रकार से प्रक्रिया का सरलता से सिलसिलेवार ढंग से समझाया कराया है, उसका प्राचीन पद्धति में अभाव है। हाँ, अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्रों के लिए तो चाहे प्राचीन पद्धति हो या नवीन पद्धति, दोनों ही सुगम हैं, किन्तु सामान्य बुद्धि वाले छात्रों के लिए प्रक्रिया का सरलता से ज्ञान करना प्राचीन-पद्धति में दुर्गम है किन्तु सूत्रों का व्याख्यान एवं अनुवृत्तिज्ञान के लिए तो वह भी आवश्यक है। अतः शास्त्रार्थ एवं प्रक्रिया दोनों का एक साथ ज्ञान करने के लिए **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** के अध्ययन के समय **काशिका** ग्रन्थ को सामने रखकर साथ-साथ सूत्रों का नियमित रूप से अध्ययन करना चाहिए।

मेरे विचार में तो सबसे श्रेष्ठ क्रम यह रहेगा कि जो छात्र व्याकरण पढ़ने के लिए आते हैं उन्हें सबसे पहले मेरे द्वारा सरलीकृत **ऋजुसिद्धान्तकौमुदी** पढ़ाई जाय, जिससे प्रक्रिया का सामान्य ज्ञान हो जायेगा। साथ साथ **पाणिनीयाष्टाध्यायी** के एक अध्याय के हिसाब से प्रतिमाह पारायण कराया जाय। छोटे छात्रों से यदि अष्टाध्यायी का उच्चारण ठीक से करा लिया जाय और उन्हें प्रथम माह में प्रथमाध्याय और द्वितीय माह में द्वितीयाध्याय के क्रम से पारायण करा लिया जाय तो आठ माह अथवा अधिकतम एक वर्ष में छात्रों को अष्टाध्यायी के सम्पूर्ण सूत्र कण्ठस्थ हो जायेंगे, क्योंकि छात्रावस्था में प्रतिदिन पाठ अर्थात् पारायण से जल्दी याद हो जाता है। यह मेरा स्वयं एवं छात्रों से कराया गया अनुभव है। इस प्रकार से एक वर्ष में **ऋजुसिद्धान्तकौमुदी** और **पाणिनीयाष्टाध्यायी** दोनों याद हो जायेंगे। इसके बाद छात्र की रुचि के हिसाब से **काशिका** पढ़ायें या **लघुसिद्धान्तकौमुदी**

या वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी। हाँ, इतना मेरा सुझाव अवश्य मानें कि कौमुदी के क्रम में काशिका और काशिका के क्रम में कौमुदी को साथ जरूर रखा जाय।

छात्र यह समझ गये होंगे कि हमें साथ-साथ **पाणिनीयाष्टाध्यायी** का प्रतिमास एक-एक अध्याय के क्रम से पारायण करना ही है। परीक्षा के नियमों का ध्यान तो आपको होगा ही। इस परीक्षा में पूर्णाङ्क १०० है और प्रत्येक प्रश्न ५ अंक के हैं।

परीक्षा

१- हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण में सर्वनामस्थानसंज्ञा को लेकर लगने वाले सूत्र कौन-कौन हैं?
२- आपने इस प्रकरण में कहाँ कहाँ मित् आगम किया?
३- आगम और आदेश में क्या अन्तर है?
४- **रषाभ्यां नो णः समानपदे** और **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** में क्या अन्तर है?
५- **अनाप्यकः** में आपि का क्या अर्थ है?
६- लिह् शब्द के हलादिविभक्ति के परे होने पर जो रूप बनते हैं, सिद्ध करके दिखाइये।
७- इदम् और राजन् शब्द के पूरे रूप लिखिये।
८- युष्मद् शब्द के सभी बहुवचनान्त रूपों की सिद्धि करें।
९- अदस् के द्विवचनान्त रूपों की सिद्धि करें।
१०- क्विन् और कन् प्रत्ययों में क्या अन्तर है, उदाहरण सहित बताइये।
११- श्रीशस्त्वावतु मापीह इन दोनों श्लोकों की उदाहरण सहित व्याख्या करें।
१२- अन्वादेश और अनन्वादेश को स्पष्ट करें।
१३- अञ्च् धातु को जिनके के साथ जोड़कर के आपने पढ़ा, उनमें से किसी एक शब्द के सभी रूप लिखें।
१४- **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** की व्याख्या करके इसके तात्पर्य को स्पष्ट करें।
१५- सकारान्त, चकारान्त और मकारान्त किन्ही तीन शब्दों के रूप लिखिए।
१६- **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** की व्याख्या करें।
१७- इस प्रकरण में दीर्घ विधान करने वाले सूत्रों का विभक्ति, अनुवृत्ति सहित अर्थ करिये।
१८- नत्व को असिद्ध करने वाला सूत्र कितने पदों वाला है और नत्व के असिद्ध होने का क्या फल है? दिखाइये।
१९- इस प्रकरण में दिखाये गये शब्दों में कौन-कौन से शब्द सर्वादि अर्थात् सर्वनामसंज्ञक हैं?
२०- अभ्यस्तसंज्ञा और उसके प्रयोजन के सम्बन्ध में उदाहरण सहित विवेचन करें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ हलन्त-स्त्रीलिङ्गाः

धकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३५९. **नहो धः ८।२।३४॥**

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्।

३६०. **नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६।३।११६॥**

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः। उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्। गीः। गिरौ। गीर्भ्याम्। एवं पूः। चतस्रः। चतसृणाम्। का। के। का। सर्ववत्।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब आप **हलन्तस्त्रीलिङ्ग** में प्रवेश कर रहे हैं। हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वार्थ बोध के लिए खास कोई प्रत्यय नहीं है, जैसे अजन्त शब्दों से **ङीप्, ङीष्, टाप्** आदि प्रत्यय होते हैं। अतः लिङ्गानुशासन के अनुसार ही स्त्रीलिङ्ग का निर्धारण करके हलन्त शब्दों के रूप बनाये जाते हैं। सर्वादिगण के अन्तर्गत आने वाले त्यदादिगणीय शब्दों में **त्यदादीनामः** से अत्व होने के बाद **अजाद्यतष्टाप्** से टाप्-प्रत्यय करके आबन्त बन जाते हैं। उसके बाद उनके रूप अजन्त के जैसे हो जाते हैं। कुछ ही सर्वादिगण के शब्द बचते हैं जिन्हें हलन्तस्त्रीलिङ्ग में साधना होता है।

३५९- **नहो धः**। नहः षष्ठ्यन्तं, धः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलो झलि** से **झलि**, **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनवृत्ति आती है और **पदस्य** का अधिकार है।

नह् हे हकार के स्थान पर धकार आदेश होता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

३६०- **नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ**। नहिश्च वृतिश्च वृषिश्च, व्यधिश्च, रुचिश्च, सहिश्च तनिश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः- नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनयः, तेषु नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु। नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु सप्तम्यन्तं, क्वौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से **पूर्वस्य** और **दीर्घः** की अनुवृत्ति आती है।

क्विप् प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह्, तन् धातुओं के परे होने पर पूर्वपद को दीर्घ होता है।

अलोऽन्त्यस्य की सहायता से अन्त्य के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। यह पूर्व में विद्यमान उपसर्ग आदि को दीर्घ करता है यदि इनसे पर में उक्त धातुओं से यदि क्विप् प्रत्यय हुआ हो तो।

उपानत्, उपानद्। पादुका, जूता। उपपूर्वक नह् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर **नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ** से उप के अकार को दीर्घ हुआ, **उपानह्** बना। प्रातिपदिकसंज्ञा होने के बाद सु विभक्ति आई और सु का लोप, हकार के स्थान पर **नहो धः** से धकार आदेश, जश्त्व होकर दकार और वैकल्पिक चर्त्व होकर तकार आदेश होकर **उपानत्, उपानद्** ये दो रूप सिद्ध हुए। आगे अजादि विभक्ति के परे धकार आदेश नहीं होता है, अतः हकार आगे जाकर मिलता है और भ्याम् आदि हलादि विभक्ति के परे होने पर धकार आदेश होता है और उस धकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **उपानद्भ्याम्** इत्यादि रूप बनते हैं। सुप् के परे धकार होने के बाद **खरि च** से चर्त्व होकर **उपानत्सु** बनता है।

हकारान्त स्त्रीलिङ्ग उपानह्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उपानत्, उपानद्	उपानहौ	उपानहः
द्वितीया	उपानहम्	उपानहौ	उपानहः
तृतीया	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः
चतुर्थी	उपानहे	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
पञ्चमी	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
षष्ठी	उपानहः	उपानहोः	उपानहाम्
सप्तमी	उपानहि	उपानहोः	उपानत्सु
सम्बोधन	हे उपानत्, हे उपानद्!	हे उपानहौ	हे उपानहः!

उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। उत्-पूर्वक **ष्णिह्** धातु से **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** क्विन् प्रत्ययान्त **उष्णिह्** निपातन हुआ। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु आदि विभक्तियाँ आती है। सु का लोप करके **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व करने घकार आदेश, जश्त्व करके गकार आदेश और वैकल्पिक चर्त्व करके ककार आदेश होकर **उष्णिक्, उष्णिग्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। आगे अजादि विभक्ति के परे होने पर हकार अच् में मिलता जाता है और हलादिविभक्ति के परे कुत्व होकर घकार और जश्त्व होकर गकार हो जाता है जिससे **उष्णिहौ, उष्णिहः, उष्णिहम्, उष्णिहा, उष्णिग्भ्याम्, उष्णिग्भिः, उष्णिहे, उष्णिग्भ्यः, उष्णिहः, उष्णिहोः, उष्णिहाम्, उष्णिहि, उष्णिक्षु, हे उष्णिक्, हे उष्णिग्** ये रूप सिद्ध हो जाते हैं। **उष्णिक्** एक छन्दः का नाम है।

द्यौः। आकाश या स्वर्ग। वकारान्त दिव् शब्द। केवल **दिव्** शब्द स्त्रीलिङ्ग में है और **सुदिव्** शब्द पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। इसके रूप सुदिव् की तरह ही **द्यौः**, दिवौ, दिवः, दिवा, द्युभ्याम् आदि होते हैं।

गीः, गिरौ, गिरः। वाणी। गिर् यह शब्द गृ धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारलोप, इत्व और रपर होकर बना है। इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा के बाद सु विभक्ति, उसका लोप, **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से पदान्त में उपधादीर्घ होकर **गीर्** बना। रेफ का विसर्ग होकर **गीः** सिद्ध हुआ। आगे अजादिविभक्ति के परे दीर्घ नहीं होता और हलादिविभक्ति के परे रहते

यकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३६१. **यः सौ ७।२।११०॥**

इदमो दस्य यः। इयम्। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। टाप्। **दश्चेति** मः। इमे। इमाः। इमाम्। अनया। हलि लोपः। आभ्याम्। आभिः। अस्यै। आभ्यः। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्। टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवं तद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु। अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। **अप्तृन्निति** दीर्घः। आपः। अपः।

....

पदान्त में होने के कारण **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से दीर्घ होता है। अजादि के परे वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति में रेफ का ऊर्ध्वगमन होकर रूप बनते हैं- **गिरौ, गिरः, गिरम्, गिरा, गीर्भ्याम्, गीर्भिः, गिरे, गीर्भ्यः, गिरः, गिरोः गिराम्, गिरि।** रोः सुपि के नियम से विसर्ग नहीं होता पर इण्=रेफ से परे सकार को षत्व होता है- **गीर्षु। हे गीः, हे गिरौ, हे गिरः!** इसी तरह नगर का वाचक पुर् शब्द के भी रूप होते हैं- **पूः, पुरौ, पुरः, पुरम्, पुरा, पूर्भ्याम्, पूर्भिः, पुरे, पूर्भ्यः, पुरः, पुरोः, पुराम्, पुरि, पूर्षु, हे पूः, हे पुरौ, हे पुरः।**

चतस्रः। चार। चतुर् शब्द के पुँल्लिङ्ग में **चत्वारः, चतुरः** आदि बहुवचन के रूप बने थे। स्त्रीलिङ्ग में **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ** से **चतसृ** आदेश होकर केवल बहुवचन में ही रूप बनते हैं। **चतसृ** से आगे जस् और शस् होकर अनुबन्धलोप होकर चतसृ+अस् बना है। ऋकार के स्थान पर **अचि र ऋतः** से रेफादेश होकर **चतस्+र्+अस्** वर्णसम्मेलन और रुत्वविसर्ग होकर **चतस्रः** सिद्ध हुआ। यहाँ **इको यणचि** से यण् करने पर भी **चतस्रः** सिद्ध हो जाता किन्तु जस् में उसका बाधक **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** से गुण प्राप्त हो रहा था, अतः **अचि र ऋतः** की आवश्यकता हुई। आगे भिस् और भ्यस् के परे क्रमशः **चतसृभिः, चतसृभ्यः** ये रूप बनते हैं। आम् के परे ह्रस्वान्त होने के कारण नुट् होकर **चतसृणाम्** तथा सुप् के परे **चतसृषु** रूप सिद्ध होते हैं।

का। किम् शब्द से पुँल्लिङ्ग में **किमः कः** से **क** आदेश होकर **कः, कौ, के** आदि रूप बनाये जा चुके हैं। स्त्रीलिङ्ग में भी विभक्ति के परे क आदेश होता है और अदन्त बन जाने के बाद **अजाद्यतष्टाप्** से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ होकर **का+स्** बनता है। आबन्त होने के कारण **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से स् का लोप होकर का सिद्ध हुआ। टाप् करके शब्द किम् शब्द अजन्त बनता है। अतः इसके रूप अजन्तस्त्रीलिङ्ग सर्वशब्द की तरह बनते हैं।

मकारान्त किम् शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	का	के	काः
द्वितीया	काम्	के	काः
तृतीया	कया	काभ्याम्	काभिः
चतुर्थी	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः
पञ्चमी	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः

षष्ठी	कस्याः	कयोः	कासाम्
सप्तमी	कस्याम्	कयोः	कासु
सम्बोधन	(नहीं होता है।)		

३६१- यः सौ। यः प्रथमान्तं, सौ सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में इदमो मः से इदमः और दश्च से दः की अनुवृत्ति आती है।

सु के परे होने पर इदम् के दकार के स्थान पर यकार आदेश होता है।

यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि पुँल्लिङ्ग में सु के परे होने पर **इदोऽय् पुंसि** से इद्-भाग के स्थान पर अय् कर देने से दकार नहीं मिलता और नपुंसक में भी सु का लोप हो जाने के कारण सु परे नहीं मिलता।

इदम्-शब्द की सिद्धि में पुँल्लिङ्ग की रूपसिद्धि का स्मरण करें। यदि वहाँ की प्रक्रिया याद है तो यहाँ भी सरल होगा, अन्यथा नहीं।

इयम्। इदम् से सु, अत्व को बाधकर मकार के स्थान पर मकार ही आदेश हुआ और **यः सौ** से दकार के स्थान पर यकार आदेश हुआ और सु के सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ- **इयम्।**

इमे। इदम्+औ, त्यदाद्यत्व, पररूप, **अजाद्यतष्टाप्** से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ करने से **इदा+औ** बना। **दश्च** से दकार को मकार, **औङ आपः** से औकार के स्थान पर शी आदेश, अनुबन्धलोप, **इमा+ई** में गुण करने पर **इमे** सिद्ध हुआ।

इमाः। इदम्+जस्, अनुबन्धलोप, अत्व, टाप्, मत्व, सवर्णदीर्घ, रुत्वविसर्ग- **इमाः।**

इमाम्। इदम्+अम्, अत्व, टाप्, मत्व, पूर्वरूप- **इमाम्।**

इमाः। इदम्+शस्, अनुबन्धलोप, अत्व, टाप्, मत्व, पूर्वसवर्णदीर्घ, रुत्वविसर्ग- **इमाः।**

अनया। इदम्+टा, अनुबन्धलोप, अत्व, टाप्, इदा+आ। **अनाप्यकः** से इद्-भाग के स्थान पर अन् आदेश, अना+आ, **आङि चापः** से आकार के स्थान पर एकार और **एचोऽयवायावः** से अय् आदेश होकर वर्णसम्मेलन- **अनया।**

आभ्याम्। इदम्+भ्याम्, अत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, **इदा+भ्याम्** में **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप, **आ+भ्याम्=आभ्याम्।** इसी प्रकार **आभिः** और **आभ्यः** भी बनाइये।

अस्यै। ङे-विभक्ति, अनुबन्धलोप, अत्व, टाप् आदि करके **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** से स्याट् आगम और ह्रस्व, इद्भाग का लोप करके **अ+स्या+ए** बना। **स्या+ए** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि, **अस्यै।** इसी प्रकार ङसि और ङस् में भी यही कार्य करके **अस्याः** बनाइये।

अनयोः। इदम्+ओस्, अत्व, टाप्, इदा+ओस्, **अनाप्यकः** से इद्-भाग के स्थान पर अन् आदेश, अना+ओस्, **आङि चापः** से आकार के स्थान पर एकार और **एचोऽयवायावः** से अय् आदेश होकर वर्णसम्मेलन, रुत्वविसर्ग- **अनयोः।**

आसाम्। इदम्+आम्, अत्व, टाप्, इदा+आम्। **आमि सर्वनाम्नः सुट्** से सुट्, **हलि लोपः** से इद्-भाग का लोप- **आसाम्।**

अस्याम्। इदम्+ङि, अनुबन्धलोप, अत्व, टाप्, **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से आम्, इदा+आम्, स्याट् और ह्रस्व, इद्-भाग का लोप, सवर्णदीर्घ, **अस्याम्।**

आसु। हलि लोपः से इद्-भाग का लोप, शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

जिस तरह से पुँल्लिङ्ग में द्वितीया विभक्ति, टा और ओस् के परे होने पर

द्वितीयाटौस्स्वेनः से एन आदेश होता है, उसी तरह से स्त्रीलिङ्ग में भी एन आदेश होकर टाप् करके स्वादि कार्य करने पर इसके रूप बनते हैं जो नीचे रूपतालिका में जोड़े गये हैं।

मकारान्त-इदम्-शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	इयम्	इमे	इमाः
द्वितीया	इमाम्, एनाम्	इमे, एने	इमाः, एनाः
तृतीया	अनया, एनया	आभ्याम्	आभिः
चतुर्थी	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पञ्चमी	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
षष्ठी	अस्याः	अनयोः, एनयोः	आसाम्
सप्तमी	अस्याम्	अनयोः, एनयोः	आसु

त्यद् यद्, तद्, एतद् में भी विभक्ति के आने के बाद **त्यदादीनामः** से अत्व, **अतो गुणे** पररूप करके **अजाद्यतष्टाप्** से टाप्, अनुबन्धलोप और सवर्णदीर्घ कर सर्वनामसंज्ञा करके ये शब्द आबन्त सर्वनाम त्या, या, ता, एता बन जाते हैं। त्या, ता और एता में सु के परे रहते **तदोः सः सावनन्त्ययोः** से सत्व और एसा में सकार को षत्व भी होता है। अतः **स्या त्ये त्याः, या ये या, सा ते ताः, एषा एते एताः** इत्यादि रूप बनते हैं।

वाच्-शब्द का अर्थ है वाणी। चकारान्त स्त्रीलिङ्ग वाच् से सु आदि विभक्तियों के आने के बाद अजादिविभक्ति के परे रहने पर तो केवल वर्णसम्मेलन ही होगा किन्तु हलादिविभक्ति के परे वाच् की पदसंज्ञा और चकार के स्थान पर **चोः कुः** से कुत्व करके स्थानी में प्रथम चकार के स्थान पर आदेश में प्रथम ककार आदेश होता है। वाच् से वाक् बनने के बाद **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व करके गकार आदेश हो जाता है, जैसे- वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः आदि। किन्तु सु में सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्**-**हल्ङ्यादि** लोप होने के बाद अवसान के परे रहने पर **वाऽवसाने** से विकल्प से चर्त्व होकर एक पक्ष में ककारान्त और एक पक्ष में गकारान्त रूप बनेंगे। इसी प्रकार सुप् के परे रहने पर ककार से परे सुप् के सकार का **आदेशप्रत्यययोः** षत्व होकर क्+ष् का संयोग होने पर क्ष् बन जाता है। फलतः **वाक्षु** ऐसा रूप बन जाता है।

चकारान्त-स्त्रीलिङ्ग वाच्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वाक्, वाग्	वाचौ	वाचः
द्वितीया	वाचम्	वाचौ	वाचः
तृतीया	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिः
चतुर्थी	वाचे	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
पञ्चमी	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
षष्ठी	वाचः	वाचोः	वाचाम्
सप्तमी	वाचि	वाचोः	वाक्षु
सम्बोधन	हे वाक्, हे वाग्	हे वाचौ	हे वाचः

अप्-शब्द जल का वाचक है और नित्य बहुवचनान्त है।

आपः। अप् से प्रथमा का बहुवचन जस् आया। अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृ-

तकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

३६२. अपो भि ७।४।४८॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भिः। अद्भ्यः। अद्भ्यः। अपाम्। अप्सु।

दिक्, दिग्। दिशौ। दिशः। दिग्भ्याम्।

त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्। त्विट्, त्विड्। त्विषौ। त्विड्भ्याम्। ससजुषो रुरिति रुत्वम्। सजूः। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। आशीः, आशिषौ। आशीर्भ्याम्।

असौ। उत्वमत्वे। अमू। अमूः। अमुया। अमूभ्याम् ३। अमूभिः। अमुष्यै। अमूभ्यः२। अमुष्याः। अमुयोः२। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमूषु।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गाः॥९॥

....

होतृपोतृप्रशास्तॄणाम् से उपधा को दीर्घ होकर **आप्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन और सकार को रुत्वविसर्ग होकर **आपः** सिद्ध हुआ।

अपः। अप् से द्वितीया का बहुवचन शस्, अनुबन्धलोप, **अप्+अस्** बना। वर्णसम्मेलन, सकार को रुत्वविसर्ग करके **अपः** सिद्ध हुआ।

३६२- अपो भि। अपः षष्ठ्यन्तं, भि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अच उपसर्गात्तः** से तः की अनुवृत्ति आती है।

भकारादि प्रत्यय के परे होने पर अप् शब्द को तकार अन्तादेश होता है। **अलोऽन्त्यस्य** की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण पकार के स्थान पर तकार आदेश हो जाता है।

अद्भिः। अप्-शब्द से भिस्, **अपो भि** से पकार के स्थान पर तकार आदेश होने पर **अत्+भिस्** बना। **झलां जशोऽन्ते** से जश् आदेश के रूप में दकार होकर **अद्+भिस्**, वर्णसम्मेलन होकर **अद्भिः** सिद्ध हुआ। इसी तरह **अद्भ्यः** भी बन जाता है।

अपाम्। अप् से आम्, वर्णसम्मेलन करके **अपाम्** और सुप् में अप्+सु, वर्णसम्मेलन होकर **अप्सु** सिद्ध हुआ।

हे आपः। सम्बोधन में प्रथमा के रूप के साथ **हे** का पूर्वप्रयोग किया जाता है।

दिक्, दिग्। दिशा। **अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम्** से क्विन् प्रत्ययान्त **दिश्** शब्द का निपातन हुआ है। क्विन् होने के कारण सु और हलादिविभक्ति के परे **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होता है। कुत्व होने से पहले शकारान्त होने के कारण **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** से षत्व और षकार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर डकार होता है। डकार के स्थान पर कुत्व होकर गकार और वैकल्पिक चर्त्व होकर **दिक्, दिग्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। आगे अजादि विभक्ति के परे होने पर शकार का वर्णसम्मेलन होगा और हलादिविभक्ति के परे षत्व, डत्व, कुत्व होगा, जिससे- दिशौ, दिशः, दिशम्, दिशा, दिग्भ्याम्, दिग्भिः, दिशे, दिग्भ्यः, दिशः, दिशोः, दिशाम्, दिशि, दिक्षु, हे दिक्-दिग्, हे दिशौ, हे दिशः! ये रूप सिद्ध होते हैं।

त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। त्यद् आदि उपपद रहते दृश्

धातु से क्विन् का विधान किया गया है, अतः अन्यत्र अर्थात् त्यद् आदि के उपपद न रहने पर भी इसको कुत्व हो जाता है। तात्पर्य यह है कि **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** का अर्थ **क्विन्प्रत्ययान्त शब्द** ऐसा न होकर **जिस धातु से क्विन् प्रत्यय का विधान किया जाता है, उसका** यह अर्थ माना गया है। त्यद् आदि के उपपद रहने पर दृश् धातु से क्विन् का विधान किया गया है। यद्यपि केवल दृश् से क्विन् का विधान नहीं होता है तथापि जिस धातु से किसी स्थिति में कभी क्विन् का विधान किया गया हो उसको भी कुत्व हो जाता है। अतः दृश् को इस सूत्र से कुत्व किया जाता है जिससे **तादृश्** की तरह इसके रूप तो- दृक्, दृग्, दृशौ, दृशः, दृशम्, दृशौ, दृशः, दृशा, दृग्भ्याम्, दृग्भिः, दृशे, दृग्भ्यः, दृशः, दृशोः, दृशाम्, दृशि, दृशोः, दृक्षु, हे दृक्, हे दृग् बनते हैं। **दृश्** का अर्थ है- आँख या दृष्टि।

त्विट्, त्विड्। कान्ति। **त्विष्** धातु से क्विप् प्रत्यय होकर **त्विष्** की प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु आदि विभक्तियाँ आती हैं। षकारान्त होने से इसके सभी रूप पुँल्लिङ्ग **रत्नमुष्** की तरह त्विट्, त्विड्, त्विषौ, त्विषः, त्विषम्, त्विषा, त्विड्भ्याम्, त्विड्भिः, त्विषे, त्विड्भ्यः, त्विषः, त्विषोः, त्विषाम्, त्विषि, त्विट्त्सु-त्विट्सु, हे त्विट्, हे त्विषौ, हे त्विषः! बनते हैं।

सजूः। मित्र। सह जुषते=सेवते इति सजूः। **जुष्** धातु से सजुष् सिद्ध हुआ है। उससे सु विभक्ति, उसका लोप, **ससजुषो रुः** से रु होने पर **सजुर्** बना। **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से दीर्घ होकर **सजूर्** बना। रेफ का विसर्ग, **सजूः**। अजादिविभक्ति के परे केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर रुत्व और दीर्घ होकर इसके रूप सिद्ध होते हैं। सजुषौ, सजुषः, सजुषम्, सजुषा, सजूर्भ्याम्, सजूर्भिः, सजुषे, सजूर्भ्यः, सजुषः, सजुषोः, सजुषाम्, सजुषि, सजूःषु-सजूर्षु, हे सजूः!

आशीः। आशीर्वाद। **आ** पूर्वक **शास्** धातु से क्विप्, सर्वापहार, इत्व, षत्व करके आशिष् सिद्ध हुआ है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु विभक्ति, उसका लोप। प्रातिपदिकसंज्ञा के पहले **शासिवसिघसीनां च** से किये गये षत्व **ससजुषो रुः** की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण **ससजुषो रुः** से रुत्व करके **आशिर्** बना। पदान्त में **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** से दीर्घ होकर **आशीर्** बना। रेफ का विसर्ग हुआ, **आशीः**। अजादिविभक्ति के परे होने पर **आशिष्** के षकार का आगे वाले वर्ण के साथ वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर रुत्व और दीर्घ होकर- आशिषौ, आशिषः, आशिषम्, आशिषा, आशीर्भ्याम्, आशीर्भिः, आशिषे, आशीर्भ्यः, आशिषः, आशिषोः, आशिषाम्, आशिषि, आशीःषु-आशीर्षु, हे आशीः! ये रूप सिद्ध होते हैं।

असौ। अदस् शब्द से पुँल्लिङ्ग की तरह **असौ** सिद्ध होता है।

अमूः। अदस् से औ और औट् में, त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ करके अदा+औ बना। **औङ आपः** से औ के स्थान पर शी आदेश होकर गुण करके **अदे** बना। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से ऊकार और मकार आदेश होकर **अमू** सिद्ध हुआ।

अमूः। जस् और शस् अत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ करके अदा+**अस्** बना। सवर्णदीर्घ होकर अदास् बना। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से ऊत्व और मत्व होकर तथा सकार को रुत्व और विसर्ग होकर **अमूः** सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे कि अदस् शब्द के स्त्रीलिङ्ग में अत्व और पररूप करने पर टाप् और सवर्णदीर्घ होकर **अदा** बनता है। उसके बाद आगे की प्रक्रिया होती है। उत्वमत्व की प्रक्रिया में ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार और दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश होता है।

पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में होने वाले अन्तर की स्पष्टता को समझना जरूरी है। स्त्रीलिङ्ग में और आपः, आङि चापः, **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च, ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** ये सूत्र अधिक लगते हैं।

अमूम्। अदा+अम्, पूर्वरूप करके **अदाम्**, उत्वमत्व करके **अमूम्** सिद्ध होता है।

अमुया। अदा+टा, **आङि चापः** से एकार आदेश, **अदे+आ**, अय् आदेश, **अदया**, उत्वमत्व, **अमुया**।

अमूभ्याम्। अदा+भ्याम्, उत्वमत्व करके **अमूभ्याम्**। इसी तरह **अमूभिः**, अमूभ्यः भी बनते हैं।

अमुष्यै। अदा+ए, सर्वनामसंज्ञक होने के कारण **सर्वनामः स्याड्ढ्रस्वश्च** से ह्रस्व और स्याट् का आगम करके **अद+स्या+ए** बना। **स्या+ए** में वृद्धि करके **स्यै** और उत्वमत्व करके अमुस्यै, षत्व करके **अमुष्यै** सिद्ध हुआ।

अमुष्याः। ङसि और ङस् के परे होने पर अदा+अस्, स्याट् और ह्रस्व, सवर्णदीर्घ, उत्वमत्व करके सकार का रुत्वविसर्ग करके **अमुष्याः** बन जाता है।

अमुयोः। ओस् में **अदा+ओस्, आङि चापः** से एकार आदेश, **अदे+ओस्**, अय् आदेश करके **अदयोस्**, उत्वमत्व करके **अमुयोस्**, सकार को रुत्वविसर्ग करके अमुयोः।

अमूषांम्। अदा+आम्, सुट्, अदा+साम्, ऊत्वमत्व करके सकार को षत्व करके **अमूषाम्** सिद्ध होता है।

अमुष्याम्। अदा+इ, **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** से आम् आदेश, स्याट्, ह्रस्व करके **अद+स्याम्**, उत्वमत्व करके **अमुष्याम्**।

अमूषु। अदा+सु, **ऊत्व, मत्व, षत्व** करके **अमूषु**।

सकारान्त अदस्-शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	असौ	अमू	अमूः
द्वितीया	अमूम्	अमू	अमूः
तृतीया	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः
चतुर्थी	अमुष्यै	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
पञ्चमी	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
षष्ठी	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम्
सप्तमी	अमुष्याम्	अमुयोः	अमूषु

परीक्षा

नोटः- प्रकरण छोटा है, अतः हम यहाँ पर परीक्षा में केवल ५० अंक ही दे रहे हैं। सभी प्रश्न ५-५ अंक के हैं।

१. गिर् और पुर् शब्द के सभी रूप बनायें।

२. तद्, सर्वा और इदम् शब्दों के रूप लिखें।

३. वाच् शब्द में हलादिविभक्ति के परे होने पर जैसे रूप बनते हैं, उनकी सिद्धि करें।

४. पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द के रूपों का अन्तर सूत्रप्रदर्शन पूर्वक स्पष्ट करें।

४. दिश्, दृश् और त्विष् के रूप लिखें।
५. उपानह् शब्द के हलादिविभक्ति के रूपों की सिद्धि करें।
६. अप् शब्द के सभी रूपों की सिद्धि दिखायें।
७. चतुर् शब्द के पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के अन्तर को स्पष्ट करें।
८. हलन्तस्त्रीलिङ्ग के षकारान्त शब्दों के रूप लिखें।
९. हलन्तस्त्रीलिङ्ग के शब्दों का प्रयोग करके दस वाक्य बनायें।
१०.

यहाँ पर छात्रों को एक निर्देश देना चाहता हूँ कि लिखकर याद करना अधम प्रक्रिया मानी गई है, अतः साधनी आदि कभी लिखकर याद न करें किन्तु याद हो जाने के बाद आप अपनी पुस्तिका में लिख सकते हैं। आप अलग-अलग पुस्तिकाओं में एक क्रम से सूत्र, शब्दों के रूप और विशेष याद रखने योग्य बातें नोट कर सकते हैं। याद होने के बाद लिखने से वह विषय सुदृढ़ हो जाता है। प्रतिदिन एक घण्टा पूर्वपठित विषयों की आवृत्ति के लिए जरूर लगायें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में
गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का
हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गाः

स्वमोर्लुक्। दत्वम्। स्वनडुत्, स्वनडुद्। स्वनडुही। चतुरनडुहोरित्याम्।
स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। वाः। वारी। वारि। वार्भ्याम्।
चत्वारि। किम्। के। कानि। इदम्। इमे। इमानि।

वार्तिकम्- **अन्वादेशे नपुंसके वा एनद्वक्तव्यः।**

एनत्, एने, एनानि। एनेन। एनयोः।

अहः। **विभाषा ङिश्योः।** अह्नी, अहनी। अहानि।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब **हलन्तनपुंसकलिङ्ग** प्रारम्भ कर रहे हैं।

स्वनडुत्, स्वनडुद्। अच्छे बैल वाला कुल। **सु+अनडुह्=स्वनडुह्।** नपुंसकलिङ्ग में **सुडनपुंसकस्य** से सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती किन्तु **शि सर्वनामस्थानम्** से जस् और शस् के स्थान पर होने वाले शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो जाती है। सर्वनामस्थानसंज्ञा के अभाव में नुम्, आम् आदि भी नहीं होते हैं। अतः सु के **स्वमोर्नपुंसकात्** से लोप होने के वाद प्रत्ययलक्षण से पदसंज्ञा करके **वसुस्रंस्वनडुहां दः** से हकार के स्थान पर दकार आदेश होता है और दकार के स्थान पर **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **स्वनडुत्, स्वनडुद्** ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। अम् में भी यही रूप बनता है।

स्वनडुही। औ के स्थान पर **नपुंसकाच्च** से **शी** होकर **स्वनडुह्+ई**, वर्णसम्मेलन करके **स्वनडुही** सिद्ध होता है। औट् में भी यही रूप बनता है।

स्वनड्वांहि। जस् और शस् के स्थान पर शि आदेश हुआ, उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा हुई और **चतुरनडुहोरामुदात्तः** से आम् तथा **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् होकर **अनडु+आन्+शि** बना। यण्, नकार को अनुस्वार और वर्णसम्मेलन करके **स्नड्वांहि** सिद्ध हुआ। अब आगे अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे दत्व करके पुँल्लिङ्ग की तरह- स्वनडुहा, स्वनडुद्भ्याम्, स्वनडुद्भिः, स्वनडुहे, स्वनडुद्भ्यः, स्वनडुहः, स्वनडुहोः, स्वनडुहाम्, स्वनडुहि, स्वनडुत्सु, हे स्वनडुत् ये रूप सिद्ध होते हैं।

वाः। जैसे अजन्त में वारि-शब्द जल का वाचक है, उसी प्रकार हलन्त में वार्-शब्द भी जल का ही वाचक है। वार् से सु आया, अनुबन्धलोप, **स्वमोर्नपुंसकात्** से सु का लोप, और रेफ का विसर्ग करके **वाः** बन गया।

इदम्। इदम् से सु, उसका **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक्, इदम्। विभक्ति के लुक् हो जाने से **इदमो मः** और **त्यदादीनामः** नहीं लगे।

इमे। इदम् से औ, शी आदेश, त्यदादि-अत्व, **दश्च** से मकार आदेश, इम+ई में गुण करके **इमे** बनाइये।

इमानि। इदम् से जस्, शि आदेश, अत्व, मत्व, ज्ञानानि के जैसे नुम्, उपधादीर्घ आदि करके **इमानि** बन जाता है। इसी प्रकार द्वितीया में भी **इदम्, इमे, इमानि**। तृतीया से सप्तमी तक तो पुँल्लिङ्ग के समान ही रूप बनते हैं।

मकारान्त-इदम्-शब्द के नपुंसकलिङ्ग में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	इदम्	इमे	इमानि
द्वितीया	इदम्	इमे	इमानि
तृतीया	अनेन	आभ्याम्	एभिः
चतुर्थी	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पञ्चमी	अस्मात्, अस्माद्	आभ्याम्	एभ्यः
षष्ठी	अस्य	अनयोः	एषाम्
सप्तमी	अस्मिन्	अनयोः	एषु

अन्वादेशे नपुंसके वा एनद्वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **अन्वादेश में नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया, टा और ओस् के परे रहने पर इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर एनत् आदेश विकल्प से होता है।**

एनत्, एने, एनानि, एनेन, एनयोः। इदम् शब्द के अन्वादेश में एनत् आदेश होकर अम् का लुक करके विभक्ति परे न मिलने के कारण अत्व नहीं होता, अतः एनत् ही रह जाता है। औट् में शी आदेश, तकार के स्थान पर अत्व और पररूप होकर एन+ई गुण होकर **एने** सिद्ध हो जाता है। शस् के स्थान पर शी, एनत् आदेश, अत्व, पररूप, नुम् और दीर्घ करके **एनानि**। टा में एनत् आदेश, अत्व, पररूप, इन आदेश, गुण करके एनेन और ओस् में यही प्रक्रिया करके **ओसि च** से एत्व ओर अय् आदेश करके **एनयोः** सिद्ध होता है।

अहः। दिन। अहन्+सु, **स्वमोर्नपुंसकात्** से सु का लुक् करके **रोऽसुपि** से नकार के स्थान पर रुत्व करके **अहर्** बना। रेफ का विसर्ग, अहः।

अह्नी, अहनी। अहन् से औ, उसके स्थान पर **नपुंसकाच्च** से **शी** आदेश, उसके परे रहने पर **विभाषा ङिश्योः** से हकारोत्तरवर्ती अकार का वैकल्पिक लोप करने पर **अह्न्+ई** बना। वर्णसम्मेलन करके **अह्नी** सिद्ध हुआ। लोप न होने के पक्ष में **अहन्**+ई है, वर्णसम्मेलन होकर **अहनी** बन गया। इस तरह दो रूप सिद्ध हुए।

अहानि। जस् और शस् के स्थान पर शि आदेश होने पर सर्वनामस्थानसंज्ञा, उपधादीर्घ करके **अहानि** सिद्ध हो जाता है।

अह्ना। अहन् से तृतीया के एकवचन में टा, **अल्लोपोऽनः** से अकार का लोप होकर **अह्न्**+**आ**, वर्णसम्मेलन होकर **अह्ना** सिद्ध हुआ।

[...]न्तम्)

[...]विधायकं विधिसूत्रम्

३६३. अहन् ८।२।६८॥

अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्।

दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि। सुपथि। टेर्लोपः। सुपथी। सुपन्थानि।

ऊर्क्, ऊर्ग्। ऊर्जी, ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः।

तत्। ते। तानि। यत्। ये। यानि। एतत्। एते। एतानि।

गवाक्, गवाग्। गोची। गवाञ्चि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम्।

शकृत्। शकृती। शकृन्ति। ददत्॥

३६३- **अहन्।** अहन् लुप्तषष्ठीकम् एकपदमिदं सूत्रम्। **ससजुषो रुः** से **रुः** तथा **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** से **अन्ते** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार आता है। **अलोऽन्त्यस्य** भी उपस्थित है।

पदान्त में अहन् के नकार के स्थान पर रु आदेश होता है।

अहोभ्याम्। अहन् से भ्याम्, **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से भ्याम् के परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा करके **अहन्** से नकार के स्थान पर रु आदेश करके **अहर्+भ्याम्** बना। र् के स्थान पर **हशि च** से उत्व और **आद्गुणः** से गुण होकर **अहोभ्याम्** सिद्ध हुआ। इसी तरह **अहोभिः, अहोभ्यः** आदि की सिद्धि होती है। अजादिविभक्ति के परे **अल्लोपोऽनः** से अकार का लोप करके वर्णसम्मेलन और ङि के परे **विभाषा ङिश्योः** से वैकल्पिक लोप करके निम्नानुसार रूप सिद्ध होते हैं-

नकारान्त-अहन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वितीया	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
पञ्चमी	अह्नः	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
षष्ठी	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	अह्नोः	अहःसु, अहस्सु
सम्बोधन	हे अहः!	हे अह्नी!, हे अहनी!	हे अहानि!

दण्डि। दण्ड वाला कुल। नकारान्त दण्डिन्-शब्द से सु, उसका लुक्, नकार का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप, **दण्डि।**

दण्डिनी। दण्डिन् से औ, शी आदेश, अनुबन्धलोप, वर्णसम्मेलन, दण्डिनी।

दण्डीनि। दण्डिन् से जस्, शि आदेश, अनुबन्धलोप, वर्णसम्मेलन, उपधादीर्घ होकर दण्डीनि सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्वितीया में भी **दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि।** तृतीया से सप्तमी तक हलादिविभक्ति के परे रहने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा करके **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से नकार का लोप और अजादिविभक्ति में केवल वर्णसम्मेलन

करके निम्नलिखित रूप बनते हैं। सम्बोधन में न लुमताङ्गस्य को अनित्य मानने से दो रूप बनते हैं।

नकारान्त-दण्डिन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि
द्वितीया	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि
तृतीया	दण्डिना	दण्डिभ्याम्	दण्डिभिः
चतुर्थी	दण्डिने	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
पञ्चमी	दण्डिनः	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
षष्ठी	दण्डिनः	दण्डिनोः	दण्डिनाम्
सप्तमी	दण्डिनि	दण्डिनोः	दण्डिषु
सम्बोधन	हे दण्डि, हे दण्डिन्	हे दण्डिनी	हे दण्डीनि

सुपथि। सुन्दर मार्ग वाला नगर। सुपथिन्-शब्द से सु, उसका लुक् होकर नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से लोप होकर **सुपथि** सिद्ध होता है।

सुपथी। सुपथिन् शब्द से औ, शी आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा न होने के कारण भसंज्ञा करके **भस्य टेर्लोपः** से टिसंज्ञक इन्-भाग का लोप करके **सुपथ्+ई,** वर्णसम्मेलन होकर **सुपथी** सिद्ध हुआ।

सुपन्थानि। सुपथिन् से जस्, शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, **इतोऽत् सर्वनामस्थाने** से इकार के स्थान पर अकार आदेश, **थो न्थः** से थकार के स्थान पर न्थ् आदेश करके **सुपन्थन्+ई** बना। उपधादीर्घ और वर्णसम्मेलन करके **सुपन्थानि** सिद्ध हुआ। इसी तरह अम्, औट्, शस् में भी **सुपथि, सुपथी, सुपन्थानि** बनते हैं। अब आगे अजादिविभक्ति के परे होने पर भसंज्ञा करके **भस्य टेर्लोपः** से टि का लोप और वर्णसम्मेलन तथा हलादिविभक्ति के परे होने पर पदसंज्ञा करके **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** से नकार का लोप करने पर निम्नानुसार के रूप सिद्ध होते हैं-

नकारान्त सुपथिन्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि
द्वितीया	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि
तृतीया	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः
चतुर्थी	सुपथे	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
पञ्चमी	सुपथः	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
षष्ठी	सुपथः	सुपथोः	सुपथाम्
सप्तमी	सुपथि	सुपथोः	सुपथिषु
सम्बोधन	हे सुपथि, हे सुपथिन्	हे सुपथी	हे सुपन्थानि!

ऊर्क्, ऊर्ग्। बल या तेज। ऊर्ज् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर **ऊर्ज्** सिद्ध होता है। उससे सु, उसका लुक्, जकार को **चोः कुः** से कुत्व होकर गकार और गकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्त्व करके **ऊर्क्** और **ऊर्ग्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। **रात्सस्य** के नियमानुसार रेफ से परे सकार का ही लोप होता है, अन्य का नहीं। अतः यहाँ ज का लोप नहीं होता।

ऊर्जी। ऊर्ज् से औ, शी आदेश, वर्णसम्मेलन करके **ऊर्जी** सिद्ध हुआ।

ऊर्न्जि। ऊर्ज् से जस्, शी आदेश, **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् आगम, नकार ऊकार के बाद और रेफ से पहले बैठा, ऊन्‌र्ज्+इ, वर्णसम्मेलन होकर **ऊर्न्जि** सिद्ध हुआ। इसमें नकार, रकार और जकार का संयोग है। इसी तरह द्वितीया के भी रूप बनते हैं। तृतीया से अजादि विभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर पदसंज्ञा होकर **चोः कुः** से कुत्व होने पर गकार आदेश होकर **ऊर्जा, ऊर्ग्भ्याम्, ऊर्ग्भिः, ऊर्जे, ऊर्ग्भ्यः, ऊर्जः, ऊर्जोः, ऊर्जाम्, ऊर्जि, ऊर्क्षु, हे ऊर्क्! हे ऊर्ग्** ये रूप सिद्ध होते हैं।

तत्। सर्वनामसंज्ञक तकारान्त तत्-शब्द से सु, लुक्, तत्।

ते। तत्, औ, शी आदेश, विभक्ति के परे होने के कारण **त्यदादीनामः** से अकारान्तादेश, त+ई में गुण, ते।

तानि। तत् से जस्, शि आदेश, अत्व, ज्ञानानि के समान नुम्, उपधादीर्घ आदि करके तानि। द्वितीया में भी इसी प्रकार से रूप बनेंगे। तृतीया से सप्तमी तक पुँल्लिङ्ग के समान ही रूप बनेंगे। इसी प्रकार से यत्-शब्द से **यत्, ये, यानि** आदि रूप बनाइये।

गवाक्, गवाग्। गो-पूर्वक अञ्च् धातु है। **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिग्युजिक्रुञ्चां च** से क्विन् प्रत्यये, सर्वापहार लोप होकर **गो+अञ्च्** बनता है। **अञ्च्** धातु के दो अर्थ हैं- गति और पूजा। गति अर्थ में **अनिदितां हल उपधाया क्ङिति** से अकार के स्थानी नकार का लोप होता है जिससे **गो+अच्** बनता है और पूजा अर्थ होने पर **नाञ्चेः पूजायाम्** से नकार के लोप का निषेध होने से **गो+अञ्च्** ही रह जाता है। इसके बाद प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु आदि विभक्तियाँ आती हैं। गत्यर्थक् अञ्च् के साथ **गाम् अञ्चति गच्छतीति** अर्थात् **पृथ्वी पर या गौ के पीछे चलने वाला कुल** यह अर्थ होता है और पूजा अर्थ होने पर में **पृथ्वी या गौ की पूजा करने वाला कुल** यह अर्थ बनता है। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में केवल गतिपक्ष के रूप बताये गये हैं जिसमें नकार का लोप हो गया है।

अब **गो+अच्** से सु प्रत्यय, उसका **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक्, **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व प्राप्त किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से असिद्ध होने के कारण **चोः कुः** से चकार के स्थान पर कुत्व होकर ककार बन गया। **गो+अक्** बना। ककार के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर गकार हो जाता है। उसके बाद **वावसाने** से वैकल्पिक चर्त्व होकर **गो+अक्, गो+अग्** ये दो रूप बन गये। **गो+अक्** और **गो+अग्** में तीन-तीन प्रकार की सन्धि प्राप्त है। **अवङ् स्फोटायनस्य** से गो के ओकार के स्थान पर विकल्प से **अवङ्** आदेश होकर **गव+अक्**, सवर्णदीर्घ होकर **गवाक्** यह एक रूप, अवङ् आदेश न होने के पक्ष में **सर्वत्र विभाषा गोः** से प्रकृतिभाव होकर **गोअक्** यह दूसरा रूप तथा उससे प्रकृतिभाव भी न होने के पक्ष में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होने से **गोऽक्** यह तीसरा रूप, इस तरह तीन रूप सिद्ध हुए। ये तो **वावसाने** से चर्त्व होने के पक्ष के रूप हुए, चर्त्व न होने के पक्ष में **गवाग्, गोअग्, गोऽग्**। इस तरह सु के परे छः रूप सिद्ध हुए। **गवाक्-गवाक्, गोअक्-गोअग्, गोऽक्-गोऽग्।**

गोची। औ के परे होने पर औ के स्थान पर **नपुंसकाच्च** से **शी** आदेश होकर **गो+अच्+ई** बना। नपुंसकलिङ्ग होने के कारण **शी** की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। अतः इसके पर रहते पूर्व की **भसंज्ञा** होकर **अचः** इस सूत्र से **अच्** के अकार का लोप हुआ तो **गोच्+ई**

बना। वर्णसम्मेलन होकर **गोची** यह एक ही रूप बना। अकार का लोप होने से **अवङ् स्फोटायनस्य, सर्वत्र विभाषा गोः** और **एङः पदान्तादति** ये सूत्र नहीं लग सके। इस तरह भसंज्ञा के स्थलों पर इसी प्रकार की बात समझनी चाहिए।

गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि। जस् के आने पर **जश्शसोः शिः** से जस् के स्थान पर **शि** आदेश हुआ। अनुबन्धलोप होकर **गो+अच्+इ** बना। नपुंसकलिङ्ग होने पर भी शि की **शि सर्वनामस्थानम्** से सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है, अतः भसंज्ञा नहीं होती। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से नुम्, अनुबन्धलोप होकर वह **मिदचोऽन्त्यात्परः** के नियम से अन्त्य अच् के बाद होकर- **गो+अन्+च्+इ** बना। **नश्चापदान्तस्य झलि** से अन् के नकार को अनुस्वार और चकार के परे होने पर **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से परसवर्ण होकर **ञकार** हुआ, **गो+अञ्च्+इ** बना। **अञ्च्+इ** में भी वर्णसम्मेलन होकर **अञ्चि** बना। अब **गो+अञ्चि** में तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि** ये तीन रूप सिद्ध हुए। इस तरह से विविध प्रक्रिया ओं के द्वारा प्रथमा के तीनों वचनों में १० रूप सिद्ध हुए।

नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया विभक्ति की प्रक्रिया प्रथमा की तरह ही होती है। अतः द्वितीया विभक्ति में भी उसी तरह दस ही रूप बने। १०+१०=२०।

गोचा। तृतीया का एकवचन टा, अनुबन्धलोप होने पर **गो+अच्+आ** बना। भसंज्ञा होने के बाद **अचः** से अकार का लोप होकर **गो+च्+आ**, वर्णसम्मेलन होकर **गोचा** यह रूप सिद्ध हुआ। अब आगे भी अजादिविभक्ति के परे रहने पर यही प्रक्रिया होगी।

गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्। भसंज्ञा न होने के कारण अचः से अकार का लोप नहीं होता। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** से पदसंज्ञा तो होती ही है। अतः **गो+अच्+भ्याम्** में चकार को **चोः कुः** से कुत्व होकर ककार आदेश और **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **गकार** आदेश करके **गो+अग्+भ्याम्** बन जाता है। इसके बाद तीनो सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्** ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। आगे भी हलादिविभक्ति के परे होने पर यही प्रक्रिया होती है। इस तरह तृतीया विभक्ति के तीनो वचनों में ७ रूप बने। २०+७=२७।

चतुर्थी, पञ्चमी के एकवचन में क्रमशः **गोचे** और **गोचः** तथा द्विवचन में **गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्** तथा बहुवचन में गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः इस तरह सात-सात रूप बने। ७+७=१४, प्रथमा से पञ्चमी तक २७+१४=४१।

षष्ठी के एकवचन में **गोचः**, द्विवचन में **गोचोः** और बहुवचन में **गोचाम्** ये तीन ही रूप बने। ४१+३=४४।

सप्तमी के एकवचन में **गोचि**, द्विवचन में **गोचोः** तथा बहुवचन में **गो+अच्+सु** बनने के बाद जश्त्व करके **खरि च** से चर्त्व होकर पुनः ककार ही बन जाता है। उससे परे सु के सकार को **आदेशप्रत्यययोः** से षत्व होकर **क्** और **ष्** के संयोग में **क्ष्** हो जाता है, जिससे **गवाक्षु, गोअक्षु, गोऽक्षु** ये तीन रूप बनते हैं। इस तरह सप्तमी में पाँच रूप बने। ४४+५=४९।

सम्बोधन में प्रथमा की तरह ही ९ रूप बनते हैं।

गतिपक्ष में गोअञ्च् शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गवाक्, गवाग् गोअक्, गोअग् गोऽक्, गोऽग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि।
द्वितीया	गवाक्, गवाग् गोअक्, गोअग् गोऽक्, गोऽग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि।
तृतीया	गोचा	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भिः गोअग्भिः गोऽग्भिः
चतुर्थी	गोचे	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः गोअग्भ्यः गोऽग्भ्यः
पञ्चमी	गोचः	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः गोअग्भ्यः गोऽग्भ्यः
षष्ठी	गोचः	गोचोः	गोचाम्
सप्तमी	गोचि	गोचोः	गवाक्षु गोअक्षु गोऽक्षु
सम्बोधन	हे गवाक्, हे गवाग् हे गोअक्, हे गोअग् हे गोऽक्, हे गोऽग्	हे गोची	हे गवाञ्चि हे गोअञ्चि हे गोऽञ्चि!

ये रूप गत्यर्थक धातु के थे। अब पूजार्थक धातु के रूप भी देखते हैं। **नाञ्चेः पूजायाम्** से नकार का लोप निषेध होने पर **गो+अञ्च्** है। प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु आदि विभक्तियाँ आती हैं।

गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ्। गो+अञ्च् से सु विभक्ति के आने के बाद उसका **स्वमोर्नपुंसकात्** से सु का लुक्, **संयोगान्तस्य लोपः** से चकार का लोप, चकार के संयोग से नकार के स्थान पर श्चुत्व होकर ञकार हुआ था। अब चकार के हटने से **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के न्यायानुसार ञकार भी नकार के रूप में आ गया, **गो+अन्** बना। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से नकार के स्थान पर कुत्व होकर **ङकार** हो गया, **गो+अङ्** बना। अब तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ्** ये तीन रूप सिद्ध हुए।

आगे अजादिविभक्ति के परे **अचः** से अकार का लोप नहीं होगा, क्योंकि वह नकार के लोप होने पर ही लगता है। यहाँ पूजार्थक में **नाञ्चेः पूजायाम्** से नकार के लोप का निषेध हुआ है।

गवाञ्ची, गोअञ्ची, गोऽञ्ची। औ के स्थान पर **नपुंसकाच्च** से शी आदेश करके अनुबन्धलोप करने पर **गो+अञ्च्+ई=गो+अञ्ची** बना है। अब तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाञ्ची, गोअञ्ची, गोऽञ्ची** ये तीन रूप बने।

गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि। जस् के स्थान शी आदेश, अनुबन्धलोप, नकार का लोप न होने के कारण **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो** से नुम् भी नहीं हुआ। **नपुंसकस्य झलचः** से भी नुम् नहीं होगा क्योंकि उसके अर्थ में जिस झलन्त को नुम् का विधान किया जाता है वह झल् अच् से परे होना चाहिए। **अञ्च्** में झल् है चकार और वह ञकार रूप हल् से परे है अच् से परे नहीं है। **अञ्च्+इ** में वर्णसम्मेलन होकर **अञ्चि** बना। **गो+अञ्चि** में अब तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि** ये तीन रूप सिद्ध हुए। इस तरह पूजार्थक **गोअञ्च्** के प्रथमा में तीन-तीन रूप होने से नौ रूप बने। इसी तरह द्वितीया में नौ रूप बनते हैं। ९+९=१८।

गवाञ्चा, गोअञ्चा, गोऽञ्चा। गो+अञ्च् से टा, अनुबन्धलोप करके तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाञ्चा, गोअञ्चा, गोऽञ्चा** ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम्। भ्याम् के परे **गो+अञ्च्+भ्याम्** में चकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप हुआ तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के नियमानुसार ञकार भी नकार के रूप आ गया, **गो+अन्+भ्याम्** बना। नकार के स्थान पर **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** से कुत्व होकर **ङकार** हुआ, **गो+अङ्भ्याम्** बना। अब तीनों सन्धियाँ अर्थात् अवङ् आदेश होकर सवर्णदीर्घ, प्रकृतिभाव और पूर्वरूप होकर **गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम्** ये तीन रूप सिद्ध हुए। इसी तरह **भिस्** में भी **गवाङ्भिः, गोअङ्भिः, गोऽङ्भिः** ये तीन ही रूप बनते हैं। इस तरह तृतीया में भी ९ रूप बन गये। १८+९=२७।

चतुर्थी और पञ्चमी में भी तृतीया की तरह प्रक्रिया होती है। षष्ठी के तीनों वचन में भसंज्ञा होती है। अतः तीनों वचन में तीन-तीन ही रूप बनते हैं। सप्तमी के एकवचन और द्विवचन की प्रक्रिया भी लगभग यही है। इस तरह प्रथमा के एकवचन से सप्तमी के द्विवचन तक २० वचनों में प्रत्येक में तीन तीन रूप होते हैं। सुप् में ६ रूप बनते हैं।

सुप् के परे होने पर ङकार को **ङणोः कुक्टुक् शरि** से वैकल्पिक कुक् का आगम और **चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** इस वार्तिक से ककार के स्थान पर वैकल्पिक द्वितीय वर्ण आदेश होने पर खकारयुक्त एक रूप और द्वितीयवर्ण न होने के पक्ष में ककारयुक्त एक रूप जिसमें सकार को षत्व होकर क्ष् बन जाता है और कुक् आगम न होने पर सामान्य रूप इस तरह अवङ् वाले के पक्ष में **गवाङ्ख्षु, गवाङ्क्षु, गवाङ्षु** ये तीन रूप होते हैं। इसी तरह प्रकृतिभाव के पक्ष में भी **गोअङ्ख्षु, गोअङ्क्षु, गोअङ्षु** तथा पूर्वरूप के पक्ष में **गोऽङ्ख्षु, गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु** बनते हैं। इस तरह सुप् में **नौ** रूप सिद्ध हुए किन्तु आचार्यगण द्वितीयवर्ण रूप आदेश का रूप न गिन कर के केवल ६ ही रूप गिनते हैं। इस तरह ६०+६=६६ ही रूप हुए।

पूजा-पक्ष में गोअञ्च् शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गवाङ्	गवाञ्ची	गवाञ्चि
	गोअङ्	गोअञ्ची	गोअञ्चि
	गोऽङ्	गोऽञ्ची	गोऽञ्चि।
द्वितीया	गवाङ्	गवाञ्ची	गवाञ्चि
	गोअङ्	गोअञ्ची	गोअञ्चि
	गोऽङ्	गोऽञ्ची	गोऽञ्चि।
तृतीया	गवाञ्चा	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भिः
	गोअञ्चा	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भिः
	गोऽञ्चा	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भिः
चतुर्थी	गवाञ्चे	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्यः
	गोअञ्चे	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्यः
	गोऽञ्चे	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्यः
पञ्चमी	गवाञ्चः	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्यः
	गोअञ्चः	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्यः
	गोऽञ्चः	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्यः
षष्ठी	गवाञ्चः	गवाञ्चोः	गवाञ्चाम्
	गोअञ्चः	गोअञ्चोः	गोअञ्चाम्
	गोऽञ्चः	गोऽञ्चोः	गोऽञ्चाम्
सप्तमी	गवाञ्चि	गवाञ्चोः,	गवाङ्ख्षु, गवाङ्क्षु, गवाङ्षु
	गोअञ्चि	गोअञ्चोः,	गोअङ्ख्षु, गोअङ्क्षु, गोअङ्षु
	गोऽञ्चि	गोऽञ्चोः,	गोऽङ्ख्षु, गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु
सम्बोधन	हे गवाङ्	हे गवाञ्ची	हे गवाञ्चि
	हे गोअङ्	हे गोअञ्ची	हे गोअञ्चि
	हे गोऽङ्	हे गोऽञ्ची	हे गोऽञ्चि!

गतिपक्ष के ४९ और पूजापक्ष के ६६ मिलाकर ११५ रूप हुए। जस् और शस् में गति और पूजा दोनों पक्ष में एक समान रूप बनते हैं, अतः ६ रूप घटाकर १०९ रूप आचार्यों ने माना है।

इस शब्द के विषय में कुछ मनमोहक पद्य प्रचलित हैं-

१. प्रश्नात्मक रोचक पद्य

जायन्ते नव सौ, तथामि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे,
षटसङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः! शब्दस्य रूपाणि तत्
जानन्तु प्रतिभान्ति चेन्निगदितं षाण्मासिकोऽत्रावधिः॥

हे विद्वानों! यदि आप में प्रतिभा है तो हम आपको छः माह तक की अवधि तक उत्तरीय एक प्रश्न पूछते हैं। आप उस शब्द को जानने का प्रत्यन्त करें, जिसके सु, अम्, और

वैकल्पिक-नुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

३६४. वा नपुंसकस्य ७।१।७९॥

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति। तुदत्।

....

सुप् में नौ-नौ, भ्याम्, भिस्, भ्यस् में छः छः, जस् और शस् में तीन-तीन तथा अन्य वचनों में चार-चार रूप बनते हैं।

इसीके उत्तर में आगे दो पद्य कहे गये हैं।

२. **गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः।**
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम्॥

नपुंसकलिङ्ग में गति और पूजा के भेद से तथा असन्धि अर्थात् प्रकृतिभाव, अवङ् आदेश और पूर्वरूप के कारण गोपूर्वक अञ्च् के एक सौ नौ रूप होते हैं।

३. **स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः।**
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय॥

इस शब्द के सु, अम् और सुप् में नौ-नौ, भ्याम् भिस्, भ्यस् इन छः भकारादि प्रत्ययों के परे छः छः रूप, जस् और शस् में तीन-तीन रूप तथा शेष दसों में चार-चार रूप समझना चाहिए।

चकारान्त-शब्द के बाद अब तकारान्त शब्द का कथन करते हैं।

शकृत्। विष्ठा। तकारान्त शकृत् शब्द से सु, उसका **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् करके तकार को वैकल्पिक चर्त्व करने पर **शकृत्, शकृद्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

शकृती। औ के स्थान शी आदेश, अनुबन्धलोप करके **शकृत्+ई**, वर्णसम्मेलन करके **शकृती** सिद्ध हो जाता है।

शकृन्ति। जस् के स्थान पर शि आदेश करके **शकृत्+इ** में **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् होकर नकार के स्थान पर अनुस्वार और परसवर्ण करके **शकृन्ति** बनता है। इसी तरह द्वितीया में भी बनते हैं। तृतीया आदि अजादिविभक्ति के परे होने पर वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर दकार होता है जिससे शकृता, शकृद्भ्याम्, शकृद्भिः, शकृते, शकृद्भ्यः, शकृतः, शकृतोः, शकृताम्, शकृति, शकृत्सु, हे शकृत्! ये रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह **यकृत्** आदि शब्दों के भी रूप होते हैं।

ददत्, ददद्। देता हुआ कुल। (डुदाञ्) दा धातु से शतृप्रत्यय, श्लु, द्वित्व, अभ्यासह्रस्व, आलोप आदि होकर **ददत्** सिद्ध हुआ है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा करके सु, उसका लुक, जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करके **ददत्, ददद्** ये दो रूप सिद्ध होते हैं। औ के परे होने पर शी आदेश करके अनुबन्धलोप, ददत्+ई, वर्णसम्मेलन होकर **ददती** बनता है।

३६४- वा नपुंसकस्य। वा अव्ययपदं, नपुंसकस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नाभ्यस्ताच्छतुः** से शतुः, **इदितो नुम् धातोः** से नुम्, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** से सर्वनामस्थाने की अनुवृत्ति आती है।

अभ्यस्तसंज्ञक से परे जो शतृ-प्रत्यय, तदन्त नपुंसकलिङ्ग को सर्वनामस्थान के परे होने पर विकल्प से नुम् का आगम होता है।

वैकल्पिकनुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

३६५. **आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०॥**

अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम् वा शीनद्योः।

तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति।

....

नपुंसकस्य झलचः से प्राप्त नुम् का **नाभ्यस्ताच्छतुः** से निषेध हुआ। अब विकल्प से करने के लिए इस सूत्र का आरम्भ है।

ददन्ति, ददति। ददत् से जस्, शि आदेश, **ददत्+इ** में सर्वनामस्थानसंज्ञा होकर **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् प्राप्त उसका **उभे अभ्यस्तम्** से अभ्यस्तसंज्ञा होकर **नाभ्यस्ताच्छतुः** से निषेध होने के बाद **वा नपुंसकस्य** से वैकल्पि नुम् होकर **ददन्त्+इ** बना। नकार को अनुस्वार और परसवर्ण होकर **ददन्त्+इ** ही बना। वर्णसम्मेलन होकर **ददन्ति** सिद्ध हुआ। नुम् न होने के पक्ष में **ददति** बनता है। इसी तरह द्वितीया के रूप बनते हैं। तृतीया से अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन होता है और हलादिविभक्ति के परे तकाद को जश्त्व होकर दकार तथा सुप् के परे दकार को पुनः चर्त्व होकर रूप बनते हैं- ददता, ददद्भ्याम्, ददद्भिः, ददते, ददद्भ्यः, ददतः, ददतोः, ददताम्, ददति, ददत्सु, हे ददत्-ददद्!

तुदत्, तुदद्। दुःख देता हुआ कुल आदि। तुद् धातु से शतृ प्रत्यय होकर **तुदत्** बनता है। उससे सु, उसका लुक्, जश्त्व, वैकल्पिक चर्त्व करके उक्त रूप बनते हैं।

३६५- **आच्छीनद्योर्नुम्।** शी च नदी च शीनद्यौ, तयोः शीनद्योः। आत् पञ्चम्यन्तं, शीनद्योः सप्तम्यन्तं, नुम् प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **नाभ्यस्ताच्छतु** से **शतुः** और **वा नपुंसकस्य** से **वा** की अनुवृत्ति आती है। **अङ्गस्य** का अधिकार है।

अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृ-प्रत्यय का अवयव, तदन्त अङ्ग को विकल्प से नुम् का आगम होता है यदि शी या नदीसंज्ञक अर्थात् ङी आदि परे हो तो।

तुदन्ती, तुदती। तुदत् से औ, उसके स्थान पर शी, अनुबन्धलोप करके **तुदत्+ई** है। **आच्छीर्नद्योर्नुम्** से **शी** वाले ईकार के परे रहने पर वैकल्पिक नुम् का आगम करके **तुदन्त्+ई** बना। नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करके **तुदन्त्+ई** ही है। वर्णसम्मेलन होकर **तुदन्ती** सिद्ध हुआ। नुम् न होने के पक्ष में **तुदती** ही रहेगा।

तुदन्ति। जस्, शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् का आगम करके **तुदन्त्+इ**, नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करके **तुदन्ति** सिद्ध हुआ। द्वितीया में भी प्रथमा की तरह रूप बनते हैं। तृतीया आदि अजादिविभक्ति के परे केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे तकार को जश्त्व करके तुदता, तुदद्भ्याम्, तुदद्भिः, तुदते, तुदद्भ्यः, तुदतः, तुदतोः, तुदताम्, तुदति, तुदत्सु, हे तुदत्! ये रूप बन जाते हैं।

पचत्। पकाता हुआ कुल आदि। पच् धातु से शतृ प्रत्यय होकर, **पचत्** बना है। उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु, उसका लुक्, तकार को जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करके **पचत्, पचद्** ये दो रूप बनते हैं।

नुमागमविधायकं विधिसूत्रम्

३६६. शपृश्यनोर्नित्यम् ७।१।८१॥

शपृश्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। धनुः। धनुषी। **सान्तेति दीर्घः। नुम्विसर्जनीयेति षः।** धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पयः। पयसी। पयांसि। पयसा। पयोभ्याम्। सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि। अदः। विभक्तिकार्यम्। उत्वमत्वे। अमू। अमूनि। शेषं पुंवत्।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गाः॥१०॥

इति षड्लिङ्गप्रकरणम्॥

....

३३६- **शपृश्यनोर्नित्यम्।** शप् च श्यन् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः शप्श्यनौ, तयोः शप्श्यनोः शप्श्यनोः षष्ठ्यन्तं, नित्यं क्रियाविशेषणं द्वितीयान्तम्। आच्छीनद्योर्नुम् से आत् और नुम् तथा **नाभ्यस्ताच्छतुः** से शतुः की अनुवृत्ति आती है।

शप् और श्यन् के अवर्ण से परे जो शतृ-प्रत्यय का अवयव तदन्त जो अङ्ग, उसको नित्य से नुम् का आगम होता है।

पचन्ती। शतृ-प्रत्यय होने के बाद बने **पचत्** से औ विभक्ति, उसके स्थान पर शी आदेश हुआ। **पचत्+ई में शपृश्यनोर्नित्यम्** से शी वाले ईकार के परे होने पर नुम् का आगम करके नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर **पचन्ती** यह रूप सिद्ध हुआ। जस् में **तुदन्ति** की तरह **पचन्ति** सिद्ध होता है। द्वितीया में प्रथमा की तरह रूप होते हैं। तृतीया आदि अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे तकार को जश्त्व करके- पचता, पचद्भ्याम्, पचद्भिः, पचते, पचद्भ्यः, पचतः, पचतोः, पचताम्, पचति, पचत्सु, हे पचत्! आदि रूप बनते हैं।

दिव् धातु दिवादिगणीय होने के कारण श्यन् वाला है तथा दीर्घ होकर **दीव्यत्** बना है। उससे सु आदि प्रत्ययों के आने के बाद **पचत्** की तरह ही इसके रूप बनते हैं। शी में श्यन् होने के कारण नुम् होता है। **दीव्यत्, दीव्यद्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।** दीव्यता, **दीव्यद्भ्याम्** इत्यादि।

तकारान्त के बाद अब षकारान्त का कथन प्रारम्भ होता है।

धनुः। धनु। षकारान्त धनुष् शब्द से सु, उसका लुक्, **आदेशप्रत्यययोः** से किये गये षत्व के असिद्ध होने के कारण **ससजुषो रुः** से सकार मानकर रु, उसको विसर्ग करके **धनुः** सिद्ध हुआ। **औ** के स्थान शी आदेश होकर वर्णसम्मेलन मात्र से **धनुषी** बना। जस् के स्थान पर शि आदेश होकर **धनुष्+इ** में **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् और **सान्तमहतः संयोगस्य** से उपधादीर्घ नुम् के नकार का **नश्चापदान्तस्य झलि** से अनुस्वार करके धनूंषि बन जाता है। इसी तरह द्वितीया में भी बनते हैं। तृतीया से अजादिविभक्ति के परे होने पर केवल वर्णसम्मेलन और हलादिविभक्ति के परे होने पर **ससजुषो रुः** से रु होकर- धनुषा, धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः, धनुषे, धनुर्भ्यः, धनुषः, धनुषोः, धनुषाम्, धनुषि, धनुःषु-धनुष्षु, हे धनुः! ये रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह **चक्षुष्, हविष्** आदि शब्दों के भी रूप जानने चाहिए।

पयः। सकारान्त पयस् शब्द दूध का वाचक है। सु, लुक्, पयः।

पयसी। पयस् से औ, शी, वर्णसम्मेलन, पयसी।

पयांसि। पयस् से जस्, शि आदेश, अनुबन्धलोप, पयस्+इ में नपुंसकस्य झलचः से नुम् और सान्तमहतः संयोगस्य से उपधादीर्घ नुम् के नकार का नश्चापदान्तस्य झलि से अनुस्वार करके पयांसि बन जाता है। इसी प्रकार द्वितीया में भी बनेगा। तृतीया से सप्तमी तक अजादि-विभवित के परे केवल वर्णसम्मेलन करना और हलादिविभक्ति के परे पयस् की स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से पदसंज्ञा और सकार के स्थान पर ससजुषोः रुः से रुत्व और हशि च से उत्व और आद्गुणः से गुण होकर पयोभ्याम्, पयोभिः आदि बनाइये। सुप् के परे रहने पर हश् के अभाव में उत्व नहीं होगा।

सकारान्त-पयस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पयः	पयसी	पयांसि
द्वितीया	पयः	पयसी	पयांसि
तृतीया	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभिः
चतुर्थी	पयसे	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
पञ्चमी	पयसः	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
षष्ठी	पयसः	पयसोः	पयसाम्
सप्तमी	पयसि	पयसोः	पयःसु
सम्बोधन	हे पयः	हे पयसी	हे पयांसि।

इसी प्रकार सकारान्त मनस् शब्द के भी रूप बनेंगे।

सकारान्त-मनस्-शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मनः	मनसी	मनांसि
द्वितीया	मनः	मनसी	मनांसि
तृतीया	मनसा	मनोभ्याम्	मनोभिः
चतुर्थी	मनसे	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
पञ्चमी	मनसः	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
षष्ठी	मनसः	मनसोः	मनसाम्
सप्तमी	मनसि	मनसोः	मनःसु
सम्बोधन	हे मनः	हे मनसी	हे मनांसि।

पयस्, मनस् आदि शब्द जैसे अनेक शब्दों जैसे अयस्, उरस्, ओकस्, ओजस्, चेतस्, छन्दस्, तपस्, तमस्, तेजस्, नभस्, यशस्, रक्षस्, रजस्, रेतस्, वक्षस्, वर्चस्, वयस्, शिरस्, सरस्, सहस् आदि के भी रूप आप बनायें और अभ्यास करें।

व्याकरण-शास्त्र संसार के सभी शब्दों के रूप नहीं बनाता किन्तु सूत्र आदि बनाकर एक, दो उदाहरण दे सकता है। शेष अनेक शब्दों के विषय में आप सूत्र आदि लगाकर सिद्ध कर सकें, ऐसा अभ्यास आपको व्याकरण के माध्यम से स्वयं करना होगा। अतः व्याकरण एक मार्गदर्शक है। सभी शब्दों की सिद्धि व्याकरणशास्त्र में प्रदर्शित करना तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि शब्दों की कोई निश्चित संख्या ही नहीं है। जीवन भर केवल

शब्दों का उच्चारण मात्र करें तो एक जीवन में एक अंश शब्द भी उच्चारित नहीं हो सकता। इतने अथाह शब्द हैं।

अतः व्याकरण के माध्यम से नियम जानकर असंख्य शब्दों को जाना जा सकता है। इसलिए कहा जाता है कि एक रूप सिद्ध करने के बाद इसी तरह के अनेक रूप बनाने की चेष्टा करें।

सुपुम्। जिस नगर या कुल में अच्छे पुरुष हों। कुल। सुपुम्स् शब्द से सु, उसका लुक्, सकार का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप करके **सुपुम्** बना। औ शी, अजादि के परे सकार का संयोगान्तलोप नहीं होता क्योंकि वह संयोगान्तपद नहीं है, अतः मकार को अनुस्वार करके सकार का वर्णसम्मेलन करके **सुपुंसी** बनता है। जस् में शि आदेश होकर सर्वनामस्थानसंज्ञा करके **पुंसोऽसुङ्** से **असुङ्** आदेश होकर **सुपुमस्** बना। **नपुंसकस्य झलचः** से नुम्, **सान्तमहतः संयोगस्य** से दीर्घ होकर **सुपुमान्स्+इ** बना। नकार को अनुस्वार और सकार का वर्णसम्मेलन होकर **सुपुमांसि** सिद्ध हुआ। इसी तरह द्वितीया में भी बनते हैं। तृतीया से अजादिविभक्ति के परे होने पर सुपुम्स् में मकार को अनुस्वार करके वर्णसम्मेलन करना और हलादिविभक्ति के परे होने पर सकार का संयोगान्तलोप करना होता है जिससे **सुपुंसा, सुपुम्भ्याम्, सुपुम्भिः, सुपुंसे, सुपुम्भ्यः, सुपुंसः, सुपुंसोः, सुपुंसाम्, सुपुंसि, सुपुंसु** ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अदः। अदस् शब्द से सु, उसका लुक्, सकार का रुत्वविसर्ग करके अदः सिद्ध होता है। सु के लुक् होने से विभक्ति परे नहीं मिलता अतः **त्यदादीनामः** से अत्व नहीं होता और सान्त होने के कारण **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से उत्वमत्व नहीं होता है।

अमू। अदस् औ, **नपुंसकाच्च** से **शी**, अदस् ई, त्यदादीनामः से अत्व और **अतो गुणे** से पररूप होकर अद+ई बना। गुण होकर अदे बना। अदसोऽसेर्दादु दो मः से ऊत्व और मत्व होकर अमू सिद्ध हुआ।

अमूनि। अदस्+जस्, अदस्+इ, अत्व, पररूप करके अद+इ बना। नुम्, उपधादीर्घ करके **अदानि** बना। ऊत्व और मत्व होकर अमूनि सिद्ध हुआ। इसी तरह द्वितीया में भी **अदः, अमू, अमूनि** ही बनते हैं। तृतीया से सप्तमी तक के सभी रूप पुँल्लिङ्ग की तरह ही बनते हैं।

परीक्षा

अब आप परीक्षा के लिए तैयार हो जाइये। पुस्तक को कपड़े से बाँधकर रखें और पूजा करें। पुस्तिका और लेखनी लेकर बैठ जाइये। इस परीक्षा के पूर्णाङ्क ५० ही हैं। अतः तीन घण्टे में परीक्षा पूरी हो सकती है। प्रत्येक प्रश्न ५ अंक के हैं।

१- **गोअञ्च्** के सभी रूप लिखिए।

२- **स्त्रीलिङ्ग** और नपुंसकलिङ्ग में इदम् के अन्तर को स्पष्ट करें।

३- **चोः कुः** से चकार के स्थान पर ककार आदेश ही क्यों होता है? ख्, ग्, घ् आदि क्यों नहीं होते?

४- वारी में **स्वमोर्नपुंसकात्** से विभक्ति से लुक् क्यों नहीं हुआ?

यत्, किम् शब्द के हलन्तस्त्रीलिङ्ग एवं हलन्तनपुंसकलिङ्ग के सारे रूप लिखिये।
इदम्-शब्द के तीनों लिङ्गों के रूप लिखिये।
दण्डिन्, मनस् और पयस् शब्द के रूप लिखिये।
एतत्-शब्द के हलादिविभक्ति के परे जो रूप बनते हैं, उनकी सिद्धि दिखाइये।
अदस् एवं सुपुम्स् शब्द के रूप लिखिए।
आच्छीनद्योर्नुम् और शपश्यनोर्नित्यम् की व्याख्या करें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में
गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का
हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथाव्ययानि

अव्ययसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३६७. स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७॥

स्वरादयो निपाताश्च अव्ययसंज्ञाः स्युः।

स्वरादयः-

स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। पुनर्। सनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। ऋते। युगपत्। आरात्। पृथक्। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। अवस्। समया। निकषा। स्वयम्। वृथा। नक्तम्। नञ्। हेतौ। इद्धा। अद्धा। सामि। वत्। ब्राह्मणवत्। क्षत्रियवत्। सना। सनत्। सनात्। उपधा। तिरस्। अन्तरा। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। श्रौषट्। वौषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मृषा। मिथ्या। मुधा। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रायस्। मुहुस्। प्रवाहुकम्। प्रवाहिका। आर्यहलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्धम्। नमस्। हिरुक्। धिक्। अथ। अम्। आम्। प्रताम्। प्रशान्। प्रतान्। मा। माङ्। (आकृतिगणोऽयम्)।

....

श्रीधरमुखोल्लासिनी

संस्कृत-वाङ्मय में दो प्रकार के शब्द होते हैं- विकारी और अविकारी। जो शब्द विभक्ति-वचन-प्रत्यय आदि के द्वारा विकार को प्राप्त हो जाते हैं वे विकारी हैं, जो सुबन्त, तिङन्त आदि हैं और जो शब्द सदा सभी विभक्तियों में विकारहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे अविकारी हैं, जैसे अपि, न, च, यदि, विना आदि। व्याकरणशास्त्र में अविकारी शब्दों को अव्यय कहा गया है। अव्यय के कुछ शब्द स्वरादिगण में लिये गये हैं तो कुछ निपात हैं। निपात उन्हें कहते हैं जो **प्रागीश्वरान्निपाताः** सूत्र से **अधिरीश्वरे** सूत्र तक के ४३ सूत्रों के द्वारा जिन शब्दों का कथन हुआ। इसके लिए आप अष्टाध्यायी देख लें।

उन शब्दों की भी अव्ययसंज्ञा की गई है जो **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः**, **कृन्मेजन्तः**, **क्त्वातोसुन्कसुनः**, **अव्ययीभावश्च** इन सूत्रों के कथन में आते हैं। हम इनके विषय में आगे वर्णन कर रहे हैं। अव्ययसंज्ञा के अनेक फल हैं, उनमें से अव्यय-शब्दों से आये हुए सुप्-प्रत्ययों का **अव्ययादाप्सुपः** से लुक् करना भी एक फल है।

३६७- स्वरादिनिपातमव्ययम्। स्वर् आदौ येषां ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च तेषां समाहारद्वन्द्वः स्वरादिनिपातम्। स्वरादिनिपातं प्रथमान्तम्, अव्ययं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

निपाताः-

च। वा। ह। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। भूयस्। कूपत्। कुवित्। नेत्। चेत्। चण्। कच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिः। माकिम्। नकिः। नकिम्। माङ्। नञ्। यावत्। तावत्। त्वै। द्वै। न्वै। रै। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। स्वधा। वषट्। तुम्। तथाहि। खलु। किल। अथो। अथ। सुष्ठु। स्म। आदह।

वार्तिकम्- **उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च।** अवदत्तम्। अहंयुः। अस्तिक्षीरा। अ। आ। इ। ई। उ। ऊ। ए। ऐ। ओ। औ। पशु। शुकम्। यथाकथाच। पाट्। प्याट्। अङ्ग। है। हे। भोः। अये। द्य। विषु। एकपदे। युत्। आतः। चादिराकृतिगणः।

स्वर आदि शब्द और निपातसंज्ञक शब्द अव्ययसंज्ञक होते हैं।

पाणिनीयव्याकरण में सूत्रपाठ, धातुपाठ के अतिरिक्त गणपाठ भी है जो सूत्र में आदि, प्रभृति शब्दों के द्वारा जाना जाता है। जैसे- स्वरादि, सर्वादि, चादि आदि। **स्वरादिनिपातमव्ययम्** में भी स्वर्+आदि=स्वरादि गणपाठ है। इन स्वरादिगण के शब्द और निपातसंज्ञक शब्दों की अव्ययसंज्ञा का विधान यह सूत्र करता है। स्वरादिगणपाठ में जितने शब्द दिखाये गये हैं, उतने ही स्वरादि नहीं हैं, ये तो उदाहरणमात्र हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेकों शब्द स्वरादिगण में आते हैं। अतः गणपाठ में **आकृतिगणोऽयम्** कहा गया। अर्थात् जो शब्द गणपाठ में नहीं दर्शाये जा सके किन्तु आकृति एवं व्यवहार से उस गण के जैसे लगते हैं, उन्हें भी उस गण का माना जाय।

जिनकी इस सूत्र से अव्ययसंज्ञा होती है, उन्हें अर्थ सहित दर्शाते हैं-

स्वरादयः-

स्वर्=स्वर्ग। अन्तर्=अन्दर। प्रातर्=सुबह।
पुनर्=दुबारा। सनुतर्=छिपना। उच्चैस्=ऊँचा।
नीचैस्=नीँचा। शनैस्=धीरे से। ऋधक्=सत्य।
ऋते=विना। युगपत्=एकसाथ। आरात्=दूर और समीप।
पृथक्=अलग। ह्यस्=बीता हुआ कल। श्वस्=आने वाला कल।
दिवा=दिन। रात्रौ=रात में। सायम्=शाम का समय।
चिरम्=देर तक। मनाक्=थोड़ा सा। ईषत्=थोड़ा।
जोषम्=चुप। तूष्णीम्=चुप। बहिस्=बाहर।
अवस्=बाहर। अधस्=नीचे। समया=समीप।
निकषा=समीप। स्वयम्=अपने आप। वृथा=व्यर्थ।
नक्तम्=रात्रि। नञ्=नहीं। हेतौ=निमित्त।
इद्धा=प्रकट। अद्धा=वस्तुतः। सामि=आधा।
वत्=जैसे। ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण जैसे। क्षत्रियवत्=क्षत्रिय जैसे।
सना=सदा। सनत्=सदा। सनात्=सदा।
उपधा=भेद तिरस्=टेढ़ा। अन्तरा=अन्दर से।
अन्तरेण=विना। ज्योक्=लम्बे समय तक। कम्=जल।

शम्=सुख। सहसा=अचानक। विना=अलावा।
नाना=वगैरह। स्वस्ति=कल्याण। स्वधा=पितरों को जल देते समय उच्चार्यमाण शब्द।
अलम्=सजाना। अलम्=पर्याप्त।
वषट्। श्रौषट्। वौषट्= देवाराधन में प्रयोग किये जाते हैं। अन्यत्=अन्य, अतिरिक्त।
अस्ति=विद्यमान। उपांशु=एकान्त। क्षमा=माफी।
विहायसा=आकाश। दोषा=रात्रि। मृषा=असत्य।
मिथ्या=झूठ। मुधा=व्यर्थ। पुरा=प्राचीन समय में।
मिथो=एकान्त। मिथस्=परस्पर। प्रायस्=ज्यादातर।
मुहुस्=पुनःपुनः, बारंबार। प्रवाहुकम्=उसी समय। प्रवाहिका=समान काल।
आर्यहलम्=बलपूर्वक। अभीक्ष्णम्=निरन्तर। साकम्=साथ।
सार्धम्=साथ। नमस्=नमस्कार। हिरुक्=विना।
धिक्=धिक्कार। अथ=आरम्भ। अम्=शीघ्र।
आम्= जी हाँ। प्रताम्=ग्लानि। प्रशान्=तुल्य।
प्रतान्=तुल्य। मा=निषेध। माङ्=मत, निषेध।

(आकृतिगणोऽयम्= स्वरादि आकृतिगण है)।

- निपाताः-
च= और, भी। वा=विकल्प। ह=निश्चय से कहते हैं।
अह=आश्चर्य। एव=निश्चय। एवम्=इस प्रकार से।
नूनम्=निश्चय। शश्वत्=नित्य। युगपत्=एकसाथ।
भूयस्=पुनः। कूपत्=प्रश्न या प्रशंसा में। कुवित्=बहुत।
नेत्=ऐसा न हो। चेत्=अगर। चण्=यदि।
कच्चित्=कहीं ऐसा तो? यत्र=जहाँ। नह=निश्चित निषेध।
हन्त=हर्ष प्रकट करना। माकिः=मत। माकिम्=मत।
नकिः= न कोई। नकिम्=न कोई। माङ्=निषेध।
नञ्=नहीं। यावत्=जबतक, अवधि, जितना। तावत्= तब तक, उतना।
त्वै=विशेष, वितर्क। द्वै=विकर्त। न्वै=वितर्क।
रै=अनादर। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। स्वधा। वषट्= स्वरादि में देखें।
तुम्=निरादर में प्रयुक्त। तथाहि=क्योंकि, कारण कि। खलु=कथन में एक शैली।
किल=यह भी बातचीत की एक शैली है। अथो=आरम्भ, अनन्तर।
अथ=प्रारम्भ। सुष्ठु=सुन्दर। स्म= भूतकाल में। आदह=हिंसा, निन्दा।

वार्तिकम्- **उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च**। अर्थः- **उपसर्ग जैसे, विभक्ति जैसे और स्वर जैसे भी शब्दों को चादिगण में माने गये हैं।**

अवदत्तम्= दिया जा चुका। अहंयुः=अहंकार वाला। अस्तिक्षीरा=दूधवाली गाय।
अ=सम्बोधन, अनन्त। आ=पूर्व के कथन से भिन्न। इ=सम्बोधन।
ई=सम्बोधन। उ=सम्बोधन। ऊ। ए। ऐ। ओ। औ=सम्बोधन। पशु=ठीक तरह।
शुकम्=शीघ्र। यथाकथाच=लगभग, अनादर। पाट्। प्याट्=सम्बोधन।
अङ्ग=सम्बोधन में। है। हे। भोः। अये=सम्बोधन। द्य=हिंसा।
विषु= नाना, अनेक। एकपदे=एकसाथ। युत्=घृणा।
आतः=इस कारण से भी। (चादिराकृतिगणः= चादि भी आकृतिगण है)।

अव्ययसंज्ञाविधायकं द्वितीयं सूत्रम्

३६८. तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८॥

यस्मात्सर्वा विभक्तयो न भवन्ति तादृशस्तद्धितान्तशब्दोऽव्ययं स्यात्। **परिगणनं कर्तव्यम्**- तसिलादयः प्राक्पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती। नानाञौ। एतदन्तमप्यव्ययम्।

....

३६८-तद्धितश्चासर्वविभक्तिः। न भवन्ति सर्वा विभक्तयो यस्मात्, स असर्वविभक्तिः। तद्धितः प्रथमान्तं, च अव्ययपदम्, असर्वविभक्तिः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है।

जिससे सारी विभक्तियाँ नहीं आ सकतीं, ऐसे तद्धितान्तशब्द अव्ययसंज्ञक होते हैं।

कुछ ऐसे शब्द हैं जो तद्धित प्रत्यय लगकर सिद्ध हुए हैं किन्तु उनसे सारी विभक्तियाँ नहीं आ सकती, ऐसे शब्दों की भी अव्ययसंज्ञा होती है। जैसे इदम् शब्द से तसिल् प्रत्यय करके **अतः** बनाया जाता है और इसका अर्थ है- **इससे, इसके द्वारा।** अतः इससे प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्ति की आवश्यकता ही नहीं दीखती। इस लिए अतः जैसे शब्द असर्वविभक्तिक हैं। ऐसे शब्दों की अव्ययसंज्ञा का विधान यह सूत्र करता है।

परिगणनं कर्तव्यम्। अब यह कह रहे हैं कि जिनसे सारी विभक्तियाँ नहीं आ सकतीं, ऐसे शब्द कितने हैं? इनका परिगणन अर्थात् संख्या से प्रदर्शन करना चाहिए। इसी लिए कहा- **तसिलादयः प्राक्पाशपः**। तसिल् प्रत्यय से लेकर पाशप् प्रत्यय तक के प्रत्यय जिनके अन्त में हों ऐसे शब्द असर्वविभक्ति हैं। तसिलादि में त्रल्, ह, अत्, दा, र्हिल्, धुना, दानीम्, थाल्, थमु, था, अस्ताति, अतसुच्, रिल्, रिष्टात्, आति, एनप्, आच्, आहि, असि, धा, ध्यमुञ्, एधाच् और पाशप् ये प्रत्यय हैं और ये प्रत्यय जिनके अन्त में हों, ऐसे शब्द अव्यय हो जाते हैं।

उपर्युक्त प्रत्ययों के लगने से निम्नलिखित शब्द बन जाते हैं- जैसे तसिल् से अतः(इस लिए), ततः(वहाँ से), कुतः (कहाँ से), यतः (जहाँ से), परितः (चारों ओर से), अभितः (दोनों ओर), त्रल् से अत्र(यहाँ), कुत्र(कहाँ), तत्र(वहाँ), सर्वत्र(सभी जगह), ह से इह(यहाँ), कुह(कहाँ), अत् से क्व(अन्य), दा से सदा(हमेशा), सर्वदा(हमेशा), कदा(कव), अन्यदा(दूसरे दिन), र्हिल् से कर्हि(कब), यर्हि(जब), तर्हि(तब), धुना से अधुना(इस समय), दानीम् से इदानीम्(इस समय), तदानीम्(उस समय), थाल् से यथा(जैसे), तथा(वैसे), कथा(कैसे), उभयथा(दोनों प्रकार से), थमु से इत्थम्(इस तरह), कथम्(कैसे), अस्ताति से पुरस्तात्(आगे), परस्तात्(पीछे), अतसुच् से दक्षिणतः(दक्षिण से), उत्तरतः(उत्तर से), रिल् से उपरि(ऊपर), रिष्टात् से उपरिष्टात्(ऊपर से), आति से पश्चात्(पीछे), एनप् से उत्तरेण(उत्तर से), दक्षिणेन(दक्षिण से), आच् से दक्षिणा(दक्षिण में), आहि से दक्षिणाहि(दक्षिण में), असि से पुरः(सामने), धा से एकधा(एक बार),

अव्ययसंज्ञाविधायकं तृतीयं सूत्रम्

३६९. कृन्मेजन्तः १।१।३९॥

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्।

स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै।

अव्ययसंज्ञाविधायकं चतुर्थं सूत्रम्

३७०. क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०॥

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः।

....

ध्यमुञ् से ऐकध्यम्(एक प्रकार से), एधाच् से द्वेधा(दो प्रकार से), त्रेधा(तीन प्रकार से) और पाशप् से वैयाकरणपाशः आदि शब्द बन जाते हैं, जिनकी अव्ययसंज्ञा हो जाती है। इनकी पूरी परिगणना करेंगे तो बहुत मोटा ग्रन्थ बन जायेगा। इसलिए संक्षेप में बताकर आगे चल रहे हैं। छात्रों को जिज्ञासा होती है तो **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में देख लेंगे।

शसृप्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती। नानाञौ। शस् प्रत्यय से लेकर समासान्त प्रत्ययों से पहले तक, कृत्व अर्थ में होने वाले प्रत्यय, आम् प्रत्यय, तसि तथा वति, ना, नाञ् इन प्रत्ययों के लगने के बाद बने शब्द भी अव्ययसंज्ञक होंगे। इसके अतिरिक्त भी और प्रत्यय हैं- शस्, तसि, च्वि, साति, त्रा, डाच्, आम्, कृत्वसुच्, सुच्, धा, ना, नाञ् आदि। इनका भी विवेचन विस्तार के भय से नहीं कर रहे हैं।

३६९- **कृन्मेजन्तः**। म् च एच् च मेचौ, मेचौ अन्तौ यस्य स मेजन्तः। कृत् प्रथमान्तं, मेजन्तः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है।

कृत्संज्ञक प्रत्यय जो मान्त और एजन्त, तदन्त शब्द अव्ययसंज्ञक होते हैं।

कृत्प्रकरण में होने वाले प्रत्ययों में से जो मकारान्त और एजन्त अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ ये वर्ण अन्त में हों ऐसे प्रत्यय वाले शब्दों की भी अव्ययसंज्ञा का विधान इस सूत्र के माध्यम से होता है। कृत्प्रकरण में तुमुन् प्रत्यय होता है और अनुबन्धलोप होकर केवल तुम् ही बचता है और पठ् धातु पहले है तो पठ्+इ+तुम्=पठितुम् बन जाता है। यह पठितुम् मान्त कृदन्तशब्द है, अतः इस सूत्र से इसकी अव्ययसंज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार स्मारम् स्मारम्, वक्षे, एषे, जीवसे, पिबध्यै आदि की भी कृत् एजन्त मानकर अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

३७०- **क्त्वातोसुन्कसुनः**। क्त्वा च तोसुन् च कसुन् च तेषामितरेतरद्वन्द्वः क्त्वातोसुन्कसुनः। क्त्वातोसुन्कसुनः प्रथमान्तम्, एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है।

क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होते हैं।

क्त्वा, तोसुन्, कसुन् ये कृत्प्रकरण के प्रत्यय हैं। इनमें अनुबन्धलोप होकर क्रमशः त्वा, तोस्, अस् ही शेष रह जाता है। इन प्रत्ययों के लगने से बनने वाले शब्दों की भी इस सूत्र से अव्ययसंज्ञा होती है। क्त्वा के उदाहरण हैं- कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा

…पञ्चमं सूत्रम्

३७१. **अव्ययीभावश्च १।१।४१॥**

अधिहरि।

…विधिसूत्रम्

३७२. **अव्ययादाप्सुपः २।४।८२॥**

अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

वगाहः, अवगाहः। पिधानम्, अपिधानम्।

इत्यव्ययानि॥११॥

आदि, तोसुन् के उदेतोः, प्रवदितोः कसुन् के विसृपः, आतृदः आदि हैं। इनमें क्त्वा प्रत्यय लोक और वेद दोनों में तथा तोसुन् कसुन् प्रत्यय केवल वेद में ही प्रयुक्त होते हैं।

३७१- **अव्ययीभावश्च**। अव्ययीभावः प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययम्** की अनुवृत्ति आती है।

अव्ययीभाव समास को प्राप्त शब्द अव्ययसंज्ञक होते हैं।

समासों में एक अव्ययीभाव समास भी है। जो शब्द अव्ययीभाव समास होकर सिद्ध हुए हैं, उन शब्दों की अव्ययसंज्ञा का विधान यह सूत्र करता है। जैसे हरि+अधि में अव्ययीभाव समास होकर **अधिहरि** बना और इस सूत्र से उसकी अव्ययसंज्ञा हो गई।

३७२- **अव्ययादाप्सुपः**। आप् च सुप् च तयोः समाहारद्वन्द्वः, आप्सुप्, तस्मात्, आप्सुपः। अव्ययाद् पञ्चम्यन्तम्, आप्सुपः षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** से लुक् की अनुवृत्ति आती है।

अव्ययसंज्ञक शब्दों से विहित आप् और सुप् का लुक् होता है।

अव्ययसंज्ञा का मुख्यफल उनसे प्राप्त सुप् प्रत्यय और आप् अर्थात्, टाप्, चाप्, डाप् आदि प्रत्ययों का लुक् अर्थात् लोप करना है। इस प्रकार से अभी जितने भी शब्दों की आपने अव्ययसंज्ञा की उन सभी शब्दों से सुप् विभक्ति तो आती है पर उसका इस सूत्र से लुक् हो जाता है। फलतः प्रथमा से सप्तमी तक एक ही रूप बनता है। जैसे **तत्र** यह शब्द त्रल्-प्रत्ययान्त होने के कारण **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** से अव्ययसंज्ञक है। उससे प्रथमा का एकवचन आया या पञ्चमी आई और उसका इस सूत्र से लुक् हो गया तो तत्र का तत्र ही रह गया, विभक्ति के आने के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार समस्त अव्ययसंज्ञक शब्दों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

तत्र शालायाम्। उस शाला में। **तत्र** यह शब्द तद् शब्द से त्रल् प्रत्यय होकर बना है। त्रल् प्रत्ययान्त शब्द अव्ययसंज्ञक होता है। **शालायाम्** इस स्त्रीलिङ्गशब्द का विशेषण होने से टाप् प्रत्यय और उससे सु प्रत्यय दोनों हुए थे। **अव्ययादाप्सुपः** से उसका लुक् होकर त्र मात्र शेष रहा।

अब एक प्रश्न यह आता है कि जब प्रत्यय के विधान करने के बाद उसका लोप ही करना है तो इन अव्ययसंज्ञक शब्दों से प्रत्यय ही क्यों लायें? इसका उत्तर यही है कि जब तक सुप् या तिङ् विभक्ति नहीं लगेगी तब तक **सुप्तिङन्तं पदम्** से उसकी पदसंज्ञा नहीं होती। पदसंज्ञा के बिना शब्द पद नहीं बनता। यदि पद न बने तो **अपदं न प्रयुञ्जीत** (अपद शब्दों का व्यवहार ही नहीं होता) इस नियम के अनुसार वह शब्द प्रयोग में लाने योग्य ही नहीं रहता। अतः विभक्ति लाकर उसके लोप होने के बाद भी वह शब्द प्रत्ययान्त माना जाता है और उसकी पदसंज्ञा हो जाती है तथा पद प्रयोग के योग्य हो जाता है। इसलिए अन्य कोई कारण न होते हुए भी विभक्ति का करना अनिवार्य होता है।

अब अव्यय की परिभाषा को श्लोक के माध्यम से बता रहे हैं-

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ जो तीनों लिङ्गों में, सभी विभक्तियों में और सभी वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता है, एक जैसा ही रहता है अर्थात् नहीं बदलता है, वह अव्यय है।

निष्कर्ष यह है कि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनको हम न तो सुबन्त के रूप में देख पाते हैं और न ही तिङन्त के रूप में, क्योंकि प्रयोग करने के लिए या तो सुबन्त का होना आवश्यक है या तो तिङन्त का होना। अब ऐसे शब्द जो न तिङन्त दीखते और न सुबन्त, तो उन्हें क्या माना जाय? अव्ययप्रकरण से यही पता लगा कि जो ऐसे शब्द हैं, वे अव्यय हैं, जिनमें विभक्ति का अता-पता नहीं है फिर भी सुबन्त तो हैं ही।

अब **अव** और **अपि** उपसर्गों के विषय में **भागुरि आचार्य** का मत बताते हैं-

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

भागुरि नामक आचार्य अव और अपि इन उपसर्गों में अकार का लोप करना चाहते हैं तथा हलन्तशब्दों से भी स्त्रीत्वबोधक आप् प्रत्यय का विधान अभीष्ट मानते हैं। जैसे- अकार का लोप करके **अव+गाहः** में **वगाहः** और **अपि+धानम्** में **पिधानम्** तथा **वाच्, निश्, दिश्** आदि शब्दों से आप् (टाप्) करके **वाचा, निशा, दिशा** बनाते हैं। यह भागुरि का मत है, पाणिनि जी का नहीं।

इस प्रकार से आप ने अभी तक **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में सबसे पहले संज्ञा का ज्ञान किया, उसके बाद सन्धि का ज्ञान किया, उसके बाद षड्-लिङ्गों के अन्तर्गत अजन्त और हलन्त शब्दों के रूपों का ज्ञान किया। अन्ततः अव्ययशब्दों का भी ज्ञान किया। अब इसके बाद तिङन्त की बारी है।

आप इन प्रकरणों की आवृत्ति प्रतिदिन करें, अन्यथा आप भूल जायेंगे। पढ़े हुए

विषय को भूलना भी असफलता का कारण तो है ही साथ ही एक दोष भी है। अत: प्रतिदिन आवृत्ति करके पढ़े हुए विषय को तरोताजा बनाये रखें। इस बात का जरूर ध्यान रखें।

परीक्षा

सूचना- सभी प्रश्न १० अङ्क के हैं। परीक्षा का समय- तीन घण्टे।

१- आपने अभी तक जितने प्रकरण पढ़े, एक पृष्ठ में उनका परिचयात्मक लेख लिखें।

२- यदि स्वर् आदि की अव्ययसंज्ञा न हो तो क्या हानि है? सोदाहरण स्पष्ट करें।

३- अव्यय-शब्दों में विभक्तियाँ क्यों नहीं दीखतीं? सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करें।

४- अभी तक के व्याकरण-अध्ययन में आप कैसा अनुभव कर रहे हैं? एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

५- अव्ययसंज्ञा-विधायक पाँचों सूत्रों की तुलना करें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी टीका में अव्ययप्रकरण पूर्ण हुआ।

लघुसिद्धान्तकौमुदी